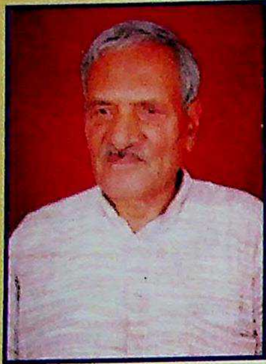
वेद मञ्जरी

ओ३म्



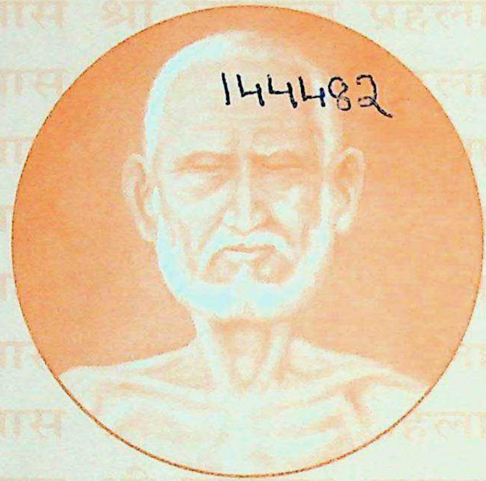
डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

लेखक-परिचय

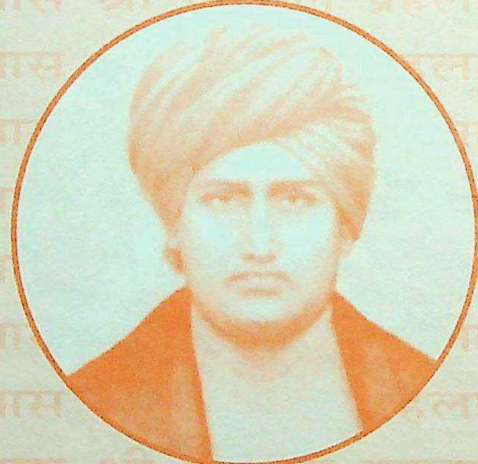


डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार वैदिक साहित्य के ख्याति-प्राप्त मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपका जन्म ७ जुलाई १९१४ को फरीदपुर, बरेली, (उ०प्र०) में माता श्रीमती भगवती देवी एवं पिता श्री गोपालराम के घर हुआ। शिक्षा गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में हुई। इसी संस्था में ३८ वर्ष वेद-वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, संस्कृत साहित्य आदि विषयों के शिक्षक एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष रहते हुए समय-समय पर आप कुलसचिव तथा आचार्य एवं उपकुलपति का कार्य भी करते रहे। इस संस्था ने आपको विद्यामार्तण्ड की मानद् उपाधि से भी सम्मानित किया। आपने आगरा विश्व- विद्यालय से संस्कृत में एम० ए० तथा पी-एच०डी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं। आपका पी-एच०डी० का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ' है, जो



गुरुवर्य विरजानन्दजी



ऋषिराज दयानन्द



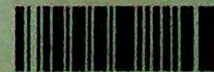
...त्त विद्यार्थी

पं० जयदे[illegible]

[illegible] तुलसीरामजी

पं० दा[illegible]

[illegible]ानन्द सरस्वती



श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

ओ३म्

वेदमञ्जरी

[चारों वेदों से चुने हुए ३६५ वेदमन्त्रों की भावभीनी मनोरम व्याख्या]

लेखक
डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार





प्रकाशक
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)- ३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)- ३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६७०४४८
चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९

संस्करण : २००८ (ऋषि दयानन्द के बलिदान का १२५वाँ वर्ष)

मूल्य : २००.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :

१. **हरिकिशन ओम्प्रकाश,** ३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-६, चलभाष : ०९३५०९९३४५५
२. **सुबोध पॉकेट बुक्स** २/४२४०-ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली-२ चलभाष : ०९८१०००५९६३
३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०) चलभाष : ०९८९७८८०९३०
४. **श्री वैदिकानन्द,** श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास, वैदिक सदन, भँवरकुँआ, इन्दौर-४५२ ००१, चलभाष: ०९३०२३६७२००
५. **गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेम-मणि निवास, नया बाजार दिल्ली-६, चलभाष : ०९८९९७५९००२
६. **श्री दयारामजी पोद्दार,** झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ, राँची (झारखण्ड) - ८३४ ००१ चलभाष : ०९८३५७६५७४३

शब्द संयोजक : आर्य लेजर प्रिंट्स, हिण्डौन सिटी (राज०)

मुद्रक : राधा प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली - ११० ०३१

दो शब्द

महर्षि दयानन्द की याद आते ही, उसके साथ एक और नाम की याद स्वतः हो आती है, वह नाम है 'वेद'। दयानन्द यदि देह है तो वेद उसका आत्मा है। यह सब मैं इसलिये कह रहा हूँ कि—दयानन्द से पूर्व वेदों की यह स्थिति न थी जो आज है। वेद वैदिक और संस्कृत साहित्य के विशाल अम्बार की सबसे निचली तह में पड़े थे। जीवनलीला समाप्त हो जाए, उस तक कोई पहुँच ही न पाये। इस स्थिति को दयानन्द ने एक ही दृष्टि में भाँप लिया। दयानन्द का वर्चस् जागा और उसने एक ही झटके में सब स्थिति को पलट दिया। जो ऊपर था वह नीचे हो गया और जो नीचे था वह ऊपर आ गया।

दयानन्द के हाथ सर्वप्रथम वेद लगे। वेद क्या हाथ लगे मानो सच-झूठ की कसौटी हाथ लग गई। दयानन्द ने उद्घोष दिया कि—'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, जो इस पर खरा उतरे, उसे ले लो शेष सब छोड़ दो। व्यर्थ के व्यामोह में न पड़ो।' इस प्रकार का कथन दयानन्द के ज्ञान का मथा हुआ मक्खन है। सवा सौ वर्ष पूर्व इस प्रकार की उक्ति के लिये अत्यन्त साहसपूर्ण चिन्तन और आत्मविश्वास की आवश्यकता थी। ऋषि दयानन्द ने वेद के लिये जो कुछ किया है, उस ऋण से अनृण होना सम्भव नहीं। वेद नाम में जो इतनी शक्ति भर गई है, उसे जो गौरव प्राप्त हुआ है, जो तेजस्विता राष्ट्रिय मानस में पुनः प्रतिष्ठित हुई है, उस सबका श्रेय महर्षि दयानन्द को है।

वेदों का अस्तित्व तो दयानन्द से पूर्व भी था, परन्तु उस तक पहुँच किसी की न थी। मध्यकालीन आचार्यों में एक भी ऐसा न था जो वेदों तक पहुँचा हो। चाहे आचार्य शंकर हो, मध्व हो, निम्बार्क हो या रामानुज। सबकी पहुँच, उपनिषद्, गीता और वेदान्त दर्शन तक थी। उनके मतों का आधार ये तीन ग्रन्थ रहे, जिन्हें प्रस्थानत्रयी के नाम से स्मरण किया जाता है, वेदत्रयी को छोड़कर प्रस्थानत्रयी को अपनाया। दयानन्द ने प्रस्थान-त्रयी को छोड़कर वेद-त्रयी को अपनाया। यही आर्ष-परम्परा थी। इसी कारण दयानन्द को वेदोद्धारक अथवा वेदों वाला उपाधि से याद किया जाने लगा। वेदों वाला कहते ही एक मात्र जो व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है, वह है—दयानन्द।

प्रस्थानत्रयी के भी उस पार जो वेद का लहराता हुआ समुद्र है, वहाँ तक पहुँचने के लिये जो बीच की खाई थी उसके पार जाने का कौशल और आग्रह दयानन्द ने ही किया। वसिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, गोतम, भरद्वाज, भृगु, अंगिरा आदि महर्षियों और याज्ञवल्क्य, जैमिनि, शौनक, यास्क, आदि आचार्यों की तेजस्वी परम्परा में सहस्रों वर्षों के बाद महर्षि दयानन्द हुए। आज हम परम्परा के विषय में ब्रह्मा से दयानन्दपर्यन्त कहने का साहस कर सकते हैं। कोई कारण नहीं कि जैमिनि पर ही रुका जाये।

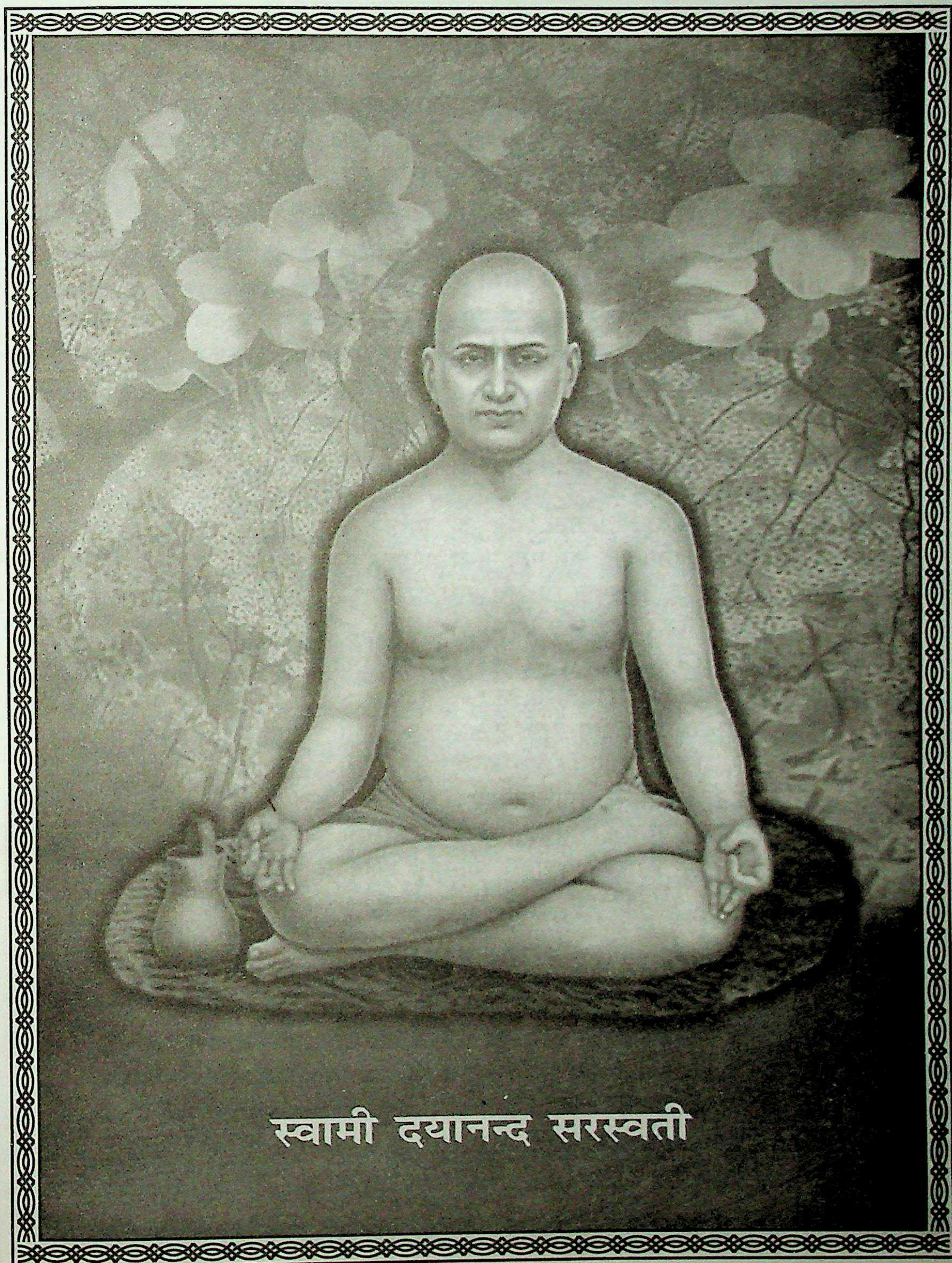
दयानन्द की निर्वाण-शताब्दी मनाने के समय स्वाभाविक था कि वेदों की याद आये। उसके प्रति सबसे उत्तम श्रद्धाञ्जलि वही वेद हो सकता है, जो दयानन्द के नाम के साथ नत्थी हो गया है। इस प्रसङ्ग में ३६५ मन्त्रों की हृदयहारी व्याख्या का नाम 'वेद-मञ्जरी'

है, जो आपके कर-कमलों में अर्पित है। इसके लेखक श्री पं० रामनाथ जी वेदालंकार हैं, जिनका सारा जीवन वेद-तरु की शीतल छाया में बीता है, वर्षों जिन्होंने गुरुकुल विश्वविद्यालय में वेद पढ़ाया और पीछे से चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय में प्रस्थापित दयानन्द पीठ के शुभारम्भ करने तथा सुचारुरूप से चलाने का श्रेय पाया है।

जब मैंने विद्वद्वर्य श्री पं० रामनाथ जी वेदालंकार से इस प्रकार के संग्रह के लेखन का आग्रह किया तो उन्होंने न केवल अत्यन्त आत्मीयता से उसे स्वीकार ही किया, अपितु बड़े ही मनोयोग से उसके निर्माण में जुट गये। बीच-बीच में न जाने उन्हें किन-किन बाधाओं का सामना करना पड़ा। सबसे अधिक बाधा तब आई जब सहधर्मिणी भी साथ छोड़ गईं। तब भी वे स्थितप्रज्ञ की भाँति ग्रन्थ-प्रणयन में जुटे रहे, जिसका सुपरिणाम यह वेद-मञ्जरी ग्रन्थ-रत्न है।

पाठक इस मञ्जरी के एक-एक पराग का मधुपान करें और अपने हृदय-स्रोत को भरें। समय मिले तो अन्यों को भी वेद-मधु पान करायें।

—दीक्षानन्द सरस्वती


स्वामी दयानन्द सरस्वती

भूमिका

वेद मानव-जीवन के लिए उपयोगी विविध ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य निधि हैं। इनमें ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, कृषिविद्या, वाणिज्यविद्या, भैषज्यविद्या, राजविद्या आदि विभिन्न विद्याओं के स्वच्छ स्रोत प्रस्फुटित हो रहे हैं। विशेषकर भक्तिरस की तो ऐसी तरंगिणी प्रवाहित हुई है कि उसमें स्नान कर स्तोता का हृदय नितान्त निर्मल, शान्त और रस-विभोर हो उठता है।

१. वैदिक भाषा की अर्थ-गरिमा

वैदिक भाषा का एक-एक शब्द अपने अन्दर अर्थ-वैपुल्य का अगाध भण्डार भरे हुए है। अर्थ-वैपुल्य में संसार-भर की अन्य कोई भाषा इस भाषा की तुलना नहीं कर सकती। वैदिक शब्दों में से एक के बाद दूसरा अर्थ निकलता चलता है और व्यक्ति अपने-अपने स्तर के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म, साधारण, गम्भीर, गम्भीरतर या गम्भीरतम अपेक्षित अर्थ को ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ हम 'देव' शब्द को ही ले सकते हैं। यह शब्द 'दिवु' धातु से बना है, जो क्रीड़ा, विजयेच्छा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, इच्छा और गति अर्थ में धातु-पाठ में पठित है। अतः 'देव' का यौगिक अर्थ क्रीड़ा-परायण, विजयेच्छु, व्यवहारज्ञ द्युतिमान्, स्तुतिकर्ता, मोदमय, मस्त, शयन-कर्ता, कल्पना के स्वप्न-लोक में विचरनेवाला, इच्छाशील, गतिमान्, ये सब अर्थ हो जाते हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में घटित हो सकते हैं। निरुक्त के अनुसार 'देव' का अर्थ दाता और स्वयं चमकने तथा अन्यों को चमकानेवाला और द्युस्थान में रहने वाला भी होता है, **देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा।** —निरु० ७.१५। इन अर्थों को दृष्टि में रखते हुए परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, मन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, विद्युत्, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, विद्वद्गण, इन्द्रियाँ आदि विविध अर्थ 'देव' पद से गृहीत हो जाते हैं। इसी प्रकार वैदिक 'यज्ञ' शब्द से यज्ञाग्नि में सुगन्धित पदार्थों का होम करना ही नहीं, अपितु, ब्रह्मयज्ञ, आत्मयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, कर्मयज्ञ, जीवनयज्ञ, सृष्टियज्ञ, राष्ट्रयज्ञ, संवत्सरयज्ञ, शिल्पयज्ञ, कृषियज्ञ, रणयज्ञ, दानयज्ञ आदि विविध कर्म सूचित होते हैं। धनवाची रयि, द्रविण, रत्न, हिरण्य, द्युम्न, वसु, राधस्, वेदस् आदि शब्द वेद में केवल भौतिक धन-दौलत के ही वाची नहीं होते, प्रत्युत वे विद्याधन, राज्यधन, शारीरिक सम्पदा, प्राणिक सम्पदा, मानसिक सम्पदा एवं आत्मिक सम्पदा की ओर भी इंगित करते हैं। अंहस्, रपस्, दुरित, रिष्टि, रक्षस्, वृत्र, यातुधान आदि शब्द भी शारीरिक, आत्मिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, सभी क्षेत्रों के दोषों को सूचित करते हैं, चाहे वे व्याधियाँ हों, चाहे चिन्ताएँ हों, चाहे आध्यात्मिक मार्ग में बाधक बनकर आनेवाली कामादि दुष्प्रवृत्तियाँ हों। वैदिक शब्दों का इस प्रकार का अर्थ-वैपुल्य और तन्मूलक अर्थ-गाभीर्य वेदों में पदे-पदे पाया जाता है। यह उपासक को अपने-अपने स्तर के अनुकूल अर्थ ग्रहण करने में परम सहायक होता है, एवं एक ही मन्त्र विविध स्तर के साधकों के लिए अपने-अपने योग्य

प्रेरणा का परम स्रोत बन जाता है।

यदि किसी मन्त्र में गौओं की याचना की गई है, तो ये गौएँ पशु-पालक के लिए गाय पशु हैं, वेद-प्रेमी के लिए वेद-वाणियाँ हैं, इन्द्रिय-जय के अभिलाषी के लिए इन्द्रियाँ हैं, शिल्पकार या सूर्य से लाभ उठाने के इच्छुक व्यक्ति के लिए सूर्य-किरणें हैं, अध्यात्म-साधक के लिए आत्म-सूर्य या परमात्म-सूर्य की किरणें हैं और जो इन सभी से लाभ उठाने की अभीप्सा रखता है, उसके लिए एकसाथ ये सभी अर्थ ग्राह्य हैं। इस प्रकार की अर्थगरिमा के कारण वेदमन्त्र भक्ति-प्रवण साधक के लिए स्तुति, प्रार्थना, उपासना एवं समर्पण के सुन्दर माध्यम सिद्ध होते हैं।

२. वेदमन्त्रों के ऋषि

वेदों की मुद्रित पुस्तकों में सूक्त, अध्याय आदि के आरम्भ में प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द निर्दिष्ट रहते हैं। इनके स्वरूप ज्ञान के लिए यहाँ संक्षिप्त विवेचन कर देना उपयुक्त होगा। सर्वप्रथम ऋषि को लेते हैं।

वेदमन्त्रों के ऋषियों के सम्बन्ध में एक मत यह है कि ऋषि मन्त्रों के रचयिता हैं। जिस मन्त्र का जो ऋषि लिखा है, उसी ने उस मन्त्र की रचना की है। ऐतिहासिक पक्ष इसी विचारधारा का है। परन्तु यह पक्ष प्रथम दृष्टि में जितना सबल प्रतीत होता है, उतना ही अधिक दुर्बल है। कई मन्त्र वेदों में एक से अधिक बार आये हैं, यदि ऋषि मन्त्र-रचयिता होते तो सर्वत्र उनका वही ऋषि होना चाहिए था, परन्तु अनेक पुनरुक्त मन्त्रों के ऋषि परस्पर भिन्न हैं। यथा—**'आ भारती भारतीभिः सजोषाः'** आदि ऋग् ३.४.८-११ पाँच मन्त्र ऋग् ७.२.८-११ में पुनरुक्त हैं। पर प्रथम स्थल में उनका ऋषि विश्वामित्र है और द्वितीय स्थल में वसिष्ठ है। तीस मन्त्रों के एक सूक्त ऋग् ९.६६ के ऋषि सौ वैखानस (वानप्रस्थ मुनि) हैं। सौ ऋषि एक सूक्त के रचयिता नहीं हो सकते। अन्य भी अनेक आपत्तियाँ इस मत में आती हैं।

द्वितीय मत के अनुसार ऋषि मन्त्रों के रचयिता न होकर अर्थद्रष्टा हैं। जिन्होंने तपस्यापूर्वक जिन-जिन मन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार करके उसका प्रचार किया, वे उन-उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये[1]। निरुक्त में लिखा है कि प्राचीनकाल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषि थे, वे असाक्षात्कृतधर्मा लोगों को मन्त्रार्थ का उपदेश कर देते थे[2]; जब ऋषि होने बन्द हो गये तब वेद-प्रेमियों को चिन्ता हुई कि अब मन्त्रार्थ-ज्ञान कैसे होगा; तब देवों ने उन्हें तर्क-रूप ऋषि दिया[3]। इससे भी ऋषि-विषयक अर्थ-द्रष्टृत्व-पक्ष की पुष्टि होती है[4]।

---

१. तद् यदेनाँस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन्, तद् ऋषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते। निरु० २.११
२. निरु० १.१९।
३. निरु० १३.१२।
४. ऋषि विषय पर द्रष्टव्य : स्वामी दयानन्द : ऋ०भा०भू० वेदोत्पत्ति व प्रश्नोत्तर विषय; स०प्र०, समु० ७। धर्मदेव विद्यामार्तण्ड : वेदों का यथार्थ स्वरूप।

इस सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि अनेक ऋषि ऐसे हैं कि जिन मन्त्रों के वे अर्थद्रष्टा हैं, उनमें से एक या अधिक मन्त्रों में उनका नाम भी पठित है। ऐसे ऋषि इतने अधिक हैं कि इस साम्य की सहसा उपेक्षा नहीं की जा सकती। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल को ही ले लेते हैं। इसके अधिकांश ऋषियों के नाम मन्त्रों में पठित हैं। यथा—

ऋषि	ऋक्-सूक्त	ऋषि	ऋक्-सूक्त
शुनःशेपः	१.२४	कुत्सः	१.१०६
प्रस्कण्वः	१.४४,४५	कक्षीवान्	१.१२६
नोधाः	१.६१,६२	दीर्घतमाः	१.१५८
गोतमः	१.७७	अगस्त्यः	१.१७०

जिन ऋषियों का नाम उसी रूप में तद्दृष्ट मन्त्रों में पठित नहीं है, उनका भी उनमें कुछ न कुछ संकेत प्रायः मिल जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि ऋषिनाम उन अर्थद्रष्टा ऋषियों के वास्तविक नाम न होकर उपनाम हैं। जिन विद्वानों ने जिन मन्त्रों का सर्वप्रथम अर्थानुसन्धान किया उन्होंने उन मन्त्रों में वर्णित किसी प्रमुख नाम को या मन्त्रागत किसी प्रमुख आशय को लेकर तदनुसार अपना उपनाम रख लिया। वे लोकैषणा के प्रति इतने उदासीन थे कि अपना असली नाम उन्होंने गुप्त ही रखा। अपने पिता-पितामह या गोत्र को अमर करने के लिए 'अमुक का पुत्र या पौत्र या अमुक गोत्र का' यह विशेषण अपने उपनाम के साथ अधिकांश ने लगा लिया। यथा 'गोतमो राहूगणः' (रहूगण का पुत्र गोतम), 'कुत्सः आङ्गिरसः' (अंगिरा-गोत्री कुत्स), 'श्यावाश्वः आत्रेयः' (अत्रि का पुत्र या अत्रि-गोत्री श्यावाश्व), 'भरद्वाजः बार्हस्पत्यः' (बृहस्पति का पुत्र भरद्वाज)।

इस दृष्टि से विचार करने पर ऋषि-नाम का मन्त्र के साथ अन्तरंग सम्बन्ध भी सिद्ध हो जाता है। जैसे 'दीर्घतमाः' एक ऋषि-नाम है, जिसका अर्थ है 'दीघकाल तक तमोग्रस्त रहनेवाला'। स्वभावतः ऐसा व्यक्ति आग्नेय सूक्तों से प्रकाश का आह्वान कर रहा है। प्रसिद्ध श्रद्धा-सूक्त (ऋग् १०.१५१) की ऋषिका श्रद्धा के पीछे दीवानी 'श्रद्धा' है, जो 'काम' की पौत्री होने से कामायनी कहलाती है। सम्भवतः इसी कारण कात्यायन-सर्वानुक्रमणी में **"यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता।"** यह लिखा है, अर्थात् ऋषि मन्त्र का वक्ता है और वह जिससे निवेदन कर रहा है वह देवता है। इस प्रकार कौन-सा मन्त्र किस योग्यतावाले या किस न्यूनतावाले व्यक्ति के लिए विशेषरूप से है, यह ऋषि-नाम से सूचित होता है। इस पद्धति से ऋषियों के नाम व्यक्तिवाची होने के साथ-साथ गुणवाची भी हो जाते हैं एवं ऋषि-नामों से दुहरा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है।

३. वेद-मन्त्रों के देवता

मन्त्र में जिस नाम से किसी की स्तुति होती है, या जिस नाम से किसी की स्तुति के लिए मनुष्यों को प्रेरणा की जाती है, अथवा जिस नाम से किसी से याचना, किसी की

उपासना या किसी का आह्वान किया जाता है, अथवा जो मन्त्र में आत्म-परिचय प्रस्तुत कर रहा होता है, वह उस मन्त्र का देवता होता है। यथा, '**अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋग् १.१.१)' में अग्नि नाम से परमेश्वर, भौतिक अग्नि, राजा आदि की स्तुति (गुण-प्रशंसा) की गई है, अतः अग्नि इस मन्त्र का देवता है। '**आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभि प्रगायत** (ऋग् १.५.१)' में मनुष्यों को इन्द्र का स्तुति-गान करने की प्रेरणा की गई है; अतः इन्द्र इस मन्त्र का देवता है। '**विश्वानि देव सवितर्** (ऋग् ५.८२.५)' में सविता से दुरित के दूरीकरण तथा भद्र-प्राप्ति की याचना की गई है, अतः सविता इस मन्त्र का देवता है। '**युञ्जते मन उत युञ्जते धियो** (ऋग् ५.८१.१)' में सविता नाम से परमेश्वर की उपासना का वर्णन है, अतः सविता इसका देवता है। '**अग्न आ याहि वीतये** (ऋग् ६.१६.१०; साम १)' में अग्नि का आह्वान किया गया है, अतः यह मन्त्र अग्नि देवता वाला है। '**अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य** (साम ५९४)' में परमेश्वर अन्न नाम से अपना परिचय दे रहा है, अतः अन्न इसका देवता है।

इसके अतिरिक्त कई मन्त्रों के देवता किसी पदार्थ-विशेष के नाम न होकर वर्णनीय विषय को सूचित करनेवाले शीर्षक के समान होते हैं, यथा **मन आवर्तन** (मन को लौटाना, ऋग् १०.५८), **धनान्नदानप्रशंसा** (धन और अन्न के दान की प्रशंसा, ऋग् १०.११७), **भाववृत्तम्** (सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन, ऋग् १०.१२९), **सपत्नी-बाधनम्** (सौत को न आने देने का उपाय, ऋग् १०.१४५), **अलक्ष्मीघ्नम्** (अलक्ष्मी का विनाश, ऋग् १०.१५५), **यक्ष्मनाशनम्** (रोग-विनाश, ऋग् १०.१६३), **दुःस्वप्ननाशनम्** (दुःस्वप्न-विनाश, १०.१६४), **राज्ञःस्तुतिः** (राजा की स्तुति, ऋग् १०.१७३)। संवाद-सूक्तों में वक्ता ऋषि और बोद्धव्य (श्रोता) देवता कहलाता है। यथा, यम-यमी-संवाद-सूक्त (ऋग् १०.१०) में जो मन्त्र यमी द्वारा कहे गये हैं, उनकी ऋषिका यमी और देवता यम है, किन्तु जो यम द्वारा यमी को उक्त हैं उनका ऋषि यम और देवता यमी है।

अनेक वेदमन्त्र ऐसे भी हैं, जिनमें देवता-नाम अग्नि, इन्द्र आदि पठित नहीं होते। तो भी जिस सूक्त, अध्याय; दशति, खण्ड आदि का वह मन्त्र होता है, उसमें उस मन्त्र से पूर्व या पश्चात् के मन्त्रों में प्रायः देवता का नाम आ जाता है। इस प्रकार पूर्वापर-प्रकरण को देखने से प्रायः देवता निर्णीत हो जाता है।

देवताओं के सम्बन्ध में एक यह बात ध्यान रखने योग्य है कि देवता-निर्देश से केवल यह ज्ञात होता है कि अमुक मन्त्र का अग्नि, इन्द्र, सविता, वरुण, मित्र, उषा, सूर्य या अन्य कोई देवता है, पर वह देवता किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसका अनुसन्धान व्याख्याकार को स्वयं करना होता है।

४. वैदिक छन्द

वैदिक छन्दों के तीन सप्तक हैं—गायत्र्यादि सप्तक, अतिजगत्यादि सप्तक और कृत्यादि सप्तक। गायत्र्यादि सप्तक में गायत्री, उष्णिग्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द हैं। ये सातों गायत्र्यादि छन्द आर्ष, दैव, आसुर, प्राजापत्य, याजुष,

साम्न, आर्च और ब्राह्म के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। इनके संक्षिप्त परिचयार्थ निम्न तालिका प्रस्तुत है—

	छन्द-नाम	गायत्री	उष्णिग्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती	अक्षरों में वृद्धि या ह्रास
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	वृद्धि ४ अक्षर
२.	दैवी	१	२	३	४	५	६	७	वृद्धि १ अक्षर
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	ह्रास १ अक्षर
४	प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	वृद्धि ४ अक्षर
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	वृद्धि १ अक्षर
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	वृद्धि २ अक्षर
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	वृद्धि ३ अक्षर
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	वृद्धि ६ अक्षर

आर्षी गायत्री २४ अक्षर की होती है, आगे प्रत्येक छन्द में ४-४ अक्षरों की वृद्धि होती चलती है। दैवी गायत्री १ अक्षर की होती है, यथा 'ओ३म्'। आगे प्रत्येक छन्द में १-१ अक्षर की वृद्धि होती है। आसुरी गायत्री १५ अक्षर की होती है, आगे क्रमशः १-१ अक्षर का ह्रास होता है। इसी प्रकार प्राजापत्या आदि अन्य छन्दों को जानना चाहिए।

इन अष्टविध आर्ष, दैव, आसुर प्रभृति छन्दों में से वेदों में अधिकतर प्रयोग आर्ष छन्दों का ही हुआ है। प्रस्तुत संग्रह में चुने गये मन्त्र भी प्रायः इन आर्ष छन्दों के ही हैं, अतः सबके साथ आर्षी लिखा नहीं है। तो भी चार-छः स्थलों पर उक्त इतर छन्दों के मन्त्र भी हैं। यथा, मन्त्र संख्या २१६ में आर्ची पंक्ति (३० अक्षर), संख्या २२५ और २२९ में ब्राह्मी उष्णिक् (४२ अक्षर) छन्द हैं। आर्ष गायत्र्यादि सप्तक ही वेदों में अधिक प्रयुक्त होने के कारण नीचे उसका कुछ विस्तृत परिचय दिया जा रहा है।

आर्ष गायत्र्यादि सप्तक—

गायत्री—कुल २४ अक्षर तथा ८-८ अक्षर के तीन पाद होते हैं। क्वचित् अक्षर-संख्या न्यूनाधिक भी हो जाती है तथा पाद-संख्या में भी अन्तर आ जाता है। यथा ७,७,७ (२१) पादनिचृद् गायत्री। ६,८,७ (२१) अतिपादनिचृद् गायत्री। ६,७,८ (२१) वर्धमाना गायत्री। ७,१०,७ (२४) यवमध्या गायत्री। ८,१०,७ (२५) या ८,७,१० (२५) भुरिग् गायत्री। ५,५,५,५,५ (२५) या ४,५,५,५,६ (२५) पदपंक्ति गायत्री। १२,८ (२०) द्विपदा विराड् गायत्री।

उष्णिग्—कुल २८ अक्षर होते हैं। सामान्यतः दो पाद ८-८ अक्षर के और एक पाद १२ अक्षर का रहता है। द्वादशाक्षर पाद की स्थिति के आधार पर इसके विभिन्न नाम हो जाते

हैं। ८,१२,८ (२८) ककुब् उष्णिग्। १२,८,८ (२८) पुर उष्णिग्। ८,८,१२ (२८) परा उष्णिग्। ७,७,७,७ (२८) चतुष्पदा उष्णिग् होती है, यद्यपि ऋक्प्रातिशाख्यकार ने इसे अनुष्टुप् के समान पाद चार होने से अनुष्टुब्-वर्ग में सम्मिलित किया है।

अनुष्टुप्—कुल ३२ अक्षर तथा ८-८ अक्षर के चार पाद होते हैं। त्रिपाद् अनुष्टुप् भी होती है, यथा १२,८,१२(३२) मध्येज्योतिः या पिपीलिकामध्या। १२,१२,८(३२) उपरिष्टाज्ज्योतिः। ८,१२,१२ (३२) पुरस्ताज्ज्योतिः। अष्टाक्षर पाद को ज्योति मानकर उसकी स्थिति के आधार पर यह नामकरण है। ११,११,११(३३) विराड्-अनुष्टुप् कहलाती है। इसे समानाक्षर तीन पाद होने के कारण पिंगल ने त्रिपदा विराड् गायत्री कहा है, यद्यपि अक्षर-संख्या की दृष्टि से यह अनुष्टुप् ही मानी जाती जानी चाहिए।

बृहती—कुल ३६ अक्षर होते हैं। ८,८,१२,८ (३६) पथ्या बृहती। ८,१२,८,८(३६)(उरोबृहती, स्कन्धोग्रीवी या न्यङ्कुसारिणी। ८,८,८,१२(३६) उपरिष्टाद् बृहती। १२,८,८,८(३६) पुरस्ताद् बृहती कहलाती है। यह नामकरण द्वादशाक्षर पाद की स्थिति के आधार पर है। १०,१०,८,८(३६) और ९,९,९,९(३६) को भी बृहती ही कहते हैं। १२,१२,१२(३६) को महाबृहती या सतोबृहती, ८,१०,१०,८(३६) को विष्टार बृहती और ९,८,११,८(३६) को विषमपदा बृहती कहते हैं।

पङ्क्ति—कुल ४० अक्षर होते हैं। पादाक्षर-संख्या भिन्न-भिन्न होने से इसके विभिन्न नाम हो जाते हैं। १२,८,१२,८ (४०) या ८,१२,८,१२ (४०) सतः-पङ्क्ति या सतोबृहती पङ्क्ति। ८,८,१२,१२ (४०) आस्तार पङ्क्ति। १२,१२,८,८ (४०) प्रस्तार पङ्क्ति। ८,१२,१२,८ (४०) विष्टार पङ्क्ति। १२,८,८,१२ (४०) संस्तार पङ्क्ति। ८,८,८,८,८ (४०) पथ्या पङ्क्ति। १०,१०,१०,१० (४०) विराट् पङ्क्ति हैं। ५,५,५,५,५(२५) को भी पिंगल ने पदपङ्क्ति के नाम से पङ्क्ति के भेदों में परिगणित किया है, यद्यपि अक्षर-संख्या की दृष्टि से यह गायत्री ही है तथा ऋक्प्रातिशाख्यकार ने इसे गायत्री का ही भेद माना है।

त्रिष्टुप्—इसमें सामान्यतः कुल ४४ अक्षर तथा ११-११ अक्षर के चार पाद होते हैं। पादाक्षर-संख्या के भेद से इसके विभिन्न नाम हो जाते हैं, जिनमें किसी-किसी में कुल अक्षर-संख्या भी न्यूनाधिक हो जाती है। १२,१२,११,११ (४६) जागती त्रिष्टुप्। १०,१०,१२,१२ (४४) अभिसारिणी त्रिष्टुप्। ११,११,११,८ (४१) विराड्रूपा या परानुष्टुप् त्रिष्टुप्। ८,१२,१२,१२ (४४) या १२,१२८,१२ (४४) मध्येज्योतिः त्रिष्टुप्। १२,१२,१२,८ (४४) उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप्। इन ८ अक्षरवाली सभी त्रिष्टुपों को सामान्यतः ज्योतिष्मती त्रिष्टुप् भी कह देते हैं।

जगती—कुल ४८ अक्षर तथा १२,१२ अक्षर के चार पाद होते हैं। त्रिष्टुप् के भेदों में परिगणित १२,१२,११,११ (४६) को जगती का भी भेद माना गया है तथा इसे उपजगती नाम दिया गया है। ८,८,८,१२,१२ (४८) महासतोबृहती जगती और ८,८,८,८,८,८(४८) षट्पदा महापङ्क्ति जगती कहलाती है। छन्दःशास्त्र के आचार्यों ने इसके ४४ अक्षर संख्या

वाले भी कतिपय भेद वर्णित किये हैं। यथा, पिंगल ने १२,८,८,८,८ (४४) को पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती, ८,८,१२,८,८ (४४) को मध्येज्योतिष्मती जगती एवं ८,८,८,८,१२ (४४) को उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती जगती कहा है।

अतिजगत्यादि और कृत्यादि सप्तक-

अतिजगत्यादि सप्तक ५२ अक्षर से आरम्भ होकर ४-४ अक्षर की वृद्धि से ७६ अक्षर-संख्या तक जाता है। उसके पश्चात् कृत्यादि सप्तक ८० अक्षर से प्रारम्भ होकर ४-४ अक्षर की वृद्धि से १०४ अक्षर-संख्या तक जाता है। इन सप्तकों में सम्मिलित छन्दों के नाम अक्षर-संख्या सहित नीचे दिये जा रहे हैं—

अतिजगत्यादि सप्तक		कृत्यादि सप्तक	
अतिजगती	५२	कृति	८०
शक्वरी	५६	प्रकृति	८४
अतिशक्वरी	६०	आकृति	८८
अष्टि	६४	विकृति	९२
अत्यष्टि	६८	संस्कृति	९६
धृति	७२	अभिकृति	१००
अतिधृति	७६	उत्कृति	१०४

प्रस्तुत मञ्जरी में अतिजगत्यादि सप्तक के कुल चार ही मन्त्र आये हैं। मन्त्र संख्या २४९ और ३६५ में अतिजगती, संख्या ३६१ में अतिशक्वरी और संख्या २४० में अत्यष्टि छन्द है। कृत्यादि सप्तक के छन्दों का कोई मन्त्र इस संग्रह में नहीं है।

निचृद्, भुरिग्, विराट्, स्वराट्—

अनेक मन्त्रों में छन्दों की वास्तविक निर्दिष्ट अक्षर-संख्या की अपेक्षा न्यूनता या अधिकता भी पायी जाती है। एक या दो अक्षर की न्यूनता या अधिकता होने पर छन्द वही रहता है। एक अक्षर की न्यूनता होने पर वह छन्द निचृद् कहाता है, यथा गायत्री के २४ के स्थान पर २३ अक्षर होने पर निचृद् गायत्री कहाती है। एक अक्षर की अधिकता होने पर वह छन्द भुरिग् विशेषण से व्यपदिष्ट होता है, यथा गायत्री में २५ अक्षर होने पर वह भुरिग् गायत्री होती है। दो अक्षर की न्यूनता होने पर कोई छन्द विराड् तथा दो अक्षर की अधिकता होने पर स्वराड् कहलाता है। परन्तु अधिकांश छन्दों में क्योंकि उत्तरोत्तर ४-४ अक्षरों की वृद्धि होती है, अतः २६ अक्षर का छन्द विराड् उष्णिग् भी हो सकता है और स्वराड् गायत्री भी। ३० अक्षर का छन्द विराड् अनुष्टुप् भी हो सकता है और स्वराड् उष्णिग् भी। इसी प्रकार ३४, ३८, ४२, ४६ आदि अक्षरों के छन्दों में भी सन्देह उत्पन्न हो सकता है। इसके निर्णय में प्रकरण, पाद, देवता आदि नियामक होते हैं[१]।

शंकुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या, यवमध्या

१. पिंगल ३.५९-६३ २. पिंगल ३.५५-५८

पिंगल[2] के अनुसार छन्दों के शंकुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या और यवमध्या नामक भेद भी होते हैं। किसी छन्द में कोई एक पाद ५ अक्षर का होने पर वह छन्द शंकुमती विशेषण से विशिष्ट कहलाता है। यथा, प्रस्तुत संग्रह में मन्त्र संख्या १५५ शंकुमती बृहती तथा संख्या ३५९ शंकुमती पंक्ति है। किसी छन्द में कोई एक पाद ६ अक्षरों का होने पर वह छन्द ककुम्मती विशेषण से विशिष्ट कहाता है। यथा मन्त्र संख्या ११९, १२५ और १५७ में ककुम्मती अनुष्टुप् है। किसी त्रिपाद् छन्द में मध्य का पाद इतर पादों से छोटा होने पर पिपीलिका (चिऊँटी) जैसी आकृति बनने के कारण वह छन्द पिपीलिकामध्या विशेषण से युक्त होता है। यथा, मन्त्र संख्या ६ और २३१ में ८,७,८ के पाद होने के कारण पिपीलिकामध्या गायत्री है। किसी त्रिपाद् छन्द का बीच का पाद अधिक अक्षरों का होने पर यव जैसी मोटे मध्य वाली आकृति बनने के कारण वह छन्द यवमध्या कहाता है। यथा, मन्त्रसंख्या १६९ में क्रमशः ८,११,८ के पाद होने से यवमध्या उष्णिक् छन्द है। यवमध्या को मध्य में बैल की पीठ के समान कुब्ब निकला होने के कारण ककुब् भी कहते हैं। वेदमन्त्रों का छन्द प्रदर्शित करने वाले कोई आचार्य इन शंकुमती आदि विशेषणों को प्रयुक्त करते हैं, कोई नहीं भी करते।

५. ऋषि, देवता और छन्द के ज्ञान का महत्त्व

वेद के स्वाध्याय-काल में मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द का ज्ञान आवश्यक माना गया है। सायण ने अपने ऋग्भाष्य की भूमिका में बृहद्देवता का निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीयान् जायते तु सः[1]॥

अर्थात् ऋषि, देवता और छन्द को जाने बिना जो वेदमन्त्रों का अध्यापन या जप करता है, उसे पाप लगता है। अभिप्राय यह है कि उसके अध्ययन-अध्यापन या जप में कुछ कमी रह जाती है।

वेंकटमाधव की ऋग्वेदानुक्रमणी[2] और कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी[3] एवं यजुः सर्वानुक्रमसूत्र[4] में भी ऐसा ही लिखा है।

ऋषि-विषयक पूर्व-विवेचन के अनुसार ऋषि एवं उसके गोत्र का ज्ञान अर्थद्रष्टा ऋषि के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ तथा पाठक स्वयं को ऋषि के स्थानापन्न समझकर मन्त्रार्थ का आनन्द ले सके—एतदर्थ उपयोगी है। देवता-ज्ञान के बिना मन्त्र का आशय पूर्णतः हृदयंगम नहीं हो सकता, भले ही मन्त्रागत पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ एवं वाक्यार्थ ज्ञात हो जाए। किसी इन्द्र-देवताक मन्त्र के विषय में यह ज्ञात न हो कि इसका देवता इन्द्र है तो मन्त्र-

---

१. बृ० दे० ८.१३६।
२. अष्टक ५, अध्याय १, श्लोक ५-७।
३. उपोद्घात।
४. अध्याय १.१।

प्रोक्त स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि के साथ इन्द्र-पद से सूचित होने वाले परमैश्वर्यवत्त्व आदि गुणों का चिंतन हम कैसे कर सकेंगे और इन्द्र देवता के साथ जो व्यापक वैदिक रहस्यवाद जुड़ा हुआ है उसका दर्शन मन्त्र में कैसे हो सकेगा? शीर्षक और पृष्ठभूमि के ज्ञान के बिना किसी लौकिक कविता की जो गति होती है, वही गति देवताज्ञान-विहीन वेदमन्त्र की होगी।

छन्द का ज्ञान वेदमन्त्र के लयपूर्वक शुद्ध उच्चारण में तो सहायक होता ही है, इसके साथ किसी सीमा तक अर्थज्ञान में भी उसकी उपयोगिता है। विविध छन्द विविध विषयों की व्यंजना करने में समर्थ होते हैं, यह छन्दः शास्त्रियों ने स्वीकार किया है[१]। अतः छन्दोज्ञान से विषयवस्तु को समझने में सहायता मिलती है। जैसे वेद में गायत्री एवं उष्णिग् भक्ति-रस के लिए, पंक्ति कलात्मक वर्णन के लिए, त्रिष्टुप् वीर-रस के लिए तथा अनुष्टुप् और जगती उपदेशप्रधान एवं वर्णनात्मक प्रसंगों के लिए अधिक प्रयुक्त हुए हैं। एतद्विषयक अधिक अनुसन्धान अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त छन्दोज्ञान से पादज्ञान होता है, जो वेदार्थ में परमोपयोगी है। प्रत्येक पाद अपने अन्दर एक अर्थविशेष को रखता है और सब पादों का अर्थ मिलकर मन्त्र के सम्पूर्ण अर्थ को व्यक्त करता है।

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः।
ऋगर्थः समुदायः स्यात् तेषां बुद्ध्या प्रकल्पितः[२]॥

इसके साथ ही संदिग्ध देवता वाले मन्त्रों में छन्द का ज्ञान देवता-निर्णय में भी सहायक हो सकता है, क्योंकि छन्दःशास्त्रकारों तथा निरुक्तकार ने विभिन्न छन्दों का देवताओं से सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है[३]। इस प्रकार वेदाध्ययन में छन्दोज्ञान की उपयोगिता स्पष्ट है[४]।

६. वैदिक भाषा के कुछ सामान्य नियम

यों तो लौकिक संस्कृत और वैदिक भाषा का अन्तर बतानेवाला विस्तृत वैदिक व्याकरण है, पर वैदिक भाषा के कतिपय सामान्य नियम हम यहाँ दे रहे हैं, जो वेदमन्त्रों में बार-बार प्रयुक्त हुए हैं तथा जिनका ज्ञान वेद के अध्येता के लिए आवश्यक है। वर्णित प्रत्येक नियम के उदाहरण प्रस्तुत मञ्जरी से ही दिये जा रहे हैं। कोष्ठक में दी गई संख्या मञ्जरी की मन्त्र संख्या है।

१. लोक में उपसर्ग धातु से अव्यवहित-पूर्व प्रयुक्त होते हैं, यथा आगच्छति, परागच्छति आदि। परन्तु वेद में उपसर्गों का धातुरूप के परे तथा व्यवधान के साथ भी प्रयोग मिलता

---

१. क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्ततिलक, विन्यास ३, श्लोक ६-२३।
२. माधवीय आख्यातानुक्रमणी का उपोद्घात-प्रकरण।
३. द्रष्टव्य : ऋग् १०.१०३.४,५। पिंगल ३.३६। ऋक्प्रातिशाख्य १७.७,८।
४. छन्दःशास्त्र की वेदार्थ में उपयोगिता के लिए द्रष्टव्य : युधिष्ठिर मीमांसकः वैदिक छन्दोमीमांसा, अध्याय ५।

है। यथा, पर-प्रयोग—या **दोहते प्रति** वरं जरित्रे (२१०), स नः **पर्षद् अति** द्विषः (२१५), ततस्त ईर्ष्यां **मुञ्चामि निर्** ऊष्माणं दृतेरिव (३०३)। पूर्व-व्यवहित प्रयोग—**वि** धूममग्ने अरुषं मियेध्य **सृज** प्रशस्त दर्शतम् (११), **नि** त्वामग्ने मनुर्**दधे**(१३), **प्र** मण्डूका **अवादिषुः** (१३९), **वि** ते **मुञ्चामि** रशनाम्(३२१)। पर-व्यवहित प्रयोग—**अवेः** इन्द्र **प्र** णो धियः (१४९), **अगन्महि** मनसा **सं** शिवेन(२२०)[१]।

२. वेद में लेट् लकार सर्वथा नवीन है, जो लोक में प्रयुक्त नहीं होता। उदाहरणार्थ, यज धातु के लेट् लकार प्रथम-पुरुष एकवचन परस्मैपद में—यजति, यजाति, यजत्, यजात्, यजिषति, यजिषाति, यजिषत्, यजिषात्, याजिषति, याजिषाति, याजिषत्, याजिषान्—ये १२ रूप बनते हैं। आत्मनेपद में—यजते, यजाते, यजिषते, यजिषाते, याजिषते, याजिषाते—ये ६ रूप होते हैं। प्रस्तुत संग्रह में असत्(३९), पारयात्(४०), असिस (५८), जोषयासे (८७), यजाते, स्तवत्, पृणात् (११७), याचिषत् (१४०), करत्, वशत्(१५६) आदि लेट् के रूप हैं। यह लकार विधि आदि अर्थों में आता है[२]।

३. जाने के लिए (गन्तुम्), पढ़ने के लिए (पठितुम्) आदि तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वेद में धातु से परे से, असे, अध्यै, तवै, तवे आदि प्रत्यय लगते हैं, जो लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होते। प्रस्तुत संग्रह में—यातवे (४३), अन्वेतवे (१३२), निकर्तवे, परिशक्तवे (१५९), दोहसे (११२), अवसे (१६६) आदि इसके उदाहरण हैं[३]।

४. अदन्त नपुंसकलिंग शब्दों के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन 'वनानि', 'ध्रुवाणि' आदि के नि या णि का लोप होकर 'वना,', 'ध्रुवा' आदि रूप भी वेद में बनते हैं। यथा—पदा [पदानि] (६), ता [तानि] (१०), सख्या [सख्यानि] (२३), विसदृशा जीविता [विसदृशानि जीवितानि] (३६), काव्या [काव्यानि] (४९), व्रता ध्रुवा [व्रतानि ध्रुवाणि] (५०), विभृता [विभृतानि] (१९७)[४]

५. वेद में तु, नु, घ, मक्षु, कु, त्र आदि को, लोट् मध्यमपुरुष-बहुवचन के 'त' को, दो अच् वाले अदन्त तिङन्तों (क्रियापदों) को, निपातों को तथा क्वचित् अन्यत्र भी दीर्घ हो जाता है। यथा—घा (५), मक्षू (६८) यत्रा (१३८), दक्षता (१२९), विद्मा (१६१), एवा

---

१. ते प्राग् धातोः। छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च (पा १.४.८०-८२)।
२. लिङर्थे लेट् (पा ३.४.७), उपसंवादाशङ्कयोश्च (३.४.८), सिब्बहुलं लेटि (३.१.३४), सिब् बहुलं णिद् वक्तव्यः (वा०), इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३.४.९७), लेटोऽडाटौ (३.४.९४), स उत्तमस्य (३.४.९८), आत ऐ (३.४.९५), वैतोऽन्यत्र (३.४.९६।
३. तुमर्थे से सेन् असे असेन् क्से कसेन् अध्यै अध्यैन् कध्यै कध्यैन् शध्यै शध्यैन् तवै तवेङ् तवेनः (पा ३.४.९)।
४. शेश्छन्दसि बहुलम् (पा ६.१.७०)।
५. ऋचि तु-नु-घ-मक्षु-तङ्-कु-त्र-उरुष्याणाम् (पा ६.३.१३३), द्व्यचो ऽतस्तिङः (६.३.१३५), निपातस्य च (६.३.१३६), अन्येषामपि दृश्यते (६.३.१३७)।

(८४), अच्छा (१४८), चना (१६०), रन्धया (२२), चकृमा (४७), मिनवामा (१०१)[५]।

६. लोक में अदन्त शब्दों के तृतीया-बहुवचन में भिस् को नित्य ऐस् होकर देवैः, भद्रैः आदि रूप बनते हैं। किन्तु वेद में भिस् को ऐस् कहीं हो जाता है, कहीं नहीं होता, अतः देवेभिः, भद्रेभिः आदि रूप भी पाये जाते हैं। यथा—वाजेभिः (१), तेभिः (४६), वृष्ण्येभिः (७३)[१]।

७. वेद में सुपों के स्थान पर सु, सुपों का लुक्, पूर्व-सवर्णदीर्घ, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच् और आल् हो जाते हैं। यथा, प्रस्तुत संग्रह में वीर्येण के स्थान पर वीर्या (२५) में तृतीया विभक्ति को आ, ऊत्यै के स्थान पर ऊती (३४) में पूर्वसवर्णदीर्घ, अश्विनौ के स्थान पर अश्विना (४३) में औ को आ, आजौ के स्थान पर आजा (१३८) में सप्तमी विभक्ति को डा (आ) हुआ है[२]।

८. 'गच्छामः' (गच्छामस्) आदि उत्तमपुरुष-बहुवचन के अन्त में इ जुड़कर क्वचित् 'गच्छामसि' आदि रूप बनते हैं। यथा—अधीमसि (२५), वदामसि (१४८), परिव्ययामसि (२३९), नाशयामसि (३१७), उत्थापयामसि (३३१)। इन रूपों में अन्त में 'सि' देखकर 'गच्छसि' आदि के समान मध्यमपुरुष-एकवचन का भ्रम नहीं करना चाहिए[३]।

९. क्वचित् 'स्नात्वा', 'पीत्वा' आदि में अन्त के आ को ई होकर 'स्नात्वी', 'पीत्वी' (स्नान करके, पीकर) आदि रूप बन जाते हैं। यथा—हत्वा के स्थान पर हत्वी (६९)[४]।

१०. अकारान्त शब्दों में जस् के अन्त में असुक् (अस्) जुड़कर 'ब्राह्मणाः' आदि के स्थान पर 'ब्राह्मणासः' आदि वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। यथा—वीरासः (१०४), देवासः (१२९), स्तोमासः (१४२), कामासः (१४८), प्रियमेधासः (१५७), उपस्तुतासः (१६९)[५]।

११. एक ही पाद में आन् से परे कोई स्वर अ, इ, उ आदि हो तो न् का लोप होकर आ को अनुनासिक हो जाता है। यथा—महाँ इन्द्रः (३), महाँ असि (११), देवाँ उषर्बुधः (१८), त्वावाँ इन्द्र (२६), वीराँ उत, विद्वाँ अस्य (५०), अन्तराँ अमित्रान् (६६), अत्याँ उत (६९), द्युम्नवाँ असि (९७), मधुमाँ उतायं, रसवाँ उतायं (११३), अश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्यून् (१२७)[६]।

१२. ऋग्वेद में दो स्वरों के मध्य में जब ड् या ढ् अक्षर आता है, तब उसके स्थान पर

---

१. अतो भिस ऐस्। बहुलं छन्दसि (पा ७.१.९,१०)।
२. सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (पा ७.१.३९)।
३. इदन्तो मसि (पा ७.१.४५)।
४. स्नात्व्यादयश्च (पा ७.१.४९)।
५. आज्जसेरसुक् (पा ७.१.५०)।

क्रमशः ळ् और ळह् हो जाते हैं। यथा—मृळ (११५), अग्निमीळे (१५०), जिहीळ (१९८), हव्यावाळुत (२०६) में ड् को ळ् हो गया है। निबाळहः (३५), मीळहुषः (५१) में ढ् को ळह् हुआ है। दोनों ओर स्वर न रहने पर यह परिवर्तन नहीं होता। यथा 'ईड्यं' में ड् से पूर्व तो स्वर (ई) है, किन्तु ड् से परे य है, जो स्वर नहीं है, अतः यहाँ ड् को ळ् नहीं होता है[१]।

१३. यजुर्वेद में ह, श, ष, स और र परे होने पर अनुस्वार को ꣳ या ꣳ हो जाता है। ह्रस्व से परे अनुस्वार का दीर्घरूप ꣳ होता है, यथा—प्रत्युष्ट ꣳ रक्षः (२१७), सं ꣳ सृज्य मातृभिष्ट्वं (२३३), अस्मभ्य ꣳ शिवो भव (२३९)। दीर्घ से परे अनुस्वार का ह्रस्वरूप ꣳ होता है, यथा—सङ्कल्पेया ꣳ संप्रियौ (२३४), पशूना ꣳ रूपम् (२६०)।[२]

७. मञ्जरी की रचना

पृष्ठभूमि

प्रस्तुत वेद-मञ्जरी श्री स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती की प्रेरणा से आचार्य श्री अभय विद्यालंकार की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'वैदिक विनय' की शैली पर लिखी गयी है। 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय' के मेरे महाविद्यालय-काल में स्वामी अभयदेव पर्याप्त समय गुरुकुल के आचार्य रहे और चतुर्थ वर्ष में वे हमारी कक्षा को अथर्ववेद पढ़ाते थे। मेरे स्नातक होने के पश्चात् उन्होंने ही मुझे गुरुकुल में वेद का उपाध्याय नियुक्त कर मुझे वेदों का गम्भीर अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया और वे मुझसे वेद-सेवा की आशा करते थे। अतः उनकी शैली के अनुरूप वेद-व्याख्या की नवीन पुस्तक लिखने का प्रस्ताव मुझे रुचिकर लगा, क्योंकि इससे मुझे आचार्य-ऋण चुकाने का अवसर प्राप्त हो रहा था।

मन्त्रों का चुनाव

श्री स्वामी दीक्षानन्द जी का परामर्श था कि इस संग्रह में यथाशक्ति नवीन मन्त्र रखे जायें, जो अन्य वेदव्याख्या-पुस्तकों में न आये हों। वैसा ही करने का प्रयास किया गया है। इसमें 'वैदिक विनय' में व्याख्यात कोई मन्त्र नहीं लिया गया है। कतिपय मन्त्र ऐसे अवश्य हैं जो अन्य किसी संग्रह में भी हैं, पर उनके अर्थ और उनकी व्याख्या में नवीनता है। वेदमन्त्रों का चयन चारों वेदों के पारायणपूर्वक किया गया है। चुनाव में यथासम्भव सरल भाषा और आकर्षक भाव की ओर ध्यान रखा गया है। नवीनता, सरलता, विविधता एवं मनोहारिता का लक्ष्य सम्मुख होने के कारण मन्त्रों के चुनाव में पर्याप्त श्रम करना पड़ा है। वर्ष के दिनों की संख्या के अनुसार प्रतिदिन एक मन्त्र के स्वाध्याय की दृष्टि से कुल ३६५ मन्त्र रखे गये हैं, जिनमें २१५ मन्त्र ऋग्वेद के, ४६ मन्त्र यजुर्वेद के, २० मन्त्र सामवेद के

---

१. द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळहकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः॥ —ऋक्प्रातिशाख्य १.५२

२. अनुस्वारस्य ꣳ इत्यादेशः शषसहरेफेषु। तस्य त्रैविध्यमाख्यातम्, ह्रस्वदीर्घगुरुभेदैः। दीर्घात्

और ८४ मन्त्र अथर्ववेद के हैं। सामवेद में अधिकांश मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी मिलते हैं। हमने प्राय: वे ही मन्त्र चुने हैं, जो अन्य वेदों में नहीं आते, प्रत्युत सामवेद के ही अपने नवीन मन्त्र हैं।

व्याख्या-क्रम

प्रत्येक मन्त्र में क्रम इस प्रकार रखा गया है—सर्वप्रथम मन्त्र-संख्या है। संख्याएँ क्रमशः १ से आरम्भ करके ३६५ तक गयी हैं। उसके पश्चात् मन्त्र का शीर्षक है, जो मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय के आधार पर या मन्त्रगत किसी केन्द्रभूत बात को लेकर लिखा गया है। उसके बाद मन्त्र तथा उसका पता है कि वह मन्त्र कहाँ से लिया गया है। मन्त्र के मध्य में एक स्थान पर तो पूर्ण-विराम आता ही है, उसके अतिरिक्त पाद-विभाग सूचित करने के लिए प्रत्येक पाद-समाप्ति पर प्राय:अर्ध-विराम का चिह्न दे दिया है। इससे पृथक्-पृथक् पाद ज्ञात हो जाने से मन्त्र-पाठ में तथा मन्त्रार्थ हृदयंगम करने में पाठकों को सुविधा होगी। प्रत्येक पाद की समाप्ति पर अन्तिम अक्षर के ऊपर उस पाद की अक्षर-संख्या भी दे दी है। इससे पाठक यह जान सकेंगे कि इस मन्त्र में इतने-इतने अक्षरों के इतने पाद है, जिससे छन्द को समझने में सहायता मिलेगी। दो पादों के मध्य की सन्धि को हमने कहीं-कहीं तोड़कर लिखा है।

पतेसहित मन्त्र के पश्चात् उस मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का निर्देश है। यजुर्वेदीय मन्त्रों के देवता कर्मकाण्डिक व्याख्या में भिन्न होते हैं। हमने यजुर्वेद के मन्त्रों (कण्डिकाओं) के देवता-प्रतिपादन में दयानन्द-भाष्य का अनुसरण किया है। मन्त्रों के छन्द-निर्णय में अनेक स्थलों पर आचार्यों में मतभेद है। हमने जो मन्त्र चुने हैं उनमें अधिकांश में तो छन्द निर्विवाद है। मतभेद के स्थलों में हमने किसी एक आचार्य का अनुसरण न कर विभिन्न आचार्यों के मतों को देखकर स्वतन्त्र रूप से छन्द लिखे हैं।

तदनन्तर कोष्ठक में संस्कृत शब्द देते हुए मन्त्र का सान्वय पदार्थ दर्शाया गया है। पदार्थ में दो प्रकार के कोष्ठकों का प्रयोग किया गया है—( ) इस लघु कोष्ठक में मन्त्रागत संस्कृत-शब्द हैं। कोष्ठक के बाहर उनका आर्यभाषार्थ दिया गया है। इस आर्याभाषार्थ में कोई-कोई शब्द [ ] इस बृहत् कोष्ठक के अन्तर्गत कर दिये गये हैं। ये वे शब्द हैं जिनका अर्थपूर्ति के लिए ऊपर से अध्याहार करना पड़ा है। कहीं-कहीं श्लेष का आश्रय लेकर कुछ संस्कृत-शब्द दो बार मन्त्रार्थ में लिये गए हैं, यद्यपि मन्त्र में वे एक ही बार पठित हैं। मन्त्रार्थ प्राचीन एवं अर्वाचीन विभिन्न वेदभाष्यकारों, निरुक्त, दयानन्द-भाष्य आदि से सहायता लेकर स्वतन्त्र रूप से किया गया है।

शब्दार्थ के अनन्तर व्याख्या लिखी गयी है, जिसे हम मञ्जरी-विकास भी कह सकते हैं। व्याख्या में यह प्रयत्न किया गया है कि उसका प्रवाह मन्त्रानुसारी हो तथा मन्त्रगत पूर्ण भाव मन्त्र की ही वर्णन-शैली में व्याख्या के अन्दर आ जाए और मन्त्र की आत्मा व्याख्या में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हो सके। मन्त्र का जो देवता है, उसकी भी संगति व्याख्या में घटित हो गयी है। कुछ मन्त्रों की व्याख्या में उपनिषद्, योगदर्शन, भगवद्गीता आदि के किन्हीं

प्रसंगों का भाव अन्तर्गर्भित है। कुछ में जिस सूक्त का वह मन्त्र है उस सूक्त के पूर्व-मन्त्रों से पृष्ठभूमि लेकर पल्लवन किया गया है। व्याख्या मन्त्र पर पर्याप्त मनन करने के पश्चात् लिखी गई है।

शब्दार्थ और व्याख्या में कहीं-कहीं किन्हीं शब्दों के ऊपर १,२,३ आदि अंक भी लिखे हैं। ये व्याख्या के बाद दी गई टिप्पणी के द्योतक हैं। टिप्पणी में निघण्टु, निरुक्त, शतपथ आदि के प्रमाण, धातु-निर्देश, निर्वचन आदि दिये गये हैं। स्थानाभाव से तथा सामान्य पाठक के लिए अनुपयोगी होने से व्याकरण के सूत्रों का उल्लेख प्रायः नहीं किया गया है।

मन्त्रों के पते

मन्त्र का पता सर्वत्र एक ही दिया है, यद्यपि कई मन्त्र ऐसे भी हैं जो दिये हुए पते से अतिरिक्त अन्यत्र भी उसी वेद में या अन्य वेदों में मिल जाते हैं। परिपाटी ऐसी चली हुई है कि कोई मन्त्र वेदों में जहाँ-जहाँ आया है, उन सभी स्थलों का पता मन्त्र के साथ दे दिया जाता है। परन्तु हमने जिस वेद के जिस स्थल से कोई मन्त्र चुना है, केवल उसी स्थल का पता दिया है और उसी स्थल के ऋषि, देवता एवं छन्द लिखे हैं। कोई मन्त्र अन्य वेद में या उसी वेद में अन्यत्र पठित होने पर उसके ऋषि एवं देवता बदल भी जाते हैं। किसी-किसी का तो छन्द भी परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि विवादास्पद छन्दों के निर्णय में प्रकरण भी एक हेतु होता है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकरण में किसी मन्त्र का जो अर्थ है, आवश्यक नहीं कि अन्यत्र पठित उसी मन्त्र का वही अर्थ सम्भव हो। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत संग्रह में हमने संख्या ३१७ पर अथर्वकाण्ड ७ का 'दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं' आदि मन्त्र (७.२३.१) लिया है, जो अथर्व के ही काण्ड ४ (४.१७.५) में भी आता है। काण्ड ७ में इसका ऋषि यम और देवता दुःस्वप्ननाशन है, किन्तु काण्ड ४ में ऋषि शुक्र और देवता अपामार्ग वनस्पति है। काण्ड ७ का मन्त्र लेकर जो अर्थ हमने किया है, वही अर्थ काण्ड ४ का मन्त्र लेने पर सम्भव नहीं था। अतः हमने जहाँ से जो मन्त्र लिया है, उसी का पता देना उचित समझा है।

मन्त्रार्थ

वेदार्थ के सम्बन्ध में विभिन्न वेदार्थ-प्रक्रियाएँ प्राचीनकाल से प्रचलित रही हैं, जिनमें अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ तथा अधिभूत प्रक्रियाएँ प्रमुख हैं[1]। इन प्रक्रियाओं के अनुसार वेदोक्त अग्नि, इन्द्र आदि देवता विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अर्थों को देते हैं। यथा, एक ही 'अग्नि' अध्यात्म में परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, जाठराग्नि आदि अर्थों को, अधिदैवत में पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्षस्थ विद्युदग्नि, द्युलोकस्थ सूर्याग्नि आदि अर्थों को, अधियज्ञ में यज्ञाग्नि को और अधिभूत में राजा, सेनापति आदि अर्थों को देता है। तदनुसार सम्पूर्ण मन्त्र का आशय विभिन्न प्रक्रियाओं में भिन्न-भिन्न हो जाता है।

१. वेदार्थ-प्रक्रियाओं के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक 'वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाएँ',

हमने प्रमुख रूप से मन्त्रार्थ अध्यात्म-प्रक्रियानुसार प्रदर्शित किये हैं। जहाँ इतर प्रक्रियाओं का भी आश्रय लिया है, वहाँ भी चरम परिणति प्रायः अध्यात्म में की गयी है। यथा, उषा और सूर्य के उदय के वर्णन को प्राकृतिक उषा एवं सूर्य के उदय के साथ-साथ आन्तरिक उषा एवं आन्तरिक सूर्य के आविर्भाव में भी दर्शाया गया है। स्वराज्य के वर्णन को राष्ट्रिय स्वराज्य की पृष्ठभूमि के साथ आत्मिक स्वराज्य में चरितार्थ किया गया है। राज्याभिषेक के वर्णन में राजा के अभिषेक के साथ-साथ आत्मा के अभिषेक की भी प्रेरणा ली गयी है। वर्षा-वर्णन में भौतिक वर्षा के साथ-साथ दिव्य ब्रह्मानन्द की वर्षा का भी ग्रहण किया गया है। कृषि के वर्णन में बाह्यकृषि के साथ-साथ योग की आन्तरिक कृषि का आशय भी प्रस्फुटित किया गया है। वर्षा से उल्लसित मण्डूकों की ध्वनि में ब्रह्मचारियों के वेदपाठ का समाँ बाँधा गया है। गोवध के निषेध में बाह्य अर्थ के साथ वेदवाग्रूपिणी गौ की उपेक्षा न करने का सन्देश भी मुखरित किया गया है। यज्ञ के वर्णन में बाह्य अग्निहोत्र के साथ आत्माग्निहोत्र या प्राणाग्निहोत्र की भी प्रतिध्वनि सुनी गई है। रात्रि के वर्णन में विश्रामदायिनी योगनिद्रा की झाँकी भी ली गई है। गौ में आत्म-प्रकाश का, अश्व में प्राण-बल का, रयि, वसु आदि सम्पत्तिवाचक शब्दों में आध्यात्मिक सम्पत्ति का दर्शन किया गया है। इस प्रकार यह वेद-मञ्जरी अध्यात्म-मञ्जरी के सौरभ के साथ विकसित हो रही है। अध्यात्म की पृष्ठभूमि में ही इसमें मानव-कर्त्तव्य, निष्पाप जीवन, राष्ट्रोन्नति, यज्ञ, अतिथि-सत्कार, दान-स्तुति, विद्वत्पूजा, यज्ञोपवीत, आचार्य-शिष्य-श्रद्धा, माधुर्य, आशावाद, उद्बोधन, ऊर्ध्वारोहण, ब्रह्मचर्य, प्राणायाम, दीर्घायुष्य, छिद्रपूर्ति, बन्ध-मुक्ति आदि विषयों का भी प्रतिपादन हुआ है।

८. स्वाध्याय की विधि

पाठकों को अपने मन से यह विचार निकाल देना चाहिए कि वेदमन्त्रों की भाषा कठिन है। वस्तुतः वैदिक भाषा बाण, सुबन्धु, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि लौकिक संस्कृत के कवियों की भाषा की अपेक्षा अधिक सरल है। वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, स्मृति-ग्रन्थ, कथा-साहित्य आदि कुछ गिनी-चुनी रचनाओं को छोड़ दें, तो लौकिक संस्कृत की रचनाएँ समास के आडम्बर से जटिल बन गयी हैं, जबकि वेदों में समास न के बराबर हैं। जो हैं भी, वे सूपायन, प्रियमेध, पुरुस्पृह, तुविद्युम्न, हव्यदाति, महारथ, हिरण्यहस्त, अच्छिन्नपत्र, देववीति, इन्द्रवायू, मित्रावरुणौ, चित्रश्रवस्तम आदि प्रकार के अत्यन्त छोटे-छोटे सरल समास हैं। कोई वेदमन्त्र ले लीजिए, एक-एक पद पृथक् रखा हुआ है। जो भी व्यक्ति शब्दरूप, धातुरूप, सन्धि और संस्कृत की सामान्य वाक्यरचना जानता है, वह वेद के अध्ययन में आनन्द ले सकता है। अध्ययन आरम्भ करने पर वैदिक-शब्दकोश का परिज्ञान उसे शनै-शनैः स्वतः होता जायेगा।

प्रस्तुत मञ्जरी के मन्त्रों के स्वाध्याय में पाठक यदि निम्नलिखित विधि अपनायें, तो उन्हें अधिक लाभ हो सकेगा तथा कम समय में वे वेद के अच्छे मर्मज्ञ हो सकेंगे।

१. मन्त्र का शीर्षक देखकर अपने मन में मन्त्र के विषय-ज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न करें। प्रारम्भ में ओ३म् लगाकर मन्त्र को चार, पाँच या अधिक बार तब तक पढ़ें, जब तक अनायास शुद्ध पठन न होने लगे। प्रत्येक पाद विराम के साथ पढ़ना ठीक होगा। पादों के मध्य में विराम-चिह्न लगा होने से इस प्रकार पढ़ने में कठिनाई नहीं होगी।

२. तदनन्तर यह ध्यान करते हुए मन्त्रार्थ पढ़ें कि किस पद का क्या अर्थ है। एक बार पढ़ने से स्पष्ट न हो तो दो-तीन बार पढ़ें। किसी शब्द का कोई अर्थ कैसे हुआ इसके लिए मन्त्रार्थ-टिप्पणियों में उद्धृत प्रमाण, धात्वर्थ, निर्वचन आदि भी देखें। फिर मन्त्रार्थ में दिये हुए पृथक्-पृथक् पद की सहायता से मन्त्र को सन्धिच्छेदपूर्वक पढ़ें और स्वयं मन्त्र का अन्वय करके अर्थ समझें। पुनः मन्त्र को दो-तीन बार गा-गाकर पढ़ें।

३. तत्पश्चात् व्याख्या पढ़ें, जिससे मन्त्र का आशय पूर्णरूप से खुल जायेगा। कहीं अस्पष्टता रहे तो मन्त्रार्थ के साथ मिलान करते हुए पुनः व्याख्या को पढ़ें।

४. फिर मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द पर ध्यान दें। मन्त्र के देवता की मन्त्रार्थ में संगति देखने का यत्न करें। लक्षण के अनुसार समझें कि मन्त्र का जो छन्द लिखा है, वह किस प्रकार संगत है। कुछ मन्त्रों का छन्द देखने के अनन्तर पाठकों को छन्द स्वयं समझने का अभ्यास हो जायेगा।

५. इस प्रकार मन्त्र का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् पुनः एक बार शीर्षक, मन्त्र, ऋषि, देवता, छन्द, मन्त्रार्थ, व्याख्या को क्रमशः आनन्द लेते हुए पढ़ें और उसके प्रवाह में बहने का यत्न करें, जिससे हृदय तरंगित होगा।

६. मन्त्र में जो नवीन शब्द आयें उन्हें अर्थसहित एक अभ्यास-पुस्तिका में लिखते चलें। इससे पाठकों के पास अपना शब्दकोश तैयार होता चलेगा। उसका प्रतिदिन पारायण कर लिया करें। ज्यों-ज्यों पाठकों का शब्दज्ञान बढ़ता चलेगा, त्यों-त्यों नवीन वेदमन्त्र को आंशिक या पूर्णरूप से स्वयं समझने की अधिकाधिक क्षमता उत्पन्न होती चलेगी। इस प्रकार यह वेद-मञ्जरी पाठकों के लिए वेदाध्ययन की प्रवेशिका भी सिद्ध हो सकेगी।

इस पद्धति से एक-एक मन्त्र का स्वाध्याय करने के लिए प्रतिदिन लगभग आधे घण्टे का समय अपेक्षित होगा। एक वर्ष मञ्जरी का स्वाध्याय कर चुकने के पश्चात् अगले वर्ष पुनः स्वाध्याय में प्रतिदिन दस मिनट ही लगेंगे।

परिवार में सम्मिलित सन्ध्या-अग्निहोत्र के पश्चात् और आर्यसमाज के दैनिक तथा साप्ताहिक सत्संगों में भी इस पुस्तक का पाठ उपयोगी हो सकता है।

९. उपसंहार

प्रस्तुत वेद-मञ्जरी का लेखन अगस्त १९८१ में आरम्भ हुआ था। इसके आधे से अधिक अंश का लेखन मैंने अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नी श्रीमती प्रकाशवती की रुग्णावस्था में किया है, जिसे उनके सहज वेदप्रेम के कारण उनकी शुभ-कामनाएँ प्राप्त रही हैं। उनके वेदप्रेम की एक झलक इस बात से मिलती है कि उनके कष्ट में अपनी मानसिक उद्विग्नता के कारण जब मैंने प्रातरग्नि-सूक्त, पुरुष-सूक्त आदि का पाठ छोड़ दिया, जिसे मैं प्रतिदिन प्रभात में कर रहा था, तब एक दिन उन्होंने मुझे स्मरण कराया कि अब आप मन्त्र-पाठ नहीं कर रहे हैं। वे अपने अनुभव के आधार पर मुझे प्रायः कहा करती थीं कि जब मन किसी कारण व्याकुल हो तब गायत्री का जप उसकी राम-बाण औषध है। उनके रोग की तीव्रता की अवस्था में लगभग साढ़े तीन मास मञ्जरी का लेखनकार्य बन्द रहा। २४ मार्च १९८२ को उनके इहलोकलीला संवरण कर लेने के पश्चात् मानों उन्हीं की अदृश्य प्रेरणा से प्रेरित हुआ मैं इस पुस्तक की पूर्ति में लग गया और अगस्त ८२ के अन्त तक पुस्तक का लेखन समाप्त हो गया। उनकी आत्मा इस पुस्तक को प्रकाशित देखकर अवश्य प्रसन्न होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मैंने अब तक जो कुछ भी लेखन-कार्य किया है, उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से उनका सहयोग रहा है। उनकी मधुर स्मृति भविष्य में भी वेद-सेवा में मेरे लिए संबल सिद्ध हो, यह मेरी कामना है।

मञ्जरी में मन्त्रों का क्रम वेदों के क्रमानुसार रखा गया है। प्रथम ऋग्वेद के, तदनन्तर क्रमशः यजुः, साम और अथर्व के मन्त्र हैं। पृथक्-पृथक् वेद में भी जिस क्रम से जो मन्त्र आया है, उसी क्रम में वह मन्त्र रखा गया है। प्रत्येक वेद के मन्त्रों का आरम्भ करने से पूर्व उस-उस वेद की १०-१० सूक्तियाँ अर्थसहित दी गयी हैं। पुस्तक का आरम्भ और अन्त चारों वेदों की सूक्तियों के साथ किया गया है। पुस्तक के परिशिष्ट भाग में अकारादि क्रम से मन्त्रानुक्रमणिका तथा व्याख्यात मन्त्रों के देवताओं की सूची भी दी गयी हैं। देवता-सूची से पाठक यह जान सकेंगे कि अमुक देवता के कितने मन्त्र किस-किस संख्या पर व्याख्यात हैं।

यह वेद-मञ्जरी वेद-प्रेमियों के हाथों में जा रही है। वेदमन्त्रों के स्वाभाविक सौरभ को सहृदय-चञ्चरीकों तक पहुँचाने में यह कहाँ तक सफल होगी, इसके निर्णायक तो सहृदय-जन और पारखी विद्वज्जन ही हो सकते हैं। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि इन वेदमन्त्रों की मनोमोहक सुगन्ध ने मेरे मानस को सुरभित किया है और मैंने प्रयास किया है कि उस सौरभ के प्रसाद को अपने तक ही सीमित न रखकर अन्यों को भी वितीर्ण करूँ।

मुद्रणालय के लिए पुस्तक की शुद्ध प्रतिलिपि करने का कठिन कार्य मेरे पुत्र डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार तथा मेरी दौहित्री प्रिय दीप्ति ने सहज प्रेम-भाव से सम्पन्न कर दिया

है। इन्हें वेदमाता का आशीर्वाद प्राप्त हो। श्री स्वामी दीक्षानन्दजी सरस्वती ने समर्पण-शोध-संस्थान की ओर से इसका प्रथम संस्करण सन् १९८३ में तथा द्वितीय संस्करण १९९८ में प्रकाशित किया था। अब तृतीय संस्करण श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन सिटी (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित हो रहा है। तदर्थ इसके अध्यक्ष श्री प्रभाकरदेव आर्य का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

परमेशं प्रणम्यादौ वेदकाव्यमहाकविम्।
भाष्यकारांश्च वेदार्थान् व्याचख्युर्ये मनीषिणः॥
स्मारं स्मारं दयानन्दं वेदज्ञानमहोदधिम्।
श्रद्धानन्दं गुरूंश्चान्यान् मञ्जरीं प्रतनोम्यहम्॥
तातं गोपालरामाख्यं नत्वा भगवतीं प्रसूम्।
श्रद्धया परया युक्तो वेदटीकां समारभे॥
स्वान्तः सुखाय मे भूयात् पाठकानां रसाय च।
भक्तिं नतिं मतिं सिद्धिं लोकानां जनयेदियम्॥

रामनाथ वेदालंकार

वेदमन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)
स्वतन्त्रता-दिवस, २००७

ओ३म्

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ (यजुः १.१५)

हे व्रतपति परमात्मन्! मैं वेद-व्याख्या का
व्रत ग्रहण कर रहा हूँ। उसे पूर्ण कर सकूँ।
वह फलवान् हो। मैं सर्वत्र अनृत को
त्यागता हुआ सत्य को
अपनाऊँ।

चतुर्वेद-सूक्तियाँ

- **एको विश्वस्य भुवनस्य राजा।** —ऋग् ३.४६.२
  एक परमेश्वर ही सकल भुवन का राजा है।

- **भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्।** —यजुः १.१८
  सूर्य-किरणों के सदृश तप से स्वयं को तपाओ।

- **विश्वतोदावन् विश्वतो न आभर।** —साम० ४३७
  हे चारों ओर से देनेवाले! चारों ओर से हमारे लिए ला।

- **भूयासं मधुसन्दृशः।** —अथर्व० १.३४.३
  मैं शहद के समान मीठा हो जाऊँ।

- **मा भेम मा श्रमिष्म।** —ऋग् ८.४.७
  हम डरें नहीं, थकें नहीं।

- **मृत्योर् मुक्षीय मामृतात्।** —यजुः ३.६०
  मैं मृत्यु से छूटूँ, अमरत्व से नहीं।

- **इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्।** —साम० ५८८
  प्रभु का रमणीय स्वरूप महान् है।

- **बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्।** —अथर्व० ६.१२१.४
  बद्ध को बन्धन से मुक्त कर।

- **श्रद्धां प्रातर्हवामहो।** —ऋग् १०.१५१.५
  हम प्रभात होते ही श्रद्धा का आह्वान करते हैं।

- **परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व।** —यजुः ४.२८
  हे तेजस्वी प्रभु! मुझे दुश्चरित्र से हटाओ।

- **पूर्तिः शविष्ठ शस्यते।** —साम० ६४८
  हे बलिष्ठ! पूर्णता सदा प्रशंसा पाती है।

- **बुध्येय शरदः शतम्।** —अथर्व० १९.६७.३
  हम सौ वर्ष तक बोध प्राप्त करते रहें।


ऋग्वेद

सूक्तियाँ

- **ऋचो अक्षरे परमे व्यमन्।** १.१६४.३९
  ऋचाओं का अन्तिम प्रतिपाद्य परमोच्छ अक्षर ब्रह्म है।

- **प्रशस्तिम् अम्ब नस्कृधि।** २.४१.१६
  हे माँ! हमें प्रशस्ति दो।

- **उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्।** ३.५३.११
  आओ, हे स्तोताओ! चेतना ग्रहण करो।

- **अप्रतीतो जयति सं धनानि।** ४.५०.९
  पीछे न हटनेवाला ही ऐश्वर्यों को जीतता है।

- **यादृश्मिन् धायि तम् अपस्यया विदत्।** ५.४४.८
  मनुष्य जिसे पाने की ठान लेता है, उसे पाकर रहता है।

- **विश्वदानीं सुमनसः स्याम।** ५.५२.५
  हम सदा प्रफुल्ल और प्रशस्त मन वाले हों।

- **ऊर्ध्वं भानुं सविता देवो अश्रेत्।** ७.७२.४
  सविता प्रभु हमें ऊर्ध्व तेज प्रदान करे।

- **घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत।** ८.२४.२०
  घृत और मधु से भी अधिक मीठा बोलो।

- **सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।** ९.७३.१
  सत्य की नौकाएँ सुकर्ता को तार देती हैं।

- **अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।** १०.३४.१३
  इन्द्रियों की खेलें मत खेल, योग की खेती कर।

१. सरस्वती-वन्दना

पावका: न: सरस्वती[८], वाजेभिर् वाजिनीवती[८]।
यज्ञं वष्टु धियावसु:[८] ॥ —ऋग् १.३.१०

ऋषि: **मधुच्छन्दा वैश्वामित्र:**। देवता **सरस्वती**। छन्द: **गायत्री**।

(**पावका**[१]) पवित्रतादायिनी, (**वाजिनीवती**[२]) क्रियामयी, (**धिया-वसु:**[३]) बुद्धि और कर्म द्वारा निवास-प्रदायिनी (**सरस्वती**) सरस्वती—जगन्माता और वेदवाणी (**वाजेभि:**[४]) अन्नों, धनों, बलों, वेगों, विज्ञानों आदि के द्वारा (**न:**) हमारे (**यज्ञं**) [जीवन-रूप] यज्ञ को (**वष्टु**[५]) [पूर्ण करने की] कामना करे।

आओ, हम सरस्वती की वन्दना करें। सरस्वती जगन्माता जगदीश्वरी का नाम है, क्योंकि वह रसमयी है, सबको अपना मधुर रसमय स्तन्य पान करानेवाली है। उसका दुग्ध-रस ज्ञान, बल, पुष्टि, विवेक, चैतन्य, प्राण, स्फूर्ति, आनन्द सब-कुछ देनेवाला है। उसका पय:पान कर निपट अज्ञानीजन ज्ञान-राशि के वारिधि बन जाते हैं। उसका पय:पान कर पतित जन महर्षि बन जाते हैं। उसका पय:पान कर निर्बल आत्मावाले जन आत्मिक बल के भण्डार बन जाते हैं। उसका पय:पान कर सांसारिक दु:खों से उत्पीड़ितजन सुख-सागर की तरंगों में झूलने लगते हैं। उसका पय:पान कर आतुरजन तन-मन से स्वस्थ और सुखी बन जाते हैं। उसका पय:पान कर निष्क्रियजन सक्रिय बन जाते हैं। उसका पय:पान कर असुरजन देव बन जाते हैं। वह 'पाविका' है, अपवित्रों को पवित्र करनेवाली है, कालुष्य से मलिन अन्त:करणवालों के मालिन्य का अपहरण करनेवाली है। वह 'वाजिनीवती' है, क्रियामयी है। वह 'धियावसु' है, बुद्धि-प्रदान और कर्मोपदेश द्वारा निवास-प्रदायिनी है। ऐसी वह जगदीश्वरी माँ हमारे जीवन में पदार्पण करे और अपने पास विद्यमान अन्न, धन, बल, वेग, विज्ञान आदि की निधि के द्वारा हमारे जीवनयज्ञ को पूर्णता प्रदान करे।

सरस्वती वेदवाणी को भी कहते हैं, क्योंकि वह जीवन को संतृप्त करनेवाले ज्ञान के रस से भरपूर है। उसमें भौतिक विद्या, अध्यात्म-विद्या, शरीर-विद्या, आरोग्य-विद्या, मनोविज्ञान, दर्शन आदि सब विद्याओं का सरस स्रोत उमड़ रहा है। वह 'पाविका' है, श्रोता के मानस को पवित्र करनेवाली है। वह 'वाजिनीवती' है, सशक्त क्रियावाली है। अर्थचिन्तनपूर्वक किया गया उसका मन्त्र-पाठ वेदपाठी को उद्बोधन देकर उसके मन में एक तीव्र क्रिया उत्पन्न कर देता है। वह 'धियावसु' है, नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के प्रदान और कर्तव्य-प्रेरणा के द्वारा अपने अध्येता को निवास प्रदान करनेवाली है।

हे वरदे सरस्वती! हमें वरदान दो। हे विद्या-वीणा के तारों को झंकृत करनेवाली माँ! हमें विद्या की झंकार सुनाओ। हे दिव्ये! हमें अपने दिव्य नाद से अनुप्राणित करो। हे मात:! हमारी वन्दना को स्वीकार करो।

२. पूजा

उत ब्रुवन्तु नो निदो॑, निरन्यतश् चिदारत॑।
दधाना इन्द्र इद् दुव॑:॥ —ऋग् १.४.५

ऋषि: **मधुच्छन्दा वैश्वामित्र:**। देवता **इन्द्र:**। छन्द: **गायत्री**।

(उत) और यदि **(न:)** हमारे **(निद:)** निन्दक **(ब्रुवन्तु)** कहें [कि इस स्थान से तो निकल ही जाओ] **(अन्यत: चित्)** अन्य स्थानों से भी **(निर् आरत[१])** बाहर निकल जाओ [तो भी हम] **(इन्द्रे[२] इत्)** परमैश्वर्यशाली परमेश्वर में ही **(दुव:[३])** पूजा को **(दधाना:)** धारण करनेवाले [हों]।

हमने आज से ईश्वर-भक्ति का व्रत लिया है, हम परमैश्वर्यशाली इन्द्र-प्रभु के पुजारी हुए हैं। पर न जाने क्यों हमारी ईश्वर-पूजा को कुछ नास्तिक लोग पसन्द नहीं करते। वे चाहते हैं कि हम भी उन जैसे नास्तिक हो जायें; हम भी उनके दल में सम्मिलित होकर प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करें; चोरी करें, सज्जनों को धोखा दें, हिंसा-उपद्रव मचायें। हमारा प्रात:-सायं ध्यान में बैठना उन्हें नहीं रुचता। वे हम पर ताने कसते हैं। कहते हैं—तुम वञ्चक हो, तुम धूर्त हो, तुम यह दिखाना चाहते हो कि हम बड़े सन्त हैं, और इस प्रकार समाज को अपनी ओर आकृष्ट करके भोली जनता से अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हो। उनके इन व्यंग्य-बाणों से विद्ध होकर हमारे कई साथी, जिन्होंने हमारे साथ प्रभु-पूजा का व्रत लिया था, पूजा छोड़ चुके हैं। पर, हे प्रभु! हमें तो तुम ऐसा बल दो कि हमारे निन्दक लोग हमारी कितनी ही निन्दा करें, हमें कितना ही डरायें-धमकायें, हमें कितना ही कष्ट दें, पर हम तुम्हारी पूजा न छोड़ें।

हम जानते हैं कि इस प्रकार निन्दकों की करतूतों को सहना आसान नहीं है। जब बहुत से निन्दक लोग मिलकर ताली पीटते हैं, फब्तियाँ कसते हैं, सामान जला देते हैं, तब भी सचाई पर अटल रहना विरलों का ही कार्य होता है। पर हमारी इच्छा यही है कि ऐसे समयों में भी हम प्रभु-पूजा में अटल रहें। यदि हमारे निन्दक लोग कहें कि तुम इस घर से निकल जाओ, इस गाँव से निकल जाओ, इस नगर से निकल जाओ, देश से निकल जाओ, तो भी हम न घबरायें। कोई शत्रु हमारे शरीर से पत्थर बाँधकर हमें समुद्र में फेंकने को तैयार हो जाए, आग में डालने को तत्पर हो जाए, पहाड़ की चोटी से गिराने को उद्यत हो जाए, तो भी हम ईश्वर-पूजा को न छोड़ें। हम ध्रुव और प्रह्लाद के समान ईश्वर-भक्त हों। हमारी ईश्वर-भक्ति को देखकर एक बार शत्रु भी हमारी प्रशंसा कर उठे, सामान्य मनुष्यों का तो कहना ही क्या है!

यदि हमारा ईश्वर-विश्वास ऐसा दृढ़ होगा तो प्रभु की कृपा हमें प्राप्त होगी। निन्दकों की निन्दाओं और शत्रुओं की बाधाओं की काली घटाएँ स्वयं हमारे ऊपर से छँटती चलेंगी। परमैश्वर्यवान् इन्द्र-प्रभु हम पर अपने दिव्य ऐश्वर्यों की वर्षा करेंगे।

३. जय हो उसकी

महाँ इन्द्रः परश्च नु,⁶ महित्वमस्तु वज्रिणे⁶।
द्यौर्न प्रथिना शवः⁷॥ —ऋग् १.८.५

ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। **देवता** इन्द्रः। **छन्दः** निचृद् गायत्री।

(इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली परमेश्वर **(महान्[१])** महान् [है], **(च)** और **(नु)** निश्चय ही **(परः)** सर्वोत्कृष्ट [है] **(वज्रिणे)** [उस] वज्रधारी का **(महित्वं)** महत्त्व, जयजयकार **(अस्तु)** हो। [उसका] **(शवः[२])** बल **(प्रथिना[३])** विस्तार और यश से **(द्यौः न[४])** द्युलोक के समान [है]

भाइयो! क्या तुम विश्व-सम्राट् इन्द्र का परिचय जानना चाहते हो? सुनो, वेद उसका परिचय दे रहा है। इन्द्र महान् है, महामहिम है, इस जगतीतल के बड़े-से-बड़े महिमाशालियों से भी अधिक महिमाशाली है। उसकी महिमा के सम्मुख सूर्य, चाँद, सितारे, नदी, पर्वत, सागर, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन सब तुच्छ हैं। वह 'पर' है, परम है, सर्वोत्कृष्ट है, इसीलिए परमात्मा, परात्मा, परमेश्वर, परमदेव, परात्पर आदि नामों से स्मरण किया जाता है। सर्वोत्कृष्ट होने के कारण ही वह संसार में सबसे अधिक स्पृहणीय है, क्योंकि जो वस्तु जितनी अधिक उत्कृष्ट है, उसे हम उतना ही अधिक पाना चाहते हैं। निकृष्ट या घटिया वस्तु हमारे मन को नहीं भाती। इन्द्र-प्रभु परमोत्कृष्ट होने के कारण हमारा मन-भावन होने योग्य है, हमारी अभीप्सा का पात्र होने योग्य है।

उसके बल, विस्तार और यश का हम क्या बखान करें! कोई सांसारिक वस्तु उसका उपमान नहीं बन सकती, क्योंकि उपमान उपमेय से उत्कृष्ट हुआ करता है, जबकि संसार की कोई वस्तु किसी गुण में उससे उत्कृष्ट नहीं है। फिर भी परस्पर समझने और समझाने के लिए हम कह सकते हैं कि इन्द्र के बल का विस्तार और यश, द्युलोक के समान है। ज्यों ही हम द्युलोक के बल पर दृष्टि डालते हैं, हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं। देखो, द्युलोक के सूर्य को देखो! सूर्य का बल इतना व्यापक है कि उसने ग्रहोपग्रहोंसहित हमारे सारे सौरमण्डल को अपनी आकर्षणशक्तिरूप डोर से बाँध रखा है। उसने अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित कर रखा है, अन्यथा हमारी भूमि और अन्य ग्रहोपग्रह सब चिर अन्धकार में विलीन हो जाएँ। सूर्य तो द्युलोक का एक सदस्यमात्र है। द्युलोक में अन्य अनेक नक्षत्र-पुञ्ज भी हैं, जिनके बल, विस्तार और यश के आगे हमारी बुद्धि चकरा जाती है। वे सब अपने-आपमें एक-एक सूर्य हैं और वैज्ञानिकों का कथन है कि उनके भी अपने-अपने ग्रहोपग्रह हैं, जिनका वे सञ्चालन और व्यवस्थापन करते हैं। तो, उस द्युलोक के समान विस्तीर्ण एवं यशस्वी इन्द्र का बल है।

वह इन्द्र वज्रधर भी है, पापात्माओं को उनके कर्मों के अनुरूप दण्ड देनेवाला है। यदि हम उसकी दण्ड-शक्ति का मन में ध्यान कर लें, तो जीवन में होनेवाली सब उच्छृङ्खलताओं और अविवेकमय आचरणों से उद्धार पालें। आओ, महिमागान करें जगत् के उस परम यशस्वी सम्राट् इन्द्र का। आओ, जय-जयकार करें उस वज्रधारी का।

४. इन्द्र और वरुण का आदर्श

तयोरिदवसा वयं[८], सनेम नि च धीमहि[८]।
स्यादुत प्रेरेचनम्[७]। —ऋग् १.१७.६

ऋषिःमेधातिथिः काण्वः। **देवते** इन्द्रावरुणौ। **छन्दः** निचृद् गायत्री।

(तयोः) उन [इन्द्र और वरुण] के **(अवसा[१])** रक्षण से **(इत्)** ही **(वयं)** हम **(सनेम[२])** धन कमायें **(निधीमहि च)** और निधि में संग्रह करें। **(उत)** और **(प्रेरचनम्[३])** रिक्तीकरण [भी] **(स्यात्)** होता रहे।

हम चाहते हैं कि हम इन्द्र और वरुण के संरक्षण में रहें। उनके संरक्षण में रहने का अभिप्राय यह है कि जिन आदर्शों का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें हम अपने जीवन में घटायें। इन्द्र[४] ऐश्वर्यशालिता का प्रतिनिधि है। इन्द्र के समान हम भी ऐश्वर्यशाली हों। हम सन्मार्ग पर चलते हुए धन कमाने में जुट जायें। निर्धनता एक अभिशाप है, उस अभिशाप से मुक्ति पाना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। हम निर्धन होते हैं अपने अपौरुष के कारण। पर जैसे-तैसे स्वयं को सन्तोष देते रहते हैं कि अच्छा है हम निर्धन हैं, क्योंकि धन मनुष्य को परमात्मा से दूर कर देता है। सच्ची बात यह है कि धनी होकर मनुष्य को परमात्मा के समीप पहुँचने के अधिक अवसर रहते हैं। यदि उन अवसरों का वह उपयोग नहीं करता, तो यह धन का दोष नहीं, अपितु उसका अपना दोष है। अतः हमें चाहिये कि हम इन्द्र के आदर्श का अनुसरण करते हुए उचित साधनों से धन का संचय करें, प्रभूत संचय करें, इतना संचय करें कि हम धन की अपार निधि के स्वामी हो जाएँ।

परन्तु यदि हम वेद का इतना ही आदेश समझें, तो वह अधूरा है। इन्द्र के साथ-साथ हमें वरुण के स्वरूप का भी चिन्तन करता है। वरुण पाशी है, वह अनृतभाषी एवं अनृत आचरणवाले को अपने पाशों से बाँधकर दण्डित करता है। अतः ऐसा न हो कि धन पाकर हम कुमार्ग पर चल पड़ें और हमें वरुण-द्वारा दण्डित होना पड़े। वरुण[५] दीन-दुःखियों को वरने वाला भी है। उन्हें वरकर वह उनकी सहायता करता है। हम भी अपने सञ्चित ऐश्वर्य का केवल स्वयं उपभोग न करें, अपितु सत्पात्रों को उसका दान भी करें, यही वैदिक मर्यादा है। जैसे तालाब का पानी, यदि उसमें से निकासी न हो तो, मलिन हो जाता है, वैसे ही धन की निधि में से भी निकासी न होने पर वह मलिन और गर्हणीय हो जाती है। अतएव वैदिक स्तोता कह रहा है कि हम निधि भर-भरकर कमायें तो अवश्य, पर अपनी निधि को खाली भी करते रहें। हम निधि के द्वारों को, जिन्हें धन की आवश्यकता है और जो विकलांग आदि होने के कारण स्वयं धनार्जन में समर्थ नहीं हैं, उनके लिए खोल दें। लोकहितकारी कार्यों के लिए भी, निधि में से दान करते रहें, क्योंकि लोकहित के कार्य किसी एक से नहीं, किन्तु सभी के सहयोग से चलते हैं।

५. अविनाश का उपाय

स घा वीरो न रिष्यति[२], यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः[८]।
सोमो हिनोति मर्त्यम्[७]। —ऋग् १.१८.४

ऋषिः **मेधातिथिः काण्वः**। देवता **इन्द्रः, ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(सः) वह **(वीरः)** वीर **(घ[१])** निश्चय ही **(न)** नहीं **(रिष्यति[२])** क्षतिग्रस्त और विनष्ट होता है, **(यं)** जिस **(मर्त्यं)** मर्त्य को, मरणधर्मा को **(इन्द्रः)** इन्द्र, **(ब्रह्मणस्पतिः)** ब्रह्मणस्पति [और] **(सोमः)** सोम **(हिनोति[३])** बढ़ाता है।

क्या तुम वीर हो और तुम्हें यह विश्वास है कि जगत् की बीहड़ पगडण्डी पर चलते हुए तुम किसी शत्रु से क्षतिग्रस्त या विनष्ट नहीं होगे? पर कहीं ऐसा तो नहीं है कि समय आने पर तुम्हारा यह विश्वास असत्य सिद्ध हो और तुम हृदय में एक वेदना लिये हुए सिसको, चिल्लाओ, शोर मचाओ कि अरे मैं तो मारा गया, मेरा तो सब-कुछ लुट गया, मैं तो क्षत-विक्षत हो गया। यदि तनिक भी तुम्हें अपने ऊपर सन्देह है, जरा भी मन कहता है कि विपदा आने पर सुरक्षित बच निकलना कठिन है, अचलायमान होकर दृढ़ता के साथ अविनष्ट बने रहना दुष्कर है, तो आओ, कान खोलकर अविनाश का वेदोक्त उपाय सुनो। अविनाश! अविनाश!! कितना महान् शब्द है! कितना-कुछ इसके अन्दर छिपा हुआ है! आत्मिक अविनाश, भौतिक अविनाश, वैयक्तिक अविनाश, राष्ट्रिय अविनाश! पग-पग पर मनुष्य विनष्ट होता है, चरित्र से विनष्ट होता है, धर्म से विनष्ट होता है, सम्पत्ति से विनष्ट होता है, राष्ट्रियता से विनष्ट होता है। उस सकल विनाश से बचना कितनी बड़ी उपलब्धि है! वह प्राप्त होती है उस मर्त्य को, जिसे इन्द्र, ब्रह्मणस्पति और सोम बढ़ाते हैं। इन्द्र है अग्रगानिता का, शौर्य का, अविचलता का, रिपु-विदारण का और परमैश्वर्यशालिता का प्रतिनिधि। वैदिक वर्णन इन्द्र की इन विशेषताओं से भरे पड़े हैं। हम अपने अन्दर भी इन्द्र के इन गुणों को ग्रहण कर सकते हैं। 'ब्रह्मणस्पति' ज्ञान, महत्ता, विशालता, वृद्धि, ब्रह्मवर्चस आदि का प्रतिनिधित्व करता है। ब्रह्मणस्पति के इन आदर्शों को हम अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर सकते हैं। 'सोम' है शान्ति, रसमयता, समस्वरता सर्जनशीलता, सत्प्रेरणा आदि का प्रतिनिधि। अतः वैदिक सोम से इन विशेषताओं को हम प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार ये तीनों देव, परमेश्वरी सत्ता के ये तीनों रूप, जब हमारी वृद्धि एवं समुन्नति में संलग्न हो जायेंगे, तब संसार की कोई शक्ति हमें नीचा नहीं दिखा सकेगी, क्षतिग्रस्त या विनष्ट नहीं कर सकेगी। अन्यथा मनुष्य तो मर्त्य है, मरणधर्मा है, इन देवों से यदि वह शक्ति और सन्देश नहीं लेगा, तो कोई भी बाह्य या आन्तरिक रिपु उसे धर दबोचेगा और प्रहारों से जर्जर करके विनष्ट कर डालेगा।

६. विष्णु के तीन पग

त्रीणि पदा वि चक्रमे[४], विष्णुर् गोपा अदाभ्यः[१]।
अतो धर्माणि धारयन्[६] ॥

—ऋग् १.२२.१८

ऋषिः **मेधातिथिः काण्वः**। देवता **विष्णुः**। छन्दः **पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री।**

(**अदाभ्यः**[१]) अहिंस्य, (**गोपाः**[२]) रक्षक (**विष्णुः**) विष्णु ने (**त्रीणि पदा**[३]) तीन स्थानों पर (**वि चक्रमे**[४]) चरण-न्यास किया हुआ है। (**अतः**) इससे [वह] (**धर्माणि**) धर्मों को (**धारयन्**) धारण कर रहा [है]।

कथाकार कहते हैं कि वामन विष्णु ने अपने तीन पगों से त्रिलोकी को माप लिया था। यह विष्णु कौन है? अधिदैवत में आदित्य विष्णु है। वह द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी अथवा पूर्वाकाश, मध्याकाश और पश्चिमाकाश तीनों स्थानों में अपने रश्मि-रूप चरणों को रखता है। याज्ञिक प्रक्रिया में विष्णु यज्ञ[५] है, वह प्रातःसवन, माध्यन्दिन-सवन और सायं-सवन तीनों सवनों में व्याप्त है। अध्यात्म में चराचर में व्यापक भगवान् विष्णु[६] है। निराकार भगवान् के चरण-न्यासों का वर्णन आलंकारिक है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों स्थानों पर उसने अपने कदम रखे हुए हैं, इस कथन का आशय यह है कि वह सकल त्रिलोकी में व्याप्त है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा इन तीनों स्थानों पर भी उसने चरण-न्यास किया हुआ है, अर्थात् इनमें भी वह व्याप्त है। तुम पूछोगे कि इन स्थानों पर चरण-न्यास करके वह क्या करता है? वह इन स्थानों पर विद्यमान प्रत्येक वस्तु के धर्मों को, गुण-कर्म-स्वभाव को, धृत किये हुए है। उसने पृथिवी को और पृथिवी पर विद्यमान पर्वत, नदी, सागर, वृक्ष-वनस्पति आदि के धर्मों को धृत किया है। उसने अन्तरिक्ष को और अन्तरिक्ष-लोक में विद्यमान वायु, मेघ, विद्युत्, चन्द्र आदि के धर्मों को धृत किया है। उसने द्युलोक को और द्युलोक में विद्यमान सूर्य एवं समग्र तारामण्डल के धर्मों को धृत किया है। उसने शरीर को और शरीर में विद्यमान ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, नस-नाड़ियों आदि को धृत किया है। उसने मन को और मन के सङ्कल्प-व्यापार को धृत किया है। उसने आत्मा को और आत्मा के समग्र गुणों को धृत किया है। वह जगत् के कारण-शरीरों, सूक्ष्म-शरीरों और स्थूल-शरीरों में भी चरण-निक्षेप करके उनके धर्मों को धृत कर रहा है। उसके धारण के बिना इन सबके गुण-धर्म-व्यापार कभी के नष्ट हो चुके होते। वह 'गोपाः' है, विश्व-रक्षक है। वह अदाभ्य है, अहिंस्य है। उसके त्रिलोकी में पग रखने के व्यापार को और रक्षा-कार्य को कोई हिंसित या विघ्नित नहीं कर सकता। वह विष्णु धन्य है, वह विष्णु स्तुत्य है, वह विष्णु श्लाघ्य है। आओ, उसका गुण-कीर्तन कर हम स्वयं को गौरवान्वित करें।

७. बड़े-छोटे सबको नमः

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो[११] नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः[११]।
यजाम देवान् यदि शक्नवाम,[११] मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः[११]॥

—ऋग् १.२७.१३

ऋषिः आजीगर्तिः शुनःशेषः। देवता विश्वेदेवाः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(महद्भ्यः[१] नमः) [ज्ञान और गुणों में] महानों को नमः, **(अर्भकेभ्यः नमः)** छोटों को नमः, **(युवभ्यः नमः)** युवकों को नमः, **(आशिनेभ्यः[२] नमः)** वयोवृद्धों को नमः। **(यदि शक्नवाम)** जहाँ तक [हम] समर्थ हों **(देवान्)** विद्वानों को **(यजाम[३])** सत्कृत करें। **(देवाः)** हे विद्वानो[४]! **(ज्यायसः)** अपने से बड़े के **(शंसं)** स्तवन को [मैं] **(मा आवृक्षि[५])** न छोड़ूँ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे अन्यों के प्रति अभिवादन आदि उचित शिष्टाचार का पालन करना होता है। मैं भी बड़े-छोटे सबको अभिवादन करता हूँ; कृत्रिम और दिखावटी नहीं, किन्तु अन्तर्मन से। 'नमः' का मूल अर्थ है झुकना[६]। झुकना सिर से भी होता है, मन से भी। राजा, राज्याधिकारी, माता, पिता, गुरु, अतिथि, साधु, संन्यासी, शिशु, कुमार, विद्यार्थी, युवक, वृद्ध, स्वामी, सेवक प्रत्येक से मिलने पर हृदय में जो आदर, श्रद्धा, प्रेम, आशीर्वाद आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब 'नमः' के अन्दर समाविष्ट हैं। अतः अभिवादन के लिए वैदिक 'नमस्ते' शब्द अत्यन्त हृदयग्राही और उपयुक्त है। जब छोटा बड़े को 'नमस्ते' करता है, तब वह बड़े के प्रति अपने हृदय के सम्मान और अपनी श्रद्धा को प्रकट करता है। प्रत्युत्तर में बड़े द्वारा छोटे को 'नमस्ते' कहने में उसके अन्तस्तल में निहित प्रेम और आशीर्वाद उमड़कर प्रवाहित हो रहा होता है। समान द्वारा समान को 'नमस्ते' कहने में पारस्परिक सौहार्द और एक-दूसरे की उन्नति की कामना व्यक्त होती है। साथ ही 'नमः' में केवल शुभकामना ही नहीं, प्रत्युत बड़े-छोटे सबके प्रति कर्तव्य-पालन का भाव भी निहित है।

हे राष्ट्र के विद्यावृद्ध और गुणवृद्ध महान् नर-नारियो! हे उपदेशामृत-वर्षा से जनता को तृप्त करनेवाले वीतराग संन्यासियो! हे विद्वच्छिरोमणि तपोनिष्ठ वानप्रस्थ आचार्यो! हे देश के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने को उद्यत महावीरो! हे जनता-जनार्दन की सेवा में तत्पर महापुरुषो! 'तुम्हें नमः'! हे निश्छल भावभंगियों और बाल-क्रीड़ाओं से मन को मुदित करनेवाले अबोध शिशुओ! हे अल्पव्यस्क कुमारो! हे गुरु के अधीन विद्याध्ययन में रत तपस्वी, व्रती ब्रह्मचारियो! तुम्हें 'नमः'। हे अपने सङ्कल्प-बल से भूमि आकाश को झुका देनेवाले बली, साहसी, ओजस्वी, विजयी युवको! तुम्हें 'नमः'। हे परिपक्व, धीर, गम्भीर, अनुभवी, धन्य, वन्दनीय, वयोवृद्ध जनो! तुम्हें 'नमः'।

समस्त बालक, युवक, वृद्ध मेरे अर्चनीय देव हैं। जहाँ तक सम्भव होगा, मैं इन्हें स्नेह-सत्कार दूँगा, इनकी सेवा करूँगा। यह भी ध्यान रखूँगा कि जो मुझसे बड़े हैं, उनकी शंसना में, उनके उपकार के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन में मुझसे कोई त्रुटि न हो।

८. अतिथि-यज्ञ

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं[११], वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः।[१२]
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्,[११] जीवयाजं यजते सोपमा दिवः॥[१२]

—ऋग् १.३१.१५

ऋषिः **हिरण्यस्तूपः आङ्गिरसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(अग्ने) हे तेजस्वी परमेश्वर! **(त्वं)** तू **(प्रयतदक्षिणं[१])** पवित्रदक्षिणा देनेवाले **(नरं)** मनुष्य को **(स्यूतं[२])** सिले हुए **(वर्म इव)** कवच के समान **(विश्वतः)** सब ओर से **(परिपासि)** परिरक्षित करता है। **(स्वादु-क्षद्मा[३])** स्वादु भक्ष्य और पेय वाला **(स्योनकृत्[४])** [अतिथियों को] सुख देनेवाला **(यः)** जो **(वसतौ)** घर में **(जीवयाजं[५])** यजते) अतिथि-यज्ञ करता है, **(सः)** वह **(दिवः उपमा)** द्यु-लोक के समान [हो जाता है]।

जब हमें शत्रु के आयुधों से अपने शरीर की रक्षा करनी अभिप्रेत होती है, तब हम सिला हुआ अभेद्य कवच शरीर पर धारण कर लेते हैं। उस कवच से टकराकर वैरी के बाण, भाले आदि शस्त्रास्त्र कुंठित हो जाते हैं। यहाँ वेद मनुष्य को एक अन्य कवच धारण करने की प्रेरणा कर रहा है, वह है दक्षिणा का कवच। हे अग्ने! हे तेजःस्वरूप परमात्मन्! तुम दक्षिणा देनेवाले नर की वैसे ही सब ओर से रक्षा करते हो जैसे कवच रक्षा करता है। पर कवच यदि ठीक प्रकार सिला हुआ तथा सुदृढ़ न हो, तो वह धारण-कर्ता की रक्षा करने के स्थान पर स्वयं शत्रु के प्रहार से क्षत-विक्षत हो सकता है। इसी प्रकार दक्षिणा भी यदि पवित्र न हो तो वह दाता की रक्षा का साधन नहीं बनती। दक्षिणा में जो भोजन, वस्त्र, धन आदि दिया जा रहा है, वह शुभ साधनों से अर्जित हो तथा प्रसन्नतापूर्वक कर्त्तव्य मानकर दिया जा रहा हो, ऐसी पवित्र दक्षिणा ही चारों ओर के विघ्नों से दाता की रक्षा करती है।

गृहागत अतिथि का सत्कार करना भी वैदिक मर्यादा के अनुसार गृहस्थ का एक आवश्यक कर्तव्य है। अतएव नैत्यिक पञ्च-यज्ञों में अतिथि-यज्ञ भी परिगणित किया गया है। जो अतिथि के घर आने पर स्वादु भोज्य, पेय आदि से सत्कृत कर उसे सुख देता है और जीवनपर्यन्त अतिथि-यज्ञ करता रहता है, वह द्यु-लोक के समान उन्नत और प्रकाशमान हो जाता है। श्रुति कहती है कि विद्वान् व्रतनिष्ठ अतिथि जिसके घर आये, वह स्वयं उसकी सेवा में उपस्थित होकर कुशल-क्षेम एवं उसकी आवश्यकताओं के विषय में पूछे। यहाँ तक कि यदि वह अग्निहोत्र करने के लिए तैयार हो और उस समय अतिथि आ जाए, तो वह अग्निहोत्र छोड़कर पहले अतिथि की सेवा में पहुँचे और उसकी स्वीकृति लेकर ही अग्निहोत्र के लिए बैठे[६]।

हे सब यज्ञों के आदर्श अग्निस्वरूप परमेश्वर! तुम हमें भी दक्षिणा और अतिथि-यज्ञ के लिए सदैव प्रेरित करते रहो, जिससे हम भी एक दिन द्युलोक के सदृश उच्च, उदार, विशाल, प्रकाशमान और प्रकाशक होने के गौरव को प्राप्त कर सकें।

९. हमें क्षमा करो

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नः[११], इममध्वानं यमगाम दूरात्[११]।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां,[१०] भृमिरस्यृषिकृन् मर्त्यानाम्[९]॥

—ऋग् १.३१.१६

ऋषिः **हिरण्यस्तूपः आङ्गिरसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(अग्ने) हे अग्रणी तेजस्वी परमात्मन्! **(नः)** हमारी **(इमां)** इस **(शरणिं[१])** [व्रतलोपरूप] हिंसा को **(मीमृषः[२])** क्षमा करो। **(इमं)** इस **(अध्वानं)** [भ्रान्त] मार्ग के अवलम्बन को भी [क्षमा करो], **(यं)** जिस पर [हम] **(दूरात्)** दूर तक **(अगाम)** चल चुके हैं। [तुम] **(सोम्यानां)** सौम्य जनों के **(आपिः)** बन्धु, **(पिता)** पिता [और] **(प्रमतिः)** शुभचिन्तक [हो], **(मर्त्यानां)** मर्त्यों को **(भृमिः)** घुमानेवाले [और] **(ऋषिकृत्)** ऋषि बना देनेवाले **(असि)** हो।

अपने जीवन में हम अन्य हिंसाएँ करते हों या न करते हों, पर व्रत-लोपरूप आत्महिंसा तो निरन्तर करते रहते हैं। कभी हम सत्य-भाषण का व्रत लेते हैं, कभी नित्य सन्ध्या-वन्दन और अग्निहोत्र करने का व्रत लेते हैं, कभी नियमित व्यायाम और प्रातः भ्रमण का व्रत लेते हैं, कभी ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत लेते हैं, कभी वेद के स्वाध्याय का व्रत लेते हैं; पर शीघ्र ही इन व्रतों को तोड़ भी देते हैं। हे परमात्मन्! तुम अग्नि हो, अग्रणी होकर सबका मार्ग-दर्शन करनेवाले हो। हमारा भी मार्ग-दर्शन करो। तुम व्रतपति हो, हमें भी व्रतों पर दृढ़ रहने की शक्ति प्रदान करो। जो व्रत-भंगरूप हिंसा हम अब तक करते रहे हैं, उसके लिए हमें क्षमा करो।

व्रत-लोप के अतिरिक्त दूसरा अपराध हमने यह किया है कि हम अब तक भ्रान्त राह पर चलते रहे, और उस भटकी राह पर चलते-चलते बहुत दूर निकल आये। अब यह देखकर हमारा सिर चकरा रहा है कि जितना गलत रास्ता हम पार कर चुके हैं, उससे वापिस लौटने के लिए हमें अनवरत कितना महान् प्रयास करना पड़ेगा। हे प्रकाशमय अग्निदेव! तुम्हीं प्रकाश देकर हमें उस कुमार्ग से वापिस लौटाओ। तुमसे दूर होकर जो हम भ्रान्त पथ पर चल पड़े, उसके लिए भी तुम हमें क्षमा करो।

तुमसे क्षमा-याचना हम इस कारण नहीं कर रहे कि हम दण्ड से बचना चाहते हैं। हम जानते हैं कि दुष्कर्मों का दण्ड न देना रूप क्षमा तुम कभी नहीं करते हो। अतः तुम्हारे दण्ड का हम स्वागत करते हैं। व्रत-लोप और उन्मार्गगामिता का दुष्परिणाम हम पर्याप्त भोग चुके हैं और अब भी यदि कुछ भोग शेष है तो उसके लिए भी हम तैयार हैं। पर क्षमा-याचना हम भविष्य में उक्त अपराधों से बचने के लिए कर रहे हैं। क्षमा वही माँगता है जो अपने अपराध को स्वीकार करता है और उस अपराध से भविष्य मं बचे रहने की जिसके मन में उत्कट चाह होती है। उसी मनोवृत्ति के साथ हम तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होकर क्षमाप्रार्थी हो रहे हैं।

हे प्रभो! तुम सौम्यजनों के बन्धु, पिता और हितचिन्तक हो। तुम्हारी कृपा से हम भी सौम्य बन जाएँ। तुम 'भृमि' और 'ऋषिकृत्' हो। जैसे कुम्भकार मिट्टी को चाक पर घुमाकर उत्तमोत्तम पात्रों के रूप में परिणत कर देता है, वैसे ही तुम अपने दिव्य चक्र पर घुमाकर सामान्य मर्त्य को भी ऋषि बना देते हो। हे देव! तुम हम पर भी अपनी कृपा बरसाओ, हम मर्त्यों को भी ऋषि बना दो।

१०. जंगम-स्थावर का राजा

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा[१०], शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः[११]।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्[११], अरान्न नेमिः परि ता बभूव[११]॥

—ऋग् १.३२.१५

ऋषिः **हिरण्यस्तूपः आङ्गिरसः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(वज्रबाहुः) वज्रभुज **(इन्द्रः)** परमेश्वर **(यातः)** चलने-फिरने वाले का, **(अवसितस्य[१])** निश्चल का **(शमस्य)** शान्त का, **(शृङ्गिणः च)** और तीक्ष्ण वृत्ति वाले का **(राजा)** राजा [है]। **(सः इत्)** वही **(चर्षणीनां[२])** मनुष्यों का **(राजा)** राजा [होकर] **(क्षयति[३])** निवास कर रहा है। **(अरान्)** अरों को **(नेमिः न)** परिधि के समान [वह] **(ता[४])** उन्हें **(परि बभूव)** चारों ओर से व्याप्त किये हुए है।

मैं अपने इन्द्र प्रभु का क्या वर्णन करूँ, कैसे उसकी महिमा का गान करूँ? उसकी महिमा के गीत गाने को जी चाहता है, पर वाणी में शब्द नहीं मिलते। फिर भी टूटे-फूटे शब्दों में ही सही, कुछ तो गुनगुना लूँ, कुछ तो अपने मन की साध पूरी कर लूँ। मेरा प्रभु चलने-फिरनेवाले जंगम अर्थात् चेतन जगत् और निश्चल होकर बैठे स्थावर अर्थात् जड़-जगत् दोनों का राजा है, दोनों पर उसका आधिपत्य है। वह पशु, पक्षी, सरीसृप, मानव आदि तथा वन, पर्वत, नदी, सागर, सूर्य, चन्द्र आदि सबका अधिष्ठाता और व्यवस्थापक है। उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता तक नहीं हिल सकता। वह शान्त जीवन व्यतीत करनेवाले, तप-साधना में निरत रहने वाले शान्तवृत्ति ऋषि-मुनियों का भी राजा है और तीक्ष्णशृंग अर्थात् तीक्ष्ण साधनों का अवलम्बन करनेवाले तीक्ष्णवृत्ति रजोगुणियों का भी राजा है, नियन्त्रणकर्ता है। वह वज्रबाहु है, भुजा में वज्र धारण किये है और उच्छृङ्खलों को उनके उच्छृङ्खल कर्मों के अनुसार यथायोग्य दण्ड दे रहा है। कोई उसकी दण्ड-व्यवस्था से कितना ही बचना चाहे, बच नहीं सकता। वही हम सब 'चर्षणियों' का, कृषिकर्ता मानवों का, भी राजा होकर निवास कर रहा है, चाहे हम अपनी मनोभूमि का कर्षण करके उसमें सद्गुणों का बीज वपन कर आन्तरिक सम्पदा को लहलहाते हों, चाहे हल चलाकर, उत्तम बीज बोकर बाह्य भूमि को सस्यश्यामला बनाते हों।

जैसे रथ-चक्र की नेमि समस्त अरों को चारों ओर से व्याप्त किये होती है और अपने में थामे होती है, वैसे ही जगत् का राजा वह इन्द्रदेव जगत् की सब वस्तुओं के चारों ओर व्याप्त होकर उन्हें सहारा दिये हुए है, तभी संसार के सब पदार्थ पृथक्-पृथक् इकाई होते हुए भी परस्पर सामञ्जस्य रखे हुए हैं और विश्व के चक्र को चला रहे हैं। अन्यथा उनकी स्थिति वैसी ही हो जाए, जैसी नेमि के टूट जाने पर रथ-चक्र के अरों की होती है, तब विश्वचक्र-प्रवर्तन ही समाप्त हो जाए।

आओ, हम एक स्वर से अपने उस राजराजेश्वर इन्द्र प्रभु के चरण-चञ्चरीक बनकर उसकी महिमा का गुंजार करें।

११. सर्वत्र अपना प्रभाव छोड़

सं सीदस्व महाँ असि[८], शोचस्व देववीतम:[८]।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य[११], सृज प्रशस्त दर्शतम्[८]॥

—ऋग् १.३६.९

ऋषि: **कण्व: घौर:**। देवता **अग्नि:**। छन्द: **निचृद् बृहती।**

(अग्ने) हे अग्नि-सदृश आत्मन्! [तू] **(महान्)** महान् **(असि)** है, **(सं सीदस्व)** सम्यक् स्थितिलाभ कर, **(देव-वी-तम:[१])** अतिशय दिव्यगुणों को प्राप्त करनेवाला [होकर] **(शोचस्व[२])** चमक। **(मियेध्य[३])** हे पवित्रात्मन्! हे यज्ञार्ह! **(प्रशस्त)** हे प्रशस्त! [तू] **(अरुषं[४])** अहिंसनीय, आरोचमान **(दर्शतं)** दर्शनीय **(धूमं)** [प्रभाव-रूप] धूम को **(विसृज)** छोड़।

"हे अग्नि! तू महान् है। तू यज्ञकुण्ड में सम्यक् प्रकार से स्थित हो, चमक, अपने आरोचमान दर्शनीय धूम को छोड़।" यह उद्गार हम यज्ञाग्नि को सम्बोधित करते हुए प्रकट कर रहे हैं। पर वस्तुत: अग्नि की अन्योक्ति द्वारा वेद मनुष्य के आत्मा को प्रेरित कर रहा है। हे आत्मन्! तू अपने स्वरूप को पहचान, अपने अन्दर छिपी हुई शक्ति का आकलन कर। तू महान् है, महिमावान् है, तू और भी अधिक महिमा को प्राप्त कर। तू 'देव-वी-तम' बन। दिव्य-गुण-रूप देवों को प्राप्त करनेवाला 'देव-वी' कहलाता है। तू साधारण 'देव-वी' नहीं, किन्तु सर्वातिशायी 'देव-वी' बन। तेरे अन्दर विविध दिव्यगुणों का ऐसा निवास हो कि उन दिव्यगुणों का तू आदर्श पुरुष कहलाने लगे। जब तू ऐसा आदर्श दिव्यगुणी पुरुष बन जाएगा, तब तू जगत् में चमकेगा, सर्वत्र तेरा गुणगान और यशोगान होगा। हे आत्मन्! हे मानव! तू संसार में अपनी विशेष स्थिति बना। यूँ ही जैसे-तैसे निरुद्देश्य जीवन व्यतीत कर देना और समय आने पर मृत्यु का ग्रास हो जाना स्पृहणीय वस्तु नहीं है। जैसे अग्नि यज्ञकुण्ड में अपनी स्थिति बनाता है और वहाँ से बहुज्वाल होकर विस्तीर्ण होता है, वैसे ही तू समाज में अपनी विशेष स्थिति बनाकर अपना और अपने सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों का विकास कर।

हे आत्मन्! तू 'मियेध्य' है, मेध्य है, पवित्र और मेधार्ह (यज्ञ के योग्य) है। जो मेधार्ह होता है, वह हिंसा और संगम दोनों कार्यों को करता है[५]। अत: तुझे भी अशुभ वृत्तियों की हिंसा और शुभ वृत्तियों के साथ संगम करना है। साथ ही समाज में पनप रहे पाप और अधर्म का संहार करके पुण्य-कर्म एवं धर्म के साथ लोगों का संगम कराना है। हे आत्मन्! तू प्रशस्त है, जड़ प्रकृति की अपेक्षा उत्कृष्ट है। अपनी उस उत्कृष्टता को भी तू अक्षुण्ण बनाये रख। तू प्रकृति के वश में होकर **'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता:'**[६] की शोचनीय स्थिति को मत प्राप्त हो। जहाँ भी तू जाए, वहाँ अपने 'अरुष' (दुर्दम्य एवं आरोचमान) तथा 'दर्शत' (दर्शनीय) प्रभाव को छोड़, जैसे अग्नि धूम-शिखा को छोड़ती है। तेरे दिव्य जीवन की छाप अन्यों पर पड़नी चाहिए, तुझसे उठनेवाले सुगन्धमय धूम से वातावरण प्रभावित होना चाहिए। हे अग्नि! हे आत्मन्! हे मानव! तू चमक, अपनी आभा को सर्वत्र प्रसारित कर।

१२. रक्षा करो, रक्षा करो

पाहि नो अग्ने रक्षसः[८], पाहि धूर्तेरराव्णः[७] ।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो[१२], बृहद्भानो यविष्ठ्य[७]॥

—ऋग् १.३६.१५

ऋषिः **कण्वः घौरः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराड् बृहती**।

(बृहद्भानो) हे महान् तेजवाले, **(यविष्ठ्य[१])** तरुणतम **(अग्ने)** अग्रणी परमात्मन्! **(रक्षसः[२])** राक्षस से **(नः)** हमारी **(पाहि)** रक्षा कर, **(धूर्तेः[३])** हानिकारक **(अराव्णः[४])** अदानशील कृपण से **(पाहि)** रक्षा कर, **(रीषतः[५])** हिंसक से **(उत वा)** और **(जिघांसतः[६])** वधेच्छु से **(पाहि)** रक्षा कर।

समाज में जब राक्षसों का उपद्रव बढ़ जाता है, तब सज्जनों का जीवन और उनके द्वारा किये जानेवाले धर्म-कर्म संकट में पड़ जाते हैं। वे दुष्ट, दस्यु, पापात्मा लोग राक्षस कहाते हैं, जिनसे सबको अपनी रक्षा करने की चिन्ता हो जाती है, या जो एकान्त पाकर अपना घात लगाते हैं[७]। चोर, डाकू, लुटेरे, गिरहकट, तस्कर-व्यापारी आदि इसी श्रेणी के लोग होते हैं। समाज में कुछ व्यक्ति 'अरावा' अर्थात् अदानशील और कृपण प्रवृत्ति के होते हैं। ये लोग धन को अपने पास बटोरकर रख लेते हैं, जिससे समाज में आर्थिक विषमता उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक विषमता को दूर करने का वैदिक उपाय दानशीलता ही है। पर जब कृपण (अरावा) लोगों की संख्या बढ़ने लगती है, तब ये लोग देश और समाज के लिए बड़े हानिकर और अभिशाप-रूप सिद्ध होते हैं। तीसरे, कुछ लोग हिंसा की प्रवृत्ति वाले होते हैं, जो हत्या-रूप महापाप करने में आनन्द लेते हैं। ये धनादि के लोभ में शिशुओं, तरुणों, युवतियों का वध कर देते हैं और एक हत्या करके दूसरी हत्या की योजना तैयार करते रहते हैं। ये सब लोग समाज के वातावरण को दूषित करनेवाले हैं। राजशास्त्रकारों ने इनके लिए राजदण्ड का विधान किया है।

हे अग्ने! हे अग्रणी परमात्मन्! तुम 'बृहद्भानु' हो, अग्नि-ज्वालाओं से भी अधिक तुम्हारा महातेज है। तुम 'यविष्ठ्य' हो, युवतम हो, अतिशय तरुण एवं बलवत्तम हो। अतः तुम उपर्युक्त सब अवांछित लोगों से हमारी रक्षा करने में समर्थ हो। पर हम यह नहीं चाहते कि हम हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें और तुम आकर हमारी रक्षा कर जाओ। जब हम तुमसे यह प्रार्थना करते हैं कि तुम 'राक्षस' से, 'अरावा' से, हिंसक से और हिंसा का मन्सूबा बाँधनेवाले से हमारी रक्षा करो, तब हमारा यही आशय है कि तुम हमें भी अपने जैसा तेजस्वी और नित्य-तरुण बना दो, जिससे हम दुर्जनों से अपनी और अपने समाज की रक्षा कर सकें। हमें तुम इनका प्रतिरोध करने की, इन्हें पराजित करने की और इनका समूल उन्मूलन करने की शक्ति दो। और इससे भी बड़ी वह दिव्यशक्ति दो कि हम इनकी राक्षसी वृत्ति को, कृपणता को और हिंसा-प्रवृत्ति को नष्ट कर इन्हें भी अपने जैसा धर्मात्मा बना लें, जिससे दुष्टता का नग्न ताण्डव हमारे समाज से सदा के लिए मिट जाए और हम पवित्रता के वातावरण में श्वास ले सकें।

१३. तू जनों की ज्योति है

नि त्वामग्ने मनुर्दधे[८], ज्योतिर्जनाय शश्वते[८] ।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो[१२], यं नमस्यन्ति कृष्टयः[८] ॥

—ऋग् १.३६.१९

ऋषिः **कण्वः घौरः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **बृहती**।

(अग्ने) हे अग्रणी परमात्मन्! **(मनुः)** मननशील मनुष्य **(त्वां)** तुझे **(नि दधे)** [हृदय में] निहित करता है। [तू] **(शश्वते)** सनातन **(जनाय)** [आत्मारूप] जन के लिए **(ज्योतिः)** ज्योति [है]। **(ऋतजातः)** सत्य के द्वारा प्रकट, **(उक्षितः[१])** [आत्मसमर्पण की हवि से] सिक्त [तू] **(कण्वे[२])** मेधावी के अन्दर **(दीदेथ[३])** प्रदीप्त होता है, **(यं)** जिसे **(कृष्टयः[४])** साधक-जन **(नमस्यन्ति)** नमस्कार करते हैं।

हे अग्निस्वरूप अग्रणी परमात्मन्! जैसे यजमान अरणि-मन्थन के द्वारा यज्ञाग्नि को प्रकट कर यज्ञकुण्ड में निहित करता है, वैसे ही मननशील मनुष्य तुम्हें अपने हृदय में निहित करता है। जैसे अरणियों में पहले से ही विद्यमान अग्नि को भी मन्थन के द्वारा प्रकट करना पड़ता है, ऐसे ही यद्यपि तुम प्रत्येक के हृदय में पहले से ही वर्तमान हो, तो भी ध्यान-रूप मन्थन से तुम्हें प्रकट करने की आवश्यकता होती है। पूर्व ही सर्वत्र विद्यमान तुम्हारे विषय में 'हृदय में निहित करना' आदि भाषा-प्रयोग तुम्हें उद्‌बुद्ध या प्रकट करने के अर्थ में ही हम करते हैं। जब तुम हृदय में निहित या प्रबुद्ध हो जाते हो, तब सनातन जीवात्मा के लिए दिव्य ज्योति का काम करते हो, अँधियारे तमस् में तुम्हारी प्रकाश-रेखा उसे जीवन-पथ दर्शाती है।

हे प्रकाशक प्रभु! तुम 'ऋतजात' हो, सत्य से प्रकट होते हो। जब तक मन सत्य के द्वारा निर्मल नहीं हो जाता, तब तक उसमें तुम्हारे चरण नहीं पड़ते। मन में असत्य को धारण किये रखकर देवार्चना के विषय में सोचना आत्म-प्रवचन करना और जगत् को छलना है। जब तुम 'कण्व' की, मेधावी साधक की मनोवेदि में सत्य के द्वारा व्यक्त हो जाते हो और उसके आत्म-समर्पण की घृताहुति से सिक्त होते हो, तब तुम्हारी आभा दर्शनीय होती है। तब ऊँची-ऊँची ज्वालाओं से देदीप्यमान होती हुई यज्ञाग्नि के समान तुम अदभ्र ज्योतिवाले प्रकाशपुञ्ज के रूप में दिखाई देते हो। तुम्हारी उस जगमग ज्योति के प्रति कृष्टि-जन, योग-साधना की कृषि करनेवाले साधक-जन, शतशः नमस्कार करने लगते हैं। हे तेजोमय प्रभु! अपनी वह दिव्य ज्योति हम 'कण्वों' के हृदयों में भी उद्भासित करो, हमें भी अपना कृपापात्र बनाओ, हमारे भी तमोजाल को निरस्त करो। हम भी 'मनु' बनकर तुम्हें अपनी हृदय-वेदि में निहित कर रहे हैं, अग्न्याधान कर रहे हैं।

१४. ब्रह्मणस्पति का परामर्श

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्[८], मन्त्र वदत्युक्थ्यम्[६] ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा[१२], देवा ओकांसि चक्रिरे[८] ॥

—ऋग् १.४०.५

ऋषिः **कण्वः घौरः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **विराट् पथ्या बृहती**।

(**ब्रह्मणस्पतिः**[१]) वेदज्ञान का अधिपति परमेश्वर तथा विद्वान् मनुष्य (**नूनं**) निश्चय ही [ऐसे] (**उक्थ्यम्**[२]) प्रशंसनीय (**मन्त्रं**) परामर्श को (**प्र वदति**) प्रकृष्टरूप से कहता है, (**यस्मिन्**) जिसमें (**इन्द्रः**) इन्द्र, (**वरुणः**) वरुण, (**मित्रः**) मित्र [और] (**अर्यमा**) अर्यमा (**देवाः**) देव (**ओकांसि**) घर (**चक्रिरे**) किये होते हैं।

हे मनुष्य! जब कभी तुझे किसी विषय में परामर्श की आवश्यकता होती है, तब इधर-उधर मारा-मारा-मारा क्यों फिरता है? वे लोग जो स्वयं अज्ञानी और अपूर्ण हैं, भला तुझे क्या परामर्श देंगे? उनकी सलाह पाकर तो तू पथ-भ्रष्ट ही होगा। अतः जब कभी तेरे मन में कर्तव्याकर्तव्य का संशय उपस्थित हो, तब वेदज्ञान के अधिपति ब्रह्मणस्पति प्रभु की शरण में जा। अन्तर्मुख होकर सच्चे हृदय से अपनी समस्या उनके सम्मुख रख। वे अवश्य ही तेरे मन में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करेंगे और तेरे संशय या भ्रान्ति की सब काली घटाओं को छिन्न-भिन्न कर देंगे। अन्धकार में ज्योति पाने के लिए तू ब्रह्मणस्पति प्रभु के दिये हुए वेदों को भी देख सकता है कि उनमें क्या लिखा है, क्योंकि उनमें दिये हुए परामर्श भी ब्रह्मणस्पति के ही परामर्श हैं। इसके अतिरिक्त वेदों के ज्ञानी, अनुभवी, सदाचारी, मित्रभाव रखनेवाले विद्वज्जन भी 'ब्रह्मणस्पति' हैं। यदि परमात्मा की प्रेरणा सुन सकने का सामर्थ्य तुझमें नहीं, तो तू उन विद्वानों की ही शरण में जा। उनसे अपने संशयों का निवारण करवा।

जो 'ब्रह्मणस्पति' है, उसके 'मन्त्र' या परामर्श में इन्द्र, वरुण, मित्र और अर्यमा देवों का निवास होता है। 'इन्द्र[३]' ऐश्वर्य, उत्कर्ष, पराक्रम, विजय और सफलता को सूचित करता है। 'वरुण'[४] पाप-निवारण का आदर्श है। 'मित्र'[५] मैत्री और स्नेह का प्रतिनिधि है। 'अर्यमा[६]' श्रेष्ठ एवं अश्रेष्ठों के साथ यथायोग्य व्यवहार एवं न्याय का देव है। ब्रह्मणस्पति के परामर्श में इन देवों के निवास का तात्पर्य है कि इन देवों से सूचित होनेवाली उक्त विशेषताएँ उस परामर्श में निहित रहती हैं। उस परामर्श को पाकर और उनके अनुसार चलकर मनुष्य उत्कर्षवान् और विजयी होता है, पाप से बचता है, अन्य जनों के प्रति मैत्री और न्याय का बर्ताव करता है।

आओ, हम भी संशय की वेला में 'ब्रह्मणस्पति' प्रभु और 'ब्रह्मणस्पति' विद्वान् को ही अपना अन्तरंग बनाएँ, उसी से पूछें, उसी से प्रेरित हों और उसी के सन्देश का पालन करें।

१५. चार पुरुषार्थ

चतुरश्चिद् ददमानाद्[८], बिभीयादा निधातोः[७]।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत्[८]। —ऋग् १.४१.९

ऋषिः **कण्वः घौरः**। देवता **वरुणमित्रार्यमणः**। छन्दः **पिपीलिकामध्या गायत्री।**

(चतुरः चित्) चारों ही [पुरुषार्थों] को **(ददमानात्[१])** धारण करनेवाले से **(बिभीयात्)** डरे, **(आ निधातोः[२])** जब तक वह इन्हें छोड़ न दे। **(दुरुक्ताय)** दुर्वचन की **(न स्पृहयेत्)** स्पृहा न करे।

प्रायः देखा यह जाता है कि मनुष्य भयसंत्रस्त असत्पुरुषों से होता है कि वे कहीं हमें हानि न पहुँचा दें। अन्धकार में चोर से वह थर-थर काँपता है। आततायी को देख घर में जा दुबकता है। पर इस प्रकार के असाधु पुरुषों से तो उसे संघर्ष करना चाहिए, न कि उनसे डरना और संघर्ष करके विजयी होना चाहिए। तो फिर मनुष्य किससे डरे ? उससे जो कि धार्मिक है, जो धर्मपूर्वक धन कमाता है, जो धर्माविरुद्ध काम में प्रवृत्त होता है और जो जीवन्मुक्त है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ मानव की उन्नति के चार सोपान हैं, जिनका मूल धर्म है। किसी ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध को धर्म कहा है; किसी ने जो धारण करे उसे धर्म कहा है; किसी ने जो स्वयं के लिए प्रिय हो वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति करने को धर्म कहा है। धर्म के लक्षण अनेक हो सकते हैं, पर सबमें मूल भावना एक ही है कि वे ही कार्य धर्म कहाते हैं, जिनसे अन्यों का भी कल्याण हो और अपना भी। धर्म के समान धन भी उन्नति का साधन है, पर तभी तक, जब तक वह धर्मानुकूल उपायों से अर्जित किया गया हो; अन्यथा वह पतनोन्मुख करनेवाला बन जाता है। 'काम' भी धर्म-विरुद्ध होने पर पतन का साधन बनता है, किन्तु धर्मानुकूल होने पर सङ्कल्प-बल द्वारा बड़े-बड़े कार्यों का साधक होता है। जैसे निर्वात स्थान में दीपक की लौ निश्चल रहती है, वैसे ही जिसके इन्द्रियाँ, मन आदि निश्चल हो गये हैं और जिसने समाधि से अपने आत्मा को परमात्मा में केन्द्रित कर लिया है, वह जीवन्मुक्त कहाता है; शरीरान्त होने पर वह मोक्ष पा लेता है। इन धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों को धारण करनेवाले व्यक्ति से मनुष्य डरे कि ऐसे उच्च मनुष्यों के सम्मुख अशोभन कार्य करूँ तो मेरे लिए डूब मरने की बात है। पर इनसे भय का कारण तभी तक है, जब तक ये लोग चारों पुरुषार्थों का सेवन करते हैं; यदि ये पुरुषार्थों को त्याग देते हैं तो ये उस कोटि के व्यक्ति नहीं रहते कि कोई पाप करते हुए इनसे डरे। चारों पुरुषार्थों के धारक किसी महात्मा से मनुष्य किस रूप में डरे इसका एक उदाहरण देता हुआ मन्त्र कहता है कि वह दुर्वचन बोलने की कभी स्पृहा न करे, अपितु इनके सान्निध्य से प्रेरणा पाकर सदा सुवचन ही बोले।

हे मित्रता के आदर्श मित्र प्रभु! हे पापनिवारण के आदर्श वरुण प्रभु! हे न्याय के आदर्श अर्यमा प्रभु! तुम हमारे अन्दर ऐसी वृत्ति उत्पन्न करो कि हम चारों पुरुषार्थों के धारक व्यक्तियों से शिक्षा लेकर सदा उनसे अनुमोदित सदाचार में ही प्रवृत्त रहें।

१६. बाधक शत्रु मार्ग से दूर हों

अप त्यं परिपन्थिनं[८], मुषीवाणं हुरश्चितम्[८]।
दूरमधि स्रुतेरज॥ —ऋग् १.४२.३

ऋषिः **कण्वः घौरः**। देवता **पूषा**। छन्दः **गायत्री**।

[हे पूषन्! हे परमात्मन्!] (**त्यं**) उस (**परिपन्थिनं**[१]) मार्ग के बाधक शत्रु को (**मुषीवाणं**[२]) चोर को [और] (**हुरश्चितम्**[३]) कुटिलता का संग्रह करनेवाले को (**स्रुतेः**[४] **अधि**) मार्ग से (**दूरं**) दूर (**अज**[५]) फेंक दो।

धर्म पर चलने की वेदादि शास्त्र बार-बार प्रेरणा करते हैं। परन्तु वह धर्ममार्ग आसान नहीं है, प्रत्युत बहुत ही कंटकाकीर्ण है। अनेक छद्मवेषी शत्रु मार्ग में बाधक बनकर आ खड़े होते हैं, जिनसे लोहा लेना बड़ा ही कठिन हो जाता है। जब कोई धर्मपथ पर चलने का व्रत लेता है और अपनी यात्रा आरम्भ करता है, तब अधार्मिक लोगों में खलबली मच जाती हैं। वे सोचने लगते हैं कि धार्मिकों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती गई तो एक दिन ऐसा आयेगा कि अधर्म को कन्दरा में जाकर मुख छिपाना पड़ेगा और हम लोगों को कहीं पैर टिकाने तक का आश्रय नहीं मिल सकेगा। अतः वे धर्म-मार्ग में विघ्न डालने का षड्यन्त्र रचाते हैं और धर्ममार्ग के पथिकों को मोह में डालने के लिए अधर्म को ही धर्म के रूप में उपस्थित करने लगते हैं। वे कहते हैं कि कर्म-फल देनेवाला परमात्मा और कर्म-फल भोगनेवाला जीवात्मा कपोल-कल्पित वस्तुएँ हैं, अतः इनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है; जिसे करने में स्वयं को सुख मिलता है, वही धर्म है; अतः खाओ, पिओ, नाच-रंग की रंगरेलियों में मस्त रहो, यही सच्चा जीवन-दर्शन है और यही धर्म है। परन्तु वस्तुतः धर्म का यह रूप उपस्थित करनेवाले लोग धर्म-मार्ग के परिपन्थी या शत्रु हैं।

धर्मपथ का पथिक जिस सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि के पाथेय को साथ लेकर चलता है, उसे बीच में चुरा लेनेवाले 'मुषीवा' लोग भी बहुत-से मिलते हैं। वे हिंसा को अहिंसा से, असत्य को सत्य से, स्तेय को अस्तेय से, अब्रह्मचर्य को ब्रह्मचर्य से बड़ा बताकर और लुभावने रूप में उपस्थित करके अहिंसा आदि की सम्पत्ति को उससे ठग लेते हैं और 'हुरश्चित्' बनकर उसके मन को कुटिलताओं का आवास-भवन बना देते हैं। इन 'परिपन्थी', 'मुषीवा' और 'हुरश्चित्' व्यक्तियों से हम धर्म-यात्रियों को सावधान रहना होगा, अन्यथा हमारी यात्रा विघ्नित और विच्छिन्न हो जाएगी।

धर्म-यात्रा में हमें केवल इन बाह्य शत्रुओं का ही भय नहीं है, अपितु हमारे अन्दर भी शत्रु घर किये बैठे हैं। हमारे अन्दर प्रच्छन्न रूप से बैठे हुए अपने ही धर्म-विरोधी भाव धार्मिक भावों को दबा देना या चुरा लेना चाहते हैं और उनके स्थान पर हमारे अन्तःकरण को कुटिलताओं का संग्रहालय बना देने का षड्यन्त्र करते हैं। उन विरोधी भावों से भी हमें सचेत रहना होगा।

हे पूषन्! हे हमारे आत्मा को पोषण देनेवाले परमात्मन्! तुम हमारे धर्म-मार्ग में बाधा डालनेवाले बाह्य और आन्तरिक समग्र शत्रुओं को दूर फेंक दो तथा हमें निरन्तर अपनी धर्म-यात्रा प्रवृत्त रखने के लिए परिपुष्टि प्रदान करते रहो।

१७. शक्तिशाली बन

शग्धि पूर्धि प्रयंसि च[८], शिशीहि प्रास्युदरम्[७]।
पूषन्निह क्रतुं विदः[६]॥ —ऋग् १.४२.९

ऋषिः **कण्वः घौरः**। देवता **पूषा**। छन्दः **पिपीलिकामध्या गायत्री**।

(पूषन्) हे पुष्टिशील जीवात्मन्! **(शग्धि[१])** शक्तिशाली बन, **(पूर्धि[२])** स्वयं को पूर्ण बना, **(प्रयंसि[३])** प्रयास कर, **(शिशीहि[४])** स्वयं को तीक्ष्ण बना, **(उदरं)** उदर को **(प्रासि[५])** भर। **(इह)** यहाँ **(क्रतुं[६])** कर्तव्य को **(विदः[७])** जान।

हे आत्मन्! तुम 'पूषा' हो, स्वयं पुष्टिशील हो तथा अपनी प्रजा-रूप मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को भी पुष्टि दे सकने वाले हो। पर यदि तुम ही परिपुष्ट न होकर निर्बल बने रहे, तो शरीर का सारा साम्राज्य ही विकृत हो जाने का भय है। अतः तुम अपने 'पूषा' नाम को सार्थक करो। तुम शक्तिशाली बनो, ऐसे शक्तिधर बनो कि जो भी अन्तर्-द्वन्द्व या मायावी कामादि शत्रु तुमसे संघर्ष करने आयें उन्हें परास्त कर सको। तुम स्वयं को पूर्ण बनाओ, पूर्णिमा के चाँद के समान पूर्ण हो जाओ। विकास रुका होने के कारण जो तुममें अधूरापन दिखाई देता है, उस अवस्था को दूर करो। वह अधूरापन दूर होगा प्रयास के द्वारा। अतः तुम प्रयास करो; पूर्णता के लिए प्रयास करो, समृद्ध होने के लिए प्रयास करो, कर्तव्य-पालन के लिए प्रयास करो, अपना दिव्यगुणों का साम्राज्य बढ़ाने के लिए प्रयास करो। स्मरण रखो, बिना प्रयास किये स्वयं सफलता द्वार पर आकर खड़ी नहीं हो जाती। तुम स्वयं को तीक्ष्ण करो, जागरूक, प्रतिभावान् तथा प्रखर बनाओ। प्रखरता समस्त शत्रुओं के सम्मुख चुनौती बनकर खड़ी हो सकती है तथा विजय की पताका फहराने में सहायक होती है। इसके विपरीत कुण्ठा संशयों में डालकर पराजय का कारण बनती है।

हे आत्मन्! तुम उदर-पूर्ति करो। तुम्हारा अपना उदर इस शरीर के उदर से भी विशाल है। शरीर का उदर तो थोड़े-से भोजन एवं पेय से भर जाता है, पर तुम्हारे उदर में जितना भी डालते चलो, वह कम ही पड़ता है। तुम्हारी भूख आध्यात्मिकता की भूख है। वह सामान्य भोजन से नहीं, अपितु सत्यशीलता, व्रतपालन, यज्ञ, वेदाध्ययन, अहिंसा, शुचिता, त्याग, परिपक्वता, ब्रह्म-साक्षात्कार आदि के भोजन से शान्त होती है। उस भोजन को तुम अपने लिए भी सञ्चित करो तथा उससे अन्य जनों की भी उदरपूर्ति करो। हे पूषन्! हे मेरे आत्मन्! तुम इस देह या लोक में रहते हुए कर्तव्य को जानो। कर्तव्य को जाने बिना न सही दिशा में प्रयास हो सकता है, न सही दिशा में पूर्णता प्राप्त की जा सकती है, न सही रूप में तीक्ष्णता सम्पादित की जा सकती है। हे आत्मन्! यदि तुम वेद की इस प्रेरणा को वस्तुतः ग्रहण कर लोगे, तभी तुम सच्चे पूषा अर्थात् सच्चे पुष्टि के देव बन सकोगे।

१८. दाश्वान् की सम्पत्ति

अग्ने विवस्वदुषसश्[८], चित्रं राधो अमर्त्य[७] ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वम्[११], अद्या देवाँ उषर्बुधः[८] ॥

—ऋग् १.४४.१

ऋषिः **प्रस्कण्वः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् पथ्या बृहती।**

(**अमर्त्य**) हे अमर! (**जातवेदः**) हे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाश (**अग्ने**) अग्रणी, तेजस्वी परमात्मन्! (**त्वम्**) तू (**दाशुषे**) आत्मसमर्पणकर्त्ता के लिए (**अद्य**) आज (**उषसः**) उषा के (**विवस्वत्**[१]) तमस् का विवासन करनेवाले, (**चित्रं**) अद्भुत (**राधः**[२]) ऐश्वर्य को [और] (**उषर्बुधः**) उषःकाल में उद्बुद्ध होनेवाले (**देवान्**) देवों को (**आ वह**[३]) प्राप्त करा।

बाह्यजगत् में आदित्यरूप जातवेदस् अग्नि प्राकृतिक उषा के अनुपम प्रकाश को प्रदान करता है। रात्रि के निविड अन्धकार का विवासन करनेवाली उषा की ज्योतिर्मयी किरणें हमें नवीन स्फूर्ति और उद्बोधन प्रदान करती हैं। उषा की वेला हमारे अन्दर पवित्र विचारों को और अनेक दिव्यगुणों (देवों) को उत्पन्न करती है।

किन्तु हम जिस उषा के चित्र-विचित्र ऐश्वर्य की याचना और आतुरता के साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं, वह इस प्राकृतिक उषा से विलक्षण कोई अन्य ही उषा है। वह है दिव्य अध्यात्म-प्रकाश की उषा। उस उषा को प्राकृतिक सूर्याग्नि नहीं, किन्तु वह अमर परमात्माग्नि हमारे हृदयान्तरिक्ष में उदित करता है, जो सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है, सर्वप्रकाश है। अध्यात्म उषा का ऐश्वर्य 'विवस्वत्' है, मोहान्धकार को और तमःप्रियता को विच्छिन्न करनेवाला है। वह 'चित्र' है, अद्भुत है, अलौकिक है। वह 'राधस्[४]' है, सिद्धि और सफलता को प्रदान करनेवाला है। अग्नि-प्रभु उषा की दिव्य ज्योति का धन उसे ही प्रदान करते हैं, जो 'दाश्वान्' बनकर उन्हें आत्म-समर्पण करता है। जब तक मनुष्य बाह्यजगत् को आत्म-समर्पण किये रहता है, तब तक वह बाह्यजगत् से मिलनेवाले लाभों या लाभाभासों का ही अधिकारी होता है। दिव्य उषा के अन्तःप्रकाश का ऐश्वर्य तो आत्मा को प्रभु में लीन करने पर ही मिलता है। हे जातवेदः परमात्मन्! आज मैं भी तुम्हें आत्म-दान देता हूँ। मुझे भी तुम दिव्य उषा का ऐश्वर्य प्रदान करो।

हे अमर अग्निदेव! तुम आज मुझे उषर्बुध देवों का भी सान्निध्य प्राप्त कराओ। दिव्य उषा के प्रकाश से तमःपुञ्ज के विलीन हो जाने पर समस्त देव 'मैं पहले' 'मैं पहले' की रट लगाते हुए मेरे अन्तःकरण में अवतीर्ण हो जाएँ। वैदिक 'मित्र' देव मैत्री का, 'वरुण' देव पाप-निवारण का, 'सविता' देव शुभ प्रेरणा का, 'पूषा' देव पुष्टि का, 'विष्णु' देव व्यापकता एवं उदारता का, 'इन्द्र' देव वीरता का, 'रुद्र' देव रौद्रता का, 'सोम' देव सौम्यता एवं पवित्रता का, 'पर्जन्य' देव वर्षा का, 'बृहस्पति' देव ज्ञान का, 'त्वष्टा' देव कला-नैपुण्य का, 'प्रजापति' देव प्रजापतित्व का, 'वायु' देव गतिमयता का, 'अश्विनौ' देव परोपकार का सन्देश देते हुए हृदय को दिव्यगुणों का धाम बना दें। हे अग्नि प्रभु! तुम मेरे और देवों के बीच में 'दूत' बनो, मेरे अध्यात्म-यज्ञ में देवों का आवाहन करो। हे उषर्बुध देवो! मेरे हृदय में उषा खिल चुकी है, अब तुम भी उद्बुद्ध होने में विलम्ब न करो।

१९. दिव्यगुणों की तीर्थयात्रा

श्रेष्ठं यविष्ठमतिथिं स्वाहुतं[११], जुष्टं जनाय दाशुषे[८]।
देवाँ अच्छा यातवे जातवेदसम्[१२], अग्निमीळे व्युष्टिषु[७]॥

—ऋग् १.४४.४

ऋषिः **प्रस्कण्वः काण्वः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् सतःपङ्क्तिः**।

(देवान् अच्छ) देवजनों या दिव्यगुणों की ओर **(यातवे[१])** जाने के लिए [मैं] **(व्युष्टिषु)** उषःकालों में **(श्रेष्ठं)** श्रेष्ठ, **(यविष्ठं[२])** अतिशय युवा, **(अतिथिं)** अतिथि-रूप **(सु-आहुतं)** शुभ आहुति के पात्र **(दाशुषे[३] जनाय)** आत्म-दान करनेवाले जन के लिए **(जुष्टं[४])** प्रिय **(जातवेदसम् अग्निं)** सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक अग्नि परमेश्वर की **(ईडे[५])** स्तुति करता हूँ।

मैं चाहता हूँ कि मैं देवजनों की कोटि में गिना जाऊँ और मैं सत्य, न्याय, दया, दाक्षिण्य आदि सद्गुणों की तीर्थ-यात्रा करूँ। मेरा अब तक का जीवन जन-साधारण का जीवन रहा है। पर अब मैं सामान्य जीवन से ऊपर उठकर देवजनों का-सा उज्ज्वल, पवित्र, उन्नत जीवन जीने का इच्छुक हूँ। देवजन वे होते हैं, जिनके अन्तःकरण में दिव्यगुणों का वास होता है और दिव्यगुणों का वास प्रभु-कृपा से सम्भव है। प्रभु-कृपा और मानव की अभीप्सा एवं प्रयास मिलकर सफलता प्रदान करते हैं। अतः मैं प्रभातवेला में, उषा की किरणों के प्रस्फुटन के साथ-साथ अग्रणी एवं तेजस्वी अग्नि प्रभु का स्तवन, पूजन, वन्दन करता हूँ तथा उसके गुण अपने अन्दर धारण करने की प्रेरणा ग्रहण करता हूँ।

'अग्नि' नाम वाला वह परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ है, प्रशस्यों में प्रशस्यतम है। जगत् में जो सूर्य, चन्द्र, जल, वायु प्रभृति उत्कृष्ट पदार्थ पाये जाते हैं तथा जो बड़े-बड़े प्रतिष्ठित प्रशस्त जन विद्यमान हैं, उन सब जड़-चेतन में वह प्रकृष्टतम है। वह 'यविष्ठ' है, सबसे अधिक युवा है। उसकी शक्ति के सम्मुख बड़े-से-बड़े युवक नरपुंगव हार मानते हैं। साथ ही वह नित्य-तरुण है, सामान्यजनों की भाँति कभी बूढ़ा नहीं होता। वह मानव के हृदय में अतिथि के समान अर्चनीय भी है। वह 'अग्नि' देव 'सु-आहुत' है, हमारी शुभ आहुति का पात्र है, हमारे शुद्ध आत्म-समर्पण को ग्रहण करनेवाला है। वह आत्म-समर्पण-कर्ता का 'जुष्ट' है, प्रिय है, उससे प्रेमपूर्वक सेवनीय है। 'जातवेदाः' है, समस्त उत्पन्न पदार्थों का ज्ञाता और समस्त उत्पन्न पदार्थों में व्यापक है।

हे मेरे सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक जातवेदः प्रभु! अपने समान तुम मुझे भी श्रेष्ठ बनाओ, मुझे भी सदा-युवा एवं कर्मण्य बनाओ। मुझ आत्म-समर्पक के तुम प्रिय बनो। मुझे सच्चे अर्थों में तुम देव बना दो, दिव्यगुणों का धारक बना दो। दिव्यगुणों की तीर्थयात्रा के लिए ही मैं तुम्हारी वन्दना कर रहा हूँ।

२०. मैं तेरी स्तुति करूँगा

स्तविष्यामि त्वामहं[७], विश्वस्यामृत भोजन[८] ।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य[११], यजिष्ठं हव्यवाहन[८] ॥

—ऋग् १.४४.५

ऋषिः **प्रस्कण्वः काण्वः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् पथ्या बृहती**।

(अमृत) हे अमर! हे सदामुक्त! **(विश्वस्य भोजन[१])** हे विश्व के भोजन एवं पालक! **(मियेध्य[२])** हे दुःखों के प्रक्षेप्ता! **(हव्यवाहन[३])** हे प्राप्तव्य द्रव्यों को प्राप्त करानेवाले! **(अग्ने)** हे अग्रणी तेजोमय परमात्मन्! **(त्रातारं)** त्राणकर्त्ता, **(अमृतं)** पीयूषतुल्य! **(यजिष्ठं[४])** सर्वाधिक यज्ञकर्त्ता **(त्वां)** तुझे **(अहं)** मैं **(स्तविष्यामि)** स्तुति का विषय बनाऊँगा।

हे मेरे अग्रनेता तेजःस्वरूप परमेश्वर! मैं तुम्हारी स्तुति करूँगा, तुम्हारे गुणों का कीर्तन करूँगा, तुम्हारी आराधना करूँगा। तुम्हारी स्तुति मैं तुम्हारे भले के लिए नहीं, प्रत्युत अपने कल्याण के लिए करना चाहता हूँ। कहते हैं कि भगवान् भक्त की स्तुति से रीझते हैं और उसपर सब-कुछ न्यौछावर कर देते हैं। आज मैं भी इसका परीक्षण करूँगा।

हे भगवन्! तुम 'अमृत' हो, अमर हो, सदामुक्त हो। अमर तो मेरा आत्मा भी है, पर मुझमें और तुममें बहुत अन्तर है। मेरा आत्मा अमर होता हुआ भी जन्म-मरण के बन्ध में पड़ता है, पर तुम सदा इस बन्धन से छूटे हुए हो। तुम विश्व के 'भोजन' हो। सन्तजनों ने कहा है कि वे भौतिक भोजन के बिना कुछ समय रह भी सकते हैं, किन्तु तुम्हारी भक्ति के भोजन बिना नहीं रह सकते। साथ ही तुम विश्व-पालक होने से भी विश्व के 'भोजन' कहलाते हो। तुम 'मियेध्य' हो, दुःखियों के दुःख को प्रक्षिप्त करनेवाले हो। बड़े-से-बड़े दुःख को उनके समीप से तुम ऐसे प्रक्षिप्त कर देते हो, जैसे वायु तिनके को उड़ा देता है। तुम 'हव्यवाहन' हो, समस्त प्राप्तव्य पदार्थ हमें प्राप्त करानेवाले हो। तुम 'त्राता' हो, विपत्तियों से त्राण करनेवाले हो। वेदमन्त्र द्वितीय बार पुनः तुम्हें 'अमृत' कह रहा है, क्योंकि तुम भक्त के लिए पीयूष-तुल्य हो, सुधा-रस हो। तुम 'यजिष्ठ' हो, सबसे बड़े यज्ञकर्ता हो, क्योंकि तुम अखिल ब्रह्माण्ड के सञ्चालनरूप यज्ञ को कर रहे हो। हम मानव तो छोटे-छोटे यज्ञों का ही आयोजन करते हैं और उन्हें भी कठिनाई से ही निर्विघ्न पूर्ण कर पाते हैं। पर तुम सकल विश्व के उत्पादन और धारणरूप विशाल यज्ञ को अनायास निष्पन्न कर रहे हो।

हे जगदीश्वर! मैंने केवल तुम्हारी स्तुति ही की है, याचना कुछ नहीं की। यदि तुम मुझपर प्रसन्न हो और वर माँगने को कहते ही हो, तो तुम यही वरदान दो कि मुझे भी अपने सदृश विश्वपालक, विश्वत्राता, दुःखहर्ता, यशःशरीर से अमर, यज्ञकर्ता और हव्यवाहन बना दो।

२१. तरणि और ज्योतिष्कृत्

तरणिर्विश्वदर्शतो[८], ज्योतिष्कृदसि सूर्य[७]।
विश्वमाभासि रोचनम्[८] ॥ —ऋग् १.५०.४

ऋषिः **प्रस्कण्वः**। देवता **सूर्यः**। छन्दः **पिपीलिकामध्या गायत्री**।

(सूर्य) हे परमात्म-सूर्य! [तू] **(तरणिः[१])** तरानेवाला, **(विश्वदर्शतः)** सबके द्वारा दर्शनीय [और] **(ज्योतिष्कृत्)** ज्योति प्रदान करनेवाला **(असि)** है। [तू] **(विश्वं)** समस्त **(रोचनं[२])** दीप्त को **(आ भासि[३])** दीप्तिमान् करता है।

हे परमात्मन्! तुम सूर्य हो। ब्रह्माण्ड के दृष्टिगम्य ज्योतिष्मान् पिण्डों में सबसे तेजस्वी सूर्य ही दृष्टिगोचर होता है, जिससे हम तुम्हारे तेज की कुछ-कुछ तुलना कर सकते है। अतएव हम कहते हैं कि तुम तेज के साक्षात् सूर्य हो, सूर्य के समान स्वयं-प्रकाशमान और प्रकाशक हो। इसके अतिरिक्त तुम सरणशील, सर्वव्यापक, सर्व-प्रेरक और प्रकम्पक होने से भी सूर्य-पद-वाच्य हो[४]। हे ज्ञान के सूर्य! हे गुण-गरिमा के सूर्य! हे प्रशस्त क्रियाशीलता के सूर्य! तुम 'तरणि' हो, विपत्तियों और दुःखों के तम-स्तोम से तरानेवाले हो, संसार-सागर से तरानेवाले हो, आवागमन से तराकर मुक्त करनेवाले हो। तुम हम डूबते हुओं की तारक नौका हो। हे प्रकाशपुञ्ज! तुम 'विश्वदर्शत' हो, सबके द्वारा दर्शनीय हो। भौतिक प्रचण्ड सूर्य की ओर यदि हम चिरकाल तक दृष्टि बाँधकर देखें, तो हमारी आँखें अन्धी हो जाएँ। पर तुम ऐसे विलक्षण सूर्य हो कि तुम्हारे दर्शन करने से तृप्तिलाभ होता है, अन्धे को भी दृष्टि प्राप्त हो जाती है। महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों में तुम द्रष्टव्य हो, श्रोतव्य हो, मन्तव्य हो, निदिध्यासितव्य हो—"**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः[५]।**"

हे देव! तुम 'ज्योतिष्कृत्' हो। जैसे सूर्य रात्रि के विस्तीर्ण तमोजाल को विच्छिन्न कर दिन की शुक्ल ज्योति प्रदान करता है, वैसे ही तुम मानव के अविद्यान्धकार को विदीर्ण कर हृदयाकाश में ज्ञान की शुभ्र ज्योति जगमगा देनेवाले हो। संसार कहता है कि पृथिवी, मंगल, बुध, बृहस्पति, चन्द्र, विद्युत् आदि को चमकानेवाला भौतिक सूर्य है। पर असल में तो हे प्रकाशक प्रभु! ये सब तुम्हारी दी हुई दीप्ति से ही दीप्तमान् हैं, यहाँ तक कि भौतिक सूर्य भी अपनी दीप्ति के लिए तुम्हारा ही ऋणी है। विश्व की सब प्रभाओं में तुम्हारी ही प्रभा का दर्शन करनेवाले ऋषि ने सत्य कहा है—"**तस्य भासा सर्वमिदं विभति**"[६]। इसके अतिरिक्त सृष्टि के आरम्भ से अब तक जो प्रख्यात अन्तर्ध्यानी योगी महापुरुष दिव्यगुणों के प्रकाश से प्रकाशमान रहे हैं, वर्तमानकाल में विद्यमान हैं और भविष्य में होंगे, उन सबको भी दिव्य प्रकाश से प्रकाशित करनेवाले तुम्हीं हो। हे अलौकिक आभावाले! हमें भी अपनी आभा से भासित कर दो।

२२. आर्य और दस्युओं को पहचान

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो[१०], बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्[१२]।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता[१२], विश्वेत् ता ते सदमादेषु चाकन[१२] ॥

—ऋग् १.५१.८

ऋषिः **सव्यः आङ्गिरसः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराड् जगती**।

[हे इन्द्र राजन्!] (**आर्यान्**) आर्यों को (**ये च**) और जो (**दस्यवः**) दस्यु [हैं, उन्हें] (**वि जानीहि**) विश्लेषणपूर्वक पहचान। (**शासत्**) शासन करता हुआ [तू] (**बर्हिष्मते**) राष्ट्रसेवा-रूप यज्ञ के अनुष्ठाता के हितार्थ (**अव्रतान्**) व्रतहीनों को (**रन्धय[१]**) दण्डित कर। (**शाकी[२]**) शक्तिशाली [तू] (**यजमानस्य**) यजमान का (**चोदिता[३]**) प्रेरक (**भव**) हो। (**ते**) तेरे (**ता[४]**) उन (**विश्वा इत्**) सभी [कर्मों] की (**सधमादेषु[५]**) उत्सवों में (**चाकन[६]**) स्पृहा करता हूँ।

हे इन्द्र! हे राजन्! यदि तू अपने साम्राज्य का सफल अधिनायक बनना चाहता है तो सर्वप्रथम तुझे आर्य और दस्युओं में विवेक करना होगा। दस्यु लोग भी प्रायः छल-प्रपञ्च से ऐसा आर्य का रूप धारण कर लेते हैं कि उनकी पहचान कठिन हो जाती है। बाह्य रहन-सहन, आचार-व्यवहार आदि आर्यत्व या दस्युत्व के परिचायक नहीं हैं, प्रत्युत तुझे प्रत्येक जन के आन्तरिक हृदय और उसके द्वारा किये जानेवाले प्रच्छन्न कार्यों पर दृष्टि रखनी होगी। आर्य का हृदय सरल होता है, उसकी कथनी और करनी में तथा अन्दर और बाहर में कोई भेद नहीं होता है तथा वह सेवाव्रती होता है। इसके विपरीत दस्यु कपट-हृदय, अन्दर बाहर से भिन्न और सेवाव्रत-हीन होता है। राष्ट्र में आर्य और दस्युओं का विवेक करके तू व्रत-हीनों को दण्डित कर जिससे राष्ट्रसेवा-रूप यज्ञ के अनुष्ठाता आर्य-जन तेरे राज्य में पनपें।

हे राष्ट्रनायक! तू शक्तिशाली बन, अपनी सैन्यशक्ति, प्रभावशक्ति और राज्यकोष की शक्ति को सुदृढ़ कर, जिससे तू राज्य के अन्दर व्याप्त तथा बाहर सिर उठानेवाले शत्रुओं का मर्दन कर सके। तेरे राज्य में जो यजमान हैं, यज्ञशील जन हैं, उनका तू प्रेरणाप्रदायक और उत्साहवर्धक बन। वअन्यथा यदि सच्चे सेवाव्रती राष्ट्रभक्त, धर्मपरायण, सन्मार्गगामी, सदाचारी, दूरदर्शी, विवेकी राष्ट्रोत्थान में सहायक व्यक्तियों की तू उपेक्षा करेगा, तो उससे लाभ उठाकर अवांछनीय प्रवृत्तियोंवाले लोग सिर उठायेंगे, तथा तेरा राज्य विशृङ्खलित हो जायेगा। अतः सावधान रहकर तू कर्तव्य का पालन और अकर्तव्य का परित्याग करता रह। तब तेरा राष्ट्र चिरविजयी, चिरस्थायी होकर चिरप्रशंसित बना रहेगा। तब हम प्रजाजन उत्सव रचायेंगे, संगोष्ठियों का आयोजन करेंगे और उनमें तेरे स्वागत-गीत गायेंगे, तेरा अभिनन्दन करेंगे, तेरी स्पृहा करेंगे, तेरा गौरव-गान करेंगे।

हे आत्मन्! तू भी इन्द्र है, तू शरीर-राष्ट्र का राजा है। तेरे अन्दर जो आर्य-विचार और दस्यु-विचार उठते हैं, उनमें तू विवेक कर। दस्यु-विचारों पर वज्र-पात कर और आर्य-विचारों को समुन्नत कर। तेरा भी यशोगान होगा।

२३. पैतृक मित्रता का निर्वाह करो

मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि[१], प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कविः सन्[११]।
नभो न रूपं जरिमा मिनाति[११], पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि[११]॥

—ऋग् १.७१.१०

ऋषिः **पराशरः शाक्त्यः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(**अग्ने**) हे तेजोमय परमेश्वर! (**विदुः**[१]) सर्वज्ञ (**कविः**[२]) क्रान्तदर्शी (**सन्**) होते हुए [आप] (**नः**) हमारी (**पित्र्याणि**) पैतृक (**सख्या**[३]) मित्रताओं को (**मा**) मत (**अभि प्र मर्षिष्ठाः**[४]) भूल जाओ। (**नभः न**) आकाश के समान (**जरिमा**) बुढ़ापा (**रूपं**) रूप को (**मिनाति**[५]) नष्ट कर रहा है। (**तस्याः**) उस (**अभिशस्तेः**[६]) हिंसा से (**पुरा**) पहले (**अधीहि**[७]) प्राप्त हो जाओ।

हे अग्निदेव! हे तेजोमय प्रभु! मेरे पिता में और तुममें जो अन्तरंग सख्य था, उसे क्या तुम भूल गये? मेरे पिता और तुम एक झूले में झूलते थे। तुम उनके थे, वे तुम्हारे थे। उन्हीं के पुत्र मेरे साथ तुम ऐसा व्यवहार कर रहे हो, जैसे तुम्हारी कोई पूर्व-परिचिति है ही नहीं। पैतृक मित्रता का तो निर्वाह करो। तुम 'विदु' हो, सर्वज्ञ हो, तुमसे न किसी के मन की कोई बात छिपी है, न विश्व के किसी कोने की कोई बात छिपी है। तुम 'कवि' हो, क्रान्तदर्शी हो, भविष्य-द्रष्टा हो। किस बात का क्या परिणाम होगा, यह तुम अपनी सूक्ष्म दृष्टि से पहले ही देख लेते हो। भूत, वर्तमान, भविष्य कुछ भी तुमसे छिपा हुआ नहीं है। तो फिर मेरी पैतृक मैत्रियों को ही क्यों बिसारते हो? मेरे पिता के समान मुझे भी अपना अभिन्न सखा बनाकर उच्च पद प्राप्त करा दो।

मेरा सद्गुणों का रूप-सौन्दर्य, मेरे आत्मबल का रूप-सौन्दर्य, मेरे मनोबल का रूप-सौन्दर्य, मेरी सचाई का रूप-सौन्दर्य, मेरी तपस्या का रूप-सौन्दर्य, मेरे शरीर का रूप-सौन्दर्य सब नष्ट हुआ जा रहा है। शरीर का बुढ़ापा तो जब आना होगा तब आयेगा, पर मन के बुढ़ापे ने मुझे पहले ही आत्माधीन कर लिया है। उससे मैं जर्जर हुआ जा रहा हूँ। मैं स्वयं को निस्तेज, कान्तिहीन, हताश, रुग्ण अनुभव कर रहा हूँ। जैसे आकाश क्षण-क्षण में अपने रूप को नष्ट और परिवर्तित करता रहता है, वैसे ही मेरा आकर्षक रूप नष्ट होता जा रहा है। अब तो मेरी हिंसा हो जाने में, मेरी नैतिक मौत हो जाने में, कुछ ही कसर बची है। हे अग्नि प्रभु! आते क्यों नहीं? क्या तुम तब आओगे जब मेरा सर्वनाश ही हो चुकेगा? हे देव! आओ, 'अभिशस्ति' से पहले ही दौड़कर आ जाओ और मेरा उद्धार करो। मैं तुम्हारा सखित्व पाने के लिए आकुल हो रहा हूँ।

२४. कैसे हम प्रभु को भेंट दें ?

कथा दाशेमाग्नये कास्मै[१], देवजुष्टोच्यते भामिने गीः[१०]।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा[१], होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान्[११]॥

—ऋग् १.७७.१

ऋषिः **गोतमः राहूगणः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् पंक्तिः**।

(कथा) कैसे **(अग्नये)** अग्रणी परमेश्वर के लिए **(दाशेम[१])** भेंट दें ? **(अस्मै)** इस **(भामिने)** भासमान के लिए **(का)** कौन-सी **(देवजुष्टा[२])** देव-प्रिय तथा विद्वत्-सेवित **(गीः)** वाणी **(उच्यते)** बोली जाती है ? **(मर्त्येषु)** मरणधर्मा मनुष्यों के बीच में **(अमृतः)** अमर **(ऋतावा[३])** सत्य गुण, कर्म स्वभाववाला, **(होता[४])** सब पदार्थों का दान तथा आदान करनेवाला अर्थात् सृष्टिकर्त्ता एवं प्रलयकर्त्ता, **(यजिष्ठः[५])** अतिशय संगम करानेवाला **(यः)** जो **(इत्)** निश्चय ही [मनुष्यों को] **(देवान्)** देव **(कृणोति[६])** बनाता है।

हम परमेश्वर को भेंट चढ़ाना चाहते हैं। पर कैसे भेंट चढ़ायें और किस वस्तु की भेंट चढ़ायें ? कई सम्प्रदाय परमेश्वर की मूर्ति बनाकर उसपर पत्र, पुष्प, फल, तोय, मिष्टान्न, सुवर्ण, वस्त्र आदि की भेंट चढ़ाते हैं। पर जो निराकार है, निरवयव है, अशरीर है, हम उसकी मूर्ति कैसे बनायें ? जो सब जग को खिलानेवाला है, उसे हम फल, मिष्टान्न आदि कैसे खिलायें ? उसके लिए तो सच्ची भेंट भक्ति की भेंट ही है। कौन-सी वाणी से हम उसका गुणगान करें ? वह तो वाणी से अगोचर है। मुनिजन उसकी मौन आराधना कर लेते हैं, किन्तु हमारे अन्दर तो मौन आराधना का सामर्थ्य भी नहीं है। अतः वाणी का प्रयोग तो करना ही होगा। अतः आओ, हम 'देवजुष्टा' वाणी का प्रयोग करें। 'देवजुष्टा' वाणी में 'साम' का संगीत होता है, उस वाणी में 'ऋचा' की पवित्रता होती है। 'भामी' (भास्वान्) परमेश्वर उसी वाणी से रीझता है। हृदय से निकली हुई वही वाणी ईश्वराराधन की क्षमता रखती है। ऊपरी मन से की हुई स्तुतिवाणी परमेश्वर को प्रिय नहीं होती।

जिस परमेश्वर के लिए हम देवजुष्टा वाणी बोलना चाहते हैं, उसका स्वरूप भी हमें जान लेना चाहिए। वह हम मरणधर्माओं के बीच में अमर बनकर बैठा हुआ है। वह 'ऋतावा' है, सत्य गुण-कर्म-स्वभाव वाला है। वह 'होता' है, दान और आदान की क्रिया करनेवाला है। वह सृष्टि के आरम्भ में सकल पदार्थों को उत्पन्न कर उनका दान हमें करता है और प्रलयकाल में सब जग-प्रपञ्च को प्रकृति के गर्भ में ले लेता है। वह 'यजिष्ठ' है, अणु-अणु में संगम कर सब पदार्थों को रचनेवाला, रचे हुए सूर्य, पृथिवी आदि पदार्थों में परस्पर संगति करानेवाला तथा शरीर के भी विभिन्न अंगों में सामञ्जस्य उत्पन्न करनेवाला है। वह 'अग्नि' प्रभु मनुष्यों को 'देव' बनाने की भी शक्ति रखता है। जन-साधारण में दिव्यगुणों को उत्पन्न कर उन्हें 'देव' बना देता है। आओ उस दिव्य प्रभु की हम 'देवजुष्टा' वाणी से पूजा करें, वन्दना करें, आराधना करें।

२५. स्वराज्य की अर्चना

नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः।
तस्मिन् नृम्णमुत क्रतुं, देवा ओजांसि संदधु-
रर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ —ऋग् १.८०.१५

ऋषिः **गोतमः राहूगणः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराट् पङ्क्तिः**।

(**नु**) कोई भले ही (**नहि यात्**[१]) न जाए, [हम तो] (**इन्द्रं**) इन्द्र के प्रति (**अधिइमसि**[२]) जाते ही हैं। (**कः**) कौन (**वीर्या**[३]) वीरता से (**परः**) [इन्द्र की अपेक्षा] अधिक [है]? (**तस्मिन्**) उसमें (**देवाः**) देवों ने (**नृम्णं**[४]) बल को, (**क्रतुं**[५]) प्रज्ञा तथा कर्म को (**उत**) और (**ओजांसि**) ओजों को (**सं दधुः**) संनिहित किया है। [वह] (**स्वराज्यम् अनु**) स्वराज्य के लिए (**अर्चन्**) अर्चना करनेवाला [है]।

स्वराज्य की साधना अत्यन्त कठिन है। प्रथम तो विदेशी शक्तियों को बाहर निकालकर स्वराज्य प्राप्त करना ही दुष्कर है, फिर मिले हुए स्वराज्य की रक्षा कर सकना तो और भी अधिक जटिल है। इसके लिए किसी उत्कृष्ट नेता के नेतृत्व की आवश्यकता है। 'इन्द्र' ही हमारा नेता है। भले ही कोई उसके पीछे चले या न चले, हम तो चलेंगे ही, क्योंकि सामर्थ्य में उससे अधिक अन्य कौन है? देवों ने उसके अन्दर असीम शक्तियों को स्थापित किया है। वह 'स्वराज्य' की अर्चना करनेवाला है।

भाइयो! वेद की यह स्वराज्य की पुकार राष्ट्रिय और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की है। बाहर जब कोई देश पराधीन हो जाता है, विदेशी आकर उसपर अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं और वे उसकी सम्पत्ति का अपहरण करने लगते हैं, तब दासता को सहते-सहते अन्त में उस देश में जन-जागृति उत्पन्न होती है और उसके निवासी अपने में से ही किसी वीर, प्रज्ञावान्, कर्मण्य, ओजस्वी महापुरुष को 'इन्द्र' चुनते हैं, अपना नेता बनाते हैं और उसके नेतृत्व में स्वतन्त्रता का उद्घोष कर खोए हुए 'स्वराज्य' को पुनः पा लेते हैं। प्राप्त स्वराज्य को चलाने के लिए भी वे किसी को 'इन्द्र', राजा या प्रधानमन्त्री चुनते हैं। इसी प्रकार अध्यात्म-राष्ट्र में हमारा अपना आत्मा 'इन्द्र' है। आभ्यन्तर राष्ट्र के स्वराज्य पर भी आसुरी शक्तियाँ अपना अधिकार कर लेती हैं; हमारे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ सबकी स्वतन्त्रता का हरण हो जाता है और मनुष्य, जिसे 'देव' बनना चाहिए, 'दैत्य' बन जाता है। हम आत्मा को अपना नेता बनाएँ, आत्मा की वाणी सुनें, तो पुनः आध्यात्मिक स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है। आत्मा को ही स्वराज्य की बागडोर हम थमाये रहें तो वह स्वराज्य को स्थिर भी रख सकता है। अन्यथा पाशविक शक्तियाँ प्राप्त स्वराज्य को छीन भी सकती हैं। आओ, आत्मा को ही हम अपना नेता बनाएँ, क्योंकि उसके अन्दर देवों ने, ईश्वरीय शक्तियों ने, अपार बल, प्रज्ञान, कर्म और ओज निहित किया है। हे मेरे आत्मन्! तुम सदा ही स्वराज्य की अर्चना करते रहो।

२६. गगन में तारे जड़नेवाला

आ पप्रौ पार्थिवं रजो[८], बद्बधे रोचना दिवि[८]।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन[८], न जातो न जनिष्यते[८]
ऽति विश्वं ववक्षिथ[७]॥ —ऋग् १.८१.५

ऋषिः **गोतमः राहूगणः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् पङ्क्तिः**॥

[इन्द्र परमेश्वर ने] (**पार्थिवं**) पार्थिव (**रजः**[१]) लोक को (**आ पप्रौ**[२]) आपूर्ण किया है, (**दिवि**) द्युलोक में (**रोचना**[३]) चमकीले नक्षत्रों को (**बद्बधे**[४]) बाँधा है, जड़ा है। (**इन्द्र**) हे परमेश्वर! (**त्वावान्**[५]) तुझ जैसा (**कश्चन**) कोई भी (**न**) नहीं [है] (**न जातः**) न उत्पन्न हुआ है, (**न जनिष्यते**) न उत्पन्न होगा। [तू] (**विश्वम् अति**) विश्व को अतिक्रान्त करके (**ववक्षिथ**[६]) महान् है।

हे इन्द्र! हे परममहिमाशाली परमेश्वर! तुम्हारी महत्ता का हम क्षुद्र मानव भला पार कहाँ पा सकते हैं? तुमने पृथिवी-लोक में एक-से-एक चामत्कारिक बहुमूल्य पदार्थ भरे हैं। मिट्टी, पानी, पवन, अग्नि जैसे छोटे प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी हमारे लिए इतने मूल्यवान् हैं कि हम उनके बिना रह नहीं सकते। तुमने पृथिवी पर हिम-गिरियों को खड़ा किया है, सुरभित सुमनों वाले पौधों को रोपा है, उत्तम फलवाले छायादार तरुओं को उगाया है, आरोग्य-दायिनी ओषधियों और विविध अन्नों को उत्पन्न किया है, कल-कल-निनादिनी स्वच्छ-तोया नदियों को बहाया है, पर्वतों पर झर-झर झरनेवाले झरनों को झराया है। तुमने पृथिवी के गर्भ में हीरा, सोना, चाँदी, लोहा आदि धातुओं को, गन्धक, नमक, कोयला आदि खनिजों को तथा पार्थिव समुद्र की सीपियों में मोतियों को भरा है। तुमने मधुर, अम्ल, कटु, कषाय आदि रसों को पैदा किया है। इस तुम्हारे पार्थिव कर्तृत्व को हम कैसे भुला सकते हैं! साथ ही तुमने अन्तरिक्ष एवं द्यु-लोक में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, विद्युत् आदि चमकीले पदार्थों को भी बनाया है और तुम्हीं गगन-तल में तारों को भी जड़नेवाले हो। तुमने आकाश में अपरिमित भारवाले अगणित चमकीले पिण्डों को बिना ही डोर के लटका रखा है और उनसे असीम प्रकाश चारों ओर बखेर रहे हो। हे परम कलावित्! तुम जैसा कोई कलाकार आज तक न कोई उत्पन्न हुआ है, न भविष्य में उत्पन्न होगा। भ्रान्त हैं वे लोग जो तुम जैसे अनेक देवताओं की कल्पना करके परस्पर कलह करते हैं कि हम शिव के अनुयायी हैं, हम विष्णु के उपासक हैं। वस्तुतः हे इन्द्र! तुम्हीं विभिन्न नामों को धारण करते हो। तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं शिव हो, तुम्हीं यम हो, तुम्हीं काल हो। हे महिमामय! तुम जैसा महान्, तुम जैसा विश्व-स्रष्टा, तुम जैसा विश्वभर्ता, तुम जैसा विश्वत्राता कोई नहीं है। तुम सारे जगत् को अतिक्रान्त करके महान् हो।

२७. मैं तो प्रभु से प्रशंसा पाने का भूखा हूँ

त्वमङ्ग प्र शंसिषो[७], देवः शविष्ठ मर्त्यम्[७] ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र[१२] ब्रवीमि ते वचः[७] ॥

—ऋग् १.८४.१९

ऋषिः **गोतमः राहूगणः** । देवता **इन्द्रः** । छन्दः **पथ्या बृहती** ।

(अङ्ग) हे प्रिय **(शविष्ठ[१])** सबसे अधिक वली **(इन्द्र)** परमात्मन्! **(देवः[२])** दानी, प्रकाशमान और प्रकाशक **(त्वं)** तू **(मर्त्यं)** मनुष्य की **(प्र शंसिषः[३])** प्रशंसा कर, [उसे साधुवाद दे]। **(मघवन्)** हे ऐश्वर्यशालिन्! **(त्वत्)** तुझसे अतिरिक्त **(अन्यः)** अन्य **(मर्डिता[४])** सुखदाता **(न)** नहीं [है], **(ते)** तेरे लिए **(वचः)** प्रार्थना-वचन **(ब्रवीमि)** बोल रहा हूँ।

मनुष्य जब कोई प्रशंसायोग्य कार्य करता है, तब वह चाहता है कि उसे प्रोत्साहन मिले, साधुवाद प्राप्त हो, उसकी प्रशंसा में दो शब्द कहे जायें। पर प्रशंसा कौन करे? सांसारिक लोग तो डाह करते हैं कि अमुक शुभ कर्म करने का श्रेय अमुक को क्यों मिल रहा है। वे यदि साधुवाद देते भी हैं तो ऊपरी मन से देते हैं, या साधुवाद देने में भी उनका कुछ स्वार्थ निहित रहता है। अन्य कुछ वे न भी चाहें, तो भी इतना तो चाहते ही हैं कि जिसे हम बधाई या साधुवाद आदि देते हैं, उसपर मानो अहसान का भार लादते हैं, जो ग्रहीता को महँगा ही पड़ता है। अतः मुझे सांसारिक जनों के साधुवाद की कोई लालसा नहीं रही है। मैं तो चाहता हूँ कि जब भी मुझसे महान् सत्कार्य बन पड़े, तब मुझे इन्द्र-प्रभु का आशीर्वाद और साधुवाद प्राप्त हो, मेरे अन्तःकरण में बैठा हुआ प्रभु उस कार्य के लिए प्रशंसा-वचन बोलता हुआ मुझे प्रोत्साहित करे, जिससे भविष्य में मैं और भी अधिक शुभ कार्यों में प्रवृत्त होऊँ। प्रभु का आशीर्वाद सच्चा आशीर्वाद है, जो बिना प्रतिफल की आशा से दिया जाता है; जिसमें निश्छल प्रेम के अतिरिक्त किसी प्रकार का स्वार्थ, अहंकार या अहसान का भाव मिश्रित नहीं रहता। इन्द्र-प्रभु 'देव' हैं, सबसे बड़े दानी और स्वयं सद्गुणों से प्रकाशमान तथा अन्यों को प्रकाशित करनेवाले हैं। वे 'शविष्ठ' हैं, सबसे अधिक बलवान् हैं, अतएव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सम्राट् हैं। वे 'मर्डिता' हैं, शरणागत पर सुख की वर्षा करके उसे निहाल कर देनेवाले हैं। उनसे बढ़कर अन्य कोई सुखदाता नहीं है। सुखदाता होने का अभिमान करनेवाले सैकड़ों हैं, पर उनका दिया सुख सच्चा सुख नहीं होता, बल्कि कभी-कभी तो वह किसी बड़ी विपदा का कारण बन जाता है। प्रभु के सुख के आगे सांसारिक जनों के दिये हुए सुख निःसार हैं, तुच्छ हैं।

हे इन्द्र देव! हे बलियो में बली! हे विश्व-सम्राट्! तुम्हीं मेरे प्रशंसक बनो, तुम्हीं मेरे 'मर्डिता' बनो। अन्य सबको छोड़कर तुम्हारे ही सम्मुख मैं स्तुति-वचनों और प्रार्थना-वचनों को बोल रहा हूँ। तुम्हीं मुझे आशीष दो, तुम्हीं मुझे सत्पथ पर अग्रसर करो। मैं आज से सर्वात्मना तुम्हारा हूँ।

२८. सोम प्रभु की महिमा

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्,[१०] त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः[१०]।
त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा[१०], द्युम्नेभिर् द्युम्न्यभवो नृचक्षाः[१०]॥

—ऋग् १.९१.२

ऋषिः **गोतमः राहूगणः**। देवता **सोमः**। छन्दः **पङ्क्तिः**।

(सोम) हे जगदुत्पादक तथा शुभगुणप्रेरक परमात्मन्! **(त्वं)** तू **(क्रतुभिः)** प्रज्ञाओं और कर्मों से **(सुक्रतुः)** सुप्रज्ञ और सुकर्मा **(भूः)** हुआ है। **(विश्ववेदाः[१])** सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ **(त्वं)** तू **(दक्षैः[२])** दक्षताओं एवं बलों से **(सुदक्षः)** सुदक्ष [हुआ है]। **(त्वं)** तू **(वृषत्वेभिः)** विद्या, सुख, धन आदि की वर्षाओं से [तथा] **(महित्वा)** महिमा से **(वृषा[३])** वर्षक तथा महान् [हुआ है], [और] **(नृचक्षाः[४])** मनुष्यद्रष्टा [तू] **(द्युम्नेभिः[५])** तेजो, यशों, अन्नों और धनों से **(द्युम्नी)** तेजस्वी, यशस्वी, अन्नवान् और धनी [हुआ है]।

हे सोम! हे जगत् के रचयिता तथा हृदय में शुभ गुणों की प्रेरणा करनेवाले परमात्मन्! मैं जब कभी तुम्हारे स्वरूप पर दृष्टिपात करता हूँ, तब मुग्ध हो जाता हूँ। तुम्हारे अन्दर जैसे अद्भुत गुण-कर्मों का सम्मिलन और सामञ्जस्य है, उसे देख श्रद्धा से तुम्हारे प्रति मेरा मस्तक नत हो जाता है। तुम 'विश्ववेदाः' हो, विश्वव्यापक और विश्ववित् हो; विश्व के कण-कण में विद्यमान रहते हुए विश्व के प्रत्येक घटनाचक्र को जाननेवाले हो। तुम 'नृचक्षाः' हो, प्रत्येक मनुष्य के द्रष्टा हो। ज्यों ही मनुष्य अपने मन में अच्छा या बुरा कोई विचार लाता है अथवा अच्छा या बुरा कोई कर्म करता है, त्यों ही तुम उसे जान लेते हो। तुम अपने क्रतुओं के कारण 'सुक्रतु' कहलाते हो। 'क्रतु' शब्द से सूचित होनेवाले ज्ञान और कर्म तुम्हारे अन्दर आदर्शरूप में विद्यमान हैं। तुम्हारे ज्ञान और कर्म दोनों ही सत्य, शिव और सुन्दर हैं। चारों वेद तुम्हारे अगाध और शुभ ज्ञान के साक्षी हैं और यह सकल ब्रह्माण्ड तुम्हारे व्यवस्थित शुभ कर्म का साक्षी है। तुम दक्षताओं एवं बलों से 'सुदक्ष' हो। तुम्हारी दक्षता, तुम्हारा शिल्पकौशल, तुम्हारा कला-चातुर्य जगत् की एक-एक वस्तु में, तरु-वल्लरियों में, फूल-पत्तियों में, भूमि-आकाश में, चाँद-सितारों में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। तुम्हारे बल, तुम्हारे अपार सामर्थ्य का तब पता लगता है जब तुम प्राणियों को किसी ऐसी भयंकर विपत्ति से बचा लेते हो जिसके प्रतिकार के लिए वे स्वयं बेबस होते हैं, या किन्हीं दुर्जनों को उनके द्वारा किये जानेवाले सम्पूर्ण रक्षा-प्रयासों को विफल करके तुम काल का ग्रास बना देते हो।

हे सोम प्रभु! तुम अपने द्वारा हमारे ऊपर निरन्तर की जानेवाली वर्षाओं से 'वृषा' या वर्षक बने हुए हो। तुम हमारे ऊपर बल, विद्या, धन, सुख, विनय, सत्य, न्याय, दया, रक्षा आदि की सतत वृष्टि करते रहते हो, जिससे हम परिपुष्ट होते हैं। हे प्रभु! तुम 'द्युम्नों' से 'द्युम्नी' बने हुए हो। तेज, यश, धन, अन्न आदि प्रशस्त द्युम्न के तुम धनी हो, अतएव प्रशस्य और वन्दनीय हो।

२९. सुमित्र सोम

गयस्फानो अमीवहा, वसुवित् पुष्टिवर्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव॥ —ऋग् १.९१.१२

ऋषिः **गोतमः राहूगणः**। देवता **सोमः**। छन्दः **गायत्री**।

(सोम) हे चन्द्रवत् वृद्धि और पुष्टि प्रदान करनेवाले परमेश्वर! [तू] **(गयस्फानः[१])** गृह, सन्तान, धन, प्राण की वृद्धि करनेवाला, **(अमीव**-हा[२]**)** अविद्या व रोगों का हन्ता, **(वसुवित्[३])** आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाला, **(पुष्टि-वर्धनः[४])** पुष्टि को बढ़ानेवाला **(नः)** हमारा **(सुमित्रः)** सुमित्र **(भव)** हो जा।

हे सोम प्रभु! हे चन्द्र के समान वृद्धि और पुष्टि प्रदान करनेवाले देव! तुम हमारे सुमित्र हो जाओ। सुमैत्री का निर्वाह करने के लिए सर्वप्रथम तुम हमारे लिए 'गयस्फान' बनो, हमारे गृह, सन्तान, धन और प्राणों को बढ़ाओ। घर के विषय में हमारी भावना बड़ी संकुचित है। हम दो-चार-छह सदस्यों के परिवार को ही घर समझते हैं। तुम हमारे घर की सीमा को शनैः-शनैः बड़ा करते हुए हमें इस स्थिति तक पहुँचा दो कि हम सारी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब समझने लगें। हमारी सन्तान को भी बढ़ाओ; केवल दो-चार को ही हम अपनी सन्तान न मानकर समाज के सब बच्चों में सन्तान की भावना करने लगें। हमारे धन को भी बढ़ाओ; हम सार्वजनिक या राष्ट्रिय धन को अपना धन मानकर उसकी सुरक्षा की चिन्ता रखें। हमारे प्राणों को भी बढ़ाओ; अन्य प्राणियों में भी हमारे ही प्राण हैं यह बुद्धि अपने अन्दर उत्पन्न कर उन प्राणियों को भी हम अपने ही समान प्यार करने लगें। साथ ही हमारे गृहादि की अन्य दृष्टि से भी वृद्धि करो। हमारे घर को सम्पदा से बढ़ाओ; हमारी सन्तान को विद्या, यश आदि से बढ़ाओ; हमारे धन को प्रचुरता की दृष्टि से बढ़ाओ; हमारे प्राणों को प्राणन, अपानन आदि शक्तियों से बढ़ाओ। तुम हमारे लिए 'अमीवहा' बनो, हमारे ज्वर आदि शारीरिक रोगों को और अविद्या आदि मानसिक रोगों को विनष्ट करो, क्योंकि रुग्ण शरीर और रुग्ण मन से हम किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकते। तुम 'वसुवित्' बनो, हमें आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त कराओ, क्योंकि आत्मिक ऐश्वर्य ही सच्चा धन है, उसके बिना भौतिक ऐश्वर्य अकिंचित्कर है। तुम 'पुष्टि-वर्धन', होवो, हमारी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक पुष्टियों को अधिकाधिक बढ़ाते चलो, क्योंकि यदि पूर्व-प्राप्त पुष्टि बढ़ेगी नहीं तो सञ्चित पूँजी शीघ्र ही चुक जाएगी और हम कंगाल हो जाएँगे।

एक सच्चे मित्र के करने योग्य ये ही कर्तव्य हैं। हे प्रभु! यदि इन्हें तुम हमारे लिए करोगे तो सचमुच हमारे अन्तरंग सखा हो जाओगे और तुम सुमित्र को पाकर हम स्वयं को धन्य मानेंगे।

३०. सोम प्रभु क्या-क्या देता है ?

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं[११], सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति[१०]।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं[९], पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै[११]॥

—ऋग् १.९१.२०

ऋषिः **गोतमः रहूगणः**। देवता **सोमः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(यः) जो **(अस्मै)** इस [सोम] को **(ददाशत्[१])** आत्म-समर्पण करता है [उसे] **(सोमः[२])** ऐश्वर्यशाली सोम प्रभु **(धेनुं)** धेनु **(ददाति)** प्रदान करता है, **(सोमः)** सोम प्रभु **(आशुं)** शीघ्रगामी **(अर्वन्तं)** अश्व [प्रदान करता है], **(सोमः)** सोम प्रभु **(कर्मण्यं)** कर्मण्य, **(सादन्यं[३])** ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के निर्वाह में सफल, **(विदथ्यं[४])** यज्ञ-कुशल, युद्ध-कुशल **(सभेयं)** सभ्य, संसत्-सदस्य तथा **(पितृश्रवणं[५])** पितृ-कुल की कीर्ति फैलानेवाला **(वीरं)** वीर-पुत्र [प्रदान करता है]।

'सोम' प्रभु के पास अनन्त ऐश्वर्यों का भण्डार भरा है। वह आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का भी स्वामी है और आधिभौतिक ऐश्वर्यों का भी कुबेर है। इनका वह खुले हाथों सत्पात्रों में दान कर रहा है। परन्तु उसके ऐश्वर्यों के दान का अधिकारी बनने के लिए पहले स्वयं दान करना पड़ता है। यह है आत्म-दान अथवा सर्वभाव से आत्म-समर्पण। जो 'सोम' प्रभु को आत्म-समर्पण कर देता है, उसे अपनी चिन्ता स्वयं नहीं करनी पड़ती, 'सोम' प्रभु उसके योग-क्षेम का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। आत्म-समर्पक तो बस प्रभु की प्रेरणानुसार कर्म करता चलता है, फल वह प्रभु पर छोड़ देता है। आत्म-समर्पण की निशानी यह है कि फल-प्राप्ति हो या न हो, जल्दी हो या विलम्ब से हो, वह उद्विग्न नहीं होता। 'कर्म करना मेरा काम है और फल देना प्रभु का काम' यह उसकी भावना हो जाती है। पर 'सोम' प्रभु अपने उत्तरदायित्व का पूर्णतः निर्वाह करते हैं। वे अपने पुजारी को अपार ऐश्वर्य का स्वामी बना देते हैं। वे उसे 'धेनु' प्रदान करते हैं। 'धेनु' से दुधारू गाय तो गृहीत होती ही है, परन्तु उसके अतिरिक्त 'धेनु' वाणी का भी नाम है। वाक्-शक्ति सचमुच कामधेनु है। व्यक्तवाक् होना मनुष्य की एक विशेषता है जो अन्य प्राणियों में नहीं है। वाणी ही शिष्य को अखिल ज्ञान-विज्ञानों से पूर्ण बनाती है। महर्षि सनत्कुमार ने कहा है कि ऋग्, यजुः, साम, अथर्व, पितृविद्या, राशिविद्या, निधिविद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, साधु-असाधु सब-कुछ वाणी से ही होता है[६]। सोम प्रभु अपने भक्त को शीघ्रगामी अश्व प्रदान करते हैं। अश्व समस्त जीवनोपयोगी साधनों एवं प्राण-बल का प्रतीक है। सोमं-प्रभु अपने आत्मदानी भक्त को ऐसा वीर-पुत्र प्रदान करते हैं, जो भाग्यवादी नहीं, अपितु कर्मण्य होता है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चारों सदनों का निर्वाहक होता है, यज्ञकुशल, आभ्यन्तर एवं बाह्य संग्रामों में विजय पानेवाला, विभिन्न सभाओं-संसदों में जानेवाला तथा पितृकुल की कीर्ति को फैलानेवाला होता है। भले ही वह एक होता है, पर गुणी होने के कारण तारागणों में चन्द्र के समान चमकता है। आओ, हम भी 'सोम' प्रभु को आत्म-समर्पण कर विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त करें।

३१. प्रभु का सखा विफल नहीं होता

यस्मै त्वमायजसे स साध[१०]त्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्[११]।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहति[११]रग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव[१२]॥

—ऋग् १.९४.२

ऋषिः **कुत्सः आङ्गिरसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(यस्मै) जिसके लिए **(त्वं)** तू **(आयजसे[१])** [अपनी रक्षा] प्रदान करता है **(सः)** वह **(साधति[२])** सफल होता है, **(अनर्वा[३])** अहिंसित या अपराश्रित होता हुआ **(क्षेति[४])** निवास करता है, **(सुवीर्यं)** सुवीर्य को **(दधते[५])** धारण करता है। **(सः)** वह **(तूताव[६])** बढ़ता है, **(एनं)** इसे **(अंहतिः[७])** पाप-भावना और दरिद्रता **(न)** नहीं **(अश्नोति)** प्राप्त होती। **(अग्ने)** हे तेजोमय अग्रणी प्रभु! **(वयं)** हम **(तव)** तेरे **(सख्ये)** सखित्व में **(मा)** मत **(रिषाम[८])** हिंसित होवें।

हे अग्ने! हे तेजोमय अग्रणी प्रभु! तुम्हारी शरण और तुम्हारी रक्षा अतिशय महान् है। बड़े-से-बड़े सांसारिक सम्राटों की रक्षा तुम्हारी रक्षा के सम्मुख निस्तेज है। जिसे तुम्हारी रक्षा प्राप्त हो जाती है, वह निश्चित ही जीवन में सफल होता है। कठिनाइयाँ या बाधाएँ उसके मार्ग में रुकावट नहीं डाल पातीं। वह 'अनर्वा' बना रहता है, किसी भी आन्तरिक या बाह्यशत्रु से हिंसित नहीं होता। न काम, क्रोध आदि षड्रिपु उसके जीवन को नष्ट कर पाते हैं, न ही चोर, वञ्चक, आततायी, उपद्रवी मानव-रिपु उसे क्षति पहुँचा पाते हैं। तुम्हारी रक्षा प्राप्त करके उसे किसी अन्य का आश्रय पकड़ने की भी आवश्यकता नहीं रहती। अपनी रक्षा की डोर तुम्हें सौंपकर वह स्वावलम्बी होकर निवास करता है। तुम जैसे रक्षक का भरोसा होने पर उसके अन्दर 'सुवीर्य' जाग उठता है, वह उत्कृष्ट आत्म-बल और उत्कृष्ट शारीरिक बल से अनुप्राणित हो जाता है। फिर तो तुम्हें सहारा देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ हो जाता है। वह बढ़ता जाता है, अगले से अगले उत्कर्ष के सोपान पर चढ़ता जाता है। वह धन से बढ़ता है, श्री से बढ़ता है, विद्या से बढ़ता है, सद्गुणों से बढ़ता है, साम्राज्य से बढ़ता है। वह 'अंहति' के वश में नहीं होता। हिंसार्थक हन् धातु से बननेवाले अंहस्, अंहु, अंहति शब्द पाप और दरिद्रता के वाचक हैं। प्रभु के सखा को पाप-पीड़ा और दरिद्रता नहीं घेरती। वह मानसिक और शारीरिक पापों में निमग्न नहीं होता। साथ ही न वह धन से दरिद्र होता है, न गुण से दरिद्र, न सुख-स्वास्थ्य से दरिद्र। सचमुच अग्निदेव की रक्षा को पाकर मनुष्य तर जाता है।

हे ज्योतिर्मय प्रभु! हमें भी तुम अपनी शरण और अपनी रक्षा प्राप्त कराओ, हमें भी अपने सख्य में ले लो, जिससे जीवन में हम किसी से हिंसित न हों, अपितु अजित, अहत और अक्षत रहते हुए भूमण्डल पर राज्य करें।

३२. द्रविणोदा अग्नि

रायो बुध्नः संगमनो वसूनां[११], यज्ञस्य केतुर् मन्मसाधनो वेः[११]।
अमृतत्वं रक्षमाणास एनं[११], देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्[११]॥

—ऋग् १.९६.६

ऋषिः **कुत्सः आङ्गिरसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

[परमात्मारूप अग्नि] (**रायः**[१]) ऐश्वर्य का (**बुध्नः**) मूल, (**वसूनां**) वसुओं का (**संगमनः**) संगमकर्त्ता, (**यज्ञस्य**) यज्ञ का (**केतुः**) प्रज्ञापक, [और] (**वेः**[२]) कर्मशील जीवात्मा के (**मन्मसाधनः**) विचारित कार्यों को सिद्ध करनेवाला [है]। (**अमृतत्वं**) मोक्षरूप अमरत्व की (**रक्षमाणासः**) रक्षा करते हुए (**देवाः**[३]) विद्वान् लोग (**एनं**) इस (**द्रविणोदां**[४]) धन और बल के दाता (**अग्निं**) परमात्मा को (**धारयन्**[५]) धारण करते हैं।

आओ, हम 'द्रविणोदा अग्नि' को हृदय में धारण करें। तुम पूछोगे, यह द्रविणोदा अग्नि कौन है ? द्रविण धन और बल का नाम है, उसका दाता परमेश्वर ही द्रविणोदा अग्नि कहलाता है। वह परम प्रभु निर्धनों को आत्मिक और भौतिक धन देता है, निर्बलों को आत्मिक और शारीरिक बल प्रदान करता है।

वह सर्वविध सम्पत्ति का मूल है। ये जो विविध सत्य, अहिंसा, वशित्व आदि आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ हैं और जो हीरे-मोती, सोना-चाँदी आदि सांसारिक सम्पत्तियाँ हैं, इन सबका मूल स्रोत वही है। वह वसुओं का संगमकर्त्ता है। ऋषियों ने आठ वसु बताये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र[६]। इनमें पारस्परिक संगति लानेवाला वही है, अन्यथा ये एक-दूसरे के विरोधी होकर आपस में ही टकराकर चूर-चूर हो जाते। वह 'यज्ञ का केतु' है, यज्ञ की ध्वजा बनकर लहरा रहा है, यज्ञ का प्रज्ञापक है। उसका अपना कोई भी कार्य यज्ञहीन नहीं है, अतएव हम सबको यज्ञ का उपदेश कर रहा है। वह 'मन्म-साधन' है, कर्मशील जीवात्मा के विचारित कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। जीवात्मा यदि उसे साक्षीरूप में अपने सम्मुख रखकर किन्हीं सत्कार्यों को करने का सङ्कल्प करता है, तो वह उसके उस सङ्कल्प को पूर्ण कराने में प्रबल सहायक बनता है। अतएव जो देव हैं, दिव्यता के पुजारी हैं, ज्ञान और चरित्र से विद्वान् हैं, वे अपने जीवनकाल में ही इस द्रविणोदा अग्नि की कृपा से अमृतत्व प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाते हैं और निधि के समान उस अमृतत्व की निरन्तर रक्षा करते हुए धन एवं बल के प्रदाता इस द्रविणोदा अग्नि को स्थायीरूप से धारण कर लेते हैं, अपनी अन्तरात्मा का अनिवार्य अंग बना लेते हैं।

३३. तेरी पूजा किसलिए ?

सुक्षेत्रिया सुगातुया[८], वसूया च यजामहे[८]।
अप नः शोशुचदघम्[८] ॥ —ऋग् १.९७.२

ऋषिः **कुत्सः आङ्गिरसः**। देवता **शुचिः अग्निः वा**। छन्दः **गायत्री**।

[हे शुचि अग्नि प्रभु!] (**सुक्षेत्रिया**[१]) उत्तम क्षेत्र की इच्छा से (**सुगातूया**[२]) उत्तम मार्ग की इच्छा से (**वसूया**[३] **च**) और निवासक ऐश्वर्य की इच्छा से (**यजामहे**) [हम आपकी] पूजा करते हैं। [आपकी कृपा से] (**नः**) हमारा (**अघं**) पाप (**अप शोशुचत्**[४]) सूखकर नष्ट हो जाये।

हे शुचि अग्निदेव! हे तेजस्विता के पवित्र पुञ्ज परमप्रभु परमात्मन्! हम किसलिए आपका स्तुति-पूजन करते हैं, किसलिए भक्ति का नैवेद्य लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं? कोई हल्का-फुल्का-सा उद्देश्य लेकर हम आपकी आराधना नहीं करते, किन्तु महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आपका यजन करते हैं। सर्वप्रथम हम 'उत्तम क्षेत्र' की इच्छा से आपकी पूजा करते हैं। क्षेत्र शरीर का नाम है[५]। क्योंकि मानव-शरीर सब शरीरों में उत्कृष्ट है, अतः आगामी जन्मों में भी मानव-शरीर पाने के लिए हम आपकी अर्चना करते हैं, जिससे हम अणिमा, लघिमा प्रभृति विविध सिद्धियों को तथा मुक्ति को अधिगत कर सकें। क्षेत्र का दूसरा अर्थ कार्यक्षेत्र भी है। हम इसलिए भी आपका आराधन करते हैं कि हमें कार्य करने के लिए जीवन में उत्तम कार्यक्षेत्र प्राप्त हो, क्योंकि जब तक कार्यक्षेत्र उत्तम नहीं मिलता, तब तक मनुष्य अपनी योग्यता का प्रदर्शन नहीं कर पाता और न ही सत्फल प्राप्त कर सकता है। अनेक महत्त्वाकांक्षी जन शक्ति रखते हुए भी केवल उत्तम कार्यक्षेत्र न मिलने के कारण ही जीवन में सफल नहीं माने जाते। दूसरी वस्तु जो हम आपकी अर्चना करते हुए आपसे पाना चाहते हैं वह है 'सुगातु' अर्थात् उत्तम मार्ग। हम उत्तम शरीर-रूपी क्षेत्र या उत्तम कर्मक्षेत्र को पा भी लें, किन्तु हमें चलने के लिए उत्तम मार्ग प्राप्त नहीं होता तो हम पैर होते हुए भी पंगु हैं। अतः हम इस निमित्त से भी आपकी पूजा करते हैं कि हमारे मन में आप प्रेरणा करें कि हमें जीवन में किस मार्ग से चलना चाहिए, जिससे हम निर्धारित लक्ष्य पर पहुँच सकें। तीसरी वस्तु है 'वसु' जिसे हम आपके अर्चन-पूजन द्वारा अधिगत करना चाहते हैं। वसु का अर्थ है निवासप्रद ऐश्वर्य, अर्थात् ऐसा ऐश्वर्य जिसे पाकर हम बसें, उजड़ें नहीं। वसु में आध्यात्मिक ऐश्वर्य और भौतिक ऐश्वर्य दोनों समाविष्ट हैं। हम अपने-अपने लक्ष्य के अनुसार अष्टांग योग के अभ्यास द्वारा उच्च से उच्च आध्यात्मिक ऐश्वर्य को अथवा सन्मार्ग से अर्जित उत्कृष्ट लौकिक धन-सम्पत्ति को प्राप्त करें।

हे देव! आपके सम्मुख झोली पसारते हुए हम अन्तिम याचना यह करते हैं कि आप हमारे समस्त पापों को भस्म कर हमें पावन बना दीजिये। हम आपको अपने हृदय-मन्दिर में आसीन कर आपकी आरती उतार रहे हैं, आपकी अर्चना कर रहे हैं।

३४. बल के उत्सवों में

तमप्सन्त शवस उत्सवेषु[११], नरो नरमवसे तं धनाय[११] ।
सो अन्धे चित् तमसि ज्योतिर्विदत्[११], मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती[१०] ॥

—ऋग् १.१००.८

ऋषय: **वार्षागिरा: ऋज्राश्व-अम्बरीष-सहदेव-भयमान-सुराधस:** । देवता **इन्द्र:** । छन्द: **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**नर:**) पुरुषार्थी मनुष्य (**शवस:**) बल के (**उत्सवेषु**) उत्सवों में (**तं**) उस (**नरं**) नेता को (**अवसे**) रक्षण के लिए (**अप्सन्त**[१]) प्राप्त करते हैं, (**तं**) उसे (**धनाय**) ऐश्वर्य के लिए [प्राप्त करते हैं]। (**स:**) वह (**अन्धे चित्**) अन्धे भी (**तमसि**) अन्धकार में (**ज्योति:**) ज्योति (**विदत्**[२]) प्राप्त करा देता है। [वह] (**मरुत्वान्**) प्राणवान् (**इन्द्र:**) परमात्मा (**न:**) हमारी (**ऊती**[३]) रक्षा के लिए (**भवतु**) हो।

क्षत्रियों के लिए संग्राम बल के उत्सव होते हैं, क्योंकि उनमें उन्हें अपने बल का प्रदर्शन करने का सुअवसर प्राप्त होता है। जब-जब संसार में अधर्म की व्याप्ति और धर्म की ग्लानि हो जाती है, अधार्मिक लोग अपना राज्य-विस्तार करने में संलग्न हो जाते हैं, तब-तब वीर क्षत्रिय लोग धर्म की रक्षा के लिए संग्राम का बिगुल बजाते हैं, बल के उत्सवों का आयोजन करते हैं। परमेश्वर अधर्म के नाश और धर्म की रक्षा के लिए कटिबद्ध हैं, अत: वीरजन अधर्म-संहार के संग्रामों में उन्हीं परमेश्वर को अपना नेता बनाते हैं और रक्षण के लिए उन्हीं का आह्वान करते हैं। जो ऐश्वर्य धार्मिक जनों से छीनकर अधार्मिक शत्रु ने हस्तगत कर रखे होते हैं, उन्हें वापिस दिलाने के लिए भी वे उन्हीं परमप्रभु की शरण में जाते हैं। नि:सन्देह प्रभु उन्हें बल के उत्सवों में विजय दिलाते हैं और विपुल ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ऐसे ही संग्राम हमारे हृदय में भी चलते हैं। वहाँ भी आसुरी और दैवी सेना में कड़ा मुकाबला होता है और विजयप्राप्ति के लिए बड़े तीव्र बल-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है। तब भी स्मरण किये जाने पर प्रभु रक्षा करते हैं और दिव्य ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं।

इन्द्र-प्रभु अन्धे घुप्प अन्धकार में भी ज्योति प्राप्त करानेवाले हैं। जब मन में ऐसी विकट तामसिकता छा जाती है कि कर्तव्य की दिशा सर्वथा आँखों से ओझल प्रतीत होने लगती है, उस समय भी प्रभु ज्योति की रेखा प्रकट करके दिशा-प्रदर्शक बनते हैं। इन्द्र-प्रभु 'मरुत्वान्' हैं, प्राणवान् हैं, समर्थ हैं, भक्त की रक्षा के लिए उत्साहवान् हैं, जागरूक हैं। उन्हीं से हमारी विनय है कि जब-जब हम पर संकट के बादल मँडरायें, हमारी नाव मँझधार में डूबने लगे, हमपर विपत्तियों का पहाड़ आ पड़े, हम असहाय हो जायें, तब-तब वे आकर हमारी रक्षा करें, हमें अपनी शरण में लें, विपदा से हमारा उद्धार करें और हमें पैरों पर खड़ा कर दें। हे इन्द्र प्रभु! तुम हमारी प्रार्थना को सुनो, हम असहायों के सहायक बनकर रक्षा के लिए दौड़ो और रक्षा का वरदान देकर हमें सदा के लिए निश्चिन्त कर दो।

३५. मुझ कूप-पतित का उद्धार करो

इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं[१२], काटे निबाळ्ह ऋषिरह्वदूतये[१२]।
रथं न दुर्गाद् वसवः सुदानवो[१२], विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन[१०]॥

—ऋग् १.१०६.६

ऋषिः **कुत्सः आङ्गिरसः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **जगती**।

(काटे[१]) कूप में **(निबाढः[२])** धकेले हुए **(कुत्सः ऋषिः)** कुत्स ऋषि ने **(ऊतये)** रक्षा के लिए **(वृत्रहणं)** वृत्रहन्ता **(शचीपतिं)** शचीपति **(इन्द्रं)** इन्द्र परमेश्वर को **(अह्वत्[३])** पुकारा है। **(सुदानवः)** हे शुभ दानवाले **(वसवः)** निवासक देवो! **(नः)** हमें **(विश्वस्मात्)** समस्त **(अंहसः)** पाप से **(निष्-पिपर्तन[४])** उद्धार दो, (न) जैसे **(दुर्गात्)** दुर्गम स्थान से **(रथं)** रथ को [उद्धारते हैं]।

कुत्स ऋषि को शत्रुओं ने कूप में धकेल दिया है। मैं आत्मा ही कुत्स[५] हूँ, क्योंकि मेरे पास अज्ञान को काटनेवाला विद्या-रूप वज्र है। मन, इन्द्रियों आदि ज्ञान-साधनों से ज्ञान का द्रष्टा होने के कारण मैं ऋषि[६] हूँ। ऐसा शक्तिशाली भी मैं उदासीन और असावधान रहने के कारण आज तमोवृत्ति-रूप शत्रुओं के चंगुल में फँसकर अविवेक, दुराचार, पाप और दुर्गति के कूप में गिरा पड़ा हूँ और उद्धार के लिए देवों को पुकार रहा हूँ। हे इन्द्र! हे परम पराक्रमशाली परमेश्वर! तुम 'वृत्रहा' हो, आवरक शत्रुओं का हनन करनेवाले हो। तुम 'शचीपति[७]' हो, वाणी, प्रज्ञा और कर्मण्यता के अधिपति हो। तुम मेरे तमोवृत्ति-रूप रिपुओं का हनन करके अपनी दिव्य वाणी से कर्मण्य बनाकर मुझे दुर्गति के कूप से निकालो। हे मित्र, वरुण, अग्नि, मरुत्, बृहस्पति, नराशंस, सिन्धु, पृथिवी, द्यौ, अदिति आदि देवताओ! तुम भी इस पाप-कूप से मुझे उबारो। हे मित्र देव! तुम तमोवृत्ति-रूप शत्रुओं को अपने पाशों से बाँध लो। हे अग्निदेव! तुम अपनी दिव्य ज्वालाओं से मेरे मन के कल्मष को दग्ध करके मनोभूमि में प्रकाश फैला दो। हे मरुतो! हे प्राणो! तुम अपनी आँधी से मेरे हृदय को बुहारकर स्वच्छ कर दो। हे बृहस्पति! तुम अपनी ज्ञान-तरंगों से मुझे तरंगित कर दो। हे नराशंस! तुम मुझे मनुष्यों में प्रशंसा-भाजन बना दो। हे सिन्धु! तुम मेरे हृदय को अगाध, गम्भीर और उदार कर दो। हे पृथिवी! तुम मुझे संकुचित मनोवृत्ति से निकालकर विस्तीर्ण क्षेत्र में पहुँचा दो। हे द्यौ! तुम मुझे अपने जैसा देदीप्यमान बना दो। हे जगज्जननी अदिति माँ! तुम मुझे अखण्डनीयता और अमरता का पयःपान करा दो। जैसे गर्त आदि दुर्गम स्थान में फँसे हुए रथ को बहुत-से लोग सहारा लगाकर बाहर निकाल देते हैं, वैसे ही तुम सब देव मुझे सहारा देकर विपत्ति से उबार दो। हे देवो! इस पाप-कूप से मेरा उद्धार करो, उद्धार करो।

३६. वर्णाश्रम-मर्यादा की प्रकाशिका उषा

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीयै११, इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै११।
विसदृशा जीविताभिप्रचक्षे११, उषा अजीगर् भुवनानि विश्वा११॥

—ऋग् १.११३.६

ऋषिः **कुत्सः आङ्गिरसः**। देवता **उषाः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(त्वं१) एक के प्रति **(क्षत्राय)** क्षत्रियोचित कर्म के लिए या त्रुटि-पूर्ति के लिए, **(त्वं)** एक के प्रति **(श्रवसे२)** अन्न-धन के उपार्जन के लिए या विद्याश्रवण के लिए, **(त्वं)** एक के प्रति **(महीयै३ इष्टये)** महिमामय यज्ञ करने-कराने के लिए, **(त्वं)** एक के प्रति **(अर्थम् इव)** द्रव्य के समान **(इत्यै४)** सञ्चार करने के लिए, [इस प्रकार] **(विसदृशा)** विभिन्न **(जीविता)** जीवन-व्यापारों को **(अभिप्रचक्षे५)** प्रकाशित करने के लिए **(उषाः)** उषा ने **(विश्वा भुवनानि)** समस्त भू-भागों को **(अजीगः६)** निगल लिया है, अपने प्रकाश के घेरे में ले लिया है।

देखो, प्राची में खिलती हुई उषाओं ने समस्त भू-भागों को निगल लिया है, अपनी ज्योति से व्याप्त कर लिया है। रात्रि के अन्धकार में सोये पड़े हुए सब लोग नींद से जागकर, नित्य-कर्मों से निवृत्त हो, अपने-अपने वर्ण की मर्यादा के अनुसार कार्यों में संलग्न हो गये हैं। सेना में दीक्षित हुए क्षत्रिय सैन्य-शिविरों में क्षात्र-धर्म का अभ्यास कर रहे हैं। कुछ क्षत्रिय रण-दुन्दुभि बजाकर आक्रान्ता शत्रु को परास्त करते हुए राष्ट्र की रक्षा कर रहे हैं। कुछ क्षत्रिय राष्ट्र के अन्तः-शत्रुओं की धर-पकड़ कर रहे हैं। वैश्य-जन कृषि, वाणिज्य, पशुपालन के द्वारा अन्न और धन का उपार्जन कर व्यक्तिगत तथा राष्ट्रिय सम्पत्ति को बढ़ा रहे हैं। ब्राह्मण-वर्ग महती इष्टियों को, महिमामय यज्ञ-यागों को, करने-कराने में व्यापृत हैं। सेवक शूद्र-जन स्वामी से प्रेरित हो अपेक्षित पदार्थ को लाने-ले जाने के लिए वैसे ही गमनागमन कर रहे हैं, जैसे समाज में अर्थ (द्रव्य) एक के पास से दूसरे के पास जाता है। और देखो, उषा के दिव्य प्रकाश में आश्रम-मर्यादा का भी पालन हो रहा है। ये वानप्रस्थजन गृह त्यागकर वन के एकान्त में तपस्या करते हुए आत्म-निरीक्षण-पूर्वक अपनी त्रुटिपूर्ति (क्षत-त्र) का कार्य कर रहे हैं। ब्रह्मचारी-वर्ग गुरुकुलों में आचार्य-मुख से विद्या-श्रवण कर रहे हैं। गृहस्थजन बड़े-बड़े यज्ञ-यागों का आयोजन कर रहे हैं। संन्यासीगण परिव्राजक बन जन-जन पर उपदेशामृत की वर्षा करने हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण कर रहे हैं। इस प्रकार उषा विसदृश जीवन-व्यापारों को प्रकाशित करती हुई अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मों के पालन में मनुष्यों का सहयोग कर रही है। आओ, इस ज्योतिर्मयी उषा से प्रकाश और प्रबोध पाकर हम भी अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हों।

३७. उषा का आह्वान

यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः[११], सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती[११]।
सुमङ्गलीर् भिभ्रती देववीतिम्[११], इहाद्योषः, श्रेष्ठतमा व्युच्छ[१०]॥

—ऋग् १.११३.१२

ऋषिः **कुत्सः आङ्गिरसः**। देवता **उषाः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**उषः**) हे उषा! (**यावयद्-द्वेषाः**) द्वेषों की पृथक्-कर्त्री, (**ऋतपाः**) सत्य की पालयित्री, (**ऋतेजाः**) सत्यजाता, (**सुम्नावरी**[१]) सुखमयी, (**सूनृताः ईरयन्ती**[२]) प्रिय-सत्य-वाणियों की प्रेरिका, (**सुमङ्गलीः**) सुमंगलमयी, (**देववीतिं**[३] **बिभ्रती**) यज्ञ की धारयित्री, (**श्रेष्ठतमा**) श्रेष्ठतम [तू] (**इह**) यहाँ (**अद्य**) आज (**वि-उच्छ**[४]) तमस् का विवासन कर, उद्भासित हो।

हे उषा! तुम अन्धकार का विवासन करती हुई गगन में चमको। चमकती तो तुम प्रतिदिन स्वयं ही हो, पर हम प्रार्थना इसलिए कर रहे हैं कि तुम हमारे जीवनों में भी चमको। जैसे तुम अन्धकार को विच्छिन्न करती हो, वैसे ही हमारे जीवनों से द्वेषभावों को विच्छिन्न करो, क्योंकि संसार में मच रही समग्र अशान्ति को उत्पन्न करानेवाले ये पारस्परिक द्वेषभाव ही हैं। तुम प्रकृति में सत्य नियमों की रक्षिका हो, एक दिन भी तुम्हारा आविर्भाव न हो तो अहोरात्र आदि की सम्पूर्ण श्रृंखला टूट जाए। तुम हमारे जीवन-व्यवहार में भी सत्य की रक्षा करो, क्योंकि वैयक्तिक एवं सामाजिक व्यवहारों में सत्य को अपना लेने से अनेक समस्याएँ, जो राष्ट्रों का सिर-दर्द बनी हुई हैं, स्वयं सुलझ जाएँगी। हे आभामयी उषा! तुम 'ऋतेजाः' हो, प्राकृतिक सत्य के वातावरण में जन्म लेती हो। हमारे चारों ओर भी सत्य-व्यवहार का वातावरण बनाओ, जिससे हमारी संततियाँ उसमें जन्म लेकर सत्यजाता कहलाएँ। तुम 'सुम्नावरी' हो, सुखमयी एवं सुख की सृष्टि करनेवाली हो। हमें भी जगत् में सुखी एवं सुख का स्रष्टा बनाओ। तुम 'सूनृता' की प्रेरिका बनो। गगन में तुम्हारे उद्भासित होने पर याज्ञिकजन सूनृता वेदवाणी का गान करें और परिवार के सदस्य प्रियसत्यात्मिका सूनृता वाक् का प्रयोग करते हुए परस्पर सौहार्द की सृष्टि करें। तुम हमारे लिए सुमंगलमयी बनो, तुम्हारे उदय से आरम्भ होनेवाला प्रभात हमारे लिए कल्याणकारी हो। तुम 'देववीति' को, प्रकाश-प्रदान-रूप व्यापक यज्ञ को, कर रही हो। हमें भी प्रभु-पूजन, अग्निहोत्र अतिथि-सत्कार आदि यज्ञों में प्रेरित करो। तुम श्रेष्ठतमा हो, हमें भी श्रेष्ठतम बनने की प्रेरणा दो। हे दिव्य उषा! तुम आकाश में चमको, पृथिवी पर चमको, हमारे हृदय में चमको, हमारे मानस में विद्यमान समस्त तमोभाव को विदीर्ण करके चमको, अपनी अनुपम दिव्य आभा से हमें सर्वात्मना उद्भासित करती हुई चमको।

३८. विद्वानों से ही पूछ

विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेद्[८], अविद्वानित्थापरो अचेताः[१०]।
नूचिन्नु मर्ते अक्रौ[७]॥ —ऋग् १.१२०.२

ऋषिः **कक्षीवान् दैर्घतमसः औशिजः**। देवते **अश्विनौ**। छन्दः **भुरिग् गायत्री**।

(अ-परः) अ-निष्णात **(अचेताः)** विवेकरहित **(अविद्वान्)** अविद्वान् **(इत्था)** सचमुच **(विद्वांसौ[१] इत्)** विद्वान् अध्यापक-उपदेशकरूप अश्विनौ से ही **(दुरः)** द्वारों को, उपायों को **(पृच्छेत्)** पूछे। **(अक्रौ[२])** [विपक्षियों से] अनाक्रान्त वे दोनों **(नू चित्[३] नु)** शीघ्र ही **(मर्ते)** मनुष्य के प्रति [द्वारों का उपदेश करते हैं]।

हे मनुष्य! यदि तू अभी तक शास्त्रों में निष्णात नहीं हुआ है, अतएव विवेकहीन होने से स्वयं कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय नहीं कर सकता है, तो तू सकल-शास्त्र-विमर्श-दक्ष, रहस्यवेदी, विद्या-व्रत-स्नातक विद्वान् अध्यापक-उपदेशकरूप 'अश्विनौ' की शरण में जा। अध्यापक-उपदेशकों की विद्वत्ता इसमें निहित रहती है कि वे न केवल ज्ञान में पारंगत हों, अपितु वाणी पर भी अधिकार रखते हों, जिससे शिष्य या श्रोता के सम्मुख विषय को पूर्णतः स्पष्ट कर सकें। विद्वत्ता में आचरण भी समाविष्ट होने से उनका सदाचारी होना भी आवश्यक है। अतः तू अपनी शंकाओं को ऐसे ही पूर्णविद्यावान्, आप्त, सदाचार-परायण विद्वानों के सम्मुख रख। तू अविद्वानों और अधकचरे विद्वानों के पास क्यों मारा-मारा फिर रहा है? वे तुझे ज्ञान के मन्दिर में प्रविष्ट नहीं करा सकते। विद्वान् अध्यापक-उपदेशक ही ज्ञान-मन्दिर के प्रवेश-द्वारों को जानते हैं, अतः उन्हीं के पास बैठकर तू ज्ञान-साधना कर, उन्हीं से प्रश्न पूछ, उन्हीं से ज्ञान के बन्द कपाटों को खोलने की विधि ज्ञात कर, उन्हीं से जटिल समस्याओं के सुलझाने का उपाय पता कर। वे 'अक्र' हैं, अर्थात् विरोधियों के कुतर्कों से आक्रान्त नहीं होते। विपक्षी कैसा ही प्रबल क्यों न हो और कैसे ही छल एवं वितण्डा का आश्रय लेकर शास्त्रार्थ करे, उन्हें पराजित नहीं कर सकता। अतः उन विद्वानों से तुझे निर्भ्रान्त और सत्य ज्ञान ही प्राप्त होगा। उस ज्ञान के प्रकाश में तू स्पष्ट अपने कर्तव्याकर्तव्य का बोध कर सकेगा। तू इस सन्देह में मत पड़ कि वे विद्वान् अध्यापक-उपदेशक अपने ज्ञान को गुप्त रखना चाहेंगे, अतः पूछने पर बतायेंगे नहीं। वे तो इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि उन्हें कोई योग्य प्रश्नकर्त्ता प्राप्त हो। अतः प्रश्न करते ही तुरन्त तेरे सम्मुख वे तेरी शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करने में आनन्द अनुभव करेंगे।

इसके अतिरिक्त तेरे शरीर के अन्दर स्थित मस्तिष्क और हृदय भी अश्वियुगल हैं। बाह्य विद्वान् सुलभ न होने पर तू अपने इन आन्तरिक विद्वानों से ही परामर्श कर, सत्यासत्य को बुद्धि और हृदय की समन्वित तराजू पर तोल। तुझे अवश्य प्रकाश मिलेगा।

३९. अतिथि के आने पर

सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो[१०], बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति[११]।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो[११], मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति[११]॥

—ऋग् १.१२५.२

ऋषिः **कक्षीवान् दैर्घतमसः औशिजः**। देवता **स्वनयस्य दानस्तुतिः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**सु-गुः**) उत्तम गौओंवाला, (**सु-हिरण्यः**) उत्तम हिरण्यवाला (**सु-अश्वः**) उत्तम अश्वोंवाला (**असत्**[१]) होता है, (**इन्द्रः**) परमेश्वर (**अस्मै**) इसे (**बृहत्**) बड़ी (**वयः**) आयु (**दधाति**) प्रदान करता है, (**यः**) जो (**प्रातरित्वः**[२]) हे प्रातः आनेवाले अतिथि! (**आयन्तं**) आते हुए (**त्वा**) तुझे (**वसुना**) धन से (**उत्**[३]-**सिनाति**) बांध लेता है, (**इव**) जैसे (**मुक्षीजया**[४]) रस्सी से (**पदिं**[५]) [गाय आदि] पशु को [बांधते हैं]।

रस्सी से जब कोई गाय को प्रेमपूर्वक बाँधता है, उसे दुलारता है, दाना-चारा खिलाता है, तब वह बदले में अपना अमृतमय दूध उसे देती है। इसी प्रकार प्रातःकाल सद्गृहस्थ के घर भिक्षार्थ आनेवाले हे अतिथि-प्रवर! जब सद्गृहस्थ आपको धन देकर प्रेम-पाश में बाँधता है, तब यद्यपि ऊपर से देखने में उसका धन उसके पास से जा रहा होता है, पर वस्तुतः तो उसके पास धन आता है। गाय को जैसे जितने मूल्य का पदार्थ खिलाया-पिलाया जाता है, उससे कई गुणा अधिक मूल्य का दूध वह प्रतिफल में दे देती है, वैसे ही अतिथि-सत्कार करनेवाले को आतिथ्य में व्यय किये गये धन से कई गुणा अधिक धन प्रतिफल में प्राप्त हो जाता है। वह उत्तम गौओं का स्वामी, उत्तम हिरण्य का स्वामी और उत्तम अश्वों का स्वामी हो जाता है। इन्द्र प्रभु उसे बड़ी आयु प्रदान करता है।

भाइयो! यह 'स्वनय' की दान-स्तुति का मन्त्र है। 'स्वनय' का अर्थ है 'अपने स्व(धन) को दूसरों के पास ले-जानेवाला' अर्थात् धन का दानी। वैदिक संस्कृति के अनुसार दिये हुए दान से दान लेनेवाला अतिथि तो तृप्त होता ही है, उससे भी अधिक तृप्ति आतिथेय को होती है। धन-दान से प्रभात आरम्भ करने का उसके मन में जो सन्तोष होता है, उससे उसकी आयु भी बढ़ती है। इसके अतिरिक्त 'गौ' इन्द्रियों का, 'हिरण्य' ज्योति का और 'अश्व' प्राण का भी नाम है। अतः आतिथ्यकर्त्ता दानी मनुष्य 'सुगु' अर्थात् उत्तम इन्द्रियरूप गौओं का स्वामी, 'सुहिरण्य' अर्थात् उत्तम आत्म-ज्योति का स्वामी और 'स्वश्व' अर्थात् उत्कृष्ट प्राण का स्वामी भी हो जाता है।

पर जो कोई भी पात्र-अपात्र प्रातःकाल भिक्षा के लिए आ पहुँचे, ''प्रातरित्वा'' नहीं होता। 'प्रातरित्वा' वे ही कहलाते हैं, जो किसी महान् लोकहित के कार्य की पूर्ति के लिए भिक्षार्थ सद्गृहस्थ के द्वार पर पहुँचते हैं। हे मानव! तू वेद की इस फलश्रुति से शिक्षा ले और दोनों हाथों से भर-भरकर आतिथ्य कर।

४०. दिव्य नौका

रथाय नावमुत नो गृहाय[११], नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने[१०]।
अस्माकं वीराँ उत नो मघोनो[११], जनाँश्च या पारयाच्छर्म या च[११] ॥

—ऋग् १.१४०.१२

ऋषिः **दीर्घतमाः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(अग्ने) हे अग्नि प्रभु! तू **(नः)** हमारे **(रथाय)** रथ के लिए **(उत)** और **(गृहाय)** घर के लिए **(नित्यारित्रां)** नित्य चप्पुओं वाली **(पद्वतीं)** पैरोंवाली **(नावं)** नौका को **(रासि[१])** प्रदान कर, **(या)** जो **(अस्माकं)** हमारे **(वीरान्)** वीरों को **(उत)** और **(मघोनः)** धनिकों को **(जनान् च)** और [अन्य] जनों को **(पारयात्[२])** पार कर दे, **(या च)** और जो **(शर्म)** सुखरूप [हो]।

चारों ओर पानी की बाढ़ आई हुई है। संकट बढ़ता जा रहा है। भय है कि वह हमारे रथों को बहाती हुई, भवनों को धराशायी करती हुई, जनसंख्या को लीलती हुई प्रलयंकर विनाश ही न उपस्थित कर दे। देखो, जान-माल की व्यापक हानि के दारुण समाचार आने लगे हैं। नदी-धारा की भयानक विध्वंस-लीला सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जो कुछ बचा है, उसे ही सुरक्षित कर लो। नहीं तो वह भी बाढ़ की लपेट में आ जाएगा। अपने रथ, अपने तम्बू-तम्बोटे, अपने पुत्र-परिवार, अपने धन-जन सबको नाव पर चढ़ाकर पार हो जाओ, तभी तुम्हें सुख नसीब हो सकता है।

भाइयो! यह संसार-स्थली भी एक उफनती हुई वैतरणी नदी है। इसे पार करने के लिए प्रभु-शरण की दिव्य नौका की आवश्यकता है। हे प्रभु! तुम अपनी उस दिव्य नौका पर हमें बैठा लो। तुम्हारी नाव को खेने के लिए किन्हीं मानवी चप्पू-चालक मल्लाहों की अपेक्षा नहीं होती, उसमें नित्य स्वतः दिव्य सन्देशों के चप्पू चलते रहते हैं, उसमें लगे दिव्य रक्षाओं के पैर स्वतः सांसारिक वासनाओं के पानी को काटते रहते हैं। हे प्रभु, संकट की वेला में हमें केवल अपनी ही चिन्ता न होकर सभी की चिन्ता है। हम अकेले पार उतरे तो क्या उतरे! हम तो सब साथियों सहित पार उतरना चाहते हैं, अपने साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को पार उतारना चाहते हैं, क्योंकि ''प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।'' तुम हमारे शरीर-रथों को अपनी नाव में बैठा लो, हमारे घर-परिवार को अपनी नाव में बैठा लो; हमारे राष्ट्र के वीरों को, धनिकों को और अन्य जनों को भी अपनी नाव में बैठा लो। तुम्हारी नाव में बैठकर निश्चित ही हम राग, द्वेष, कलह, अशान्ति की बाढ़वाली इस सांसारिक नदी को पार कर लेंगे और इसके पार पहुँच हम ब्रह्मानन्द एवं मोक्षसुख की अनुभूति पा सकेंगे।

हे खिवैया! कृपा करो, हम डूबते हुओं को अपनी नित्यारित्रा, पद्वती नौका पर चढ़ा लो और हमारा उद्धार कर दो।

४१. सूर्य का आविर्भाव

धीरासः पदं कवयो नयन्ति[११], नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम्[११]।
सिषासन्तः पर्यपश्यन्त सिन्धुम्[११], आविरेभ्यो अभवत् सूर्यो नॄन्[१०]॥

—ऋग् १.१४६.४

ऋषिः **दीर्घतमाः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**धीरासः**[१]) धीमान् (**कवयः**) क्रान्तदर्शी लोग (**नाना**) अनेकविध (**हृदा**) हृदय से (**रक्षमाणाः**) रखवाली करते हुए (**अजुर्यम्**) अजर परमेश्वर को (**पदं**) आराध्य-पद पर (**नयन्ति**) ले जाते हैं, प्रतिष्ठित करते हैं। (**सिषासन्तः**[२]) भक्ति के इच्छुक [वे] (**सिन्धुम्**) [गुणों के] सिन्धु [उस परमेश्वर] को [तथा] (**नॄन्**) [उसके] नेतृत्व-सामर्थ्यों को (**परि-अ-पश्यन्त**) साक्षात् करते हैं। (**सूर्यः**) सूर्य (**एभ्यः**) इनके लिए (**आविः अभवत्**) आविर्भूत हो जाता है।

संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं, धीर और अधीर। अधीर (अविवेकी) लोग इसमें विश्वास नहीं करते कि कोई तेजोमय शक्ति (अग्नि परमेश्वर) है जो इस सारे विश्व का सञ्चालन करती है, परन्तु जो धीर (विवेकी) और कवि (क्रान्तद्रष्टा) जन होते हैं, वे परमेश्वर में पूर्णतः विश्वास रखते हैं। वे आस्तिक लोग अजर-अमर परमेश्वर को आराध्य-पद पर प्रतिष्ठित करते हैं और सच्चे भाव से उसकी आराधना करते हैं। उनके आराध्यदेव को मन की दस्यु-वृत्तियाँ कहीं चुरा न ले जायें, इसके लिए भी वे सतर्क रहते हैं। वे हृदय की अनेकविध सद्वृत्तियों को नियुक्त कर देते हैं, जो उनके अर्चनीय देव की सतत चौकसी करती रहती हैं। इस प्रकार अपने उपास्य अग्नि प्रभु की रखवाली का पूर्ण प्रबन्ध कर धीर उपासक कवि लोग प्रभु-भक्ति का पवित्र यज्ञ रचाते हैं। गुणों के सिन्धु उस परम प्रभु की पुनः-पुनः अर्चना करते हैं। जब उनकी भक्ति-अर्चना चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती हैं, तब अन्ततः उन्हें प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है। वे प्रभु को हस्तामलकवत् अपने सम्मुख स्थित पाते हैं, जिसे देख उनका रोम-रोम हर्षित हो उठता है। प्रभु-दर्शन के साथ-साथ वे इसका भी प्रत्यक्ष दर्शन कर लेते हैं कि किस प्रकार प्रभु अपने नेतृत्व-सामर्थ्यों से अपनी उन्नायक शक्तियों द्वारा एक निचले स्तर पर खड़े व्यक्ति को उठाकर ऊर्ध्व स्तर पर पहुँचा देते हैं। प्रभु का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् वे स्पष्टरूप से देखते हैं कि उनके मानस-पटल का अन्धकार पूर्णतः विलुप्त हो गया है और उनके सम्मुख सूर्य-सम प्रखर अध्यात्मप्रकाश आविर्भूत हो गया है। उस विराट् ज्योति को, उस अन्तःप्रकाश को, पाकर उनके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय विच्छिन्न हो जाते हैं।

आओ, हम भी अग्नि प्रभु को आराध्यदेव के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित करें और सद्गुणों के सिन्धु उस परम प्रभु का साक्षात्कार कर अपने अन्तरात्मा में सूर्य-सम ज्योति को अवतीर्ण करें।

४२. तेरी वन्दना के गीत गाता हूँ

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ[११], मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः[११]।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति[१०], वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने[१०]॥

—ऋग् १.१४७.२

ऋषिः **दीर्घतमा औचथ्यः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्।**

(**यविष्ठ**) हे सबसे अधिक युवा, (**स्वधावः**[१]) स्वात्मनिर्भर (**अग्ने**) परमेश्वर! (**मे**) मेरे (**अस्य**) इस (**मंहिष्ठस्य**[२]) अतिशय उच्च (**प्रभृतस्य**[३]) प्रकृष्टरूप से आहृत (**वचसः**) स्तुति-वचन को (**बोध**) जान। (**त्वः**) कोई [तेरी] (**पीयति**[४]) निन्दा करता है, (**त्वः**) कोई (**अनुगृणाति**[५]) अनुकूल अर्चना करता है। [पर] (**वन्दारुः**) वन्दनशील (मैं) (**ते**) तेरे (**तन्वं**) स्वरूप की (**वन्दे**) वन्दना [ही] करता हूँ।

हे अग्ने! हे तेजःपुञ्ज परमात्मन्! तुम 'यविष्ठ' हो, युवतम हो, सबसे अधिक युवा हो। जो जितना अधिक युवा होता है, उसमें उतनी ही अधिक शक्ति होती है। परिणामतः तुम अतुल शक्ति के भण्डार हो। साथ ही तुम 'चिर-युवक' हो, सदा युवा रहनेवाले हो। हम मानव तो शैशव, यौवन, बुढ़ापा आदि विभिन्न अवस्थाओं से गुजरते रहते हैं और उन-उन अवस्थाओं में कभी अल्प-शक्तिमान्, कभी विपुल-शक्तिशाली और कभी जराजीर्ण होते रहते हैं, पर तुम सदा युवक और शक्ति-सम्पन्न ही बने रहते हो। हे प्रभु! तुम 'स्वधावान्' भी हो। स्वधा का अर्थ है, स्वात्म-धारण-शक्ति या आत्म-निर्भरता। तुम कभी हम क्षुद्र प्राणियों की तरह पराश्रित नहीं रहते, किन्तु सदा स्वात्मनिर्भर रहते हो। तुम्हें अपने किसी कार्य के लिए परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ता। ऐसे महामहिमा-सम्पन्न तुम्हारे प्रति मैं स्तुति-वचनों की भेंट लाता हूँ। मेरे ये स्तुति-वचन 'मंहिष्ठ' हैं, अतिशय उच्च हैं, महान् हैं, स्वार्थ, क्षुद्रता, तुच्छता आदि से मलिन नहीं है और प्रकृष्टरूप से आहृत हैं। मन की जिस तन्मयता से तुम्हारी जो स्तुति होनी चाहिए और उसमें जो गरिमा होनी चाहिए, उससे ये युक्त हैं। ये दिखाने मात्र के लिए कहे गये निःसार वचन नहीं हैं, किन्तु हृदय से निकले हुए सच्चे उद्गार हैं। अतएव तुम मेरे इन स्तुति-वचनों को सुनो, जानो और जानकर मेरी याचनाओं को पूर्ण करो।

यह जग बड़ा ही गोरखधन्धा है। इसमें द्विविध प्रवृत्तिवाले जन दिखाई देते हैं। कुछ तुम्हारी हिंसा करने पर उतारू हैं। वे नास्तिकता का दम भरते हुए ताल ठोककर कहते हैं कि—"कोई ईश्वर नाम की वस्तु संसार में नहीं है, मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-विधाता है, प्रकृति स्वयं अपने खेल रचाती है, बीच में ईश्वर को लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ईश्वर है भी तो वह अत्यन्त निन्दनीय है, क्योंकि व्यर्थ ही हमारे और प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप करता है।" यद्यपि कुछ लोग इस प्रकार की बातें कहते हैं, पर सब लोग ऐसे नहीं हैं, क्योंकि अनेकजन तुम्हारी अर्चना में रस लेते हैं। मैं तुम्हारे निन्दक और हिंसक नास्तिकजनों का अनुसरण नहीं, किन्तु तुम्हारे आस्तिकजनों का ही अनुसरण करता हूँ। मैं 'वन्दारु' बनकर, वन्दनशील होकर, तुम्हारे स्वरूप की वन्दना करता हूँ, तुम्हारे गुणों का गान करता हूँ और तुम-जैसा बनने का प्रयास करता हूँ। मुझे बल दो कि मैं सच्चे अर्थों में तुम्हारा 'वन्दारु' बन सकूँ।

४३. प्राणापान का रथ

अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो[१०], व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा[१०]।
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं[१२], प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक्[१२] ॥

—ऋग् १.१५७.१

ऋषिः **दीर्घतमा औचथ्यः**। देवते **अश्विनौ**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्।**

[देखो], **(अग्निः)** अग्नि **(अबोधि)** प्रबुद्ध हुआ है, **(ज्मः[१])** भूमि से, क्षितिज से **(सूर्यः)** सूर्य **(उदेति)** उदित हो रहा है, **(चन्द्रा[२])** आह्लादक **(मही)** महिमामयी **(उषाः)** उषा ने **(अर्चिषा)** ज्योति से **(वि आवः[३])** तमस् को निष्कासित कर दिया है, **(देवः)** प्रकाशक **(सविता)** सविता ने **(जगत्)** जगत् को **(पृथक्)** पृथक्-पृथक् **(प्रासावीत्)** प्रेरित कर दिया है। [अब] **(अश्विना)** प्राणापान [भी] **(यातवे)** प्रयाण के लिए **(रथं)** शरीर-रथ को **(आयुक्षाताम्[४])** नियुक्त करें।

देखो, अग्नि प्रबुद्ध हुई है। क्षितिज से सूर्य उदित हो रहा है। आह्लादक महिमामयी उषा ने ज्योति से तमस् को विच्छिन्न कर दिया है। काली निशा विदीर्ण हो चुकी है। सब प्राणी मोहमयी निद्रा का परित्याग कर जाग गये हैं। सविता देव ने जगत् को पृथक्-पृथक् अपने-अपने कार्यों में प्रेरित कर दिया है। प्रकृति में चहल-पहल दिखाई देने लगी है। चिड़ियाँ चहकने लगी हैं। पशु घास चरने लगे हैं। वनस्पति-जगत् भी सप्राण हो उठा है। तरु-लताओं की पत्तियाँ थिरक रही हैं। पुष्प सुगन्ध बखेर रहे हैं। उपवन सौरभ से महक रहा है।

हे मानव! ऐसे आह्लादमय वातावरण में भी क्या तू सोया ही पड़ा रहेगा? उठ, जाग, अपने अन्दर की तामसिकता की चादर को उतार फेंक। प्राणापानरूप अश्वी-युगल तेरे शरीर-रथ को प्रयाण के लिए नियुक्त करें। तू सत्कर्मों में प्रवृत्त हो। संध्या-वन्दन कर, अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित कर, योगांगों का अभ्यास कर, प्राणायाम कर, योगासन कर, समाधि में बैठ, यज्ञ कर, अध्ययन कर, दान कर। अन्य जीवधारियों के शरीर-रथ में और तुझ मानव के शरीर-रथ में बहुत अन्तर है। कवि ने कहा है कि जो मानव साहित्य, संगीत एवं कला से विहीन है, वह पुच्छ-विषाण-हीन साक्षात् पशु है[५]। स्वाभाविकरूप से तो प्राणापानरूप अश्वी-युगल पशु-पक्षी आदियों के शरीर-रथ को भी प्रयाण के लिए प्रवृत्त करते हैं। पर मानव को अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर इन अश्वी-युगल द्वारा अपने रथ को विशेष दिशा में आगे बढ़ाना है। हे मानव! ये अश्वी-युगलरूप चालक तुझे बड़े भाग्य से मिले हैं, इनका तू सदुपयोग कर, इन्हें तू प्रेरित कर। ये तेरे रथ को वायुयान के चालकों के समान उन्नति की ओर उड़ाये चले जायेंगे। तू उदासीन मत हो, उपेक्षावृत्ति मत धारण कर, उद्बुद्ध हो, जागरुक बन और प्राणापानरूप चालकों से रथ को सही दिशा में प्रवृत्त करा।

४४. कहाँ है आत्मा ?

को ददर्श प्रथमं जायमानम्[११], अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति[११]।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्[१०], को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्[११]॥

—ऋग् १.१६४.४

ऋषिः **दीर्घतमा औचथ्यः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**कः**) किसने (**जायमानं**) [देह में] जन्म लेते हुए (**प्रथमं**) [किसी] श्रेष्ठ को (**ददर्श**) देखा है, (**यत्**) जो (**अस्थन्वन्तं**) अस्थियोंवाले [देह] को (**अनस्था**) बिन अस्थियोंवाला [होकर] (**बिभर्ति**) धारण करता है ? (**भूम्याः**) पृथिवी [आदि तत्त्वों] से (**असुः**) प्राण (और) (**असृक्**) रक्त [आदि बने हैं, जो प्रत्यक्ष दीखते हैं, किन्तु] (**आत्मा**) आत्मा (**क्वस्वित्**) भला कहाँ [है] ? (**कः**) कौन (**एतत्**) यह (**प्रष्टुं**) पूछने के लिए (**विद्वांसं**) विद्वान् के (**उपगात्**) पास गया है ?

तुम कहते हो कि शरीर से पृथक् कोई आत्मा नाम की वस्तु है, जो शरीर में जन्म लेकर स्वयं बिन अस्थियोंवाली होती हुई भी अस्थियोंवाले इस शरीर को धारण करती है। उसे तुम अणुरूप भी मानते हो। पर यह कैसे सम्भव है ? बिन अस्थियोंवाली सूक्ष्म अणुरूप वस्तु स्थूल अस्थिपञ्जर को कैसे धारण कर सकती है ? पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश इन पञ्चतत्त्वों से प्राण और रक्त आदि बने हैं, जो प्रत्यक्ष दीखते हैं, किन्तु आत्मा कहाँ है ? वह तो कहीं दिखाई नहीं देता। दृष्टिगम्य न होने पर भी उसकी सत्ता है तो कैसे है, यह पूछने के लिए कौन किसी विद्वान् के समीप गया है ?

भाइयो ! विद्वान् शास्त्रकारों की बात मैं तुम्हें बताता हूँ। यह आवश्यक नहीं है कि जिस वस्तु का चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न हो सके, उस वस्तु की सत्ता ही न हो। ऋषियों ने बताया है कि इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिंग हैं[१]। इन लिंगों द्वारा अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि होती है। शरीर, इन्द्रियों आदि से पृथक् आत्मा नाम की कोई वस्तु होनी चाहिए, जो जिस वस्तु से पहले सुख मिला होता है, उसकी इच्छा करती है, जिससे दुःख मिला होता है, उससे द्वेष करती है, जिससे सुख या दुःख मिला होता है, उसे प्राप्त करने या निवारण करने का प्रयत्न करती है, जिससे सुख या दुःख मिला होता है, उसे पुनः पाकर पुनः सुख या दुःख का अनुभव करती है और जो पूर्व-ज्ञात वस्तु की स्मृति या प्रत्यभिज्ञा करती है। यदि कोई नित्य आत्मा न होती तो पूर्वानुभव के आधार पर यह इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि मनुष्य को क्योंकर हो सकता था ? अनुमान के अतिरिक्त शब्द-प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध होता है, क्योंकि आप्त शास्त्रकार एक स्वर से आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करते हैं। उनका कथन है कि एक अज शाश्वत आत्मा है, जो शरीर के मर जाने पर भी मरता नहीं[२]। इसके अतिरिक्त 'आत्मा प्रत्यक्षगम्य नहीं है' यह कथन भी सत्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य मन से अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष करता है।

अतः हे मित्रो ! आत्मा है, अवश्य है, निश्चितरूप से है। वह स्वरूप से सूक्ष्म है, अतएव बिन अस्थियोंवाला होता हुआ भी इस स्थूल अस्थि-चर्ममय देह को धारण करता है। उसपर विश्वास करो; उसके नित्यत्व, पुनर्जन्म एवं मोक्ष पर भी विश्वास करो।

४५. राजा होते हुए भी अकेला

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्[१], एको यासि सत्पते किं त इत्था[११]।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्[११], वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे[११]॥

—ऋग् १.१६५.३

ऋषिः **मरुतः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(**इन्द्र**) हे परब्रह्म परमात्मन्! (**त्वं**) तू (**माहिनः सन्**) महान् होते हुए भी (**कुतः**) क्यों (**एकः**) अकेला (**यासि**) चलता है? (**सत्पते**) हे सत्पति! (**किं**) क्यों (**ते**) तेरा (**इत्था**) ऐसा [व्यवहार है]? [तू] (**समराणः**[१]) [हमसे] मिलकर (**शुभानैः**) शोभन वचनों से (**सं पृच्छसे**) कुशल-क्षेम पूछता है। (**हरिवः**[२]) हे मनोहर गुणोंवाले! (**यत्**) जो (**ते**) तेरा (**अस्मे**) हमारे प्रति [कर्तव्योपदेश है], (**तत्**) वह (**नः**) हमें (**वोचेः**) कह।

संसार में हम देखते हैं कि जो जितना अधिक प्रतिष्ठित और महान् होता है, उतने ही अधिक कर्मचारी और सेवक उसके साथ विद्यमान रहते हैं। किसी राजा की जब सवारी निकलती है, तो अमात्य, परामर्शदाता, प्रधान अंगरक्षक, सुरक्षा-सैनिक आदि सैकड़ों लोग आगे-पीछे चलते हैं, परन्तु हे परब्रह्म परमात्मन्! तुम विश्व के महान् चक्रवर्ती सम्राट् होते हुए भी एकाकी विचरते हो, इसमें क्या रहस्य है? क्या तुम्हें अंगरक्षकों और सहायकों की आवश्यकता नहीं है? क्या तुम्हें किसी का भय नहीं है? तुम जो अपने विश्व-साम्राज्य के दौरे करते हो, व्यवस्था देखते हो, समुचित प्रबन्ध करते हो; वह सब तुम अकेले कैसे कर लेते हो? तुम भी प्रदर्शन के लिए ही सही, अपने साथ सैंकड़ों अनुचरों को साथ लेकर क्यों नहीं चलते? नहीं, हम भूल करते हैं। तुम तो 'सत्पति' हो, श्रेष्ठ और विलक्षण रक्षक हो। जो दूसरों की रक्षा करने का सामर्थ्य रखता है, वह अपनी रक्षा के लिए पराश्रित क्यों होगा? तुम्हें किसी का भय नहीं है, कोई तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। अतएव तुम शोभा के साथ एकाकी विचरते हो।

हे महेन्द्र! तुम सम्राट् हो, हम तुम्हारी प्रजा हैं। तुम हमसे मिलकर प्यारभरे शुभ वचनों से हमारा कुशल-क्षेम पूछते हो, हमारे सुख-दुःख का प्रतिवेदन सुनते हो, हमारे कर्मों एवं आचरणों को देखते हो, सत्कर्मों के लिए हमें उत्साहित करते हो और जहाँ कहीं त्रुटि देखते हो उसके सुधार की प्रेरणा करते हो। तुम 'हरिवान्' हो, मनोहर गुण-कर्मोंवाले हो। हमारी तुमसे प्रार्थना है कि हमारे प्रति तुम्हारा जो कर्तव्योपदेश है, उसे तुम हमें सदा कहते रहो। जब कभी हम कुराह पर चलने लगें, तब तुम मार्गदर्शक बनकर हमें कर्तव्यपथ पर अग्रसर करते रहो। जिसके प्रति हमारा जो कर्तव्य है, वह तुम हमें निर्दिष्ट करते रहो। अन्यथा कुसंगति आदि में पड़कर हम मार्ग-भ्रष्ट हो जायेंगे और न अपना कल्याण कर पायेंगे, न ही जग को कल्याण दे पायेंगे। हे राजा होते हुए भी अकेले रहनेवाले देवाधिदेव! हम तुम्हारा ही आश्रय पकड़ना चाहते हैं, क्योंकि वे बड़े लोग भला हमें क्या सहारा दे सकेंगे जो स्वयं अपनी रक्षा के लिए परावलम्बी बने हुए हैं।

४६. हमें वध का पात्र मत बनाओ

किं न इन्द्र जिघांससि[८], भ्रातरो मरुतस्तव[८]।
तेभिः कल्पस्व साधुया[८], मा नः समरणे वधीः[८]॥

—ऋग् १.१७०.२

ऋषिः **अगस्त्यः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(इन्द्र) हे परमात्मन्! **(किम्)** क्यों **(नः)** हमें **(जिघांससि[१])** वध का पात्र बनाना चाहते हो? **(मरुतः)** मनुष्य **(तव)** तेरे **(भ्रातरः)** भाई [हैं]। **(तेभिः[२])** उनके साथ **(साधुया[३])** साधु प्रकार से **(कल्पस्व[४])** बर्ताव करो। **(नः)** हमें **(समरणे[५])** संग्राम में **(मा)** मत **(वधीः)** मारो।

हे इन्द्र! हे परमात्मन्! तुम ऐश्वर्यशाली हो, वीर हो, ब्रह्माण्ड के राजा हो। इसमें सन्देह नहीं कि तुम बहुत बड़े हो, महानों के महान् हो; किन्तु तुम हमारे ऊपर प्रहार पर प्रहार क्यों किये जा रहे हो? हम एक प्रहार से सम्भल कर उठ भी नहीं पातें कि तुम दूसरा प्रहार कर देते हो। हमारी पीठ पर कोड़े पर कोड़े क्यों बरसाते जा रहे हो? देखो, तुम्हारे दण्ड-प्रहारों से हमारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया है, हमारी इन्द्रियाँ जर्जर हो गई हैं, हमारा मन कराह रहा है, हमारी बुद्धि बेसुध हो गई है, हमारे प्राण क्रन्दन कर रहे हैं, हमारा आत्मा घावों से बेचैन हो तड़प रहा है। कभी तुम अपने ज्वर, अतिसार, कुष्ठ, विशूचिका, राजयक्ष्मा आदि शस्त्रों से हमपर आक्रमण करते हो, कभी हमें दुर्भिक्ष, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि से संत्रस्त करते हो, कभी हमें भीषण दुर्घटनाओं का शिकार बनाते हो, कभी हमारे स्नेहीजनों को हमसे छीनकर हमपर वज्रपात करते हो, कभी हमें काम, क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं की मार से व्याकुल करते हो। हम नन्हें-से जीव तुम्हारी लाई हुई इन विपदाओं को भला कैसे सह सकेंगे?

हे भगवन्! हमपर दया करो। हम तुम्हारे भाई हैं, तुम्हारे सबन्धु हैं, तुम्हारे सखा हैं। तुम और हम एक ही जगद्-वृक्ष पर बैठे हुए हैं। अन्तर इतना ही है कि हम इस वृक्ष के फलों को भोग रहे हैं और तुम भोग से स्वतन्त्र होकर साक्षीमात्र बने हुए हो। तुम सत्, चित्, अनादि और अनन्त हो, तो हम भी सत्, चित्, अनादि और अनन्त हैं। तुम आनन्दस्वरूप हो, हम आनन्दमय बनने की अभिलाषा रखते हैं। भाई होने के नाते हम तुम्हारी सहायता के पात्र हैं। तुम हमारे साथ साधुता का, सहानुभूति का, सहृदयता का व्यवहार करो। संसार के इस विकट संग्राम में तुम हमारा वध करने पर उतारू क्यों हो रहे हो? यह सत्य है कि जो हम भोगते हैं, वह हमारे अपने कर्मों का ही फल है, पर तुम्हारी दया से क्या सम्भव नहीं है! तुम चाहो तो हमारे जीवन की दिशा ही बदल सकते हो, हमें निर्बुद्धि से सुबुद्धि बना सकते हो, असत्कर्मा से सत्कर्मा बना सकते हो, असुर से देवता बना सकते हो। अतः कृपा करो, बड़े भ्राता होने के नाते छोटे भ्राताओं को अपनी शरण में ले लो, हमारा उद्धार कर दो।

४७. अपराधों से बचें

देवान् वा यच्चकृमा कच्चिदागः[११], सखायं वा सदमिज्जास्पतिं वा[११]।
इयं धीर्भूया अवयानमेषां[११], द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्[११]॥

—ऋग् १.१८५.८

ऋषिः **अगस्त्यः**। देवते **द्यावापृथिव्यौ**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(सदम् इत्) सदा ही **(देवान् वा)** या देवजनों के प्रति, **(सखायं वा)** या मित्र के प्रति, **(जास्पतिं वा)** या जाया-पति के प्रति **(कच्चित्)** कोई **(आगः)** अपराध **(चकृम[१])** [हमने] किया है और करते हैं [तो] **(इयं)** यह **(धीः)** बुद्धि—भविष्य में अपराध न करने की भावना **(एषां)** इन [अपराधों] की **(अवयानं)** दूर करनेवाली **(भूयाः[२])** होवे। **(द्यावापृथिवी)** हे सूर्य और पृथिवी! [तुम] **(अभ्वात्[३])** महान् [अपराध रूप संकट] से **(नः)** हमें **(रक्षतम्)** बचाओ।

यद्यपि हम मानव प्रभु-सृष्टि के सर्वोत्कृष्ट प्राणी कहलाते हैं, तो भी हमारे अन्दर अनेक दुर्बलताएँ हैं। हम सदा किसी न किसी के प्रति कुछ अपराध करते रहते हैं। कभी हम राष्ट्र के देवजनों अर्थात् विद्वान् पुरुषों और विदुषी नारियों के प्रति अपराध करते हैं, उनके अध्ययन-अध्यापन में विघ्न डालते हैं, उनके सार्वजनिक उपदेशों में अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं, उन्हें अपमानित करते हैं या अन्य किसी प्रकार की हानि पहुँचाते हैं। कभी हम मित्र के प्रति अपराध करते हैं। उसके प्रति सौहार्द नहीं रखते, आवश्यकता के समय उसकी सहायता नहीं करते; उससे विश्वासघात करते हैं, द्रोह करते हैं, उसके उपकार का बदला अपकार से देते हैं। कभी हम दम्पती के प्रति अपराध करते हैं। किसी एक पर असत्य दोषारोपण द्वारा पति-पत्नी के पारस्परिक स्वच्छ प्रेम में दरार उत्पन्न करते हैं, उनमें कलह के हेतु बनकर स्वयं आनन्द लेते हैं, उनकी अन्तरंग बातों में हस्तक्षेप करते हैं; जहाँ उन्हें मार्गदर्शन चाहिए, वहाँ पथभ्रष्ट करते हैं। इसी प्रकार शासक, न्यायाधीश, गुरु, अन्तेवासी, माता, पिता, पुत्र, अतिथि, क्रेता, विक्रेता, ऋणदाता आदि के प्रति भी हम अपराध करते रहते हैं। जिसके प्रति हम अपराध करते हैं, उसकी तो इससे हानि होती ही है, साथ ही हम अपराधियों को भी इसका दुष्फल भोगना पड़ता है और हम एक सामाजिक संकट को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। आज से हम इन अपराधों को छोड़ने का व्रत लेते हैं, दृढ़ निश्चय करते हैं कि भविष्य में अपराध नहीं करेंगे और जो अपराध अतीत में कर चुके हैं, उनके लिए सम्बद्ध व्यक्तियों से क्षमा-याचना करेंगे। हमारी यह 'धी', हमारा यह सङ्कल्प और निश्चय हमें अपराधों से मुक्त करने में सहायक हो। हे सूर्य और पृथिवी! जैसे तुम अपराधमुक्त होकर ईश्वरीय नियमों के अनुसार अपने-अपने व्रत का पालन कर रहे हो, वैसा ही मैं भी करूँ। हे सूर्य! तुम्हारे आदर्श पर चलकर मैं उज्ज्वल, निरपराध, निष्कलंक बनूँ। हे पृथिवी! तुमसे सन्देश लेकर मैं सबसे यथायोग्य प्रीति का व्यवहार करूँ।

४८. वह हमारा पिता, भ्राता, पुत्र और सखा है

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्[११], त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्[१०]।
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत्[१०], त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः[१०]॥

—ऋग् २.१.९

ऋषिः **आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवः गृत्समदः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(अग्ने) हे तेजोमय अग्रणी परमेश्वर! **(त्वां)** तुझ **(पितरं)** पिता को **(नरः)** मनुष्य **(इष्टिभिः)** इष्टियों द्वारा [पूजते हैं], **(तनूरुचम्)** तनुओं को चमकानेवाले **(त्वां)** तुझे **(भ्रात्राय)** भ्रातृत्व के लिए **(शम्या[१])** कर्म द्वारा [पूजते हैं]। **(यः)** जो **(ते)** तुझे **(अविधत्[२])** पूजता है [उसका] **(त्वं)** तू **(पुत्रः)** पुत्र **(भवसि)** हो जाता है। **(सुशेवः[३])** उत्कृष्ट सुख का दाता **(सखा)** सखा **(त्वं)** तू **(आधृषः[४])** आधर्षक शत्रु से **(पासि)** बचाता है।

हे अग्ने! हे तेजस्वी नायक परमेश्वर! तुम सब मनुष्यों के पिता हो, पिता के समान पालक, पोषक, शिक्षक, विपदा-निवारक, दुःख-विदारक, शत्रुधर्षक, सुखवर्षक, कीर्ति-वर्धक, धर्मरक्षक हो। सांसारिक पिता तो कभी-कभी सन्तान के प्रति अपने कर्तव्य-पालन से चूक भी जाते हैं, पर तुम कभी नहीं चूकते, अतः तुम्हारे नाम पर लोग इष्टियों का आयोजन करके तुम्हारी पूजा करते हैं। तुम 'तनूरुच्' हो, हमारे शरीरों को, हमारे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों को चमकानेवाले हो; उनमें चेतना और आभा भरनेवाले हो। तुम्हारा भ्रातृत्व पाने के लिए लोग विविध सत्कर्मों द्वारा तुम्हारी पूजा करते हैं, क्योंकि तुम निष्क्रिय-उपासना करनेवाले की पूजा स्वीकार नहीं करते। हे प्रभु! जो तुम्हारी सच्ची परिचर्या करता है, उसके तुम पुत्र बन जाते हो, शिशु बन उसकी गोदी में पहुँच जाते हो। वह तुम्हें दुलारता है, पुचकारता है, झुलाता है, खेल खिलाता है। वह तुम्हें अपने अंक में पाकर और तुम्हारी किलकारी सुनकर निहाल हो जाता है। हे सुखस्वरूप देव! तुम उत्कृष्ट सुख के दाता हो। हम तो यह भी नहीं जानते कि सुख क्या है और दुःख क्या है। हम जिसे सुख समझ अपने साथ चिपटाये फिरते हैं, वह परिणाम में दुःख सिद्ध होता है और जिसे दुःख मानकर उपेक्षित कर देते हैं, वह वस्तुतः सुख होता है। तुम स्वयं ही हमें हमारे लिए जो सचमुच परम सुख है, उसे प्रदान कर देते हो। तुम हमारे सच्चे सखा हो, क्योंकि तुम हमें आधर्षक शत्रु की धर्षणा से बचाते हो।

जब नास्तिक शत्रु विकराल रूप धारण कर हम आस्तिकों की छाती पर चढ़ बैठता है, हमारा गला पकड़ लेता है, पेट में छुरी भोंकने को तैयार हो जाता है, तब तुम सिंह-गर्जना करते हुए आते हो और अपने सखा का शत्रु की यन्त्रणाओं से उद्धार करते हो। इसी प्रकार जब आसुरी मनोवृत्तिरूप अन्तःशत्रु हमें घर-दबोचते हैं और हमारी दिव्य मनोवृत्तियों पर वज्र-प्रहार करने लगते है, तब भी तुम अपने सखा को निरापद करते हो। हे पिता! हे भ्राता! हे तनय! हे सखे! हमारी पूजा को और हमारे प्यार को स्वीकार करो।

४९. वह हमारे प्रेम को जानता है

दधन्वे वा यदीमनु[८], वोचद् ब्रह्माणि वेरु तत्[८]।
परि विश्वानि काव्या[७], नेमिश्चक्रमिवाभवत्[८]॥

—ऋग् २.५.३

ऋषिः **सोमाहुतिः भार्गवः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्।**

[प्रभु का भक्त] (**ईम्**) इस [अग्नि प्रभु] को (**अनु**) लक्ष्य करके (**यत्**) जिस [प्रेम और भक्ति] को (**दधन्वे**[१]) धारण करता है, (**वा**) और (**ब्रह्माणि**) वेदमन्त्रों को (**वोचत्**) उच्चारण करता है, (**तत्**) उसे [वह प्रभु] (**वेः**[२]**उ**) जानता ही है। [वह] (**विश्वानि**) समस्त (**काव्या**[३]) काव्यों को (**परि-अभवत्**) व्याप्त किये हुए है, (**इव**) जैसे (**नेमिः**) परिधि (**चक्रं**) पहिए को [व्याप्त किये होती है]।

भक्त अपने प्रभु के प्रति ज्यों ही हृदय में प्रेम और भक्ति के भावों को धारण करता है, त्यों ही प्रभु को उसके भाव ज्ञात हो जाते हैं। वे पहले से ही हमारे हृदयों में बैठे हुए हमारे प्रत्येक भाव के साक्षाद्-द्रष्टा बने हुए हैं। कई बार लोग छद्म-भक्त बनकर संसार को और परमात्मा को छलना चाहते हैं। कुछ समय के लिए वे संसार को भले ही छल लें, यद्यपि अन्त में उनका असली रूप सब पर प्रकट हो जाता है, पर सर्वज्ञ परम प्रभु को वे नहीं छल सकते। साथ ही प्रभु-प्रेमी के हृदय में उत्पन्न प्रेम को संसार भले ही बहुत समय तक न जान पाये, पर प्रभु से उसका प्रेम छिपा नहीं रहता। वाणी द्वारा स्तुतिपरक वेदमन्त्रों के उच्चारण से पूर्व भी प्रभु हृदयस्थ प्रीति को जानते हैं, वाणी द्वारा स्तुतिगान करने के पश्चात् तो जानते ही हैं, किन्तु वाणी द्वारा स्तुतिगीत गानेवाले भी सभी सच्चे प्रभु-भक्त नहीं होते। दम्भी और सच्चे दोनों स्तोताओं को प्रभु उनके असली रूप में पहचानते हैं। भक्त पर यदि कोई विपदाएँ आती हैं, तो प्रभु ही उसे धीरज और सहनशक्ति प्रदान करते हैं।

अग्नि प्रभु समस्त स्तोत्र-काव्यों में, समस्त वैदिक सूक्ति-गीतों में ऐसे ही व्यापे हुए हैं, जैसे रथ के पहिए को नेमि चारों ओर से व्यापे होती है। सब वेदमन्त्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से प्रभु का ही गुणगान कर रहे हैं। इसीलिए वेद स्वयं कहते हैं कि वेद पढ़कर भी जिसने प्रभु को नहीं जाना उसका वेद पढ़ना निरर्थक है—**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति**[४]। मानवरचित काव्यों में भी वे ही काव्य कहलाने योग्य हैं, जिनमें प्रभु का वास है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप में प्रभु के सन्देश को सुनाते हैं। किसी भी रस का काव्य हो, यदि उससे प्रभु का सन्देश मुखरित नहीं होता, तो वह काव्य काव्य नहीं है। इसीलिए काव्य-शास्त्रियों ने काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि काव्य से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में वैचक्षण्य प्राप्त होता है।

आओ, हम प्रभु के प्रति हृदय में भक्तिभाव को धारण करें, वाणी से प्रभु-स्तुति के गीत गाएँ और उन्हीं काव्यों का अध्ययन, अध्यापन तथा प्रचार करें, जिनमें प्रभु चक्र में नेमि के समान परिव्याप्त हैं।

५०. शुचि आत्मा

साकं हि शुचिना शुचिः॰, प्रशस्ता क्रतुनाजनि॰।
विद्वाँ अस्य व्रता ध्रुवा॰, वया इवानु रोहते॰॥

—ऋग् २.५.४

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(प्रशास्ता) प्रशासक जीवात्मा **(शुचिना क्रतुना साकं)** पवित्र ज्ञान और कर्म के साहचर्य से **(हि)** अवश्य **(शुचिः)** पवित्र **(अजनि)** हो जाता है। **(अस्य)** इस आत्मा के **(ध्रुवा व्रता[१])** नित्य करणीय कर्तव्यों को **(विद्वान्)** जाननेवाला **(वयाः[२] इव)** शाखाओं के समान **(अनु रोहते)** क्रमशः बढ़ता चलता है।

जीवात्मा हमारे शरीर का 'प्रशास्ता' है, प्रशासक है, परन्तु प्रशासक 'शुचि' और 'अशुचि' दोनों प्रकार के हो सकते हैं। राष्ट्रों में अनेक ऐसे पवित्र प्रशासक होते हैं, जो अपनी पवित्रता की तरंगों से सम्पूर्ण राष्ट्र को पवित्र बना देते हैं। दूसरी ओर कई ऐसे अपवित्र प्रशासक भी होते हैं, जो अपनी उच्छृङ्खलताओं, कुमार्ग-गामिताओं, भ्रष्टाचारों एवं अपवित्र वासनाओं से राष्ट्र की धारा को कलंकित और अपावन बना देते हैं। जीवात्मा जब हमारे शरीर का प्रशासक बना है, तो उसे शुचि एवं पवित्र प्रशासक ही होना चाहिए। उसके 'शुचि' प्रशासक बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह सदा 'शुचि क्रतु' से अर्थात् पवित्र ज्ञान और कर्म से संयुक्त रहे। सत्य और तात्त्विक ज्ञान ही पवित्र होता है, अतः प्रथम तो आत्मारूप प्रशासक को सत्य और तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, अपनी प्रज्ञा को सत्य एवं विवेक से निर्मल बनाना चाहिए, फिर उस सत्य एवं पवित्र ज्ञान के अनुसार सत्य एवं पवित्र कर्मों का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार सत्य ज्ञान और सत्य कर्मों को करता हुआ शरीर का वह आत्मारूप प्रशासक सदा पवित्र बना रहेगा तथा मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि अपनी प्रजाओं को भी पवित्र बनाये रहेगा।

आत्मारूप प्रशासक के अधीन रहते हुए मनुष्य को वृक्ष की शाखाओं के समान बढ़ना है। क्या तुमने नहीं देखा कि भूमि पर बीज को फोड़कर अंकुरित हुआ एक नन्हा-सा पौधा शनैः-शनैः बढ़कर किस प्रकार एक महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है? हम सब मानव भी नन्हीं-नन्हीं शाखाओंवाले नन्हें पौधों के तुल्य हैं। हमारी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि की शाखायें बहुत छोटी-छोटी हैं और हम स्वयं एक अविकसित तरु के सदृश हैं। हमें महान् शाखाओंवाला महाकाय वृक्ष बनना है। पर हम विपुल शाखाओंवाले सुविकसित वृक्ष तभी बन सकते हैं, जब हम अपने आत्मा के 'ध्रुव व्रतों' को, नित्य करणीय कर्तव्यों को जानेंगे और उन्हें जानकर अपने जीवन में चरितार्थ करेंगे।

आओ, हम सब अपनी आत्मा के कर्तव्यों को जानकर बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले विशाल वृक्ष बनें और अपनी सुविश्रामदायिनी छाया से सन्तप्तों का सन्ताप हरकर उन्हें विश्राम और शीतलता प्रदान करें।

५१. अग्नि प्रभु से योग कर

वाजयन्निव नू रथान्[८], योगानग्नेरुपस्तुहि[८]।
यशस्तमस्य मीळहुषः[८]॥ —ऋग् २.८.१

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **गायत्री**।

[हे अन्तरात्मन्!] (**वाजयन्**) वेग, आत्मबल, विज्ञान आदि ऐश्वर्यों को चाहता हुआ [तू] (**यशस्तमस्य**) सबसे अधिक यशस्वी, (**मीढुषः**[१]) वर्षक, (**अग्नेः**) अग्रणी, तेजस्वी परमात्मा के (**योगान्**[२]) योगों की (**उप स्तुहि**) स्तुति कर, कामना कर, (**इव**) जैसे (**वाजयन्**[३]) वेग को चाहनेवाला मनुष्य (**नु**[४]) शीघ्र (**रथान्**) रथों की [स्तुति और कामना करता है]।

जब मनुष्य को शीघ्र वेगपूर्वक कहीं पहुँचना होता है, तब वह किसी वेगगामी रथ, विमान आदि की कामना करता है और उसे प्राप्त कर उसपर आरूढ़ हो लम्बी दूरी को भी अनायास बहुत थोड़े समय में तय कर लेता है। हे अन्तरात्मन्! तूने भी जो अपना मुक्तिरूप लक्ष्य निर्धारित किया है, वह बहुत दूरस्थ है। समय कम है, लक्ष्य दूर है, साधन अल्प हैं, मध्य में धर्म, अर्थ, काम के पड़ाव भी हैं। कैसे तू मार्ग को पार करेगा? तुझे भी वेग का साधन अपनाने की आवश्यकता है, अतः तू अग्नि प्रभु के 'योग'-रूप रथ पर आरूढ़ हो जा, उस अग्रणी, तेजस्वी प्रभु के साथ अध्यात्म-सम्बन्ध स्थापित कर। ऋषियों ने उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए अष्टांगयोग का मार्ग निर्धारित किया है। उस मार्ग का अवलम्बन करके तू उसके साथ योग कर। वह प्रभु सबसे अधिक यशस्वी है। संसार की चन्द्र, सूर्य, विद्युत् आदि कीर्तिशाली वस्तुओं से भी वह अधिक कीर्तिशाली है। उसके 'योग'-रूप रथ भी वैसे ही वेगवान् हैं। वह प्रभु 'मीढ्वान्' है, अपने साथ रथ पर आरूढ़ व्यक्ति पर आत्म-बल, वेग, सद्गुण आदि की वर्षा करनेवाला है। उसके रथ पर आरूढ़ होकर तो देख, कितने वेग से लक्ष्य की ओर तेरी गति होती है।

'वाज' शब्द वेग के अतिरिक्त अन्य विविध ऐश्वर्यों का भी वाचक है। जैसे अन्न, धन आदि को कहीं से लाना हो तो मनुष्य रथों का उपयोग करता है, वैसे ही विपुल आध्यात्मिक ऐश्वर्यों आत्मबल, विज्ञान, सत्य, न्याय, भूतदया आदि को पाने के लिए परमात्मयोगरूप रथों को पाने के लिए तुझे कोई भौतिक मूल्य देने की आवश्यकता नहीं होगी। प्रभु से मिलने की सच्ची अभीप्सा और पूर्णतः आत्म-समर्पण ही उसका मूल्य है। हे मेरे अन्तरात्मन्! देरी मत कर, शीघ्र-से-शीघ्र अग्निनामक प्रभु के रथ पर आरूढ़ हो, लक्ष्य पर पहुँच और अनुपम आनन्द की उपलब्धि कर।

५२. आत्मा का स्वराज्य

अत्रिमनु स्वराज्यम्[७], अग्निमुक्थानि वावृधुः[८]।
विश्वा अधि श्रियो दधे[८] ॥ —ऋग् २.८.५

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(स्वराज्यम् अनु) स्वराज्य के पश्चात् **(अत्रिम्[१] अग्निम्)** त्रिविध सन्तापों एवं त्रिविध दोषों से रहित आत्मा को **(उक्थानि)** स्तुतिगीत **(वावृधुः)** बढ़ाते हैं। [वह आत्मा] **(विश्वा)** समस्त **(श्रियः)** शोभाओं को **(अधि दधे)** धारण कर लेता है।

कर्मफल भोगने तथा नवीन कार्य करने के लिए शरीर में आया हुआ मनुष्य का जीवात्मा बहुत बार त्रिविध दुःखों से संतप्त होता रहता है। ये त्रिविध दुःख हैं—आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख, आधिदैविक दुःख। दुःख तो तीनों ही मन द्वारा आत्मा को अनुभवहोते हैं, पर दुःखों का कारण त्रिविध होने से दुःख त्रिविध कहे गये हैं। आध्यात्मिक दुःख किसी मनोवांछित दिव्य पदार्थ प्राप्त न होने के कारण, अध्यात्म-साधना के विफल होने के कारण या आत्मा, मन, बुद्धि आदि के सदोष हो जाने के कारण अनुभूत होते हैं। आधिभौतिक दुःख शरीर एवं इन्द्रियों के रुग्ण, अशक्त आदि हो जाने के कारण होते हैं। आधिदैविक दुःख अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विद्युत्पात, दुर्भिक्ष, भूकम्प आदि दैवी उपद्रवों के कारण होते हैं। आत्मिक, वाचिक और शारीरिक दोष अथवा आत्मा, मन एवं शरीर के दुःख भी त्रिविध सन्ताप कहलाते हैं। ये सब त्रिविध दुःख, सन्ताप या दोष जिस आत्मा में नहीं रहते वह आत्मा 'अ-त्रि' कहलाता है। वह 'अ-त्रि' ही आत्म-स्वराज्य का अधिकारी होता है। अन्यथा जब तक मनुष्य का आत्मा त्रिविध दुःखों या दोषों से संतप्त रहता है, तब तक वह अपने शरीर मन, प्राण, इन्द्रिय आदि प्रजाओं का सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अधीश्वर नहीं कहला सकता। 'अत्रि' होकर आत्मा जब स्वराज्य प्राप्त कर लेता है, अपनी इच्छानुसार मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, शरीर आदि को सञ्चालित करने लगता है, तब 'उक्थ' अर्थात् मन, इन्द्रियों आदि द्वारा किये जानेवाले स्तुतिगीत उसे बढ़ाने लगते हैं, समृद्ध और महिमान्वित करने लगते हैं। इस स्वराज्य के पश्चात् आत्मा समस्त श्रियों को, शोभाओं को, धारण कर लेता है। राष्ट्र में एक सम्राट् की जो स्थिति होती है, वह शरीर में उसकी हो जाती है। जैसे स्वराज्य-काल में राष्ट्र की समस्त गतिविधि उसके सम्राट् के अधीन होती है, कोई उसके साथ विद्रोह नहीं कर सकता, वह सर्वविध शोभाओं से सम्पन्न होता है, वैसे ही स्वराज्यावस्था में आत्मा भी श्री-सम्पन्न, देवी-सम्पदाओं से युक्त तथा दुष्प्रवृत्तियों के उपद्रवों से विहीन हो जाता है। आओ, हम भी आत्मा को 'अत्रि' बनायें, स्वराज्य का आराधक बनायें, स्तुतियों का पात्र बनायें और अन्ततः उसे समस्त आध्यात्मिक शोभाओं एवं गरिमाओं से अलंकृत कर लें।

५३. मेरे दिन सुदिन हों

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि[११], चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे[११]।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां[११], स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्[११]॥

—ऋग् २.२१.६

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**इन्द्र**) हे ऐश्वर्यवाली परमेश्वर! (**अस्मे**) हमें (**श्रेष्ठानि**) श्रेष्ठ (**द्रविणानि**) घन, (**दक्षस्य**[१]) दक्षता एवं बल की (**चित्तिं**[२]) ख्याति, (**सुभगत्वम्**) सौभाग्य, (**रयीणाम्**) ऐश्वर्यों की (**पोषं**) पुष्टि, (**तनूनां**) शरीरों की (**अरिष्टिं**[३]) नीरोगता एवं अक्षीणता, (**वाचः**) वाणी की (**स्वाद्मानं**) मधुरता और (**अह्नां**) दिनों की (**सुदिनत्वं**) सुदिनता (**धेहि**) प्रदान कर।

हे इन्द्र प्रभु! तुम अपार ऐश्वर्य के अधिपति हो, मुझे भी ऐश्वर्य प्रदान करो। तुम मुझे प्रचुर धन-सम्पत्ति का राजा बना दो। पर यह प्रार्थना तो अधूरी है, क्या ऐसे उदाहरण संसार में नहीं हैं कि अनेकों व्यक्ति धन पाकर बर्बाद हो गये? अतः सही प्रार्थना मुझे यह करनी चाहिए कि तुम मुझे श्रेष्ठ धन दो। मेरा धन श्रेष्ठ होगा तो वह मुझे पतनोन्मुख नहीं, अपितु उन्नतिशील बनाने में सहायक होगा। किन्तु अकेले धन से मैं जीवन में सफल नहीं हो सकता, धन के साथ दक्षता भी आवश्यक है। बिना दक्षता और बल के न मैं धन की रक्षा कर सकूँगा, न उसका सत्कार्यों में उपयोग ही कर सकूँगा, अतः मुजे दक्षता और बल की ख्याति भी प्रदान करो। तुम मुझे सौभाग्यशाली भी बनाओ, सब ओर से विपदाओं का मारा हुआ, सर्वत्र ठोकरें खानेवाला भाग्यहीन न बनाकर ऐसा बनाओ कि दुर्भाग्य मेरी सम्पदा से ईर्ष्या करे। तुम मुझे ऐश्वर्यों की पुष्टि भी प्रदान करो। मेरा ऐश्वर्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता चले। अन्यथा यदि मेरा प्राप्त ऐश्वर्य दिन-दूना बढ़ेगा नहीं तो मैं करोड़ों का भी सम्राट् क्यों न हो जाऊँ, एक दिन फिर दरिद्र हो जाऊँगा। परन्तु बाह्य ऐश्वर्यों के अतिरिक्त एक आन्तरिक ऐश्वर्य भी है, जो ऐश्वर्यों का ऐश्वर्य है। मेरा यह आध्यात्मिक ऐश्वर्य भी वृद्धिशील हो। इसके अतिरिक्त मैं तुमसे शरीर की नीरोगता और अक्षीणता भी माँगता हूँ, क्योंकि यदि मेरा शरीर रोगग्रस्त और दुर्बल रहेगा तो मैं क्या धर्म-कर्म कर सकूँगा और क्या ही विपद्ग्रस्तों की सहायता कर सकूँगा! साथ ही हे मेरे इन्द्र प्रभु! तुम मुझे 'वाणी की मधुरता' भी दो। वाणी की कटुता ने संसार में बड़े-बड़े अनर्थ उत्पन्न किए हैं, अतः मेरी वाणी को तुम कटुता से बचाओ। मेरी वाणी को तुम प्यारी, सत्यमयी और मिश्री-घुली बना दो। अन्त में एक प्रार्थना यह है कि मुझे 'दिनों की सुदिनता' के दर्शन कराओ। मेरे जीवन का प्रत्येक दिन शिव, सुन्दर आह्लादमय, प्रीतिदायक, सुखवर्धक और उत्साहप्रद हो। मेरे राष्ट्र का प्रत्येक दिन गौरवमय और विजय के उल्लास से परिपूर्ण हो।

५४. तेरी महिमा

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं१२, यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्१२।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि१२, बृहस्पते महि तत् ते महित्वनम्१२॥

—ऋग् २.२३.४

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **जगती**।

[तू] (**जनं**) मनुष्य को (**सुनीतिभिः**) सुनीतियों से (**नयसि**) ले चलता है, (**त्रायसे**) रक्षित करता है। (**यः**) जो (**तुभ्यं**) तुझे (**दाशात्**[1]) आत्म-समर्पण करता है, (**तं**) उसे (**अंहः**) पाप (**न**) नहीं (**अश्नवत्**[2]) प्राप्त होता है। [तू] (**ब्रह्मद्विषः**[3]) वेद और ईश्वर के विरोधी का (**तपनः**) तपानेवाला [और] (**मन्युमीः**[4]) [उसके] क्रोध का विनाशक (**असि**) है। (**बृहस्पते**) हे बृहस्पति परमात्मन्! (**ते**) तेरा (**तत्**) वह (**महित्वनम्**) माहात्म्य (**महि**) महान् [है]।

हे परमात्मन्! तुम बृहस्पति हो, बृहत् लोकों के और बृहती वेदवाक् के अधिपति हो[5]। कैसी विशाल है तुम्हारी महिमा! तुम अकेले इन विस्तीर्ण सूर्य, चन्द्र तारामण्डल, भूमि आदि लोकों के कर्ता-धर्ता हो और वेदज्ञान के भी प्रकाशक हो। तुम मनुष्य के हृदय में सत्प्रेरणा देकर उसे उत्तम नीतियों से ले चलते हो और संकटों में उसके रक्षक होते हो। यदि तुम्हारी कृपा उसे प्राप्त न हो तो वह राह भटककर न जाने किस भयंकर गर्त में जा गिरे और उसका जीवन भी विपद्ग्रस्त हो जाये। हे प्रभु! संसार में न जाने कितने लोग पाप-लिप्त हो अपने जीवन को नष्ट कर रहे हैं। यह भी आश्चर्य है विनष्ट होते हुए भी वे यह नहीं समझते हैं कि हम विनाश से लीले जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि वे तुम्हें अपनी जीवन-नैया का कर्णधार नहीं बनाते। जो तुम्हें आत्म-समर्पण करता है, उसके पास निश्चय ही पाप नहीं फटकता। विश्व में वेद और ईश्वर के विरोधी ब्रह्मद्वेषीजन अपना जाल फैला रहे हैं। वे नास्तिकता का प्रचार कर अपनी श्रेणी के लोगों की संख्या बढ़ाने में लगे हैं। यह स्वप्न देख रहे हैं कि एक दिन हम आस्तिकता को काला मुँह करके विश्व से बाहर निकाल देंगे और हम स्वयं ही ब्रह्माण्ड के भाग्य-विधाता कहलायेंगे। हे जगत्पति! तुम उन द्वेष्टाओं को संतप्त करके, उनके स्वप्न को धूल में मिला देनेवाले हो। कभी-कभी तो वे ब्रह्मविद्वेषी लोग क्रोध में पागल होकर भोले-भाले आस्तिकजनों पर हिंसा का वार करने तक पर उतर आते हैं, परन्तु तुम उनके कोप को क्षण-भर में विनष्ट कर देते हो। जब कभी उनपर विपत्ति का पहाड़ टूटता है, तब वे अपने क्रोध को भूलकर सहसा तुम्हें स्मरण करने लग जाते हैं और इस प्रकार तुम ब्रह्मद्वेष्टाओं को संतप्त कर उनकी ब्रह्मविरोधिनी भावनाओं पर भी प्रहार करते हो तथा उन्हें ब्रह्मप्रेमी बना देते हो। हे ब्रह्मन्! तुम्हारी महिमा अपार है, तुम्हारी महिमा अनन्त है।

५५. ब्रह्मणस्पति की रक्षा का फल

न तमं हो न दुरितं कुतश्चन[१२], नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः[१२]।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो विबाधसे[१२], यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते[१२]॥

—ऋग् २.२३.५

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **जगती**।

(यं) जिसकी **(ब्रह्मणस्पते)** हे ज्ञान एवं ब्रह्माण्ड के स्वामिन्! **(सुगोपाः)** सुरक्षक [तू] **(रक्षसि)** रक्षा करता है, **(तं)** उसे **(न अंहः)** न पाप, **(न दुरितं[१])** न दुष्फल **(कुतः चन)** कहीं से भी [प्राप्त होता है], **(न अरातयः[२])** न शत्रु या अदानभाव **(तितिरुः[३])** पराभूत करते हैं, **(न द्वयाविनः[४])** न द्विविध आचरणवाले वञ्चक लोग। **(अस्मात्)** इसके पास से **(विश्वाः)** समस्त **(ध्वरसः)** हिंसकों को [तू] **(विबाधसे)** विशेषरूप बाधित कर देता है।

हे परमात्मन्! तुम ब्रह्मणस्पति हो, 'ब्रह्म' अर्थात् सकल वेदज्ञान, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व सकल ऐश्वर्य के अधिपति हो[५], अतः जो तुम्हारी शरण में आ जाता है और जिसकी सुरक्षा तुम अपने हाथ में ले लेते हो, वह स्वभावतः समस्त विपत्तियों एवं समस्त विघ्न-बाधाओं से तर जाता है। सामान्य मनुष्य प्रायः कुसंगति आदि में पड़कर पाप के पंक में फँस जाया करता है, पर ब्रह्मणस्पति प्रभु के मित्र को पाप कभी नहीं घेरता, न ही उसे कहीं से 'दुरित' अर्थात् दुष्फल प्राप्त होता है, जबकि सामान्यजन अनेकविध दुष्फलों से ग्रस्त एवं पीड़ित होते रहते हैं। न ही उसे आन्तरिक और बाह्य शत्रु पराभूत करते हैं, न अदानभाव या स्वार्थवृत्तियाँ उसे दबोचती हैं। न ही वे लोग उसे कोई हानि पहुँचा पाते हैं जो 'द्वयावी' हैं, अर्थात् जिनका द्विविध आचरण है, जिनके मन में कुछ और है तथा क्रिया में कुछ और, जो ऊपर से स्वयं को हितैषी प्रकट करते हैं, किन्तु अन्दर जिनके विष भरा होता है। जिसपर ब्रह्मस्पति प्रभु की कृपा नहीं हुई है, वह ऐसे 'द्वयावी' लोगों के चंगुल में फँस जाता है तथा स्वयं को बर्बाद कर बैठता है। पर 'ब्रह्मणस्पति' प्रभु जिसके साथ है, वह ऐसे व्यक्तियों से छला नहीं जा सकता।

हे ब्रह्मणस्पति जगदीश्वर! जिसे तुम अपनी सुरक्षा में ले लेते हो वह समस्त हिंसकों को परास्त कर देता है। ये हिंसक हैं मनुष्य के अन्दर रहनेवाली हिंसावृत्तियाँ, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मनोविकार अथवा हिंसा-उपद्रव मचानेवाले मनुष्य। ब्रह्मणस्पति के सखा को इनमें से कोई हिंसक हिंसित एवं क्षतिग्रस्त नहीं कर पाता, अपितु वह इन सबको विबाधित, पराजित एवं विनष्ट करता हुआ निरन्तर उन्नति करता जाता है। हे ब्रह्मणस्पति प्रभु! तुम हमें भी अपनी सुरक्षा में ले लो और संकटों से हमारा उद्धार कर, प्रगति-पथ पर अग्रसर कर हमें उन्नति के शिखर पर पहुँचा दो।

५६. समाज में देव-निन्दक न रहें

त्रातारं त्वा तनूनां हवामहे[११], ऽवस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम्[११]।
बृहस्पते देवनिदो निबर्हय[१२], मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन्[१२]॥

—ऋग् २.२३.८

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(**अवस्पर्तः**[१]) हे विपत्तियों से पार करनेवाले (**बृहस्पते**) बृहस्पति परमेश्वर! (**तनूनां**) शरीरों के (**त्रातारं**) रक्षक, (**अधिवक्तारम्**) सर्वोपरि उपदेश करनेवाले, (**अस्मयुम्**[२]) हमसे प्रेम करनेवाले (**त्वा**) तुझे (**हवामहे**) [हम] पुकारते हैं। तू (**देवनिदः**) देवनिन्दकों को (**निबर्हय**[३]) विनष्ट कर। (**दुरेवाः**) दुराचारी लोग (**उत्तरं**) उत्कृष्ट (**सुम्नं**) सुख को (**मा**) मत (**उन्नशन्**[४]) प्राप्त करें।

हे प्रभु! तुम बृहस्पति हो, विशाल लोकों का रक्षण और पालन करनेवाले हो[५]। स्वभावतः तुम हमारा भी, जो कि इस ब्रह्माण्ड के छोटे-छोटे बिन्दु हैं, पालन करोगे ही। तुम हमारे शरीरों के त्राता हो, हमारे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों के तथा अंग-प्रत्यंगों के रक्षक हो। तुम हमें विपत्तियों से पार करते हो। जब कभी हमारी जीवन-नौका संकटों में पड़ जाती है तब तुम माँझी बन पतवार खेकर उसे किनारे लगाते हो। तुम सांसारिक जनों से ऊपर होकर हमें उपदेश करते हो। सांसारिक लोगों के उपदेश तो अनेक बार स्वार्थ, राग, द्वेष आदि से प्रेरित होने के कारण पथभ्रंशक भी होते हैं, किन्तु तुम्हारा उपदेश सदा सन्मार्ग पर ही ले-जानेवाला होता है। हे देव! हमारे प्रति तुम्हारे ये सब उपकार इसी कारण हैं, क्योंकि तुम हमें चाहते हो, सच्चे हृदय से हमसे प्रेम करते हो, अतः हम तुम्हारा आवाहन कर रहे हैं, तुम्हें अपने समीप ला रहे हैं, तुम्हें आतुरता के साथ पुकार रहे हैं कि तुम आओ और हमें अपने वर प्रदान करो।

हे बृहस्पति प्रभु! देखो, अनेक देवनिन्दक हमें घेरे खड़े हैं। वे हमारे सम्मुख ईश्वर की निन्दा, दिव्यगुणों की निन्दा और देवपुरुषों की निन्दा करके हमें आस्तिकता से, दिव्यगुणों के धारण से और देवपुरुषों की संगति से रोकना चाहते हैं और इस प्रकार संसार में नास्तिकता, राक्षसी भावों के प्रचार तथा आसुरी वृत्तिवाले पुरुषों के साम्राज्य को स्थापित करना चाहते हैं। उन समस्त देव-निन्दकों को तुम विनष्ट कर दो। ऐसी व्यवस्था करो कि दुराचारी लोग कभी उत्कर्षमय सुख को न प्राप्त करें, क्योंकि यदि वे बुरा चाल-चलन रखते हुए भी सुख भोगेंगे तो तुम्हारे न्याय से और सदाचार के महत्त्व से मनुष्य का विश्वास उठ जाएगा। हे भगवन्! ऐसी कृपा करो कि हमारा समाज देवपुरुषों का समाज हो जाए, उसमें एक भी देव-निन्दक न रहे।

५७. ब्रह्मणस्पति की मैत्री

तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः[१], स सत्त्वभिः प्रथमो गोषु गच्छति[२]।
अनिभृष्टतविषिर्हन्त्योजसा[१], यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः[२]॥

—ऋग् २.२५.४

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(यं यं) जिस-जिस को **(ब्रह्मणस्पतिः)** ब्रह्मणस्पति परमेश्वर **(युजं)** मित्र **(कृणुते)** बना लेता है, **(तस्मै)** उसके लिए **(असश्चतः[१])** अविचल **(दिव्याः)** दिव्य विचारधाराएँ **(अर्षन्ति[२])** प्रवाहित होने लगती हैं। **(सः)** वह **(सत्त्वभिः)** सात्त्विक कर्मों के साथ **(गोषु)** भूमियों पर **(गच्छति)** विचरता है, **(अ-निभृष्ट[३]-तविषिः)** अ-प्रदग्ध बलवाला [वह] **(ओजसा)** आत्मिक बल से **(हन्ति)** मारता है।

क्या तुमने कभी अनुभव किया है कि ब्रह्मणस्पति परमेश्वर की मित्रता क्या रंग लाती है? सांसारिकजनों की ही मित्रता में पड़े रहनेवाले हम सर्वसाधारण लोग उस ब्रह्माण्ड के अधिपति की मैत्री की करामात प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। पर जो कोई विरले सन्तजन उसके साथ सखित्व जोड़ते हैं, वे अपना अनुभव बताते हैं कि उस जगत्पति का सखा विलक्षण शक्तियों और विलक्षण गुणों से युक्त हो जाता है।

ब्रह्मणस्पति के सखा को प्रथम लाभ यह प्राप्त होता है कि जैसे आकाश से वर्षा की धाराएँ भूमि पर प्रवाहित होती हैं, वैसे ही उसके मानस में निर्बाधरूप से दिव्य विचारधाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं। ब्रह्मणस्पति स्वयं दिव्य विचारों का स्रोत है, इसलिए स्वभावतः वह अपने सखा के अन्तःकरण में दिव्य विचारों को प्रवाहित करता है। दिव्य विचार सम्पत्तियों में सबसे बड़ी सम्पत्ति है। इसके विपरीत आसुरी विचार-शृंखला महती विपत्ति है। अतः ब्रह्मणस्पति की मैत्री से यदि हमारी विचार-सरणि दिव्य हो जाती है, तो यह एक बड़ी उपलब्धि है। उससे हमारा सम्पूर्ण जीवन ही दिव्य बन सकता है।

ब्रह्मणस्पति के सखा को दूसरा लाभ यह मिलता है कि वह सात्त्विक कर्मों से युक्त होकर भूमियों पर विचरण करता है। दिव्य विचार सात्त्विक कर्मों के जनक हुआ ही करते हैं। एवं प्रभु का सखा दिव्य कर्मों से युक्त हो जाता है। तीसरा लाभ उसे यह प्राप्त होता है कि वह 'ओज' अर्थात् आत्मिक बल से अनुप्राणित हो जाता है। उसके इस आत्मिक बल को प्रदग्ध या विनष्ट करने का सामर्थ्य किसी में नहीं होता। इसी आत्मबल या आत्मिक तेज से वह 'असुरों' को मारता है। पर उसका यह मारना भी विलक्षण होता है। वह असुर-प्रवृत्ति के व्यक्ति के शरीर को न मारकर उसकी आसुरीवृत्ति को मारता है और आसुरीवृत्ति को मारकर उसे असुर से देव बना देता है। शस्त्रास्त्रों की मार तो सब कोई कर सकता है, किन्तु आत्मतेज की मार करने का सामर्थ्य परमात्मा के मित्र में ही सम्भव है। आत्मबल के धनी ऋषि-मुनि दृष्टि-निक्षेप मात्र से पापी को पुण्यात्मा, भ्रष्ट-चरित्र को पवित्र बना देते हैं, यह प्रभु के मित्र होने का ही उन्हें वरदान होता है। आओ हम भी 'ब्रह्मणस्पति' प्रभु के मित्र बनकर इन लाभों को प्राप्त करें।

५८. प्रेरणा

यजस्व वीर प्रविहि मनायतो[१२], भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये[११]।
हविष्कृणुष्व सुभगो यथाससि[१२], ब्रह्मणस्पतेरव आ वृणीमहे[१२]॥

—ऋग् २.२६.२

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **निचृद् जगती**।

(**वीर**) हे वीर! (**यजस्व**) यजन कर, (**मनायतः**[१]) मन के समान वेगशील, मन को आक्रान्त करनेवाले अभिमानी शत्रुओं पर (**प्र विहि**[२]) आक्रमण कर। (**वृत्रतूर्ये**[३]) वृत्र-हिंसा के युद्ध में (**मनः**) मन को (**भद्रं**) भद्र (**कृणुष्व**) कर। (**हविः**) उत्सर्ग (**कृणुष्व**) कर, (**यथा**) जिससे (**सुभगः**) सौभाग्यशाली (**अससि**[४]) होवे। (**ब्रह्मणस्पतेः**) जगत्पति परमेश्वर के (**अवः**) रक्षण को (**आ वृणीमहे**) [हम] वरण करते हैं।

हे मनुष्य! हे आत्मन्! तू वीर है, वीर-जननी की कोख से उत्पन्न हुआ है, रण-बाँकुरा है, संग्राम करने के लिए सैन्य लेकर आ जुटनेवालों को अपनी शक्ति से विकीर्ण एवं विध्वस्त कर सकनेवाला है। तू अपने सामर्थ्य को पहचान, अपनी वीरता के अनुरूप कार्य कर। युद्ध का बिगुल बजानेवालों से परास्त मत हो, अपितु जो तेरे मन को काबू में करना चाहें, मन को निरुत्साहित करना चाहें, मन के समान त्वरित गति से तुझपर आ टूटना चाहें, मन में अभिमान को धारण कर तुझे निर्मूल करना चाहें, उन आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं पर तू उनके सक्रिय होने से पूर्व ही आक्रान्ता बनकर टूट पड़। वृत्र-संहार के, पाप और पापियों की हिंसा के इस युद्ध में अपने मन को सदा भद्र बनाये रख। यदि तेरा मन भद्र रहेगा, तो पाप-विचार भी, जो तुझपर आक्रमण करने आयेंगे, भद्र विचार के रूप में परिणत हो जायेंगे। पापियों के सम्बन्ध में यह याद रख कि तेरी लड़ाई उनके अन्दर विद्यमान पापों के साथ है, न कि उनके व्यक्तित्व के साथ। अतः यदि उनके अन्दर वर्तमान पाप को तू विनष्ट कर देता है तो निष्पाप होकर वे तेरे मित्र हो सकते हैं।

हे आत्मन्! तू यजन कर, परमात्मा की पूजा कर, सज्जनों की संगति कर, तेरे पास जो कुछ भी दान करने योग्य है, उसका दान कर[५]। तू समाज या राष्ट्र के यज्ञ में अपनी हवि दे, आत्मोत्सर्ग कर। याद रख, सौभाग्यवान् हैं वे आत्माएँ जो किसी महान् कार्य के लिए आत्मोत्सर्ग करती हैं।

हे भाइयो! आओ, हम सब मिलकर ब्रह्मणस्पति प्रभु की, जगत्पति परमात्मा की, रक्षा का वरण करें और उसकी सुरक्षा में स्थित होकर वीरता के साथ समस्त अभिनन्दनीय कार्यों को करते चलें और आगे बढ़ते चलें। इससे हम सुभग बनेंगे, हमारी सुकीर्ति होगी, हम धन्य कहलायेंगे और सबसे बढ़कर यह कि हमें आत्म-सन्तोष की तृप्ति प्राप्त होगी। ब्रह्मणस्पति प्रभु हमें महिमा प्रदान करेंगे।

५९. श्रद्धालु मन से पूजा करें

**स इज्जनेन स विशा स जन्मना[१२], स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः[१२]।
देवानां यः पितरमाविवासति[१२], श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्[१२] ॥**

—ऋग् २.२६.३

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **जगती**।

(सः) वह **(जन्मना)** विद्या-जन्म[१]-सहित, **(सः)** वह **(नृभिः पुत्रैः)** पौरुषवान् पुत्रोंसहित **(वाजं)** बल, वेग, विज्ञान, प्राण [तथा] **(धना)** धनों को **(भरते)** धारण करता है, **(यः)** जो **(श्रद्धामनाः)** श्रद्धालु मनवाला [होकर] **(हविषा)** आत्मसमर्पण से **(देवानां)** देवजनों के **(पितरं)** पिता **(ब्रह्मणस्पतिं)** ब्रह्मणस्पति प्रभु को **(आविवासति[२])** पूजता है।

क्या तुम देवों के पिता को जानते हो ? उसका नाम ब्रह्मणस्पति है। वह इन सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक देवों का, इन मन, बुद्धि आदि शारीरिक देवों का और इन माता, पिता, गुरु, राजा, विद्वान् आदि सामाजिक देवों का उत्पादक, पालक, शिक्षक और व्यवस्थापक है। जो देवों के महान् पिता इस ब्रह्मणस्पति की पूजा करता है, उसे महान् लाभ प्राप्त होते हैं। वह 'वाज' अर्थात् बल, वेग, विज्ञान, प्राण आदि को प्राप्त कर लेता है तथा विविध धन भी उसके पास खिंचे चले आते हैं। पुत्र-वत्सल पिता द्वारा अपनी सन्तान के लिए नानाविध ऐश्वर्य प्रदान करना स्वाभाविक ही है। इस विपुल ऐश्वर्य के साथ-साथ ब्रह्मणस्पति के पूजक को अन्य वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं। उसे मित्रजन प्राप्त होते हैं, जो अपनी स्नेह की वृष्टि से सींच-सींचकर उसे तृप्ति प्रदान करते हैं। मित्रजनों की उपलब्धि बहुत बड़ी देन है, क्योंकि अधिकतर मानव शत्रुओं से ही घिरा हुआ है, जो द्वेष, द्रोह, ईर्ष्या एवं मात्सर्य की ही निधि होते हैं। इसके अतिरिक्त उसे 'विट्' अर्थात् श्रेष्ठ प्रजाएँ भी प्राप्त होती हैं, क्योंकि ब्रह्मणस्पति की कृपा से वह राजा बन जाता है। उसे आचार्य के गर्भ से विद्या-जन्म भी प्राप्त होता है, अर्थात् वह विद्वान् स्नातक बन जाता है। उसे पुरुषार्थी वीरपुत्र भी प्राप्त होते हैं, जो उसके वंश की कीर्ति को अक्षुण्ण रखते हैं।

पर ब्रह्मणस्पति के पूजक को उक्त समस्त लाभ तभी प्राप्त होते हैं, जब उसकी आराधना श्रद्धालु मन से और सम्पूर्ण आत्म-हवि, अर्थात् आत्म-समर्पण के साथ की जाए। यदि हम हाथ से माला फेर रहे हैं, मुख से जप भी कर रहे हैं, पर हमारा अन्तःकरण श्रद्धायुक्त नहीं है, अपितु वह कहीं अन्यत्र ही भ्रमण कर रहा है, तो उस पूजा से कुछ लाभ नहीं और मन में श्रद्धा भी है, किन्तु हमारा आत्म-समर्पण सर्वभाव से नहीं है, तो वह श्रद्धा भी अकिंचित्कर सिद्ध होती है। अतः, आओ, हम श्रद्धा और पूर्ण समर्पण के साथ ब्रह्मणस्पति परमेश्वर की परिचर्या करें और उससे प्राप्त होनेवाली महती उपलब्धियों के अधिकारी बनें।

६०. दीर्घ तमिस्राओं से बचाओ

अदिते मित्र वरुणोत मृळ[११], यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः[११]।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र[१०], मा नो दीर्घा अभि नशन् तमिस्राः[११]॥

—ऋग् २.२७.१४

ऋषिः **कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा**। देवता **आदित्याः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(अदिते) हे अदिति! **(मित्र)** हे मित्र! **(उत)** और **(वरुण)** हे वरुण! **(वयं)** हम **(यत्)** जो **(वः)** आपके प्रति **(कच्चित्)** कोई **(आगः)** अपराध **(चकृम)** करते हैं [उसे दूर करके] **(मृड[१])** सुखी कीजिए। **(इन्द्र)** हे इन्द्र! [मैं] **(उरु)** विस्तीर्ण **(अभयं)** भयरहित **(ज्योतिः)** ज्योति को **(अश्यां[२])** प्राप्त करूँ। **(नः)** हमें **(दीर्घाः)** लम्बी **(तमिस्राः)** तमस्विनी निशाएँ **(मा)** मत **(अभिनशन्[३])** प्राप्त हों।

मैं आज देवों को पुकार रहा हूँ। हे अदिति! हे मित्र! हे वरुण! हे इन्द्र! तुम हमें दुःख-पारावार से निकालकर सुखी करो। कभी खण्डित न होनेवाली, अजर-अमर बनी रहनेवाली जगन्माता अदिति है। 'मित्र' मन है, 'वरुण' प्राण है, 'इन्द्र' जीवात्मा है। इनके प्रति हम अपने जीवन में अनेक अपराध करते रहते हैं। जगन्माता अदिति ने जो वेदोपदेश दिये हैं और मनुष्य के लिए जो नैतिक नियम निर्धारित किये हैं, उन्हें हम भङ्ग करते हैं। मनरूप मित्र जो शुभ सङ्कल्प करता है, उसकी हम उपेक्षा करते हैं। प्राणरूप वरुण जिस पद्धति से शरीर को चलाना चाहता है, उसके प्रतिकूल चलकर हम उसमें बाधा उपस्थित करते हैं। आत्मारूप इन्द्र की अन्तर्वाणी को अनसुना कर हम उसके प्रति भी अपराध करते हैं। सामाजिक दृष्टि से अदिति राष्ट्रभूमि है, अतः वह अच्छेद्य, अभेद्य एवं अखण्डनीय होती है। 'मित्र' सर्वभूत-मैत्री का प्रसारक विद्वान् ब्राह्मण है। 'वरुण' शत्रुओं को पाशों में बाँधनेवाला सेनापति है। 'इन्द्र' राजा है। हम यदि राष्ट्रभूमि के साथ विद्रोह या विश्वासघात करते हैं, राष्ट्र के विद्वान् ब्राह्मणों का अपमान करते हैं या उनके मैत्री के सन्देश को खण्डित करते हैं, लुके-छिपे शत्रु-पक्ष की सहायता कर सेनापति के कार्य में विघ्न उपस्थित करते हैं, राजनियमों को भङ्ग कर राज-विद्रोह करते हैं, तो हमारा यह सब कार्यकलाप राष्ट्रिय या सामाजिक देवों के प्रति अपराध है। उपर्युक्त समस्त आध्यात्मिक और राष्ट्रिय देव हमारे अपराधों के व्यसन से हमें मुक्त कराकर हमें सुखी करें। हे इन्द्र! हे आत्मन्! हे राजन्! हमपर ऐसा अनुग्रह करो कि हम विस्तीर्ण निर्भय ज्योति को प्राप्त करें। हमारे जीवन में जो निराशा, असफलता, उत्साहहीनता, चिर-उदासीनता आदि की तमःपूर्ण निशाएँ कभी-कभी आ जाती हैं, उनसे हम उद्धार पा जाएँ और हम अपने जीवन को आशा, सफलता, उत्साह, स्फूर्ति एवं कर्मण्यता से ओत-प्रोत बनाकर संसार-समर में सदा विजयी होते रहें।

६१. हे वरुण! मेरी प्रार्थना पूर्ण करो

वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग[११]**, ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य**[११]**।**
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे[११]**, मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः**[११]**॥**

—ऋग् २.२८.५

ऋषिः **कूर्मः गार्त्समदः गृत्समदो वा।** देवता **वरुणः।** छन्दः **त्रिष्टुप्।**

(वरुण) हे वरुण परमात्मन्! **(मत्)** मुझसे **(रशनाम् इव)** रस्सी के समान **(आगः)** पाप को **(विश्रथाय**[१] **)** विशिथिल कर दो, **(ते)** तुम्हारी **(ऋतस्य)** सत्य की **(खां**[२] **)** नदी को **(ऋध्याम**[३] **)** [हम] प्राप्त हों। **(धियं)** ज्ञान को **(वयतः)** बुनते हुए **(मे)** मेरा **(तन्तुः)** सूत्र **(मा छेदि)** न टूटे; **(अपसः**[४] **)** कर्म की **(मात्रा)** मात्रा **(ऋतोः)** समय से **(पुरा)** पूर्व **(मा शारि**[५] **)** न विच्छिन्न हो।

हे भक्तों को वरने और भक्तों से वरे जानेवाले पाप-निवारक वरुण परमात्मन्! तुम मेरी पाप-रज्जु को मुझसे विशिथिल कर दो। जैसे गाय के बछड़े को रस्सी से बाँध दिया जाता है, वैसे ही तुम्हारा वत्स मैं पाप से बँध गया हूँ। रस्सी का बन्धन ढीला करते ही बछड़ा रस्सी से खुलकर गाय के पास पहुँच उसका मधुर स्तन्यपान करने लगता है। मैं भी तुम्हारे पास पहुँचने के लिए बेचैन हो रहा हूँ, पर यह पाप का बन्धन मुझे तुम्हारे समीप नहीं पहुँचने दे रहा है। बन्धन की जकड़ प्रयत्न करने पर भी मुझसे नहीं खुल पा रही है। हे मेरे स्वामी! तुम उस बन्धन को बस ढीला कर दो, आगे उसे झटका मारकर खोल देने का कार्य मैं स्वयं कर लूँगा। पाप-बन्धन से मुक्त होते ही मैं तुम्हारी सत्य की नदी में से सत्य का स्वच्छ सलिल पीने के लिए स्वयं दौड़ा चला आऊँगा। पहले भी अनेक बार मैंने तुम्हारी सत्य की नदी में स्नान करने की ओर उसके अमृतमय सत्य-सलिल से अपनी प्यास बुझाने की अभिलाषा की है, किन्तु पाप के फन्दे से ऐसी बुरी तरह फँसा रहा हूँ कि जितना ही उससे छूटने का प्रयास करता रहा हूँ, उतना ही गाँठ और अधिक कस जाती रही है। अब तो हे प्रभु! मैं तुम्हारी ऋत की तरंगिणी के तीर पर पहुँचने के लिए विकल हो रहा हूँ, अतः पाप-बन्धन से मुक्त होने में तुम मेरी थोड़ी-सी सहायता कर ही दो।

हे वरुणदेव! मैं 'धी' का पट बुन रहा हूँ, ज्ञान का ताना-बाना डाल रहा हूँ। पर वह ज्ञान-पट पूर्ण नहीं हो पा रहा है। रह-रहकर तार टूट जाता है और उस तार को जोड़ने में ही न जाने कितना समय नष्ट हो जाता है। ऐसी कृपा करो कि गुरु-चरणों में बैठकर की-जानेवाली तथा स्वयं स्वाध्याय द्वारा होनेवाली मेरी ज्ञान-साधना निर्विघ्न परिसमाप्त हो।

हे वरणीय परमात्मन्! मेरी कर्म-साधना को भी तुम पूर्ण करो! जो यज्ञिय कर्म मैंने आरम्भ किया है, वह समय से पूर्व बीच में ही विच्छिन्न न हो, अपितु उचित समय पर मैं उसकी पूर्णाहुति कर सकूँ।

६२. ग्लानि, श्रम और तन्द्रा मुझसे दूर रहें

न मा तमन् न श्रमन् नोत तन्द्रन्[११], न वोचाम मा सुनोतेति सोमम्[११]।
यो मे पृणाद् यो ददद् यो नि बोधाद्[११], यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत्[११] ॥

—ऋग् २.३०.७

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(यः) जो **(मे)** मुझे **(पृणात्[१])** पूर्णमनोरथ करता है, **(यः)** जो **(ददत्)** [ऐश्वर्य का] दान करता है, **(यः)** जो **(नि बोधात्)** बोध प्रदान करता है, **(यः)** जो **(सुन्वन्तं)** सोम अभिषुत करते हुए **(मा)** मुझे **(गोभिः)** वाणियों, इन्द्रिय-शक्तियों व प्रकाश-किरणों के साथ **(उप आयत्)** समीप प्राप्त होता है, [वह इन्द्र परमेश्वर] **(मा)** मुझे **(न)** न **(तमत्[२])** ग्लानियुक्त होने दे, **(न)** न **(तन्द्रत्)** आलस्ययुक्त होने दे। [हम किसी को] **(सोमं)** सोम **(मा)** मत **(सुनोत[४])** अभिषुत करो **(इति)** इस प्रकार **(न वोचाम)** न कहें।

मैं प्रतिदिन सोम अभिषुत करता हूँ, अपने आत्मा की सोम-वल्ली को ज्ञान और कर्म के सिल-बट्टों से कूट-पीसकर उसमें से भक्ति का सोमरस निचोड़ता हूँ और उसे 'इन्द्र' प्रभु को अर्पित करता हूँ। मेरे उस सोमरस से प्रहृष्ट होकर मेरा प्रभु मुझे पूर्ण-मनोरथ कर देता है। मेरे मन में यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, यश, वर्चस्, ज्ञान आदि को प्राप्त करने की अभीप्साएँ होती हैं, उन्हें वह पूर्ण करता है। वह मुझे भौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति का दान करता है। वह मुझे जागृति और बोध प्रदान करता है। वह मुझे मेरी खोई हुई गौएँ पुनः प्राप्त कराता है। वह मुझे पयोधरों में माधुर्य एवं ओज के दूध से भरी हुई वाणीरूप गौएँ प्रदान करता है। वह मुझे अन्तश्-चक्षु, अन्तःश्रोत्र, अन्तर्मन आदि इन्द्रियों की तृप्ति-प्रदायिनी धेनुएँ देता है। वह अन्तःप्रकाश की कामदुघाएँ अपने साथ लेकर मेरे समीप आता है।

मेरी कामना है कि मेरी भक्ति के सोमरस से पोषित मेरे आराध्य इन्द्र-प्रभु मुझे कभी ग्लानि को प्राप्त न होने दें, कभी म्लान न होने दें। वे मुझे कभी सत्कर्मों से श्रान्त न होने दें, वे मुझे कभी तन्द्रा और आलस्य से ग्रस्त न होने दें। जब-जब मेरे अन्दर कर्तव्य के प्रति ग्लानि के भाव आएँ, जब-जब मैं श्रान्त होने लगूँ, जब-जब मैं स्फूर्ति और जागृति को त्यागकर तन्द्रा और आलस्य से ग्रस्त होने लगूँ, तब-तब 'इन्द्र' प्रभु मेरे पथ-प्रदर्शक बनकर मुझे सन्मार्ग में प्रेरित करते रहें।

सोम-सवन यज्ञिय कर्म है। ज्ञान-यज्ञ में ज्ञान का सोमरस, कर्म-यज्ञ में सत्कर्मों का सोमरस, भक्ति-यज्ञ में भक्ति का सोमरस, सेवा-यज्ञ में त्याग का सोमरस अभिषुत करना होता है। यह सोम-सवन आत्म-कल्याण और पर-कल्याण दोनों का साधक है, अतः हम कभी किसी को यह परामर्श न दें कि तुम सोम-सवन मत करो, प्रत्युत सदा सबको सोम-सवन के लिए प्रेरित ही करें। आओ, हम सब मिलकर जगन्मङ्गल सोम-सवन का निष्पादन करें।

६३. रुद्र की छत्रछाया में

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्[११], त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्[११]।
घृणीव च्छायामरपा अशीया[११], विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्[१]॥

—ऋग् २.३३.६

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **रुद्रः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(वृषभः) कामवर्षी **(अरपाः)** प्रशस्त **(मरुत्वान्)** प्राणवाले [रुद्र प्रभु] ने **(त्वक्षीयसा[१])** तीक्ष्ण, तेजोमय **(वयसा)** जीवन के निमित्त **(नाधमानम्[२])** याचना करते हुए **(मा)** मुझे **(उत्-ममन्द[३])** अत्यधिक संतृप्त कर दिया है। **(इव)** जिस प्रकार **(घृणी)** सूर्यताप से संतप्त पुरुष **(छायां)** [वृक्ष आदि की] छाया को [प्राप्त करता है] उसी प्रकार **(घृणी)** तापों से संतप्त मैं **(रुद्रस्य)** रुद्र प्रभु की **(छायां)** छत्रछाया को **(अशीय)** प्राप्त करूँ, **(रुद्रस्य)** रुद्र प्रभु के [दिये हुए] **(सुम्नं)** सुख का **(आ विवासेयं[४])** आदर करूँ।

संसार के नानाविध कष्टों से संतप्त मैं रुद्र प्रभु की शरण में आया हूँ। मैं रुद्र-प्रभु से याचना कर रहा हूँ कि वह मेरे उदासीन व निस्तेज जीवन के स्थान पर मुझे तीक्ष्ण व तेजोमय जीवन प्रदान करें। वे 'वृषभ' हैं, वरदानों की वर्षा करनेवाले हैं। जो कुछ सच्चे हृदय के साथ हम उनसे माँगते हैं, उसे वे प्रदान करते हैं। वे 'मरुत्वान्' हैं, प्रशस्त प्राणों से युक्त हैं, जगत् के पामर पुरुषों के समान निन्दित प्राणोंवाले नहीं हैं। स्वयं प्रशस्त-प्राण होने के कारण वे अन्यों को भी प्रशस्त-प्राण बनाने में रुचि लेते हैं। अतः उन्होंने मेरी प्रार्थना सुनते ही मुझे तीक्ष्ण एवं तेजोमय जीवन प्रदान करके पूर्णतः संतृप्त कर दिया है। अब मैं मृत-तुल्य न होकर जीवित-जागृत और कर्मण्य हो गया हूँ। अब तो मैंने अनुभव कर लिया है कि सब सन्तापों से मुक्ति की रामबाण औषध प्रभु-नाम-स्मरण ही है। जैसे सूर्यताप से संतप्त मनुष्य वृक्ष आदि की छाया में जाने के लिए आकुल होता है, वैसे ही सांसारिक तापों से सताया हुआ मैं रुद्र प्रभु की छत्रछाया में पहुँच गया हूँ। मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि उसकी छाया में पहुँचते ही मुझे विश्राम मिला है, चित्त को शान्ति मिली है। उसकी छाया ने मेरे चित्त-विक्षोभ, व्याकुलता, ग्लानि, उद्वेग, मनस्ताप, दौर्मनस्य आदि सबको हर लिया है। इस छाया को पाकर मैं एक दिव्य सुख का अनुभव कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि यह सुख मेरी स्थायी सम्पत्ति बन जाये। मैं इस दिव्य अनुपम सुख को पाकर स्वयं को धन्य मानता हूँ। यह मेरी अनमोल पूँजी है। मेरी चिरकाल से मन में संजोई साध आज पूर्ण हुई है। रुद्र प्रभु के इस दिव्य सुख पर मैं सहस्रों सांसारिक सुखों को वारता हूँ। हे प्रभु! मैं तुम्हारे दिये हुए सुख पर मुग्ध हूँ, भाव-विभोर हूँ, इसे निधि बनाकर अपने पास रखूँगा, इसकी पूजा करता रहूँगा।

६४. अदेवों का पराजय

उपक्षेतारस्तव सुप्रणीते[११], ऽग्ने विश्वानि धन्या दधाना:[१]।
सुरेतसा श्रवसा तुञ्जमाना[११], अभि ष्याम पृतनायूँरदेवान्[११]॥

—ऋग् ३.१.१६

ऋषि: **गाथिनो विश्वामित्र:**। देवता **अग्नि:**। छन्द: **विराट् त्रिष्टुप्**।

(सुप्रणीते) हे शुभ प्रगतिशील नीतिवाले **(अग्ने)** परमात्मन्! **(तव उपक्षेतार:[१])** तेरे समीपवासी [हम], **(विश्वानि)** सब **(धन्या[२])** धन्य कर्मों को **(दधाना:)** धारण करते हुए **(सुरेतसा)** उत्कृष्ट वीर्य द्वारा [और] **(श्रवसा)** शास्त्रश्रवण तथा अन्तरात्मा की दिव्य ध्वनि के श्रवण द्वारा **(तुञ्जमाना:[३])** [दुष्टवृत्तियों का] विनाश करते हुए **(पृतनायून्[४])** सेना से आक्रमण करनेवाले **(अदेवान्)** अदेवों को **(अभि स्याम)** पराजित करते रहें।

हे अग्ने! हे तेजोमय परमात्मन्! तुम 'सुप्रणीति' हो, उत्कृष्ट प्रगतिशील नीतिवाले हो। तुम जिस नीति से स्वयं चलते हो तथा हम मानवों का मार्गदर्शन करते हो, वह तुम्हारी नीति हम अल्पशक्ति मनुष्यों के लिए बड़ी ही वरदा सिद्ध होती है। हे करुणा-वरुणालय परमेश! तुम्हारी शुभ प्रकृष्ट नीति का वरण करने के लिए हम चाहते हैं कि हम तुम्हारे समीपवर्ती हो जायें, क्योंकि बिना तुम्हारे सामीप्य के तुम्हारी प्रकृष्ट नीति, तुम्हारा सुन्दर उत्कृष्ट मार्गदर्शन हमें प्राप्त नहीं हो सकता। जब हम तुम्हारे साथ सामीप्य स्थापित कर लेंगे तब स्वभावत: हम दुष्कर्मों से मुक्त होकर धन्य कर्मों को धारण कर लेंगे, क्योंकि तुम स्वयं धन्य कर्मों को ही धारण करनेवाले हो। हे प्रभो! हम चाहते हैं कि हम तुम्हारी कृपा से 'सुरेता:' बनें, उत्कृष्ट बल, वीर्य और सामर्थ्य से युक्त हों, ऊर्ध्वरेता: ब्रह्मचारी बनें। पर 'रेतस्' का अर्थ केवल शारीरिक वीर्य-शक्ति ही नहीं है, रेतस् का अर्थ आत्मिक बल भी है। शारीरिक रेतस् आत्मिक रेतस् की प्राप्ति और वृद्धि में सहायक बनता है। हम शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकार के रेतस् से समन्वित हों। इसके साथ ही हम 'श्रव:' को भी प्राप्त करें। 'श्रव:' का जहाँ एक स्थूल अर्थ शास्त्रश्रवण है, वहाँ साथ ही अन्तरात्मा की दिव्यवाणी के श्रवण को भी 'श्रव:' कहते हैं। इस द्विविध 'श्रव:' को भी हम धारण कर लें।

इस प्रकार जब हम परमात्मा के समीपवर्ती, धन्य कर्मों को धारण करनेवाले, 'सुरेता:' और 'सुश्रवा:' बन जायेंगे, तब कोई भी दुष्टवृत्ति हमारे अन्दर नहीं टिक सकेगी। अत:, आओ, हम समस्त दुष्टवृत्तियों के प्रति तीव्र अभियान आरम्भ करें। पवित्र मनोमन्दिर को कलुषित करनेवाले तथा हमें दुर्बल मानकर हमपर ससैन्य आक्रमण करके हमें दबोच लेनेवाले 'अदेवों' को, अदिव्य वृत्तियों को, तीव्रता के साथ पराजित कर देवें।

हे अग्निमय प्रभो! तुम हमारे अन्दर ऐसी आग्नेय शक्ति उत्पन्न कर दो कि हम आग के शोले बनकर 'अदेवों' पर टूट पड़ें और उन्हें क्षत-विक्षत, विध्वस्त एवं विदग्ध करके ही चैन लें और संघर्ष में विजयी बनकर, देवत्व प्राप्त कर, गर्वोन्नत सिर के साथ जीवन-संग्राम में आगे ही आगे बढ़ते रहें।

६५. वह देवों का पुरोहित है

नमस्यत हव्यदातिं स्वध्वरं[११], दुवस्यत दम्यं जातवेदसम्[११]।
रथीर्ऋतस्य बृहतो विचर्षणिर्[१२], अग्निर्देवानामभवत् पुरोहितः[१२]॥

—ऋग् ३.२.८

ऋषिः **गाथिनो विश्वामित्रः**। देवता: **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(हव्यदातिं) हव्यों को देनेवाले, **(स्वध्वरं)** शुभ यज्ञ के सञ्चालक [प्रभु को] **(नमस्यत)** नमस्कार करो। **(दम्यं[१])** गृह-हितकारी, इन्द्रिय-दमन में सहायक **(जातवेदसं)** जातवेदा प्रभु की **(दुवस्यत[२])** पूजा करो। **(रथीः)** प्रशस्त रथवाला, **(बृहतः ऋतस्य)** महान् सत्य का **(विचर्षणिः[३])** द्रष्टा **(अग्निः)** तेजस्वी प्रभु **(देवानां)** देवजनों का **(पुरोहितः)** पुरोहित **(अभवत्)** हुआ है।

आओ, भाइयो! जातवेदस् वैश्वानर अग्नि प्रभु को नमस्कार करो, उसकी पूजा करो। प्रभु 'जातवेदस्' इस कारण कहलाता है, क्योंकि वह उत्पन्न पदार्थों को जानता है, प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान है, जात धनों का उत्पादक है और सब ज्ञानों का आदिस्रोत है[४]। सबका नायक और सब जनों का हितकारी होने से वह 'वैश्वानर[५]' है। अग्रणी तथा अग्निवत् प्रकाशमान और प्रकाशक होने से उसका नाम 'अग्नि' है। वह प्रभु 'सु-अध्वर' है, स्वयं ब्रह्माण्डरूप उत्कृष्ट यज्ञ का सञ्चालन करता है तथा मानवों द्वारा किये जानेवाले उत्तम हिंसारहित यज्ञकार्यों में सहायक होता है। वह 'हव्यदाति' है, जो कुछ हव्य हम उसे समर्पित करते हैं, वह उसे शतगुणित कर सब देवजनों में विभाजित कर देता है। वह 'दम्य' है, हमारे निवास-गृहों के लिए हितकारी है, हमारे आश्रय को परिपुष्ट करनेवाला है और इन्द्रिय-दमन में भी हमारा हित-साधक है। महात्मा लोग उसी का सहारा पाकर काम, क्रोधादि के आवेगों को तथा मन एवं इन्द्रियों को जीतकर जितेन्द्रिय कहलाते हैं। अग्नि प्रभु 'रथी' है, प्रशस्त दिव्य रथ का स्वामी है। वह उपासक को अपने उसी शरणरूप अनुपम रथ पर बैठाकर क्षणभर में लक्ष्य पर पहुँचा सकता है। वह 'विचर्षणि' है, महान् सत्य का द्रष्टा है। हम मानव तो अपने विवेक से जिसे सत्य मानते हैं, वह प्रायः असत्य या अधूरा सत्य होता है। प्रभु निर्भ्रान्त सत्य का ज्ञाता है, जिसमें असत्य का लव-लेश भी नहीं होता और वह अपने पूजक को भी उस सत्य के दर्शन कराता है। वह 'अग्नि'-प्रभु देवजनों का पुरोहित है, अग्रणी है, नायक है, मार्गदर्शक है। आओ, हम भी देव बनकर प्रकाशमय प्रभु को ही अपना पुरोहित चुनें, उसी के पौरोहित्य में अपने यज्ञों को रचाएँ।

६६. आन्तरिक अमित्रों को तपा

तपो ष्वग्ने अन्तराँ अमित्रान्[१०], तपा शंसमररुषः परस्य[११]।
तपो वसो चिकितानो अचित्तान्[११], वि ते तिष्ठन्तामजरा अयासः[११]॥

—ऋग् ३.१८.२

ऋषिः **कतः वैश्वामित्रः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्।**

(अग्ने) हे आत्मन्! **(सु तपो)** अच्छी तरह तपा **(अन्तरान्)** आन्तरिक **(अमित्रान्)** अमित्रों को। **(तप)** तपा **(अररुषः[१])** अदानी **(परस्य)** शत्रु की **(शंसं)** सलाह को। **(वसो)** हे निवासक! **(तपः)** तपा **(चिकितानः[२])** विवेकी होता हुआ [तू] **(अचित्तान्)** अज्ञान एवं अविवेक के भावों को। **(ते)** तेरे **(अजराः)** अजर **(अयासः[३])** गतिशील [तेज] **(वि तिष्ठन्ताम्)** विविध दिशाओं में फैलें।

हे मनुष्य! हे आत्मन्! यदि तेरे अन्दर विजय की आकांक्षा है तो आन्तरिक अमित्रों पर विजय प्राप्त कर। पर तूने तो अपने अनेक भाइयों को अमित्र बना लिया है। अगणित निरपराध सत्यनिष्ठ मनुष्यों से तूने वैर बाँध लिया है और उनके समूलोन्मूलन के लिए भी तू कटिबद्ध हो गया है। अपनी इस नादानी को छोड़। संसार में सब मनुष्य एक ही जगत्पिता परमात्मा की सन्तान होने के कारण परस्पर भाई-भाई हैं। उनके साथ तू सद्व्यवहार कर। विजय की दुन्दुभि तो तू आन्तरिक शत्रुओं के प्रति गुँजायमान कर। आन्तरिक शत्रु काम, क्रोध आदि के पीछे तू हाथ धोकर पड़। उन्हें सन्तप्त कर, ऐसा सन्तप्त और संदग्ध कर कि वे जलकर राख हो जायें, जिससे तेरा अन्तःकरण पूर्ण स्वच्छ और निर्मल हो सके।

दूसरी वस्तु जो तुझे तपानी है, वह है अदानी एवं अपने को जग से पराया समझनेवाले व्यक्ति की अहितकर सलाह। जो मनुष्य सबसे नाता तोड़कर अपने को अलग-थलग कर लेता है, आवश्यकता के समय किसी की सहायता नहीं करता, वह समाज के लिए किसी भी प्रकार वाँछनीय नहीं है। वह अपने सम्पर्क में आनेवाले अन्यों को भी यह परामर्श देता है कि अपने-आप में मस्त रहो, क्योंकि स्वार्थ-साधन ही जीवन का चरम लक्ष्य है। हे आत्मन्! ऐसे अदानी स्वार्थपरायण व्यक्ति के पाप-परामर्श को तू कभी मत मान, अपितु यदि उसका असत्परामर्श तेरे पास आये तो तू अपनी आग्नेय शक्ति से उसे भस्म कर दे।

हे आत्मन्! तू 'वसु' है, सद्गुणों का निवासक है, उजड़े हुए को बसानेवाला है। तू ज्ञानमय है, विवेकी है। ज्ञानी और विवेक-सम्पन्न होता हुआ तू अज्ञान और अविवेक के भावों को संतप्त कर दे। इस प्रकार यदि तू आन्तरिक अमित्रों को, अदानी शत्रु के अदान के परामर्श को तथा अज्ञान एवं अविवेक के भावों को संतप्त कर देगा, तो तेरे कभी जीर्ण न होनेवाले, इतस्ततः प्रसृत होनेवाले तेज विविध दिशाओं में फैलेंगे, तू अजर-अमर-अक्षय कीर्ति का पात्र बनेगा।

६७. तुझसे अद्भुत प्रज्ञान प्राप्त होता है

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः[१०], सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि[११]।
तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्[११], इन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः[११] ॥

—ऋग् ३.३०.१

ऋषिः **विश्वामित्रः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्।**

(सोम्यासः[१]) सौम्य-गुण-सम्पन्न **(सखायः)** सखा **(त्वा इच्छन्ति)** तेरी कामना करते हैं। [वे] **(सोमं)** भक्ति के सोमरस को **(सुन्वन्ति)** अभिषुत करते हैं, **(प्रयांसि[२])** प्रीतिकारक वचनों को या हविष्यान्नों को **(दधति)** प्रस्तुत करते हैं, **(जनानां)** लोगों की **(अभिशस्तिं[३])** निन्दा को **(तितिक्षन्ते[४])** सहन करते हैं। **(इन्द्र)** हे परमात्मन्! **(त्वत्)** तेरे पास से **(हि)** सचमुच **(कश्चन)** कोई अद्भुत **(प्रकेतः[५])** प्रज्ञान **(आ)** आता है, प्राप्त होता है।

हे इन्द्र! हे परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! अध्यात्म-मार्ग में अनुभव रखनेवाले साधकों से मैंने सुना है कि भक्ति करते-करते जब तेरा भक्त तुझमें तन्मय हो जाता है, तब तेरे पास से कोई अलौकिक प्रज्ञान की धारा भक्त के हृदय की ओर प्रवाहित होती है, जिससे सिंचित हो वह संतृप्त हो जाता है। उस दिव्य प्रज्ञान को पाकर तेरे यष्टा के मन में किसी प्रकार के सन्देह या अन्तर्द्वन्द्व अवशिष्ट नहीं रहते। उस प्रज्ञान के प्रकाश में वह हस्तामलकवत् न केवल अपने कर्तव्य-अकर्तव्य को देख लेता है, किन्तु तेरे स्वरूप का भी स्पष्ट दर्शन कर लेता है, ऋषि बन जाता है। इस प्रज्ञान के लिए वैदिक शब्द 'प्रकेत' है। इसी 'प्रकेत' को पाने के लिए ये सांसारिक जन सौम्य गुणों को धारण कर, तेरे सखा बनकर, तेरी चाहना करते हैं। वे भक्तिरस के सोम को अभिषुत करते हैं, अन्तःकरण में भक्ति की धारा को प्रवाहित करते है। वे तेरे प्रति प्रीतिकारक स्तुति-वचनों के उपहार को प्रस्तुत करते हैं। वे अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण, आत्मा आदि को हविष्यान्न बनाकर तुझे समर्पित करते हैं। तेरी भक्ति और आत्म-समर्पण में वे ऐसे लवलीन हो जाते हैं कि उन्हें संसारी लोगों की बनाई हुई मर्यादाओं पर चलने की या उनके रीति-रिवाजों को पालन करने की सुध ही नहीं रहती। वे तो बस तेरे प्रति दीवाने रहते हैं। अनेक संसारी लोग असूया से प्रेरित हो उनपर अप्रसन्न होते हैं, उनकी भरपूर निन्दा करते हैं, उन्हें छद्मभक्त, पाखण्डी और न जाने क्या-क्या कहते हैं। वे सब-कुछ सहन करते हैं, पर तुम्हारे प्रति अपनी भक्ति-प्रवणता को नहीं छोड़ते। परिणामतः वे तुम्हारे प्रकेत की स्रोतस्विनी में स्नान करके ही रहते हैं। हे प्रभु! हम भी तुम्हारे 'प्रकेत' को पाने की अभीप्सा से तुम्हें आत्म-समर्पण कर रहे हैं। हमारी अभिलाषा पूर्ण करो।

६८. दिव्य वर्षाएँ

मिहः पावकाः प्रतता अभूवन्[११], स्वस्ति नः पिपृहि पारमासाम्[१०]।
इन्द्र त्वं रथिरः पाहि नो रिषो[११], मक्षू मक्षू कृणुहि गोजितो नः[११] ॥

—ऋग् ३.३१.२०

ऋषिः **कुशिकः ऐषीरथिः, गाथिनो विश्वामित्रो वा**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**पावकाः**) पवित्र करनेवाली (**मिहः**) वर्षाएँ (**प्रतताः अभूवन्**) फैल गई हैं, (**स्वस्ति**) कल्याण [हो रहा है]। (**इन्द्र**) हे परमेश्वर! (**नः**) हमारे लिए (**आसां**) इन वर्षाओं के (**पारं**) परम उत्कर्ष को (**पिपृहि**[१]) पूर्ण कर। (**त्वं**) तू (**रथिरः**[२]) रथवाला [है] (**नः**) हमें (**रिषः**[३]) हिंसा से (**पाहि**) बचा। (**मक्षु मक्षु**[४]) जल्दी-जल्दी (**नः**) हमें (**गोजितः**) भूमि-विजयी (**कृणुहि**) कर।

झुलसानेवाला ग्रीष्म का प्रचण्ड ताप समाप्त हो गया है, तन-मन को पवित्र करनेवाली वर्षाएँ बरसी हैं। चारों ओर वर्षा का जीवनदायक जल फैल गया है। प्राणियों का कल्याण हुआ है। हे वर्षा के देव! बरसो, बरसो, भूरि-भूरि बरसो। हे इन्द्र! वर्षा के उत्कर्ष को पूर्णता पर पहुँचा दो। ताल-तलैया, नदी-सरोवर सबको भर दो। हमारे मानस को हर्षित करो।

हे इन्द्र! हे परमप्रभु! तुम केवल बाह्य वर्षाओं के ही वर्षक नहीं हो, किन्तु आन्तरिक वर्षाओं को भी बरसानेवाले हो। आज मेरा हृदय भी तुम्हारी की हुई सद्गुणों की वर्षा से स्नात हो रहा है। दिव्य वर्षा की प्रथम फुहार ने मेरे अन्तस्तल के सब सन्ताप को हर लिया है। मेरे आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब इस वृष्टि से सिक्त हो आनन्द से लहलहा उठे हैं। हे इन्द्र! हे आनन्दघन! तुम मेरे आत्मा में आनन्द-वर्षा की झड़ी लगा दो, इस दिव्य वर्षा को चरम उत्कर्ष पर पहुँचाकर मुझे दिव्य तृप्ति प्रदान कर दो।

हे प्रभुवर! इधर मैं तुम्हारे द्वारा की गई सद्गुणों और आनन्दों की वर्षा से पुलकित हो रहा हूँ और उधर अघशंस लोग 'अघ' की सेना एकत्र कर मेरी हिंसा की तैयारी कर रहे हैं। उस हिंसा से भी मुझे तुम ही बचा सकते हो। तुम 'रथिर' हो, प्रशस्त रथवाले हो, मैं अभागा रथहीन हूँ, पैदल राही हूँ। अगणित 'अघों' के बाणों को मैं कैसे सह सकूँगा? मुझे भी तुम अपने रथ में बैठा लो, अपनी शरण में ले लो और पापात्माओं की पापजन्य हिंसा से मुझे उबार लो। मुझ यात्री को तुम आगे ही आगे बढ़ाते चलो और अन्ततः मुझे चक्रवर्ती राज्य का स्वामी बना दो, चक्रवर्ती आर्य-साम्राज्य का सम्राट् बना दो। पर यदि मेरे आन्तरिक साम्राज्य में विद्रोह मचा हो, तो बाह्यचक्रवर्ती साम्राज्य को भी लेकर मैं क्या करूँगा! अतः तुम मेरा आन्तरिक अभ्युदय भी करो। शीघ्र-शीघ्र मुझे एक के बाद दूसरे उच्च और उच्चतर अध्यात्म-क्षेत्रों पर विजय दिलाते हुए उच्चतम भूमिका में पहुँचा दो। हे परमप्रभु! मेरी प्रार्थना पूर्ण करो।

६९. प्रभु के हम पर उपकार

ससानात्याँ उत सूर्यं ससान[११], इन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्[११]।
हिरण्ययमुत भोगं ससान[११], हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्[१०]॥

—ऋग् ३.३४.९

ऋषिः **गाथिनो विश्वामित्रः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**इन्द्रः**) इन्द्र प्रभु ने (**अत्यान्**) घोड़ों को (**ससान**[१]) दिया है, (**उत**) और (**सूर्यं**) सूर्य को (**ससान**) दिया है, (**पुरुभोजसं**) बहुत भोजन देनेवाली (**गाम्**) गौ को (**ससान**) दिया है, (**उत**) और (**हिरण्ययं**) सुवर्णमय (**भोगं**) भोग को (**ससान**) दिया है। [वह] (**दस्यून्**) दस्युओं को (**हत्वी**[२]) मारकर (**आर्यं वर्णं**) आर्य वर्ण की (**प्रावत्**[३]) प्रकृष्टतया रक्षा करता है।

देखो, हम इन्द्र प्रभु के कितने अधिक ऋणी हैं। उसने हमसे बिना कुछ मूल्य लिये हमें घोड़े रचकर दिये हैं। संसार का बड़े-से-बड़ा शिल्पी भी करोड़ मुहरें पाकर और सारा जन्म लगाकर भी एक जानदार घोड़ा बनाकर नहीं दे सकता। पवनरूप घोड़ों को भी उसने बिना मूल्य के दिया है। शरीर में ये घोड़े प्राण हैं। पवन और प्राण कैसे चामत्कारिक हैं कि वर्षों तक शरीर के सब अंगों को सजीव रखते हुए शरीर-रथ को वहन करते रहते हैं। इन्द्र प्रभु ने हमें सूर्य दिया है। जरा कल्पना तो करो कि यह प्रकाश का पुञ्ज हमसे छिन जाये तो हमारी क्या गति होगी? सूर्य से दिन-रात-महीने बनते हैं, सूर्य से ऋतुएँ बनती हैं, सूर्य अन्न, फल, कन्दों को पकाता है, सूर्य लोकलोकान्तरों को धारण करता है। हे सूर्य! हम तेरा मूल्य नहीं आंक सकते, तू अमोल है।

इन गौओं की ओर भी दृष्टि डालो। इन्द्र प्रभु ने हमें गौएँ दी हैं, जो 'पुरुभोजाः' हैं, दूध-घी आदि प्रभूत भोजन देती हैं। प्रभु की बनाई हुई ये चलती-फिरती मशीनें सचमुच अद्भुत हैं, जो घास-चारा-पानी खाती-पीती हैं और देती हैं अमृतोपम दूध। इन्द्र प्रभु ने हमें गो-शब्द-वाच्य वाणी, इन्द्रियाँ, भूमि आदि वस्तुएँ भी निःशुल्क प्रदान की हैं। इन्द्र प्रभु ने हमें 'हिरण्य भोग' दिये हैं, सोना-चाँदी, मणि-मुक्ता, हीरे-जवाहर आदि चमकीले बहुमूल्य पदार्थ दिये हैं। उसके इन उपकारों को हम कभी नहीं भूल सकते।

इसके अतिरिक्त वह इन्द्र प्रभु दस्युओं को मारकर 'आर्य वर्ण' की रक्षा करता है। दस्यु[४] वे हैं जो रचनात्मक कार्यों को करने के स्थान पर ध्वंसात्मक कार्यों में आनन्द लेते हैं, जगत् का उपक्षय करते हैं, सज्जनों के सुख-शान्ति के साम्राज्य का विनाश करते हैं। इसके विपरीत आर्य[५] सर्जनात्मक कार्यों में संलग्न रहता है। वह प्रयास करता है, आगे बढ़ता है और पुनः प्रयास में जुट जाता है। इस प्रकार आर्य आगे-ही-आगे प्रगति करता जाता है। दस्यु आर्यों के मार्ग में विघ्न डालते हैं और सात्त्विकता पर तामसिकता की विजय कराना चाहते हैं। इन्द्र प्रभु उनके प्रयत्न को सफल नहीं होने देते। यदि इन्द्र प्रभु की रक्षा का वरद हस्त हमारे ऊपर न हो, तो दस्यु इतने बढ़ जायें कि आर्यजनों का जीवन दुर्भर हो जाये। वही आर्य को दस्युओं पर विजय पाने का बल देता है। कभी-कभी तो वह ऐसा चमत्कार करता है कि दस्युओं की दस्युता पर ही प्रहार कर उन्हें भी आर्य बना देता है। हे इन्द्र! हम तुम्हारे उपकारों को कभी नहीं भूल सकते, हम तुम्हारे परम कृतज्ञ हैं।

७०. हम तुझे, तू हमें

वयमिन्द्र त्वायवो[१], हविष्मन्तो जरामहे[२]। उत त्वमस्मयुर्वसो[३] ॥

—ऋग् ३.४१.७

ऋषि: **विश्वामित्रः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(इन्द्र) हे परमात्मन्! **(त्वायवः[१])** तुझसे प्रीति करनेवाले **(वयं)** हम **(हविष्मन्तः[२])** प्रशस्त हवियों से युक्त [होकर] **(जरामहे[३])** [तेरी] अर्चना करते हैं। **(उत)** और **(वसो)** हे निवासक! **(त्वं)** तू **(अस्मयुः[४])** हमसे प्रीति करनेवाला [हो]।

संसार में सभी मनुष्य किसी-न-किसी वस्तु की कामना करते हैं। एक महात्मा ने एक बड़े जन-समुदाय से अपनी-अपनी इच्छा के अनुरूप वर माँगने के लिए कहा। किसी ने सोने की हवेली माँगी, किसी ने खेतों की हरियाली माँगी, किसी ने व्यापार में असीम लाभ माँगा, किसी ने शत्रु-विजय माँगी, किसी ने विक्रम माँगा, किसी ने विद्या माँगी, किसी ने धर्माचरण माँगा, पर जो सब धनों का धन है और जिसके मिलते ही सब धन अपने-आप खिंचे चले आते हैं, उस इन्द्र प्रभु को किसी ने न माँगा। पहले हम भी सांसारिक सम्पत्तियों को ही सम्पत्ति समझते थे और उन्हें पाने को लालायित रहते थे। पर अब तो हमें इन्द्र प्रभु को पाने की लालसा लग गई है। हम उसी की कामना कर रहे हैं, उसी से प्रीति जोड़ रहेहैं।

हे इन्द्र! हे परमैश्वर्यशालिन्! हे वीरता के देव! हमारे अन्दर झाँककर देखो, हमारे हृदयों में तुम्हारे प्रति प्यार उमड़ रहा है, हम तुम्हारी अर्चना कर रहे हैं। हम जानते हैं पत्र, पुष्प, फल, पञ्चामृत आदि वस्तुएँ तुम्हें तृप्ति प्रदान करनेवाली नहीं हैं, अतः उन भौतिक वस्तुओं का उपहार लेकर हम तुम्हारे पास नहीं आते, किन्तु भक्ति-भाव की रस-भीनी प्रशस्त हवियों से ही हम तुम्हारी परिचर्या करते हैं। ये हमारी हवियाँ, दम्भ, दर्प, अहंभाव आदि से दूषित नहीं, अपितु सर्वात्मना निर्मल और शुद्ध हैं। तुम शुद्ध को हम अपने अन्तरात्मा की शुद्ध हवियाँ समर्पित करते हैं। इस तुच्छ भेंट को हे प्रभु! तुम स्वीकार करो।

हे आराध्य देव! हमारा छोटा-सा भावभीना उपहार तुम्हें स्वीकार हुआ या नहीं, इसकी पहचान यह है कि हमारी प्रीति के प्रत्युत्तर में तुम भी हमसे प्रीति करने लगे हो या नहीं। हमारी ओर से पूजा-अर्चना के होते हुए भी यदि तुम हममें कोई रुचि नहीं ले रहे, हमारी ओर से उदासीन हो, तो हम समझेंगे कि हमारी पूजा में ही कोई त्रुटि है। हमारे स्तोत्र, हमारे पूजा-गीत सम्भवतः अन्तस्तल से निकले हुए नहीं हैं। अतएव वे तुम्हें नहीं रिझा पा रहे। हे हमारे अधिष्ठातृदेव! हम तुम्हें हृदय की पूर्ण शुचिता के साथ अपना भक्ति-रस का उपहार अर्पित कर रहे हैं। हम तुम्हें प्यार कर रहे हैं, तुम भी हमें प्यार करो। हम तुम्हें भक्ति-रस से नहला रहे हैं, तुम हमें अपने आनन्दरस से नहलाओ। हे वसो! तुम निवासक हो, हमें निवास प्रदान करो।

७१. मुझे राजा और ऋषि बना दो

कुविन्मां गोपां करसे जनस्य[११], कुविद् राजानं मघवन्नृजीषिन्[११]।
कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य[१२], कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः[११] ॥

—ऋग् ३.४३.५

ऋषिः **गाथिनो विश्वामित्रः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **भुरिक् त्रिष्टुप्।**

(मघवन्) हे परमैश्वर्यशालिन्! **(ऋजीषिन्[१])** हे ऋजुता के इच्छुक परमात्मन्! [आप] **(मां)** मुझे **(जनस्य)** जन-समुदाय का **(कुवित्[२])** बहुत बड़ा **(गोपां)** रक्षक **(करसे)** कर दीजिये; **(कुवित्)** बहुत बड़ा **(राजानं)** राजा [बना दीजिये], **(कुवित्)** बहुत बड़ा **(मा)** मुझे **(सुतस्य)** दिव्यज्ञानरूप सोमरस का **(पपिवांसं[३])** पीनेवाला **(ऋषिं)** ऋषि [बना दीजिये]; **(कुवित्)** बहुत अधिक **(मे)** मुझे **(अमृतस्य वस्वः)** मोक्षानन्दरूप ऐश्वर्य **(शिक्षाः)** प्रदान[४] कीजिये।

हे मेरे मनोमन्दिर के देव परमात्मन्! आप 'मघवा' हैं, परम सम्पत्तिशाली हैं। आपके पास वह सद्गुणों का परम ऐश्वर्य विद्यमान है, जिसे कोई हर नहीं सकता। आप 'ऋजीषी' हैं, ऋजुता के इच्छुक हैं, सरल व्यवहार के पक्षधर हैं। जहाँ आप छल-छिद्र देखते हैं, उसके हृदय में वास नहीं करते, अपितु वहाँ से कोसों दूर चले जाते हैं। हे परमेश! मैं ऋजु होकर, अत्यन्त सरलता और विनीत भाव धारण कर, आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझमें ऐसी शक्ति भर दीजिए कि मैं जनसमुदाय की रक्षा कर सकूँ। ऐसी शक्ति मुझमें भरपूर भर दीजिए, जिससे मैं कभी जन-सेवा से विरत न होऊँ। हे देवाधिदेव! आप मुझे राजा बना दीजिए, दिव्यगुणों से राजमान कर दीजिए। मुझे ऐसा सामर्थ्य भी प्रदान कीजिए कि मैं प्रजाओं का राजा बनने योग्य हो सकूँ। तब जनता मुझे स्वयं 'राजा' का पद देगी। मेरा अहोभाग्य होगा कि मुझे राजा के रूप में राष्ट्र की सेवा का अवसर प्राप्त होगा। राजा मैं अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं, किन्तु जनता-जनार्दन की सेवा के लिए ही बनना चाहता हूँ। मुझे इसका भी आग्रह नहीं है कि आप मुझे सचमुच राजगद्दी पर बैठाकर ही राजा बनायें। मुझे तो आप बस सेवाव्रत के राजत्व से भासित कर दीजिए, तब जनता मुझे स्वयं जन-सम्राट् कहने लगेगी और अपना हृदय-हार बना लेगी।

हे परम कृपालु! आप ऐसी भी कृपा कीजिए कि मैं दिव्य ज्ञानरूप सोमरस का पान करनेवाला विश्वामित्र ऋषि बन जाऊँ, मेरे अन्दर आत्मा तथा इतर वस्तुओं को हस्तामलकवत् साक्षात् करनेवाले ऋषि की दिव्य दृष्टि उदित हो जाए; मैं ऋषि के तुल्य इन्द्रियजयी और कालजयी हो जाऊँ। हे इन्द्र! हे जगदीश्वर! आप मुझे मुक्ति का वह अलौकिक परमानन्दरूप वसु भी प्रदान कीजिए, जिसके सम्मुख अन्य सब लौकिक वसु तुच्छप्राय सिद्ध होते हैं। हे प्रभु! इन समस्त प्रार्थित वस्तुओं में जिस समय जो वस्तु हितकर हो, उस समय वह वस्तु प्रदान कर मेरा कल्याण कीजिए। यदि मैं इस योग्य हूँ कि सब वस्तुओं को इकट्ठा सम्भाल सकता हूँ, तो सब वस्तुएँ एकसाथ मुझे देकर गौरवान्वित कीजिए। यही मेरी आपसे प्रार्थना है।

७२. संपारण वसु

आ नस्तुजं रयिं भर[८], अंशं न प्रतिजानते[८] ।
वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहि[१२], इन्द्र संपारणं वसु[८] ॥

—ऋग् ३.४५.४

ऋषिः **गाथिनो विश्वामित्रः** । देवता **इन्द्रः** । छन्दः **बृहती** ।

(इन्द्र) हे परमेश्वर! **(नः)** हमें **(तुजं[१])** दुःखनाशक, बलप्रदाता, त्रुटिनिवारक एवं निवासप्रद **(रयिं)** [आध्यात्मिक] ऐश्वर्य **(आभर)** प्रदान करो, **(न)** जिस प्रकार **(प्रतिजानते)** [आवश्यक] प्रतिज्ञाएँ लेनेवाले [पुत्र] के लिए **(अंशं)** [पैतृक सम्पत्ति के] अंश को [पिता आदि प्रदान करते हैं]। **(अङ्की इव)** जैसे अंकुएवाली लग्गी का धारणकर्ता मनुष्य **(वृक्षं)** वृक्ष से **(पक्वं फलं)** पके फल को [झाड़ देता है] [वैसे ही हमारे लिए] **(संपारणं)** जगत्प्रपञ्च से पार करनेवाला **(वसु)** ऐश्वर्य **(अवधूनुहि[२])** अपने पास से झाड़कर गिरा दो।

जब पुत्र पिता का उत्तराधिकारी होने के लिए यथायोग्य प्रतिज्ञाएँ ले लेता है, तब वह पैतृक सम्पत्ति के अंश को पाने का अधिकारी हो जाता है। हे परमपिता परमात्मन्! मैं भी तुम्हारा पुत्र हूँ, मैं भी तुमसे ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ, अतः यथोचित प्रतिज्ञाएँ ग्रहण करने के लिए उद्यत हो तुम्हारे सम्मुख अवनत-शिरस्क हो खड़ा हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं तुम्हारे नाम की लाज रखूँगा और तुम्हारी सत्प्रेरणाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करता रहूँगा, अतः तुम मुझे मेरा अंशभूत ऐश्वर्य प्रदान करो। पर मैं तुमसे सांसारिक धन-दौलत की याचना नहीं कर रहा हूँ। मैं तो वह आध्यात्मिक ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ जो 'तुज' हो, दुःखों का नाशक हो, बलों को प्रदाता हो, त्रुटियों का दूरीकर्ता हो और आवास-प्रदायक हो। सचमुच तुम पिता से मैं ऐसे ही दिव्य ऐश्वर्य की प्राप्ति की आशा लगा रहा हूँ। सीधे शब्दों में कहूँ तो मैं तुमसे ब्रह्मत्व का ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ, उस ब्रह्मतेज का अधिकार ग्रहण करना चाहता हूँ, जिसके सम्मुख बड़े-से-बड़ा शारीरिक तेज तुच्छ सिद्ध होता है।

हे इन्द्र! हे देवेश! तुम मुझे 'संपारण वसु' प्रदान करो अर्थात् ऐसा ऐश्वर्य जो जगत्प्रपञ्च से पार तरा देनेवाला हो, आवागमन के चक्र से छुड़ा देनेवाला हो। हे परमात्मन्! तुम फलों से लदे हुए वृक्ष के समान दिव्य ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हो। तुम ऊँचाई पर हो, मैं नीचे भूमि पर खड़ा हूँ। जैसे कोई अग्रभाग पर अंकुआ लगी हुई लग्गी लेकर वृक्ष की शाखा को उसमें फाँसकर तीव्रता से वृक्ष को हिलाकर वृक्ष पर लगे पके फलों को झाड़ देता है, वैसे ही तुम अपने ऊपर से मेरे लिए 'संपारण वसु' को झाड़कर गिरा दो। इतना प्रचुर 'संपारण वसु' मेरी मनोभूमि पर बिखरा दो कि मैं वर्षों तक अहर्निश उसे बीनता रहूँ, फिर भी समाप्त न हो। हे धनी पिता! मेरी इस पुकार को सुन लो, मुझ पुत्र को मेरे अधिकार की दिव्य पैतृक सम्पत्ति प्रदान कर दो।

७३. विश्व का एकमात्र राजा

महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्[१०], धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्[११]।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा[११], स योधया च क्षयया च जनान्[११]॥

—ऋग् ३.४६.२

ऋषिः **गाथिनो विश्वामित्रः**। देवता इन्द्रः। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्।**

(महिष[१]) हे महनीय! **(उग्र)** हे उग्र! **(धनस्पृत्[२])** धन का दाता, [और] **(अन्यान्)** नास्तिकों को, **(सहमानः)** पराभूत करता हुआ [तू] **(वृष्ण्येभिः)** वर्षक गुणों और बलों से **(महान्)** महान् **(असि)** है। [तू] **(एकः)** एकमात्र **(विश्वस्य)** सारे **(भुवनस्य)** जगत् का **(राजा)** राजा [है]। **(सः)** वह [तू] **(जनान्)** भक्तजनों को **(योधय)** संघर्ष करवा **(क्षयय[३] च)** और बसा।

हे हृदयाधिराज परमात्मन्! तुम 'महिष' हो, महान् हो, परम महनीय हो। तुममें महत्ता की पराकाष्ठा है। हम अमहान् क्षुद्रजन तो तुम्हारी गगनचुम्बिनी, सर्वव्यापिनी महत्ता को देखकर विस्मय से स्तिमित हो जाते हैं। तुम 'धनस्पृत्' हो, सर्वविध ऐश्वर्यों के प्रदाता हो। इस जगतीतल में जो भी विविध ऐश्वर्य भरे पड़े हैं, उन्हें उत्पन्न करनेवाले हम मानव नहीं हैं, प्रत्युत तुम ही उनके जन्मदाता और प्रदाता हो। हम अल्पशक्तिजन तो बिना तुम्हारी दी हुई उपादान-सामग्री के छोटी-से-छोटी वस्तु को भी रचने में असमर्थ हैं। तुम नास्तिकजनों को परास्त करनेवाले हो। उन्हें परास्त करने के तुम्हारे पास दो उपाय हैं। या तो उन्हें तुम अपनी किसी चामत्कारिक घटना से प्रभावित कर आस्तिक बना देते हो या वे तुम्हारे विरोध में भाषण करते ही रह जाते हैं और तुम उन्हें अपने भयंकर चक्रवात से कहीं-का-कहीं उड़ा ले-जाकर पटक देते हो। तुम अपने वर्षक गुणों और बलों से परम महिमान्वित हो। तुम निर्गुणों के गुण हो, निर्बलों के बल हो। जो भी सत्य, न्याय, दया आदि गुणगण तथा आत्मिक और शारीरिक बल संसार में दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबकी उद्गमभूमि तुम्हीं हो।

तुम ही सकल भुवन के, समस्त ब्रह्माण्ड के, एकमात्र राजा हो, सम्राट् हो। राजा होने का दम भरनेवाले महान्-से-महान् व्यक्ति तुम्हारे सम्मुख सेवक-तुल्य हैं। तुम्हारे समकक्ष अन्य कोई विश्व का सम्राट् नहीं है। जो अग्नि, वायु, सूर्य, यम, मातरिश्वा, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वरुण आदि देवों की स्तुति वेदों में की गई है, वे तुम्हारे ही विभिन्न नाम हैं। वे तुमसे पृथक् सत्ता नहीं रखते।

हे राजाधिराज इन्द्र परमात्मन्! तुम अपनी प्रजाओं को कायर न बनाकर उनसे युद्ध करवाओ, संघर्षों से जूझने का साहस उनके अन्दर उत्पन्न करो, उनसे संग्राम करवाओ और उन्हें विजय दिलाओ। अकर्मण्य रहकर, संघर्षों से भयभीत होकर कोई भी मनुष्य संसार में निवास को प्राप्त नहीं कर सकता। संघर्षों में विजय ही निवास की कुंजी है। हे देव! हमारी इस प्रार्थना को पूर्ण करो, जिससे तुम राजराजेश्वर की छत्रछाया में रहते हुए हम चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो सकें।

७४. नमस्करणीय मित्र

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो[१०], राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः[११]।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्या[११], ऽपि भद्रे सौमनसे स्याम[८]॥

—ऋग् ३.५९.४

ऋषिः **गाथिनो विश्वामित्रः**। देवता **मित्रः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(**अयं**) यह (**मित्रः**) मित्र परमेश्वर (**नमस्यः**) नमस्करणीय, (**सुशेवः**[१]) उत्तम सुख का दाता, (**राजा**) राजा (**सुक्षत्रः**[२]) उत्तमतया विपत्-त्राता [और] (**वेधाः**[३]) विधाता व मेधावी (**अजनिष्ट**) बना हुआ है। (**वयं**) हम (**तस्य**) उस (**यज्ञियस्य**) पूजायोग्य की (**सुमतौ**) शुभ मति में (**अपि**) और (**भद्रे**) भद्र (**सौमनसे**) सौमनस्य में (**स्याम**) हों।

'मित्र'—यह कैसा प्यारा शब्द है। इसे उच्चारण करते या सुनते ही मन माधुर्य से भर उठता है। सच्चा मित्र समय पर सगे सम्बन्धी से भी अधिक हित-साधन करता है। मित्र को देखकर मनुष्य स्नेह से द्रवित हो जाता है। मित्र अपने सखा के लिए प्राणों तक का बलिदान कर देता है। जब लौकिक मित्र की यह महिमा है, तब उस दिव्य मित्र परमात्मा की महिमा का भला कौन वर्णन कर सकता है! वह 'सुशेव' है, उत्कृष्ट सुख का दाता है। हम मानव तो अनेकों बार दुःख को सुख मान बैठते हैं, क्योंकि आपाततः वह रम्य प्रतीत होता है। पर मित्र प्रभु जानता है कि हमारे लिए क्या सुख है और क्या दुःख है। अतः उत्कृष्ट सच्चा सुख ही वह उन्हें प्रदान करता है, जो उससे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। 'मित्र' प्रभु राजा है, विश्व का सम्राट् है। मनुष्य किसी छोटे-से पदाधिकारी को भी मित्र बनाने में गौरव अनुभव करता है, फिर वह तो सम्राट् है। उसकी मैत्री तो हमें धन्य और कृतकृत्य कर सकती है। वह 'सुक्षत्र' है, उत्तमतया विपदाओं से त्राण करनेवाला है। गहरे-से-गहरे घावों में, गम्भीर-से-गम्भीर आपत्तियों में वह मित्र बनकर हमें स्नेह देता है और कष्ट से हमारा उद्धार करता है। मित्र प्रभु 'वेधाः' है, विधाता है, सृष्टि का रचयिता है और समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं को हमारे लिए रचकर देनेवाला है। हमें भले ही यह अभिमान हो जाता हो कि हम स्वयं अपने लिए उपयोगी पदार्थों को रचने में समर्थ हैं, पर वस्तुतः हम तो इतने पंगु हैं कि मिट्टी का एक छोटा-सा पात्र भी स्वयं बनाने में असमर्थ हैं। मिट्टी, जल, अग्नि हमें हमारे मित्र परमात्मा ने ही दी हैं, जिनसे कोई कुम्भकार स्वयं को मृत्पात्रों का निर्माता मानता है। जरा कुम्हार से यह तो कहकर देखो कि वह मिट्टी, जल, अग्नि आदि भी मित्र परमात्मा की रची हुई न लेकर स्वयं रचे। तब वह मित्र प्रभु के प्रति नत-मस्तक हो जायेगा। 'मित्र' प्रभु मेधावी भी है, उसकी मेधा के दर्शन प्रकृति की प्रत्येक रचना में होते हैं। अपने गुणों और कर्तृत्वों के कारण वह मित्र हम सबके लिए 'यज्ञिय' है, पूजार्ह है। आओ, उस परममित्र की हम पूजा करें और उसी से सुमति एवं भद्र सौमनस्य पाकर हम स्वयं भी जगत् में अन्यों के साथ मित्रता का व्यवहार करें, जिससे जगत् सुख-शान्ति का परमधाम बन सके।

७५. राज्याधिकारी कैसे हों ?

अस्वप्नजस्तरणयः सुशेवा[११], अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः[१०]।
ते पायवः सध्र्यञ्चो निषद्या[१०], ऽग्ने तव नः पान्त्वमूर[८] ॥

—ऋग् ४.४.१२

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **रक्षोहा अग्निः**। छन्दः **निचृत् पङ्क्तिः**।

(अमूर) हे अमूढ़ **(अग्ने)** अग्रणी राजन्! **(अस्वप्नजः[१])** न सोनेवाले, **(तरणयः)** विपत्तियों से तरानेवाले, **(सु-शेवाः)** उत्तम सुख देनेवाले, **(अतन्द्रासः)** आलस्य न करनेवाले, **(अवृकाः)** अहिंसक, **(अश्रमिष्ठाः)** न थकनेवाले, **(पायवः[२])** पालन करनेवाले **(ते)** वे **(तव)** तेरे [राज्याधिकारीगण] **(सध्र्यञ्चः[३])** परस्पर सामञ्जस्य रखते हुए **(निषद्य)** बैठकर, पदासीन होकर **(नः)** हमारी **(पान्तु)** रक्षा करते रहें।

हे अग्ने! हे विद्या-प्रकाश से युक्त, प्रजाओं को विद्या-प्रकाश देनेवाले, राष्ट्र से पाप-ताप को भस्म करनेवाले, अग्नि के तुल्य ऊर्ध्वगामी अग्रणी राजन्! हे मूढ़ता से सदा दूर रहनेवाले राष्ट्रनायक! हम चाहते हैं कि जैसे आप स्वार्थ से ऊपर उठकर सदैव प्रजा की हित-चिन्ता में संलग्न रहते हैं, वैसे ही आपके राज्याधिकारीगण भी प्रजा के हित-चिन्तक हों। वेद के अनुसार उन्हें किन-किन गुणों एवं वैशिष्ट्यों से युक्त होना चाहिए, यह भी हम प्रकट कर देना चाहते हैं।

आपके राज्याधिकारी हम प्रजाओं की रक्षा में इस प्रकार तत्पर रहें कि राष्ट्र में कोई भी स्वयं को असुरक्षित अनुभव न करे। वे 'अस्वप्नज्' हों, चाहे संपत्काल हो चाहे विपत्काल, सोये न पड़े रहें, अपितु सदा जागरूक होकर कर्तव्यनिष्ठ रहें, क्योंकि सेवा-व्रत का पालन जागे रहकर ही हो सकता है, प्रमाद-निद्रा में पड़कर नहीं। वे 'तरणि' हों, नौका बनकर विपद्ग्रस्तों को विपदाओं से तरानेवाले हों। जहाँ से भी संकटापन्नों का करुण क्रन्दन सुनाई दे, वहीं सहायता-दल को साथ लेकर पहुँच जानेवाले हों। साथ ही वे 'सु-शेव' भी हों, प्रजा को उत्कृष्ट सुख एवं आराम देनेवाले हों। 'अतन्द्र' हों, कभी सुस्ती और आलस्य न दिखाएँ, अपितु कर्मवीर होकर चुस्ती और तत्परता के साथ सौंपे हुए कार्य को करनेवाले हों। 'अवृक' हों, भेड़िये बनकर प्रजा को लूटने-खसोटने, चीरने-फाड़नेवाले न हों, प्रत्युत सहयोगी जैसा आचरण करनेवाले हों। 'अश्रमिष्ठ' हों, आराम का जीवन व्यतीत करनेवाले न हों, अपितु कितना ही कार्यभार उनके ऊपर आ पड़े, वे उसका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करनेवाले हों। वे 'पायु' अर्थात् प्रजा का पालन-पोषण करनेवाले भी हों। हे राजन्! तुम्हारे समस्त राज्याधिकारीगण अपने-अपने पद पर आसीन होकर परस्पर सामञ्जस्य बनाकर हमारा रक्षण और पालन करें, क्योंकि कोई कैसा भी सच्चा एवं कर्तव्य-परायण अधिकारी हो, उसकी अन्य अधिकारियों के साथ यदि विसंगति या असामञ्जस्य है, तो वह जनसेवा में सफल नहीं हो सकता। राष्ट्र के सब राज्याधिकारी परस्पर मिलकर एक इकाई बनते हैं और एक सूत्र में बद्ध होकर ही राष्ट्रवासियों की सेवा कर सकते हैं। धन्य है वह राष्ट्र जिसे ऐसे जागरूक, अप्रमादी, अश्रान्त, कर्तव्यपालक, सेवा-व्रती राज्याधिकारी प्राप्त होते हैं!

७६. आचार्यरूप अग्नि से याचना

साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः, सहस्रेता वृषभस्तुविष्मान्।
पदं न गोरप गूळहं विविद्वान्, अग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम्॥

—ऋग् ४.५.३

ऋषिः **वामदेवः**। देवता **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्।**

(द्विबर्हाः[१]) विद्या और विनय, ज्ञान और कर्म, व्यवहार और परमार्थ, दोनों में वृद्ध और दोनों का वर्धक, **(तिग्मभृष्टिः[२])** तीव्र परिपाकवाला, **(सहस्रेताः)** अतुल-वीर्य, **(वृषभः)** [ज्ञान का] वर्षक, **(तुविष्मान्[३])** प्रशस्त शारीरिक और आत्मिक बल से युक्त, **(गोः अपगूढं पदं न)** सूर्य[४] के [बादलों में] छिपे किरण-समूह के समान **(गोः अपगूढं पदं)** वेदवाणी के गूढ़ार्थक पद-समूह को **(वि-विद्वान्)** विशेषरूप से जाननेवाला **(अग्निः)** मार्गदर्शक आचार्य **(मह्यं)** मेरे लिए **(महि)** महान् **(साम)** उपासना-काण्ड व योग-विधि को [और] **(मनीषाम्)** मननीय विद्या को **(इत् उ)** अवश्य ही **(प्र वोचत्)** प्रवचन करे।

मैं विद्यार्थी बनकर आचार्यकुल में प्रविष्ट हुआ हूँ। मेरा आचार्य 'द्विबर्हाः' है, विद्या और विनय, ज्ञान और कर्म, अपरा विद्या और परा विद्या, प्रेयमार्ग और श्रेयमार्ग आदि विभिन्न द्विकों में अपना आधिकारिक पाण्डित्य रखता है, अतएव इनका प्रशिक्षण भी दे सकता है। वह 'तिग्मभृष्टि' है, तीव्र परिपाकवाला है, तीक्ष्ण तपस्याओं एवं साधनाओं से स्वयं को पूर्णतः परिपक्व कर चुका है। तभी उसमें यह सामर्थ्य भी है कि कच्ची एवं कोमल मतिवाले छात्र को ज्ञान, तप और संयम-साधना के द्वारा परिपक्व कर सकता है। वह 'सहस्रेताः' है, सहस्र-वीर्य है और ऊर्ध्वरेता बनकर अपने वीर्य को सहस्र कर्मों में व्यय करनेवाला है। वह 'वृषभ' है, छात्र के मस्तिष्क एवं हृदय में विद्याओं और व्रतों की वृष्टि कर उन्हें विद्या-स्नातक और व्रत-स्नातक बनानेवाला है। वह 'तुविष्मान्' है, प्रशस्त शारीरिक और आत्मिक बल से युक्त है, जिससे वह अपने शिष्यों को भी वैसा ही बना सकता है। जैसे सूर्य के किरणरूप पैर बादलों में छिपकर अदृश्य हो जाते हैं, वैसे ही वेदवाणी के जो सुबन्त-तिङन्त पद-समूह बड़े ही गूढ़ार्थक हैं, उनका वह विशिष्ट विद्वान् है। वह वेदों के केवल स्थूल अर्थ से ही सन्तुष्ट न हो, गहराई में घुसकर छिपे हुए आध्यात्मिक रहस्यार्थ को आविष्कृत और व्याख्यात करनेवाला है। विविध वेदार्थ-प्रक्रियाओं का अवलम्बन कर श्लेष आदि अर्थालंकारों के बल से किसी एक मन्त्र के जो अनेक अर्थ हो जाते हैं, उनकी मीमांसा करने में भी वह समर्थ है। मेरा आचार्य अपने कुल के बाल-सदस्य बने हुए मुझे 'मनीषा' और 'साम' की शिक्षा दे। 'मनीषा' है बुद्धि द्वारा ग्राह्य तथा मन द्वारा मननीय विविध विद्याएँ और 'साम' है उपासना तथा योग की क्रियात्मक विधि। इन दोनों का वह मेरे सम्मुख प्रवचन करे, दोनों में मुझे दक्षता प्राप्त कराये। हे अग्नि! हे ज्ञान, कर्म और तप के तेज से देदीप्यमान मार्गदर्शक आचार्यवर! आप मुझे भी कृपा कर अपने सदृश बना दीजिए।

७७. कब तेरी चेतना हमें मिलेगी ?

अग्ने कदा त आनुषग्[८], भुवद् देवस्य चेतनम्[८]।
अधा हि त्वा जगृभिरे[८], मर्तासो विक्ष्वीड्यम्[६]॥

—ऋग् ४.७.२

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(**अग्ने**) हे परमात्मन्! (**कदा**) कब (**ते**) तुझ (**देवस्य**) देव का (**चेतनं**[१]) चैतन्य, प्रबोध (**आनुषक्**[२]) [हमसे] सम्बद्ध (**भुवत्**[३]) होगा? (**अधा हि**) अब तो (**मर्तासः**) मनुष्य (**विक्षु**) प्रजाओं में (**ईड्यं**) पूजनीय (**त्वा**) तुझे (**जगृभिरे**[४]) ग्रहण कर चुके हैं।

हे अग्ने! हे हृदय को ज्योति से आलोकित करनेवाले परमात्मन्! मानव चिरकाल से तुमसे मिलनेवाले चैतन्य और प्रबोध की प्रतीक्षा कर रहा है। साधना में रत हुए वर्षों व्यतीत हो चुके हैं, पर वह पूर्ववत् रिक्तपाणि है। कब तुम्हारी कृपा होगी? तुम्हारी अनुग्रह-दृष्टि पाने के लिए तुम्हें सर्वात्मना अपने अन्दर ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। अब तो साधना में तत्पर बहुत-से मर्त्यधर्मा मानव तुम्हें अपने हृदय का आराध्य देव बना चुके हैं, पूर्ण तन्मयता के साथ तुम्हें धारण कर चुके हैं, हृदय में तुम्हारी ज्योति प्रज्वलित कर चुके हैं, सम्पूर्ण निष्ठा के साथ तुम्हें अपना चुके हैं। तुम प्रजाजनों में 'ईड्य' हो, पूजनीय हो, स्तवनीय हो, अर्चनीय और वन्दनीय हो, महिमागान किये जाने योग्य हो। तुम्हारी पूजा अक्षत-चन्दन से नहीं होती, अपितु हृदय के भीने भावों से तुम रीझते हो। साधकजन वह सब भी कर रहे हैं। अब तो हम इसके लिए अधीर और उत्सुक हो रहे हैं कि तुमसे आनेवाला चैतन्य का स्रोत उमड़कर बहता हुआ मानवजाति को आप्लावित करे, तुमसे छिटककर गिरनेवाली चेतना की चिनगारी हमें प्रज्वलित और प्रकाशित करे, तुमसे मिलनेवाला दिव्य ज्ञान और दिव्यआलोक आकर हमसे सम्बद्ध हो जाए, तुमसे मिलनेवाली जागृति और स्फूर्ति हमें प्राप्त हो जाए। हम मानव चेतन होते हुए भी अचेतन के तुल्य हो रहे हैं। मानव की चेतना वासनाओं से ग्रस्त, मानवजाति को दिव्य बनाने में अक्षम, सहृदयता और सांमनस्य की धारा बहाने में असमर्थ, ऊर्ध्वारोहण के लिए अग्रसर करने में पंगु, मानव को देवत्व प्राप्त कराने में अनिपुण, जडीभूत, कुण्ठित, निस्तेज एवं निर्बल हो रही है। उस चेतना को तुम्हारी दिव्य चेतना से अनुप्राणित होने की आवश्यकता है। हे अग्नि! हे प्रज्वलित चेतना के देव! अपनी चेतना मानव की ओर प्रवाहित करो, जिससे मानव देव बन जाए।

७८. भद्र क्रतु, साधु बल और महान् सत्य का नेता

अधा ह्यग्ने[४], क्रतोर् भद्रस्य[१], दक्षस्य साधोः[५]।
रथीर्ऋतस्य[१], बृहतो बभूथ[६]॥ —ऋग् ४.१०.२

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **पदपङ्क्तिः**।

(अधा हि) अभी ही **(अग्ने)** हे परमात्मन्! [तू] **(भद्रस्य)** भद्र **(क्रतोः[१])** कर्म का, **(साधोः)** साधु **(दक्षस्य[२])** बल का [और] **(बृहतः)** महान् **(ऋतस्य)** ऋत का **(रथीः[३])** नेता **(बभूथ[४])** हुआ है।

मनुष्य स्वयं में बड़ा ही दुर्बल, असहाय और परमुखापेक्षी है। उसे किसी ऐसे महान् सहायक की अपेक्षा होती है, जो उसकी बाँह पकड़कर आपत्तियों के सागर से तरा दे। असहाय होकर मनुष्य अनेक सांसारिक सहायकों को खोजता है, परन्तु वे किसी सीमा तक ही उसकी सहायता कर पाते हैं और मँझधार में ही छोड़ देते हैं, क्योंकि वे स्वयं ही अल्पशक्तिमान् हैं। अशरण-शरण, शक्ति का धाम तो एक परमेश्वर ही है, जो प्रतिपल, प्रत्येक विपत्ति में मनुष्य को अपनी शरण में लेने को तत्पर रहता है।

हे अग्ने! हे ज्योतिर्मय! हे अग्रणियों के अग्रणी! वस्तुतः तुम्हीं निराश्रय के अवलम्ब हो। तुम 'भद्र क्रतु' के नेता हो। मनुष्य के जीवन में एक बड़ी दुविधा कर्म और अकर्म की रहती है, बड़े-बड़े ज्ञान-शूर लोग भी कर्म और अकर्म की मीमांसा में चकरा जाते हैं—**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**। इस दुविधा के समय हे कर्मज्ञ! तुम्हीं भद्र कर्म का उपदेश देते हो। हे बलियों में बली! तुम 'साधु बल' के भी प्रदाता हो। शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के बलों के तुम नेता हो। बल अपने-आप में कोई बड़ी देन नहीं है, जब तक वह साधु न हो। शारीरिक और मानसिक दोनों ही बल साधु होनेपर ही चमत्कार लाते हैं। असाधु शारीरिक बल निरीह एवं निरपराध जनों को कष्ट देने का ही कार्य करता है और असाधु मानसिक बल का सहारा लेकर भी असाधकों द्वारा बड़े-बड़े कलुषित कार्य किये जाते हैं। हे अग्नि प्रभु! बल के लिए जो तुम्हारी शरण में आता है, उसे तुम साधु बल का ही उपदेश करते हो, साधु बल की ही प्रेरणा करते हो। हे जगदीश्वर! तुम 'बृहत् ऋत' अर्थात् शक्तिशाली सत्य के भी नेता हो। जो मनुष्य सच्चे भाव से तुम्हें स्मरण करता है, उसके अन्दर दीपक की ज्वाला बनकर तुम बृहत् सत्य को प्रकाशित कर देते हो।

हे परम कृपालु! वेद ने तुम्हें भद्र कर्म, साधु बल एवं बृहत् सत्य के 'रथी' के रूप में स्मरण किया है। तुम इन समस्त श्रेष्ठ वस्तुओं के रथवाहक हो। जैसे रथवाहक रथ में भरकर अभीष्ट वस्तुओं को विपुलता के साथ हमारे पास पहुँचाता है, वैसे ही उक्त सब दिव्य वस्तुओं को तुम विपुलरूप में और रथगति जैसी तीव्रता के साथ हमें प्रदान कर देते हो। हे शरणागत-वत्सल! तुम सदा ही हमें भद्र क्रतु, साधु बल और महान् सत्य की विपुल देन प्रदान करते हुए जीवन में हमारे सहायक बने रहो।

७९. अमति, दुर्मति और पाप दूर हों

आरे अस्मद् अमतिम् आरे अंह[११], आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि[११]।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने[११], यं देव आ चित् सचसे स्वस्ति[१०]॥

—ऋग् ४.११.६

ऋषिः **वामदेवः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(सहसः सूनो) हे बल के पुत्र **(अग्ने)** तेजस्वी परमात्मन्! **(यत्)** क्योंकि [तू] **(निपासि)** रक्षा करता है, [अतः] **(अस्मत्)** हमसे **(अमतिं)** अमति को **(आरे)** दूर [कर], **(अंहः)** पाप को **(आरे)** दूर [कर], **(विश्वां)** समस्त **(दुर्मतिं)** दुर्मति को **(आरे)** दूर [कर]। [तू] **(दोषा[१])** तमोमयी रात्रि में **(शिवः)** कल्याणकर [होता है]। **(देवः)** देव [तू] **(यं चित्)** जिसको भी **(आ सचसे[२])** प्राप्त हो जाता है [उसका] **(स्वस्ति[३])** कल्याण [कर देता है]।

हे मेरे परमात्मन्! तुम बल के पुत्र हो। जिसमें जिस गुण का अतिशय बताना अभिप्रेत होता है, उसे उसका पुत्र कहने की वेद की शैली है। अपनी बोलचाल की भाषा में भी हम पुत्र को पुतला के रूप में परिवर्तित कर इस मुहावरे का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि वह बल का पुतला है, अतः आशय यह है कि तुम अतिशय बलवान् हो। बली होने के कारण ही तुम सबके रक्षक भी बने हुए हो। जो बलवान् और रक्षा करने में समर्थ है वही निर्बल और अरक्षित की याचना को पूर्ण कर सकता है, अतः हम विनीतभाव से तुमसे प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे अन्दर से अमति, दुर्मति और पाप को दूर कर दो। जबतक हम मतिहीन हैं, तबतक कुछ भी साधन नहीं जुटा सकते, हम पराधीन बने रहेंगे। अमति दूर भी हो जाए, पर उसके स्थान पर दुर्मति या कुमति आ जाये, तब तो हम और भी अधिक हतभाग्य हो जायेंगे, क्योंकि कुमति तो मार्गच्युत करनेवाली है। दुर्मति पाकर तो हम भ्रष्टाचार में ही संलग्न होंगे, जिससे न केवल हमारा, किन्तु अन्यों का भी अकल्याण ही होगा, अतः हम दुर्मति से भी दूर ही रहना चाहते हैं। साथ ही जिन पाप कर्मों को करने के हम अभ्यस्त हो चुके हैं, उप पाप-व्यसनों को भी निर्वासित कर देने की आज हम तुमसे याचना करते हैं।

हे भगवन्! जैसे तुम अपनी रची भौतिक अग्नि द्वारा रात्रि में प्रकाश देते हो, वैसे ही हमारी मनोभूमि में व्याप्त महामोहमयी तमोगुण की गहरी काली निशा में हमें कर्तव्यबोध की ज्योति प्रदान कर हमारे लिए शिव होते हो। हे देव! तुमने जिसकी भी पुकार सुनी है, जिसको भी तुम सर्वात्मना प्राप्त हुए हो, उसका कल्याण ही हुआ है, वह विपदाओं से तर गया है, अतः हमारे मनोमन्दिर में पदार्पण कर हमारा भी कल्याण करो। हमारे समाज में आसीन होकर समाज का भी कल्याण करो।

८०. कृपण से इन्द्र मैत्री नहीं करता

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रो[११], ऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते[१०]।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं[११], वि सुष्वये पक्तये केवलोऽभूत्[११] ॥

—ऋग् ४.२५.७

ऋषिः **वामदेवः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(सुतपाः) यज्ञ-भावना से अर्जित धन का रक्षक **(इन्द्रः)** परमेश्वर **(असुन्वता)** यज्ञ-भावना न रखनेवाले **(पणिना)** कृपण **(रेवता[१])** धनी के साथ **(सख्यं)** मैत्री को **(न संगृणीते[२])** नहीं संस्तुत करता। **(अस्य)** इस [कृपण] के **(वेदः[३])** धन को **(आ खिदति)** छीन लेता है, [इसे] **(नग्नं)** नंगा [करके] **(हन्ति)** नष्ट करता है। **(केवलः)** केवल **(सुष्वये[४])** यज्ञार्थ धन कमानेवाले के लिए [और] **(पक्तये[५])** यज्ञार्थ भोजन पकानेवाले के लिए [ही] **(वि भूत्)** विशेषरूप से स्थित होता है।

संसार में धनी बहुत गौरवास्पद समझा जाता है। वेद में भी धन को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। तो भी धन अपने-आप में उद्देश्य नहीं है, अपितु धर्ममय सुखी जीवन का साधन है। परमेश्वर उसी धन की रक्षा करता है, जो यज्ञभावना से अर्जित किया जाता है। यज्ञभावना क्या है ? दरिद्र को धन दान कर फिर स्वयं धन का उपयोग करना और भूखे को भोजन खिलाकर फिर स्वयं भोजन करना यही यज्ञभावना है। भगवद्गीता का यह वचन वेदमूलक ही है कि ''जो यज्ञशिष्ट-भोजी होते हैं, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो केवल अपने लिए पकाते हैं, वे मानों पाप को ही खाते हैं''[६]। जो हृदय में यज्ञभावना नहीं रखता है, जो अपने लिए ही कमाता है और स्वयं ही भोग करता है, भूखों के सामने बैठकर अपना पेट भरता है, ऐसे कृपण धनी मनुष्य के साथ इन्द्र मित्रता नहीं करता और यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसके साथ मित्रता करे तो उसका भी समर्थन नहीं करता। ऐसे हृदयहीन लोगों का यही इलाज है कि वे मित्रहीन होकर रहें। जैसे वे दूसरे के दुःख-दर्द की ओर ध्यान नहीं देते, वैसे ही संकटकाल में उनका कोई सहायक न हो।

इन्द्र का प्रकोप बड़ा भयंकर है। जब वह अ-यज्ञशिष्टाशी कृपण धनी व्यक्ति पर कुपित होता है, तब उसका धन उससे छीन लेता है, उसे नग्न करके नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। भूत और वर्तमान पर दृष्टिपात करके देखो, ऐसे सैकड़ों उदाहरण दृष्टिगोचर होंगे। अ-यज्ञशिष्टाशी लोगों के ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओंवाले बड़े-बड़े राज-प्रासाद धूलिसात् हो गए, धन-वैभव से भरे उनके जगमगाते खजाने लुट गए, उनके शस्त्रास्त्र उन्हीं पर चलाये गए, उनके रथों पर दूसरे लोगों ने सवारी की, उनके वैभवपूर्ण साधन अन्यों के ही काम आये। इन्द्र प्रभु तो केवल 'सुष्वि' और 'पक्ति' जनों का मित्र बनता है। जो यज्ञार्थ धन का उपार्जन करते हैं, यज्ञार्थ भोजन पकाते हैं और यज्ञार्थ अर्पित कर स्वयं यज्ञशेष का ही भोग करते हैं, ऐसे धनी जन ही इन्द्र के प्रेम-भाजन बनते हैं। अतः हे मनुष्य! तू धन-वैभव का स्वामी तो बन, किन्तु 'पणि' मत बन।

८१. इन्द्र को सभी पुकारते हैं

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास[१०], इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम्[१०]।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना[११], इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते[११] ॥

—ऋग् ४.२५.८

ऋषिः **वामदेवः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(परे) उच्च श्रेणी के, **(अवरे)** निम्न श्रेणी के [और] **(मध्यमासः)** मध्यम श्रेणी के लोग **(इन्द्रं)** इन्द्र को **(हवन्ते)** पुकारते हैं; **(यान्तः)** यात्रा करते हुए [और] **(अवसितासः[१])** यात्रा के अन्त तक पहुँचे हुए लोग **(इन्द्रं)** इन्द्र को [**(हवन्ते)** पुकारते हैं]। **(क्षियन्तः[२])** निवास करते हुए **(उत)** और **(युध्यमानाः)** युद्ध करते हुए लोग **(इन्द्रं)** इन्द्र को [**(हवन्ते)** पुकारते हैं]; **(वाजयन्तः[३])** अन्न, बल, वेग, विज्ञान आदि को पाना चाहते हुए **(नरः)** मनुष्य [भी] **(इन्द्रं)** इन्द्र को [**(हवन्ते)** पुकारते हैं]।

क्या तुमने कभी किसी ऐसे व्यक्ति को देखा है, जिसने कभी भगवान् को याद न किया हो? तीव्र मशाल हाथ में लेकर खोजने पर भी कभी कहीं ऐसा मनुष्य दृष्टिगत नहीं होगा। कट्टर-से-कट्टर नास्तिक लोग भी, जिन्होंने ईश्वर को ब्रह्माण्ड से बहिष्कृत करने के लिए एड़ी से चोटी तक बल लगा लिया है और जो भाषण व लेखनी से सदा ईश्वर की सत्ता का विरोध करते हैं, संकट आने पर बचाव के लिए ईश्वर को ही स्मरण करते हैं। अनेकों ने जो जीवनभर ईश्वर का उपहास करते रहे, मृत्यु सन्निकट होने पर ईश्वर को याद किया है।

पर, अवर और मध्यम तीनों कोटि के लोग इन्द्र परमेश्वर को पुकारते हैं। उच्चश्रेणी के लोग अपने उच्च स्थिति पर पहुँचने के लिए परमेश्वर को धन्यवाद देते हैं तथा और भी अधिक उच्च होने के लिए उससे प्रार्थना करते हैं। निम्न श्रेणी के लोग निम्न स्थिति से उद्धार के लिए उसे पुकारते हैं; मध्यम-वर्ग के लोग उच्च श्रेणी का बनने के लिए उसका नाम लेते हैं। यात्री लोग यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिए उसका नाम स्मरण करते हैं। यात्रा के अन्त पर पहुँचे लोग कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए उसका महिमा-गान करते हैं। घर में निवास करते हुए लोग सुखी जीवन के लिए उसे पुकारते हैं, युद्ध करते हुए योद्धागण विजय के लिए उसे पुकारते हैं। अन्न, बल, वेग, ज्ञान, अध्यात्म-सम्पत्ति आदि के 'वाज' को पाने की जिनकी कामना होती है, वे भी इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए परमेश्वर से ही प्रार्थना करते हैं।

इस प्रकार किसी भी वर्ग का कोई भी व्यक्ति हो; नर हो, नारी हो; युवा हो, वृद्ध हो; राजा हो, रंक हो; धनिक हो, श्रमिक हो; सरस्वती का उपासक हो, लक्ष्मी का उपासक हो; सम्पन्न हो, विपद्ग्रस्थत हो; वीर हो, निर्वीर्य हो; व्यापारी हो, कृषक हो—सब परमेश्वर को पुकारते हैं, सब परमेश्वर की वन्दना करते हैं। आओ हम भी उस प्रभु का आह्वान करें, उसकी पूजा करें, उसके सम्मुख विनत हों।

८२. नवस्नातक की घोषणा

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदम्[१०], अहं देवानां जनिमानि विश्वा[११]।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्[११], अध श्येनो जवसा निरदीयम्[११]॥

—ऋग् ४.२७.१

ऋषिः **वामदेवः**। देवता **इन्द्रः (श्येनः)**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(गर्भे नु) गर्भ में ही **(सन्)** रहते हुए **(अहं)** मैंने **(एषां देवानां)** इन देवों के **(विश्वा)** समस्त **(जनिमानि)** जन्मों को—गुण, कर्म, स्वभावों को **(अनु अवेदम्)** एक-एक करके जान लिया था। **(शतम्)** सौ **(आयसीः)** लोह-निर्मित **(पुरः)** नगरियों ने **(मा)** मुझे **(अरक्षन्)** रोके रखा। **(अध)** उसके अनन्तर **(श्येनः)** बाज पक्षी के समान तीव्रगामी [मैं] **(जवसा[१])** वेगपूर्वक **(निरदीयम्[२])** बाहर निकल आया हूँ।

मैं दो बार गर्भ में रहा हूँ, एक बार माता के गर्भ में और दूसरी बार आचार्य के गर्भ में। दोनों ही बार मैंने जन्म भी लिया है। इसी कारण मेरा नाम 'द्विज' है। जब मैं माता के गर्भ में था, तब मैं जानता था कि मेरे सूक्ष्म शरीर में स्थित इन्द्रिय, मन, प्राण आदि देव उससे पूर्व कहाँ-कहाँ जन्म ले चुके हैं। माता के शरीर में गर्भाशय की अभेद्य लोह-नगरियों ने मुझे रोके रखा कि कहीं मैं अपरिपक्व अवस्था में ही बाहर न निकल जाऊँ। दस मास गर्भ में रहकर जब मैं परिपक्व हो गया तब श्येन पक्षी के समान वेग से बाहर निकल आया।

दूसरी बार मैं अपना उपनयन संस्कार करवाकर गुरुकुलरूपी गर्भ में प्रविष्ट हुआ। प्रथम गर्भ में मैं जैसे माँ के सान्निध्य में रहा था, वैसे ही इस द्वितीय गर्भ में मैं आचार्य के निकट सम्पर्क में रहा। आचार्य के गर्भ में रहते हुए मैंने विभिन्न देवों के समस्त जन्मों या गुण-कर्म-स्वभावों को जाना। वैदिक अग्नि, मित्र, वरुण आदि देवों का, शरीरस्थ मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि देवों का तथा ब्रह्माण्ड में स्थित विभिन्न भौतिक पदार्थरूपी देवों का ज्ञान प्राप्त किया। मैंने अपराविद्या और पराविद्या को सीखा। मैंने ब्रह्मविद्या, वेदविद्या, राशिविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या आदि विविध विद्याओं का उपार्जन किया। आचार्य के गर्भ में यम-नियम आदि की दृढ़ नियन्त्रणरूपिणी सैकड़ों आयसी पुरियों में मैं बन्द रहा। परिपक्वता को पारकर, विविध व्रतों और विद्याओं का स्नातक होकर तथा श्येन (शंसनीय[३] आचरण वाला) बनकर अब मैं आचार्य-गर्भ से बाहर आ गया हूँ। मैंने आचार्य-गर्भ में वास करते हुए जो कुछ ग्रहण किया है, अब मैं श्येन-गति से उसका प्रचार करूँगा।

८३. तुझसे बड़ा कोई नहीं

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो[८], न ज्यायानस्ति वृत्रहन्[८]।
नकिरेवा यथा त्वम्[७]॥ —ऋग् ४.३०.१

ऋषिः **वामदेवः गोतमः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(वृत्रहन् इन्द्र) हे वृत्रहन्ता परमात्मन्! **(नकिः)** न तो **(त्वत्)** तुझसे **(उत्-तरः[१])** गुणों में अधिक बड़ा [और] **(न)** न **(ज्यायान्[२])** आयु में अधिक बड़ा **(अस्ति)** [कोई] है। **(नकिः)** न ही **(एव[३])** ऐसा [है] **(यथा)** जैसा **(त्वम्)** तू [है]।

हे इन्द्र! हे देवाधिदेव! हे महिमामय! हे परमैश्वर्यशालिन्! तुम्हारी गरिमा का गान मैं क्या करूँ? कहाँ सबसे बड़े तुम और कहाँ सबसे छोटा मैं! मेरी वाणी तुम्हारे सम्मुख निश्चेष्ट हो जाती है, तुम्हारे गौरव-गीत गाने में अपने को असमर्थ पाती है और 'नेति-नेति' कहकर ही विरत हो जाती है। फिर भी तुम्हारे लिए दो शब्द तो मैं कहना ही चाहूँगा। हे परम महनीय! तुमसे 'उत्तर', गुणों में तुमसे अधिक बड़ा, उत्कर्ष में तुमसे अधिक ऊँचा, संसार में कोई नहीं है। न्याय, दया, स्नेह, क्षमाशीलता, वीरता, सत्य, शिवत्व, सौन्दर्य, विवेक, कर्तव्यनिष्ठा, धीरता, पवित्रता, नम्रता, ज्योतिष्मत्ता, परिपक्वता, पूर्णता आदि गुण-गणों की चरम पराकाष्ठा तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। गुणों में तुम हिमालय के सर्वोच्च शिखर से भी अधिक ऊँचे हो, भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम् इन उपरि-उपरि विद्यमान लोकों की परम्परा में तुम सत्यलोक से भी अधिक ऊँचे हो।

हे सर्वशक्तिमन्! हे गुरुता के अगार परमात्मन्! जैसे गुणों में तुमसे बड़ा कोई नहीं, ऐसे ही आयु में भी तुमसे बड़ा कोई नहीं है। तुम अज, अविनाशी, नित्य, निरंजन हो, न तुम्हारा कभी जन्म होता है, न मृत्यु होती है। हम लौकिक पुरुषों में कोई अधिक-से-अधिक भी जीवित रहता है तो सौ, दो सौ, तीन सौ, चार सौ, पाँच सौ वर्ष की आयु पा लेता है। सुषुम्ना में प्राणों का संयम करके स्वेच्छायु-मरण की शक्ति जो ऋषि-मुनि पा लेते हैं, वे भी तुमसे अधिक आयु नहीं पा सकते। तुम सनातन काल से चले आ रहे हो और सदा जीवित रहोगे, अतः तुम आयु में सबसे बड़े हो, सर्वाधिक दीर्घजीवी हो।

हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म! तुमसे बड़ा तो कहना ही क्या, तुम्हारे सदृश भी इस ब्रह्माण्ड में अन्य कोई नहीं है। भले ही कुछ लोग तुम्हारे समकक्ष अन्य मित्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि की कल्पना करते हैं, पर वस्तुतः वे सब देव तुम्हारे अतिरिक्त न होकर तुम्हारे ही विभिन्नरूप हैं। हे इन्द्र! तुम्हीं मित्रता के कारण मित्र कहलाते हो, तुम्हीं पापनिवारक होने के कारण वरुण कहलाते हो, तुम्हीं शत्रुरोदक तथा भक्तों के दुःखद्रावक होने के कारण रुद्र कहलाते हो, तुम्हीं सर्वव्यापक होने से विष्णु कहलाते हो। ऐसे महा-महिमा, अनुपम, अद्वितीय तुम जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है।

८४. विद्वान् का राजकीय सम्मान

स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे[११], तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्[११]।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते[११], यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति[११]॥

—ऋग् ४.५०.८

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(यस्मिन्) जिस **(राजनि)** राजा के यहाँ **(ब्रह्मा)** वेदज्ञ विद्वान् **(पूर्वः)** श्रेष्ठ [माना जाता हुआ] **(एति)** गति करता है, कार्य-प्रवृत्त होता है, **(सः)** वह [राजा] **(इत्)** निश्चय ही **(सुधितः[१])** तृप्त [होकर] **(स्वे)** अपने **(ओकसि)** भवन में **(क्षेति[२])** निवास करता है; **(तस्मै)** उसे **(इडा[३])** वाणी व राष्ट्रभूमि **(विश्वदानीम्)** सदा **(पिन्वते[४])** सींचती रहती है; **(तस्मै)** उसके सम्मुख **(विशः)** प्रजाएँ **(स्वयम् एव[५])** स्वयं ही **(नमन्ते)** प्रणत हो जाती हैं।

क्या तुम समझते हो कि किसी राष्ट्र का राजा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होता है, उसे किसी वेदवित् के परामर्श की आवश्यकता नहीं होती ? यदि तुम ऐसा मानते हो तो भूल करते हो। जिस राजा के राज्य में ब्रह्मा और वेदज्ञ विद्वान् को सत्कार प्राप्त होता है, उसे श्रेष्ठ माना जाता है और श्रेष्ठ माना जाता हुआ वह गति करता है, कार्य-प्रवृत्त होता है, उस राजा का राज्य निश्चय ही समुन्नत होता है। राजा को क्या करणीय है, क्या अकरणीय है, यह वेदज्ञ विद्वान् या वेदवित् विद्वानों की समिति ही निश्चय करती है, जिसे राजा को क्रियारूप में परिणत करना होता है। जो राजा वेदज्ञ की समुचित सलाह न मिलने के कारण मनमानी करने लगता है, अकार्य-प्रवृत्त हो जाता है, उसका राज्य उजड़ जाता है और वह स्वयं भी उजड़ जाता है। इसके विपरीत जिसके राज्य में वेदज्ञ विद्वान् बिना रोक-टोक के राजा को वैदिक राजनीति का उपदेश करता है, प्रजाजनों में वेद की शिक्षाओं का प्रचार करता है, वैदिक विधानों को क्रियान्वित करने का बीड़ा उठाता है, वह राजा निश्चय ही धन्य और संतृप्त होकर अपने भवन में निवास करता है। उसे राजगृह से बाहर निकाल देने के लिए विद्रोह नहीं होते।

वेदज्ञ विद्वान् को सम्मान देनेवाले, उसकी सम्मति को महत्त्व देनेवाले और उससे सम्मति लेकर अपने राज्य को वैदिक राज्य बनानेवाले सम्राट् के सम्मुख प्रजाएँ स्वयं प्रणत हो जाती हैं, उसके गीत गाती हैं, उसका स्वागत और अभिनन्दन करती हैं। उस राजा को विद्वान् की वाणी सदा सींचती रहती है, राष्ट्र-भूमि भी सस्यश्यामला होती हुई उसके राजकोष को सदा भरती रहती है। उसके राज्य में प्रजाएँ समृद्ध होकर, उसे नियमानुसार कर आदि प्रदान करती हैं, जिससे वह और भी अधिक लोकोपयोगी कार्यों को करने में समर्थ होता है। हे राजन्! वेद की इस वाणी को सुन और अपने राज्य में वेदज्ञ विद्वान् को राजकीय सम्मान दे।

८५. कृषि

शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं११, शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः११।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः११, शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्११॥

—ऋग् ४.५७.८

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवते **शुनासीरौ**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(नः) हमारे **(फालाः)** फाल **(शुनं१)** सुखपूर्वक **(भूमिं)** भूमि को **(वि कृषन्तु)** कृषि के लिए खोदें। **(कीनाशाः२)** किसान **(शुनंः)** सुखपूर्वक **(वाहैः)** बैलों के साथ **(अभियन्तु)** चारों ओर चलें। **(पर्जन्यः)** बादल **(मधुना)** मधुर जल से **(शुनं)** सुख [दे]। **(शुनासीरा३)** हे वायु और आदित्य! [तुम दोनों] **(अस्मासु)** हममें **(शुनं)** सुख को **(धत्तम्)** स्थापित करो।

आओ, हम कृषि करें, बाह्यभूमि और मनोभूमि दोनों पर कृषि करें। कृषि करते हुए हमारे सब कार्य सुख से सम्पन्न होते चलें। हमारे हलों के आगे लगे लोह-फलक सुखपूर्वक भूमि को खोदते चलें। किसान लोग सुखपूर्वक बैलों के साथ खेतों में चारों ओर चलते रहें। मेघ रिमझिम बरसता हुआ सुखपूर्वक मधुर जल से भूमि को सींचता रहे। वायु और सूर्य बोई हुई खेती की वृद्धि करते हुए तथा उसे परिपक्व करते हुए हमें सुख प्रदान करते रहें। इस प्रकार भूमि को जोतना, सफाई करना, बीज बोना, पटरा फेरना, सिंचाई करना, निराई करना, वर्षा बरसना, फसल पकना, काटना, गाहना, फटकना, अन्नागारों या बाजारों में ले-जाना आदि कृषि का प्रारम्भ से अन्त तक का सब कार्य सुख से सम्पन्न हो, जिससे प्रचुर अन्न राष्ट्र की जनता को मिलता रहे तथा कृषक भी अच्छी आय प्राप्त करे। यदि ऐसा होता है तो यह राष्ट्र की समृद्धि का चिह्न है।

इसी प्रकार हम अन्तर्मुख हो आन्तरिक कृषि का भी सम्पादन करते रहें। आन्तरिक कृषि में मनोभूमि पर यम-नियमों का हल चलाया जाता है। आत्मा की नाश या कृषक बनता है। इन्द्रियाँ बैल का स्थान लेती हैं। मधुर आनन्द-रस की वर्षा करनेवाला परमात्मा पर्जन्य होता है। प्राण-अपान 'शुनासीर' होते हैं। यम-नियमों के लोह-फलकों से हम मनोभूमि को उत्कीर्ण करें, मन एवं इन्द्रियाँ उसमें हमारा सहयोग करती रहें। प्राण-अपान लहलहाती हुई सद्गुणों की सस्यसम्पदा को परिपक्व करते रहें।

इस प्रकार हम बाह्य और आन्तरिक उभयविध कृषि करते हुए भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की प्रचुर सस्यसम्पत्ति प्राप्त कर अपने जीवन को समृद्ध करते रहें।

८६. माया-जाल का पराजेता

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निर्[१०], आविर्विश्वानि कृणुते महित्वा[११]।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः[११], शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे[११]॥

—ऋग् ५.२.९

ऋषिः **वृशो जानः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**अग्निः**) अग्रणी जीवात्मा (**बृहता**) विस्तीर्ण (**ज्योतिषा**) ज्योति से (**आ भाति**) आभासित होता है, (**महित्वा**) महिमा से (**विश्वानि**) सब [छिपी शक्तियों और छिपे रहस्यों] को (**आविः कृणुते**) प्रकट कर लेता है। (**दुरेवाः**) दुराचरण में प्रवृत्त करनेवाली (**अदेवीः**) अदिव्य, अशुद्ध (**मायाः**) मायाओं को (**प्र सहते**) परास्त कर देता है। (**रक्षसे विनिक्षे**[१]) राक्षस के विनाश के लिए (**शृङ्गे**) [ज्ञान-कर्म-रूप] सींगों को (**शिशीते**[२]) तीक्ष्ण कर लेता है।

शरीर में जीवात्मा उन्नति करने के लिए तथा अपने निर्धारित उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आया है। उसे बुझे हुए, ऊपर राख चढ़े हुए अंगारों के समान न रहकर बृहत् ज्योति से भासमान होना है। जो जीवात्मा अपने इस लक्ष्य को स्मरण रखता है, वह 'अग्नि' बनकर विशाल ज्योति से भासित हो जाता है। जीवात्मा के अन्दर जो महिमाएँ छिपी हुई हैं, जो सद्गुण और शक्तियाँ प्रच्छन्नरूप से विद्यमान हैं, उन्हें वह अपने सत्प्रयासों से प्रकट कर लेता है और प्रकट किये हुए उन सद्गुणों एवं शक्ति-पुंजों से जगमगाने लगता है। जो छिपे रहस्य हैं, आत्मा-परमात्मा-विषयक आध्यात्मिक गुत्थियाँ हैं, उन्हें भी वह सुलझा लेता है और सर्व संशयों से रहित हो जाता है। शरीरधारी जीवात्मा के मन में बहुत-से छल-प्रपञ्च, बहुत-सी दुराचार में प्रवृत्त करानेवाली अदिव्य मायाएँ, विद्यमान होती हैं, तो उन्हें भी वह परास्त कर देता है। प्रगतिशील उस जीवात्मा के मार्ग में जो राक्षसी प्रवृत्तियाँ बाधक बनकर आती हैं, उनके विनाश के उपाय में भी वह पूर्णतः सन्नद्ध होता है। वह उनके सम्मुख तीक्ष्ण शृंगोंवाले महाकाय भयंकर बैल के समान प्रकट होता है। राक्षसी भावों के विनाश के लिए वह अपने ज्ञान और कर्मरूप उभयविध सींगों को बड़ी सतर्कता के साथ तेज कर लेता है। राक्षसी भाव मनुष्य पर आक्रमण तभी किया करते हैं, जब या तो वह अज्ञानी होता है, या ज्ञानी होते हुए भी उसके कार्य तदनुरूप नहीं होते हैं, अतः जब वह अपने ज्ञान और सत्कर्म के सींगों को तेज कर लेता है, तब समस्त राक्षसी भाव उसके तीक्ष्ण सींगों के आक्रमण के भय से भाग खड़े होते हैं या तीक्ष्ण शृंगों से विद्ध होकर विनष्ट हो जाते हैं। आओ, हम भी अपने आत्मा को ज्योतिष्मान्, शक्तिमान्, तीक्ष्णशृंगवान् तथा मायाजाल का पराजेता बनाकर उसे पूर्ण उन्नत करने में संलग्न हों।

८७. वन्दना का फल

भूरि नाम वन्दमानो दधाति[११], पिता वसो यदि तज्जोषयासे[११]।
कुविद् देवस्य सहसा चकानः[११], सुम्नमग्निर् वनते वावृधानः[११]॥

—ऋग् ५.३.१०

ऋषिः **वसुश्रुतः आत्रेयः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(वन्दमानः) वन्दना करनेवाला [जीवात्मा] **(भूरि)** बहुत **(नाम)** नामस्मरण व नमन[१] को **(दधाति)** [हृदय में] धारण करता है। **(वसो)** हे निवासक परमेश्वर! **(पिता)** पिता [तू] **(यदि)** यदि **(तत्)** उस [नाम-स्मरण व नमन] को **(जोषयासे[२])** प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर लेता है, [तो] **(चकानः[३])** कामनायुक्त होता हुआ **(अग्निः)** [वह] जीवात्मा **(देवस्य)** [तुझ] देव के **(सहसा)** बल से **(कुवित्)** बहुत अधिक **(वृधानः)** बढ़ता हुआ **(सुम्नं)** आनन्द को **(वनते[४])** पा लेता है।

जब कोई भक्त प्रभु की वन्दना में प्रवृत्त होता है, तब वह अपने हृदय में नामस्मरण को धारण करता है। मन-ही-मन वह प्रभु के सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओ३म्' का अथवा 'अग्नि' आदि अन्य नामों में से किसी नाम का जप करता है। उसका यह नाम-स्मरण या जप 'नमन'-पूर्वक होता है, क्योंकि श्रद्धायुक्त नमन के बिना नाम-स्मरण अपूर्ण है। जैसे 'मिश्री-मिश्री' जपते रहने से मुँह मीठा नहीं होता, जबतक मिश्री को मुख में न डाला जाए, वैसे ही कोरे नाम-जप से प्रभु-भक्ति का आनन्द प्राप्त नहीं होता, जबतक प्रभु के प्रति पूर्ण नमन या प्रणति न हो। हमारा नाम-स्मरण सत्य भाव से है या असत्य भाव से, इसकी पहचान यह है कि प्रभु को वह स्वीकार हुआ है या नहीं। यदि हमारी वन्दना की प्रभु पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तो हमारी वन्दना सत्य भाव से नहीं हुई है। जब प्रभु हमारे नाम-जप और हृदय के नमन को स्वीकार कर लेते हैं, तब वे हमारे प्रति उदासीन नहीं रह सकते। वे हममें रुचि लेने लगते हैं, हमारी हित-चिन्ता करने लगते हैं, अपना पूरा बल हमें बढ़ाने में और हमारे विकास में लगाने लगते हैं। हमारा जीवात्मारूप अग्नि प्रभु देव की स्नेहमयी, प्रकाशमयी, बलवती, चमत्कारिणी प्रेरणा से प्रभावित और चमत्कृत हो बढ़ने लगता है। बढ़ते-बढ़ते वह इतना उन्नत हो जाता है कि उसकी तेजस्विता की ज्वालाएँ उस प्रभु को छूने लगती हैं, जो वृद्धि में सर्वोपरि है। इससे वह प्रभु के अत्यन्त निकट आ जाता है। वह 'चकान' हो जाता है, उसके अन्दर प्रभु के दिव्य रस को पाने की उत्कट कामना उत्पन्न हो जाती है। तब उसके द्वारा किया गया प्रभु-नाम-स्मरण और नमन अपना रंग लाता है। आत्माग्नि का परमात्माग्नि के साथ मिलाप होता है। प्रभु रीझ-रीझकर रस बरसाने लगते हैं। भक्त 'सुम्न' की, दिव्य सुख की, अलौकिक ब्रह्मानन्द की वृष्टि से स्नात हो जाता है। जैसे वर्षा से नहाए हुए तरु-वल्लरी प्राणवान् और प्रफुल्ल होकर लहलहा उठते हैं, वैसे ही प्रभु का भक्त दिव्य आनन्द-रस की वर्षा से उल्लसित हो संतृप्त हो जाता है, पूर्णकाम हो जाता है। अपनी वन्दना के फल को साक्षात् उपलब्ध कर वह स्वयं को धन्य अनुभव करता है। सचमुच 'नाम-स्मरण' और 'नमन' के साथ की गयी वन्दना का ऐसा ही अद्भुत फल होता है।

८८. प्रजाओं सहित मोक्ष पाऊँ

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानो[११], ऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि[८]।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि[११], प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्[११]॥

—ऋग् ५.४.१०

ऋषिः **वसुश्रुतः आत्रेयः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(अग्ने) हे तेजस्वी परमेश्वर! **(यः)** जो **(मर्त्यः)** मरणधर्मा [मैं] **(मन्यमानः)** आस्तिक एवं ज्ञानवान् होता हुआ **(कीरिणा[१])** स्तुतिपूर्ण **(हृदा)** हृदय से **(त्वा अमर्त्यं)** तुझ अमर को **(जोहवीमि[२])** बार-बार पुकारता हूँ [वह मैं] **(प्रजाभिः)** सन्तानों सहित **(अमृतत्वं)** अमरत्व, मोक्ष **(अश्यां)** प्राप्त करूँ। **(जातवेदः[३])** हे विज्ञान, यश आदि धनों के उत्पादक! **(अस्मासु)** हम में **(यशः)** यश को **(धेहि)** निहित कर।

हे परम कारुणिक परमेश्वर! जब मैं अपने ऊपर दृष्टिपात करता हूँ और दूसरी ओर तुझे देखता हूँ, तो अपने में और तुझमें महान् अन्तर पाता हूँ। मैं मर्त्य हूँ, मरणधर्मा हूँ, जन्म-मरण के बन्धन में बँधनेवाला हूँ और तुम अमर्त्य हो, अजर-अमर हो। जब मैं इस अन्तर पर दृष्टि डालता हूँ, तब स्वभावतः मेरी यह कामना होती है कि हमारे बीच का यह अन्तर मिटे और हम एक-दूसरे के समीप आयें। इसका उपाय मुझे यही दीखता है कि मैं तुझसे मिलने की लौ लगाकर तुझे उत्कण्ठा के साथ पुकार लगाऊँ, पर तुझे पुकारना भी तो आसान नहीं है। तू प्रत्येक की पुकार सुनता भी तो नहीं! तुझे पुकारने के लिए प्रथम 'मन्यमान' अर्थात् आस्तिक, ज्ञानवान् और सजग होना चाहिए, तुझमें उपासक को पूर्ण आस्था और निष्ठा होनी चाहिए। जो तेरी सत्ता में सन्देहशील होते हुए तुझे पुकारते हैं, उनकी पुकार सच्ची न होने के कारण तुझे प्रभावित नहीं करती। जो तुझे भजता है, अपने समीप आने का निमन्त्रण देता है, उसका हृदय 'कीरि' अर्थात् स्तुति-भावना से लबालब भरा हुआ, कीर्तनशील और तेरे चारों ओर अपनी स्तुति की तरंगों का विक्षेपण कर सकनेवाला होना चाहिए। अन्यथा निर्बल हृदय की निर्बल पुकार तुझ तक नहीं पहुँचती।

मैं चाहता हूँ कि मैं अमर परमेश्वर का स्तुति-पूजन कर आवागमन के चक्र से छूटकर अमृतत्व प्राप्त कर लूँ। मैं ही अकेला नहीं, किन्तु मेरी सन्तानें भी अमृतत्व प्राप्त कर लें। परम प्रभु का साक्षात्कार करने के उपरान्त जबतक जीवित रहूँ, तबतक सदेह मुक्ति का अनुभव करता रहूँ और शरीर छूटने के पश्चात् परम प्रभु की गोद में स्थान पाकर परम विदेह मुक्ति एवं परमानन्द को प्राप्त करूँ। यह प्रत्येक मानवजीवन का एक महान् लक्ष्य है, उस लक्ष्य-प्राप्ति का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो।

हे जातवेदः! हे विज्ञान, अध्यात्म-बल आदि धनों के उत्पादक परमात्मन्! तुम हमारे अन्दर यश निहित करो, अमरत्व-प्राप्ति एवं ब्रह्मानन्द के अवर्णनीय यश का हमें भागी बनाओ और हमें ऐसा सद्वृत्त-परायण करो कि उसके कारण सर्वत्र हमारा कीर्ति-गान ही हो, इस जीवन में हमें कीर्ति-लाभ हो और मृत्यु के उपरान्त भी कीर्ति-लाभ होता रहे।

८९. हे सर्वदुःख-छेत्ता!

**शिवस्त्वष्टरिहा गहि, विभुः पोष उत त्मना।
यज्ञे यज्ञे न उदव ॥** —ऋग् ५.५.९

ऋषिः **वसुश्रुतः आत्रेयः**। देवता **त्वष्टा**। छन्दः **गायत्री**।

(त्वष्टः[१]) हे सर्वदुःख-छेत्ता परमात्मन्! **(शिवः)** सुखकारी **(विभुः)** सर्व-व्यापक **(पोषः)** पुष्टिप्रद [आप] **(इह)** यहाँ **(आ गहि[२])** आइए **(उत)** और **(त्मना[३])** अपने-आप **(यज्ञे यज्ञे)** प्रत्येक यज्ञ में **(नः)** हमारी **(उद् अव)** उत्कृष्टतया रक्षा कीजिए।

हे त्वष्टादेव! हम आपको निमन्त्रित कर रहे हैं। आप हमारे हृदय-मन्दिर में आइए, हमारे परिवार में आइए, हमारे समाज में आइए, हमारे राष्ट्र में आइए। आप 'त्वष्टा' इस कारण कहलाते हैं, क्योंकि सब दुःखों का छेदन करनेवाले हैं। यह मरणधर्मा मनुष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक आदि विविध दुःखों से संतप्त हुआ दुःख निवारण के लिए आपकी शरण में आ रहा है, जैसे सूर्य के भीषण ताप से संतप्त मनुष्य ताप-निवारण के लिए मेघ की या वृक्ष-छाया की शरण में जाता है।

हे देवाधिदेव! आप 'विभु' हैं, कण-कण-व्यापी हैं, सर्वव्यापक हैं, अतः आपसे छिपाकर हम कोई कृत्य नहीं कर सकते, एवं सर्वव्यापी होने के कारण आप हमें कुकृत्यों से बचानेवाले हैं। कुकृत्यों एवं अकार्यों से बचाने के लिए हम आपको पुकारते हैं। आप 'पोष' हैं, पुष्टि-प्रदाता हैं, हमारी आत्मिक, मानसिक, प्राणिक, शारीरिक सर्वविध पुष्टियों को देनेवाले हैं। पुष्टि प्राप्त करने के लिए हम आपको पुकारते हैं।

हे परम रक्षक! हमारे प्रत्येक यज्ञ में आकर उसे सञ्चालित करते हुए स्वयं आप हमारी उत्कृष्टतया रक्षा कीजिये। ब्रह्मयज्ञ में हमारी रक्षा कीजिए, देवयज्ञ में हमारी रक्षा कीजिए, पितृयज्ञ में हमारी रक्षा कीजिए, अतिथियज्ञ में हमारी रक्षा कीजिए, भूतयज्ञ में हमारी रक्षा कीजिए। ऋषि-मुनियों ने दैनिक कर्तव्य के रूप में हमारे लिए इन यज्ञों का विधान किया है। पर आपकी रक्षा के बिना हमारे जीवन में इनका प्रवृत्त रह सकना कठिन है, क्योंकि अपनी ओर से तो मनुष्य उन्हीं कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहता है, जिनसे उसे कोई प्रत्यक्ष लाभ मिलता दृष्टिगोचर होता है। आप हमारे हृदयों में निरन्तर इन यज्ञों की प्रेरणा करते हुए इन्हें विच्छिन्न न होने दें। फिर, केवल ये ही यज्ञ हमारे लिए करणीय नहीं हैं, वैदिक संस्कृति के अनुसार तो हमारा प्रत्येक कार्य यज्ञमय होना चाहिए। हमारा उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जागना, अध्ययन-अध्यापन करना, कथा-उपदेश करना, कृषि करना, व्यापार करना, सेना में भर्ती होना, राज्य-सञ्चालन करना, सेवा करना, सब पर यज्ञ की छाप लगनी चाहिए। हे मनोमन्दिर के देव! आप हमारे प्रत्येक यज्ञ-कर्म की पूर्ण तत्परता के साथ रक्षा करते हुए यज्ञ-यात्रा में हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहिए।

९०. तेरे ही लिए

तुभ्येदमग्ने मधुमत्तमं वचस्[१२], तुभ्यं मनीषा इयमस्तु शं हृदे[१२]।
त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर् महीर्[११], आपृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च[१२] ॥

—ऋग् ५.११.५

ऋषिः **सुतंभरः आत्रेयः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् जगती**।

(अग्ने) हे परमेश्वर! **(तुभ्य[१])** तेरे लिए **(मनीषा)** मन की अभीप्सा [है]। **(इयं)** यह **(हृदे)** [तेरे] हृदय के लिए **(शं)** सुखदायक **(अस्तु)** हो। **(त्वां)** तुझे **(गिरः)** स्तुति-वाणियाँ **(आ पृणन्ति[२])** तृप्त करती हैं, **(च)** और **(शवसा)** बल से **(वर्धयन्ति)** बढ़ाती हैं, **(इव)** जैसे **(सिन्धुं)** समुद्र को **(महीः)** बड़ी **(अवनीः[३])** नदियाँ।

हे अग्ने! हे तेजःपुञ्ज! हे मार्गदर्शक! हे अग्रनेता! हमने समझ लिया है कि तुम्हारी कृपा के बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता, अतः हम तुम्हारी महिमामयी कृपा के अभिलाषी हैं। तुम्हारी उस परम कृपा को पाने के लिए ही हमारे सब कर्म प्रवृत्त हो रहे हैं। हे परम कारुणिक! हम जो यह मधुरतम वचन बोल रहे हैं, तुम्हारी महिमा के रसमय गीत गा रहे हैं, रसना से तुम्हारी रट लगा रहे हैं, यह सब तुम्हारे लिए ही है। हम जो अपनी मनीषा को प्रवृत्त कर रहे हैं, तुम्हें पाने की अभीप्साएँ संजो रहे हैं, मन और बुद्धि को तुम्हारे स्वागत के लिए सजा-सँवार रहे हैं, यह सब तुम्हारे लिए ही है। हे जगदीश्वर! हमारे ये मधुमत्तम वचन और हमारी ये मनीषाएँ, तुम्हारे हृदय के लिए सुखदायक और तृप्तिदायिनी हों। तुम इन स्तुति-वचनों को और तुम्हें प्राप्त करने की इन उत्कट अभीप्साओं को देखकर रीझो, प्रसन्न होवो, चैन की साँस लो कि आज कोई सच्चा भक्त तो तुम्हें मिला है। हे सब गुणों के रत्नाकर महिमामय परमात्मन्! जैसे सिन्धु में बड़ी-बड़ी नदियाँ जाकर गिरती हुई उसे निरन्तर तृप्त करती और बढ़ाती रहती हैं, वैसे ही हमारी स्तुति-वाणियाँ तुम्हारी गुण-गरिमा का गान करती हुई तुम्हें तृप्त करती हैं और तुम्हारे बल को तथा तुम्हारी महिमा को बढ़ाती हैं। पर यह भाषा बोलते हुए हमें सतर्क रहना है। समुद्र तो अतृप्त हैं, जो नदियों से तृप्त होता और बढ़ता है, परन्तु तुम तो अतृप्त नहीं हो, जो हमारी स्तुतिवाणियों से तृप्त होगे। तुम तृप्त होते हो यह देखकर कि मेरा भक्त सही मार्ग पर चल रहा है, मेरी स्तुति करके मेरे गुणों को अपने अन्दर धारण कर रहा है। तुम हम भक्तों की स्तुति-पूजा को देखकर रीझते हो, तृप्त होते हो, बढ़ते हो, फूले नहीं समाते हो, क्योंकि तुम्हारी भक्ति करके हम समुन्नत होते हैं, तुम जैसा बनने का प्रयास करते हैं। हे प्रभुवर! हमारा मधुमत्तम वचन, हमारी मनीषा, हमारी स्तुति वाणियाँ सब तुम्हारे लिए हैं। उन्हें स्वीकार करो, उनसे तुम बढ़ो और हमें भी बढ़ाओ।

९१. सत्य की धाराएँ प्रवाहित कर

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धि[११], ऋतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः[११] ।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन[११], ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः[१०] ॥

—ऋग् ५.१२.२

ऋषिः **सुतम्भरः आत्रेयः** । देवता **अग्निः** । छन्दः **त्रिष्टुप्** ।

(**ऋतं चिकित्वः**[१]) हे सत्य के ज्ञाता ! (**ऋतम् इत्**) सत्य को ही (**चिकिद्धि**) जान। (**ऋतस्य**) सत्य की (**पूर्वीः**) श्रेष्ठ (**धाराः**) धाराओं को (**अनुतृन्धि**[२]) तोड़कर प्रवाहित कर। (**अहं**) मैं (**यातुं**[३]) असत्याचरण को (**न**) न (**सहसा**) प्रबलरूप में और (**न**) न ही (**द्वयेन**) [सत्यासत्यात्मक] द्विविध आचरण के साथ [निर्बल रूप में] (**सपामि**[४]) सेवन करता हूँ। [किन्तु] (**अरुषस्य**[५]) [सत्य के रूप से] रूपवान् (**वृष्णः**) सत्यवर्षी [अग्नि प्रभु के] (**ऋतं**) सत्य को [ही (**सपामि**) सेवन करता हूँ]।

हे सत्य के ज्ञाता ! तू सदा सत्य को ही जान। सत्य ने ही द्यावापृथिवी को धारण किया हुआ है। सत्य ही किसी राष्ट्र को धारण करता है और सत्य से ही विभिन्न राष्ट्र परस्पर एक सूत्र में आबद्ध होते हैं। सत्य दो रूपों मे रहता है, एक सत्य-ज्ञान और सत्य-विचार के रूप में, दूसरे सत्य-भाषण और सत्य-कर्म के रूप में। सबसे पहले तो तू सत्य को जान, सत्य को हृदयंगम कर, फिर तदनुकूल चिन्तन, भाषण और कर्म कर। न केवल तू स्वयं सत्य का पालन कर, अपितु अपने आदर्श सत्यमय जीवन से अन्यों को भी सत्य में प्रेरित कर। समाज के वातावरण को ही सत्यमय बना दे। सर्वत्र सत्य की श्रेष्ठ धाराओं को प्रवाहित कर दे। सत्य की धाराओं को बहाना आसान नहीं है, उसके लिए तप भी करना पड़ेगा। सत्य के हिमालय पर सत्य की धाराएँ असत्य की चट्टानों से अवरुद्ध हैं। पहले असत्य की उन बाधक चट्टानों को तोड़ना होगा। उन्हें तोड़ देने पर फिर सत्य की कलकल-निनादिनी धाराएँ स्वतः प्रवाहित होने लगेंगी।

हे भाई ! मैं तुझे ही सत्य की धाराओं को बहाने का उपदेश नहीं कर रहा। आज से मैं स्वयं भी असत्याचरण को तिलाञ्जलि दे रहा हूँ। आज से मैं असत्य को न तो उसके प्रबलरूप में स्पर्श करूँगा और न ही सत्य के साथ मिले हुए सत्यासत्य के रूप में। सत्य में असत्य की पुट रहने पर भी मैं कई बार अपने-आपको यह सन्तोष देता रहा हूँ कि मैं सत्य-सेवी हूँ। पर अब मैं समझ रहा हूँ कि यह तो आत्म-प्रवंचना है। जैसे किनकी-भर भी विष से मिश्रित अमृत त्याज्य होता है, ऐसे ही असत्य की एक कणी भी मिश्रित होने पर सत्य व्यर्थ हो जाता है, अतः आज से मैं असत्य का स्पर्श भी न करूँगा, अपितु विशुद्ध सत्य को ही जीवन में ग्रहण करूँगा। सत्य के रूप से रूपवान्, सत्यवर्षी, तेजोमय प्रभु मेरे सम्मुख विद्यमान हैं। मैं तो उन्हीं के निर्मल सत्य का वरण करूँगा। हे प्रभु ! अपना सत्य मुझे प्रदान करो।

९२. ऐसे मित्रों से सावधान

सखायस्ते विषुणा अग्न एते[११], शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन्[११]।
अधूर्षत स्वयमेते वचोभिर्[११], ऋजूयते वृजिनानि ब्रुवन्तः[११]॥

—ऋग् ५.१२.५

ऋषिः **सुतम्भरः आत्रेयः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**अग्ने**) हे आत्मन्! (**एते**) ये (**ते**) तेरे (**सखायः**) मित्र (**विषुणाः**[१]) विषम [हैं], [जो] (**शिवासः**) शिव (**सन्तः**) होते हुए (**अशिवाः**) अशिव (**अभूवन्**) हो गये हैं। (**ऋजूयते**[२]) सरल आचरणवाले के लिए (**वचोभिः**) वाणियों से (**वृजिनानि**[३]) वर्जनीय कुटिल पापों को (**ब्रुवन्तः**) कहते हुए (**एते**) ये (**स्वयं**) स्वयं (**अधूर्षत**[४]) हिंसा में संलग्न रहते हैं।

हे मेरे आत्मन्! तू अग्नि है, ऊर्ध्वगामी है, उन्नति की ओर अग्रसर होनेवाला है। उन्नति की राह पर चलने में सहायक समझ तूने अपने बहुत-से संसारी मित्र भी बनाये हुए हैं। उनमें विरले ही ऐसे हैं, जो आरम्भ से अन्त तक सच्चे मित्र बने रहते हैं। उनमें बहुत-से ऐसे हैं, जो पहले 'शिव' थे, किन्तु अब 'अशिव' हो गये हैं। पहले सचमुच वे तेरी सहायता करते थे, जब कभी मार्ग से तुझे विमुख होता देखते थे, तब अपने सत्परामर्श देते थे। जब कभी तू हतोत्साह होकर हाथ-पर-हाथ रख बैठ जाता था, तब तुझे आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे। जब कभी तू काम, क्रोध आदि के वशीभूत हो उन्नति की राह छोड़ अवनति की ओर चल पड़ता था, तब वे तुझे सतर्क करते थे। तू स्वभावतः अब भी उनपर विश्वास करना चाहेगा। पर मैं तुझे सावधान कर रहा हूँ कि वे तेरे मित्र अब तेरे लिए 'शिव' नहीं रहे हैं। यह तो जगत् का खेल है कि जो आज मित्र है, वह कल ऊपर से मित्र रहता हुआ भी अन्दर से शत्रु हो जाता है और, ऐसा प्रच्छन्न मित्र खुल्लम-खुल्ला शत्रुता करनेवाले से अधिक भयंकर होता है।

अब तेरे उन मित्रों का आचरण तेरे प्रति सर्वथा विपरीत हो गया है। तुझे सरल आचरण में प्रवृत्त देख वे ऊपर से मित्रता का चोगा पहने हुए तुझे वाणी से कुटिल परामर्श देकर हानि पहुँचाना चाहते हैं। वे इतने निर्लज्ज हो गये हैं कि किसी दूसरे के माध्यम से नहीं, अपितु स्वयं तुझे वर्जनीय पापकर्मों में लिप्त होने की सलाह देते हैं। मुझे भय है कि कहीं तू उन नामधारी मित्रों के बहकावें में आकर अपने सरल आचरण से विमुख न हो जाए, अतः वेद के अनुसार मैं तुझे सतर्क करता हूँ कि 'शिव' और 'अशिव' मित्रों की पहचान कर। कोई मित्र न सदा मित्र रहता है, न ही कोई शत्रु सदा शत्रु रहता है। कौन मित्र है, कौन शत्रु है और कौन कब मित्र या शत्रु है, इसका विवेक तुझे करना होगा। मित्र और अमित्र को पहचान और उनसे यथायोग्य व्यवहार कर।

९३. तू परिभू है

अग्ने नेमिरराँ इव^८, देवांस्त्वं परिभूरसि^८।
आ राधश्चित्रमृञ्जसे^८ ॥ —ऋग् ५.१३.६

ऋषिः **सुतंभरः आत्रेयः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **गायत्री**।

(अग्ने) हे परमात्मन्! **(त्वं)** तू **(देवान्)** देवों के **(परिभूः)** चारों ओर व्यापक **(असि)** है, **(नेमिः)** रथ-चक्र की परिधि **(इव)** जैसे **(अरान्)** अरों के [चारों ओर व्याप्त होती है]। [तू] **(चित्रं)** अद्‌भुत **(राधः)** ऐश्वर्य को **(आ ऋञ्जसे[१])** [हमारे लिए] सुसज्जित और अलंकृत करता है।

रथ के चक्र में यदि नेमि न हो तो उसकी क्या गति होगी ? रथ के चक्र का विश्लेषण करें तो उसमें मध्य में सच्छिद केन्द्र होता है, जिसमें अरे जुड़े होते हैं, बाहर अरे चारों ओर नेमि से घिरे होते हैं। इस प्रकार निर्मित रथ के दोनों चक्रों के केन्द्रीय छिद्रों में धुरी के दोनों सिरे प्रवेश करते हैं। साथ में जुते हुए बैलों द्वारा खींचने पर रथ के चक्र घूमते हैं, जिससे रथ आगे बढ़ता है। रथ-चक्रों के इस वैज्ञानिक निर्माण पर ही बहुत कुछ रथ की गति निर्भर है। अब यदि रथचक्रों में से अरों को चारों ओर से घेरनेवाली नेमि को हटा दिया जाये, तो भी क्या रथ-चक्र घूम सकते हैं और रथ को आगे बढ़ा सकते हैं ? नहीं, उस स्थिति में ज्यों ही बैल रथ को आगे की ओर खींचेंगे, रथ के पहिये चरमरा जायेंगे और रथ का ढाँचा धराशायी हो जायेगा। इससे रथ-चक्रों में नेमि का महत्त्व स्पष्ट है। वेद कहता है कि जैसे रथ-चक्र की नेमि अरों के चारों ओर व्याप्त होती है, ऐसे ही अग्नि नामक परमेश्वर समस्त देवों को चारों ओर से व्याप्त किये हुए हैं। ये देव क्या वस्तु हैं ? प्रकृति में देव सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, पृथिवी आदि हैं। ये सब हमारे सौर जगत् रूप रथ के मानो विभिन्न चक्र हैं, जिससे सौर जगत् व्यवस्थित रूप से चल रहा है। जैसे रथ-चक्र नेमियों से घिरे होते हैं, वैसे ही ये सूर्य, चन्द्र आदि अग्नि प्रभुरूप नेमि से घिरे रहते हैं, वह इन सबमें परिभू है। प्रभुरूप नेमि यदि हट जाये तो ये सब पिण्ड अणु-अणु में बिखर जायेंगे और परिणामतः जगत् रूप रथ नष्ट-भ्रष्ट होकर गिर पड़ेगा, अतः सब पदार्थों में व्यापक रहनेवाले परमेश्वर की विश्व की स्थिति में कितनी अनिवार्यता है, यह हम समझ सकते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर के इन्द्रियरूपी देवों में भी वही परिभू है।

हे अग्ने! हे सब पदार्थों में अग्नि के समान व्यापक रहनेवाले परमात्मन्! तुम्हीं जगत् के प्रत्येक ऐश्वर्य को प्रसाधित, सुसज्जित और अलंकृत करते हो। तुम्हारी सत्ता, जोकि नेमि के समान उस ऐश्वर्य को घेरे हैं, यदि उस ऐश्वर्य में से निकल जाये, तो वह ऐश्वर्य क्षणभंगुर और आभाहीन हो जाये, अतः जगत् में तुम्हारी स्थिति को स्तुत्य समझते हुए हम तुम्हारी मुहुर्मुहुः स्तुति करते हैं, तुम्हारा महिमागान करते हैं और अहर्निश तुम्हें जगत् के और अपने 'परिभू' के रूप में स्मरण करते हैं।

९४. गौओं, नदियों और स्वः की उपलब्धि

अग्निर्जातो अरोचत[८], घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तमः[८]।
अविन्दद् गा अपः स्वः[७]॥ —ऋग् ५.१४.४

ऋषिः **सुतंभरः आत्रेयः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(**अग्निः**) तेजस्वी जीवात्मा (**जातः**) [शरीर में] जन्म लेकर (**अरोचत**) चमका है। [इसने] (**ज्योतिषा**) ज्योति से (**दस्यून्**) दस्युओं को [और] (**तमः**) तमस् को (**घ्नन्**[१]) विनष्ट करते हुए (**गाः**[२]) प्रकाश-किरणों को, (**अपः**) नदियों को [तथा] (**स्वः**[३]) आनन्द को (**अविन्दत्**) पा लिया है।

अग्नि ने धरातल पर जन्म लिया है, तेजस्वी आत्मा शरीर में अवतीर्ण हुआ है। क्या शरीर में आत्मा का प्रवेश निरर्थक ही रह जायेगा? क्या जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह जन्म मिला है, उसे आँखों से ओझल रखकर एक दिन जैसे यह शरीर में आया था, वैसे ही शरीर से निकल जायेगा? यह शत-वर्ष की आयु का सुदीर्घ काल क्या व्यर्थ ही बीत जायेगा? नहीं, मेरा आत्मा लक्ष्य के प्रति सजग है। यह शरीर में जन्म पाकर अपनी प्रखर दीप्ति से चमक रहा है, शरीर का सम्राट् बनकर देदीप्यमान हो रहा है। जैसे निविड अँधियारी रात्रि में अग्नि अपनी ज्वालाओं से उद्भासित हो तमस् को विच्छिन्न कर रात्रिंचर राक्षसों को पराभूत करता है, वैसे ही मेरा आत्माग्नि मन में व्याप्त मोहनिशा में अध्यात्म-ज्योति से जगमगाता हुआ तामसिकता को विनष्ट कर तामसिकता में पलनेवाले कामादि दस्युओं को ध्वस्त करता है। तमस् पर विजय एक बड़ी विजय है, क्योंकि तमस् उच्च ईश्वरीय स्रोत से आनेवाले महान् प्रकाश को अवरुद्ध करता है। तमस् पर की गयी विजय वसे अवरुद्ध गौओं, नदियों और स्वः की निर्बाध उपलब्धि होने लगती है।

गौएँ अन्तःप्रकाश की किरणें हैं, जो प्रकाश के पुंज परमात्मा से निकलकर हमारी आत्मा की ओर आती हैं। हमारी मानसिक चेतना में व्याप्त अन्धकार उन प्रकाश-किरणों को आत्मा तक आने से रोकता है। नदियाँ ऋत[४] की धाराएँ हैं, जो आत्मा की ओर ऋत के दिव्य स्रोत परमात्मा से आती हैं। इन्हें भी बीच में छाया हुआ 'तमस्' आत्मा तक आने से रोकता है। 'स्वः' वह दिव्य ब्रह्मानन्द है, जो ईश्वरीय संस्पर्श से साधक को प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति में भी 'तमस्' बाधक होता है। आज बड़े हर्ष का विषय है, आज का दिन बड़ा सुदिन है कि मेरे आत्माग्नि ने, क्योंकि मध्यवर्ती तमस् को उन्मूलित कर दिया है, अतः परम प्रभु के समीप से आती हुई दिव्य प्रकाश की किरणें, सत्य की महिमामयी उमड़ती हुई धाराएँ और प्रभु का अनुपम ब्रह्मानन्द मुझे प्राप्त हो रहा है। हे मेरे आत्मन्! स्थायी रूप से तुम 'तमस्' को विलीन किये रहो, जिससे 'गौओं', 'नदियों' और 'स्वः' की निरन्तर उपलब्धि होती रहे।

९५. माता के समान पालक

मातेव यद् भरसे पप्रथानो[११], जनं जनं धायसे चक्षसे च[११]।
वयो वयो जरसे यद् दधानः[११], परि त्मना विषुरूपो जिगासि[११]॥

—ऋग् ५.१५.४

ऋषिः **धरुणः आङ्गिरसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

[हे अग्निस्वरूप परमात्मन्!] (**यत्**) जो [तू] (**पप्रथानः[१]**) प्रख्यात होता हुआ (**जनं जनं**) जन-जन को (**धायसे[२]**) दूध पिलाने के लिए (**च**) और (**चक्षसे[३]**) देखभाल रखने के लिए (**माता इव**) माता के समान (**भरसे**) धारण करता है, गोद में उठाता है, [और] (**यद्**) जो (**वयः वयः**) प्रत्येक जीवन को (**दधानः**) सहारा देता हुआ (**जरसे[४]**) दीर्घजीवी बनाता है, [वह तू] (**त्मना**) अपने-आप में (**विषुरूपः**) अनेक रूप [होता हुआ] (**परि जिगासि[५]**) चारों ओर गया हुआ है, सर्वव्यापक है।

हे सकल जग में अपनी कीर्ति से प्रख्यात जगदीश्वर! शिशुओं के समान स्वयं को अरक्षित समझ प्रत्येकजन तुम्हारी शरण में आ रहा है। जैसे माँ अपने शिशुओं को दूध पिलाने के लिए और उनकी देखभाल करने के लिए अपनी गोद में उठाती है, वैसे ही तुम जन-जन को अपनी अभयदायिनी संतापहारिणी गोद में लेकर अपना पयःपान कराते हो और उनकी देख-भाल तथा संरक्षण तुम पूर्णतः अपने हाथ में ले लेते हो। हम लोग पुष्टिकर सांसारिक खाद्य और पेय पदार्थों को भले ही खाते-पीते रहें, पर उनसे प्राप्त पुष्टि तबतक अकिंचित्कर रहती है, जबतक मनुष्य तुम्हारे दिव्य पयःपान से आत्मिक पुष्टि प्राप्त नहीं कर लेता और असल में देखा जाये तो आत्मिक पुष्टि ही क्यों, भौतिक पुष्टि को भी देनेवाले तुम्हीं हो, क्योंकि समस्त भौतिक पोषण खाद्य और पेय भी तुम्हारे ही दिये हुए हैं। माँ के समान केवल तुम पयःपान ही नहीं कराते, अपितु शिशुओं की सम्पूर्ण सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी ग्रहण करते हो।

हे परमात्मन्! इस भूमि-माता की गोद में जो अगणित जन निवास करते हैं, उनमें से प्रत्येक के जीवन को तुम सहारा देते हो। यदि तुम्हारा सहारा हमें न हो तो हम कहीं भी, किसी भी स्थिति में लड़खड़ाकर गिर पड़ें, जरा-सी भी बाधा आनेपर विचलित हो जायें। हम गिरते-पड़ते, रोगाक्रान्त होते जनों को तुम अवलम्ब बनकर ऊपर उठाते हो, दीर्घजीवी बनाते हो। हे ब्रह्माण्ड के अधिपति! तुम एक होते हुए भी अनेकरूप हो, अपने विभिन्न गुण-कर्मों के आधार से माता, पिता, भाई, बन्धु, सखा, स्वामी, जगत्-स्रष्टा जगदाधार आदि विभिन्न रूपों में स्मरण किए जाते हो। तुम किसी एक विशेष स्थान पर स्थित न होकर चारों ओर विद्यमान हो, सर्वव्यापक हो। सर्वव्यापक होकर तुम सब वस्तुओं की चौकसी कर रहे हो। हे ज्योतिर्मय प्रभु! तुम हमें भी माँ बनकर अपने अंक में ले लो, हमें भी अपना पयःपान कराओ, हमें भी सहारा दो और प्रहरी बनकर हमारी भी सतत रक्षा करते रहो।

९६. तेरे यश उत्तम हों

अग्ने शर्ध महते सौभगाय[११], तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु[१०]।
सं जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व[११], शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि[११] ॥

—ऋग् ५.२८.३

ऋषिः **विश्ववारा आत्रेयी**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(अग्ने) हे अग्रणी मानव! **(महते)** महान् **(सौभगाय)** सौभाग्य के लिए **(शर्ध[१])** उत्साह धारण कर। **(तव)** तेरे **(द्युम्नानि)** यश **(उत्तमानि)** उत्तम **(सन्तु)** हों। **(जास्पत्यं[२])** जाया-पति-भाव को **(सं)** सम्यक् प्रकार **(सुयमं)** सुनियन्त्रित **(आ कृणुष्व)** कर। **(शत्रूयतां[३])** शत्रुता का आचरण करनेवाले के **(महांसि)** तेजों को **(अभि तिष्ठ)** आक्रान्त कर।

जीवन में प्रत्येक मनुष्य सुभग बनना चाहता है। भग इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु है कि परमेश्वर भी उसे धारण करते हैं और भगवान् कहाते हैं। प्रत्येक प्रकार के निर्दोष ऐश्वर्य का नाम 'भग' है, चाहे वह भौतिक ऐश्वर्य हो, चाहे मानसिक या आत्मिक। हे अग्रगामी मानव! यदि तू भी उस ऐश्वर्य को पाना चाहता है, तो उत्साह धारण कर, अपने अन्दर उसे पाने की अभीप्सा उत्पन्न कर और उसे पाने के लिए प्रयत्नशील हो। उसे पाकर तू सौभाग्यवान् कहलाने लगेगा। सौभाग्य के अन्दर सफलता, श्री, उत्कर्ष, विजय, उल्लास आदि अनेक उपलब्धियाँ समाविष्ट हैं। सौभाग्य जन्म से किसी के माथे पर नहीं लिखा होता। उत्साह ही सौभाग्य की कुंजी है। उत्साही बन और सौभाग्य को हस्तगत कर। तेरे यश उत्तम हों, अत्यन्त ऊँचाई तक दिग्-दिगन्त में व्याप्त हों, साथ ही गुण की दृष्टि से भी उत्तम हों। मनुष्य की पहचान उसके यश से होती है। साधारण यशवाला मनुष्य साधारणकोटि का, मध्यम यशवाला मनुष्य मध्यमकोटि का और उत्तम यशवाला मनुष्य उत्तमकोटि का गिना जाता है। तू उत्तम यश से जगमगा, उच्चतम उज्ज्वल कीर्ति का पात्र बन। बल, विज्ञान, धर्म, पौरुष आदि प्रत्येक क्षेत्र में तेरी कीर्ति-कौमुदी का विस्तार हो।

हे मानव! तू जाया-पति-भाव को भी सुनियन्त्रित रख. पूर्णता की प्राप्ति के लिए और जीवन-रथ को सुचारु रूप से सञ्चालित करने के लिए मनुष्य जाया-पति-भाव के बन्धन में बद्ध होता है। यह बन्धन यज्ञ और संस्कार के साथ स्वीकार किया जाता है। यह आश्रम का बन्धन है, पवित्र बन्धन है, अतः अपने जाया-पति-भाव को सम्यक्-नियन्त्रण, जितेन्द्रियता और यम-नियमों के पालन के साथ व्यतीत कर। तब तुझे अमृत-फल प्राप्त होगा।

हे अग्रगन्ता! जीवन-मार्ग में आगे बढ़ते हुए तेरे साथ अनेक व्यक्ति शत्रुता का आचरण करेंगे। कई बार मित्र भी शत्रु हो जायेंगे और तुझे मार्गच्युत करने का प्रयास करेंगे। जब तेरे शत्रु साज-बाज के साथ तुझे वशीभूत करने आयें, तब तू उनके तेजों को आक्रान्त करले और उन्हें प्रदर्शित करदे कि आगे बढ़ने की उमंगवाले सत्य-मार्ग के यात्री के अन्दर कैसी प्रबल शक्ति होती है।

९७. तेरी श्री की वन्दना करता हूँ

समिद्धस्य प्रमहसो॰, ऽग्ने वन्दे तव श्रियम्॰।
वृषभो द्युम्नवाँ असि॰, समध्वरेष्विध्यसे॰॥

—ऋग् ५.२८.४

ऋषिः **विश्ववारा आत्रेयी**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् अनुष्टुप्**।

(अग्ने) हे अग्नि! **(समिद्धस्य)** [समिधा आदि से] प्रदीप्त, **(प्रमहसः)** उत्कृष्ट तेजवाले **(तव)** तेरी **(श्रियं)** श्री को, शोभा को **(वन्दे)** वन्दन करता हूँ। [तू] **(वृषभः[१])** वर्षा करनेवाला [और] **(द्युम्नवान्[२])** यशस्वी **(असि)** है, [तू] **(अध्वरेषु[३])** यज्ञों में **(सम्-इध्यसे[४])** समिद्ध किया जाता है।

यज्ञकुण्ड में अग्न्याधान करने के पश्चात् समिधाओं और घृताहुतियों से प्रदीप्त तेजवाले अग्नि की जो शोभा होती है, उसके प्रति सहसा वाणी से वन्दन के स्वर निकल पड़ते हैं। अग्नि की लेलायमान जिह्वाएँ यजमान को मानो 'आओ आओ' कहती हुई अपने साथ उत्कर्ष के लोक में चलने का निमन्त्रण दे रही हैं। हे अग्नि! तुम यजमान के प्रति यज्ञ के सुन्दर फलों की वर्षा करने के यश से यशस्वी हो, अतएव याज्ञिकजनों द्वारा छोटे-बड़े सब यज्ञों में प्रज्वलित किये जाते हो। तो भी हे यज्ञाग्नि! तुम्हारे तेज का स्रोत कोई अन्य ही है, जो अग्नियों का भी 'अग्नि' है, उसी 'अग्नि' की चिंगारियों से तुम्हारी ज्वाला जलती है। उस परम 'अग्नि' को भी मैं प्रणाम करता हूँ।

हे अग्निस्वरूप परमात्मन्! तुम जब मेरे हृदयरूपी यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त होते हो, तब तुम्हारी जो अद्भुत श्री होती है, जो निराली सुषमा होती है, वह वाणी से वर्णन नहीं की जा सकती। जितना ही अधिक मैं अपने ध्यान की समिधा तुम्हें अर्पित करता हूँ, उतना ही अधिक तुम्हारी ज्योति बढ़ती जाती है। वह गगनचुम्बिनी ज्वालाओंवाली ज्योति मुझे ऐसा अभिभूत कर लेती है कि मैं उसके सम्मुख नतशिरस्क होकर तुम्हारी वन्दना के गीत गाने लगता हूँ। हे अग्निदेव! तुम मेरे आत्मा में वर्चस्व, आनन्द-रस तथा सद्गुणों की वृष्टि करते हो। तुम्हारी वृष्टि से स्नात होकर मेरा आत्म-मन्दिर पवित्र हो जाता है। हे तेजःपुंज! तुम अपार यश के अधिपति हो, क्योंकि जगत् में जो भी तेजोमय पदार्थ हैं, उनमें तुम्हारा ही तेज है। सूर्य, चाँद, सितारे, बिजली सब तुम्हारी ही आत्मा से भासित हैं। संसार के महापुरुष जब भी किसी 'अध्वर' का, अहिंसामय यज्ञ का सूत्रपात करते हैं, तब उस यज्ञ की अग्नि के रूप में तुम्हें ही प्रतिष्ठित करते हैं। वे अपने मानस में तुम्हें बुझने नहीं देते। तभी तुमसे प्राप्त प्रकाश में वे अपने 'यज्ञ' को पूर्ण कर पाते हैं। हे अग्निस्वरूप! पुनः-पुनः तुम्हारी हम अर्चना करते हैं, वन्दना करते हैं और उससे स्वयं को धन्य मानते हैं।

९८. आओ, इन्द्र के दर्शन करें

अवाचचक्षं पदमस्य सस्वः[११], उग्रं निधातुरन्वायमिच्छन्[१०]।
अपृच्छमन्याँ उत ते म आहु[११], रिन्द्रं नरो बुबुधाना अशेम[११]॥

—ऋग् ५.३०.२

ऋषिः **बभ्रुः आत्रेयः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**अस्य**) इस [इन्द्र] के (**सस्वः**[१]) छिपे हुए (**पदं**) स्वरूप को (**अवाचचक्षं**[२]) [मैंने] देखा है; (**अनु इच्छन्**) खोज करते हुए [मैंने] (**निधातुः**) धारणकर्ता [इन्द्र] के (**उग्रं**) उत्कृष्ट स्वरूप को (**आयम्**[३]) पा लिया है। (**अन्यान्**) औरों से (**अपृच्छम्**) [मैंने] पूछा था। (**उत**) और (**ते**) उन्होंने (**मे**) मुझे (**आहुः**) कहा [कि] (**नरः**) [हम] मनुष्य (**बुबुधानाः**[४]) प्रबल जिज्ञासा रखते हुए [ही] (**इन्द्रं**) इन्द्र को (**अशेम**[५]) पा सकते हैं।

वेदशास्त्र कहते हैं कि 'इन्द्र' बहुत वीर है, दानी है, लोकों का रचयिता है, जगत् का धर्ता है, मेघों को बरसानेवाला है, नदियों को बहानेवाला है, सूर्य-चाँद को चमकानेवाला है, भक्तों का रक्षक है, दुष्टों का ध्वंसक है। तुम पूछते हो—"वह इन्द्र कहाँ है ? किसने उसे देखा है ?" तुममें से कुछ शास्त्रोक्त बात पर विश्वास करते हुए जिज्ञासा-भाव से पूछते हैं कि उसका पता-ठिकाना जानें; कुछ संशयालु होकर पूछते हैं कि उसका अता-पता कोई बता सकेंगे तब तो उसकी सत्ता मानेंगे, अन्यथा नहीं; कुछ कट्टर नास्तिकता के साथ 'वह है ही नहीं' यह मन में रखते हुए पूछते हैं। सुनो, तुम सभी से मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि तुम मूर्तिमान् के रूप में उसे कहीं देखने की आशा करते हो, तो कभी नहीं देख पाओगे। तुम यह सोचते हो कि जैसे कुम्हार घट की रचना करता हुआ दिखाई देता है, वैसे ही 'इन्द्र' अपने हाथों से जगत् की वस्तुएँ रचता हुआ या उन वस्तुओं को धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होगा, तो तुम्हें निराश होना पड़ेगा। जो निराकार और निरवयव है, उसकी मूर्ति और उसके हाथ-पैर आदि अवयवों को तुम कैसे देख सकते हो ? वेद क्वचित् उसके अंगों का, रथ, घोड़े, वज्र आदि साधनों का तथा भक्षण, पान आदि क्रियाओं का जो वर्णन करते हैं, वह आलंकारिक भाषा है।

इन्द्र के दर्शन वे ही कर पाते हैं, जो सच्चे भाव से उसकी खोज करते हैं। उसका स्वरूप गुह्य है। पहले मैं भी जब भक्तों से उसकी महिमा सुनता था और उसे देख नहीं पाता था, तब व्याकुल हो जाता था। मेरे मन में भी उसकी सत्ता के विषय में प्रश्नवाचक चिह्न लगता था। मैंने ईश्वर-द्रष्टा मनीषियों से पूछा। उन्होंने मुझे कहा कि इन्द्र के दर्शन शङ्काशील मन से नहीं होते, उसके लिए जिज्ञासु बनना आवश्यक है। तब मेरे अन्दर इन्द्र को खोजने की लगन लग गई। उसे पाये बिना मुझे चैन नहीं था, दिनरात उसी की रटना लगी थी। मैंने अपने चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुख कर लिया। मेरा मन उसी के ध्यान में तल्लीन रहने लगा। अन्ततः मैंने उसके छिपे हुए रूप का दर्शन पा लिया। अब सूर्य, अग्नि, वायु, विद्युत्, चन्द्र,तारे सब में मुझे उसी का दिव्य स्वरूप मुस्कराता हुआ दिखाई देता है। आओ, हम सभी उसके दर्शन करें।

९९. मेरा मन काँप रहा है

चक्रं न वृत्तं पुरुहूत वेपते[१२], मनो भिया मे अमतेरिदद्रिवः[१२]।
रथादधि त्वा जरिता सदावृध[१२], कुविन्नु स्तोषन् मघवन् पुरूवसुः[१२]॥

—ऋग् ५.३६.३

ऋषिः **प्रभूवसुः आङ्गिरसः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **जगती**।

(पुरुहूत[१]) हे बहु-स्तुत **(अद्रिवः[२])** वज्रधर परमात्मन्! **(मे)** मुझ **(अमतेः)** मतिहीन का **(मनः)** मन **(इत्)** सचमुच **(वृत्तं चक्रं न)** गोल चक्र के समान **(भिया)** भय से **(वेपते)** काँप रहा है। **(सदावृध)** हे सदा बढ़ानेवाले, **(मघवन्)** धनी परमात्मन्! [अब यह] **(पुरूवसुः)** बहु-धनी [जन] **(रथात् अधि)** रथ से उतरकर **(जरिता[३])** स्तोता [बनकर] **(नु[४])** शीघ्र **(कुवित्[५])** बहुत-बहुत **(त्वा स्तोषत्[६])** तेरी स्तुति करेगा।

हे अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी इन्द्र परमात्मन्! मैंने तुमसे पुष्कल धन की याचना की थी। तुम्हारी कृपा से वह पूर्ण हुई। मैं 'पुरूवसु' हो गया, बहुत धनी बन गया। सर्वविध धन-धान्य, सब प्रकार की साज-सजावट, हर तरह के रथ-वाहन मेरे पास हो गये। धन प्राप्त करके मुझे विनयी और अपने प्रभु का कृतज्ञ होना चाहिए था। पर मैंने तो तुम्हें विस्मृत ही कर दिया। मैं सोचने लगा कि धन तो मैंने अपने पौरुष से कमाया है और मैं ही उसका स्वामी हूँ। मेरे अन्दर अभिमान आ गया। मैं गर्व से सिर उन्नत कर चलने लगा। मैं समझने लगा कि आज मैं धन-कुबेर हूँ, मुझ-सा दूसरा और कोई नहीं है। पर, हे प्रभु! मैं यह भूल ही गया कि तुम मुझसे भी बड़े धनी हो, 'मघवा' हो, धन के भण्डारी हो। तुम ही 'सदावृध' हो, अपने भण्डार में से धन देकर सदा बढ़ानेवाले हो। मैं यह भी भूल गया कि तुम 'पुरुहूत' हो, बहुत-बहुत स्तुति किये जानेवाले हो, अतः मुझे भी तुम्हारी स्तुति करनी चाहिये। मैंने इस ओर भी ध्यान न दिया कि तुम 'अद्रिमान्' हो, वज्रधर हो, दण्ड देकर बड़े-बड़े अभिमानियों का अभिमान चूर करनेवाले हो। अब तो हे इन्द्रदेव! मैं भय के मारे बुरी तरह काँप रहा हूँ। जैसे बाजीगर का अंगुलि पर घूमता हुआ गोल-चक्र या कुम्हार का मिट्टी के बर्तन बनाने का साधन गोल चक्का काँपता है, वैसे ही मैं काँप रहा हूँ। मुझे तुमने मन दिया था मनन-स्तवन करने के लिए, पर मैं तो अमति ही बना रहा। यह भी न सोचा कि धन तो मेरा नहीं, धन तो प्रभु का है, दूसरे की वस्तु पर क्या अभिमान! जिसने धन दिया है, प्रातः-सायं उसके ही चरणों में बैठकर सिर क्यों न नवाऊँ! पर, जो हुआ सो हुआ, अब तो हे मेरे प्रभु मैं रथ, बग्घी, मोटरकार आदि में बैठने के गर्व का परित्याग कर, रथ से उतरकर 'अभिमान को तिलाञ्जलि दे, विनीत हो, तुम्हारा स्तोता बनूँगा, अहर्निश बहुत-बहुत तुम्हारी अर्चना करूँगा, धन को तुम्हारी ही कृपा का प्रसाद मानकर उसका सदुपयोग करूँगा और धन जितना ही मेरे पास बढ़ेगा, उतनी ही तुम्हारे प्रति मेरी भक्ति भी बढ़ेगी। हे देव! मुझ 'पुरूवसु' की भक्ति की भेंट स्वीकार करो।

१००. रुद्र की स्तुति कर

तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा[१०], यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य[११]।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं[११], नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य[११]॥

—ऋग् ५.४२.११

ऋषिः **भौमः अत्रिः**। देवता **रुद्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

[हे मनुष्य, तू] (**तम् उ**) उसकी ही (**स्तुहि**) स्तुति कर, (**यः**) जो (**स्विषुः** उत्कृष्ट बाणोंवाला, [और] (**सुधन्वा**) उत्कृष्ट धनुषवाला (है), (**यः**) जो (**विश्वस्य**) सब (**भेषजस्य**) औषध का (**क्षयति**[१]) स्वामी है। (**महे**) महान् (**सौमनसाय**) सौहार्द एवं शुभमनस्कता के लिए (**रुद्रं**) रुद्र का (**यक्ष्व**) यजन कर, (**नमोभिः**) नमस्कारों से (**असुरं**[२]) प्राणदाता (**देवं**) [उस रुद्र] देव का (**दुवस्य**) पूजन कर।

हे मानव! तू रुद्र की स्तुति कर। रुद्र परमेश्वर का ही एक नाम है। वह रुद्र इस कारण कहाता है, क्योंकि सबको सत्योपदेश देता है, दुःख, रोग आदि को दूर करता है और अन्यायी दुष्टजनों को दण्ड देकर रुलाता है[३]। उसके एक हाथ में तीर-कमान है, तो दूसरे हाथ में भेषज है। वह गर्वीले-से-गर्वीले आततायी के गर्व को चूर करता है, वह बड़े-से-बड़े नर-संहारक का संहार करता है। दूसरी ओर वह दर्द से कराह रहे आतुरों के दर्द को हरनेवाला है, पीड़ितों के घाव को भरनेवाला है। उसके पास हर रोग की दवा है, उसके पास प्रत्येक सन्ताप की औषध है। किसी सांसारिक ऐश्वर्य की हानि होनेपर उमड़ते हुए मानसिक सन्ताप को वही हरता है। किसी प्रियजन के वियुक्त हो जानेपर अनुभूत होती हुई अन्तस्तल की मार्मिक वेदना से वही उद्धार करता है। कोई महापाप हो जानेपर पश्चात्ताप से सिसकते हृदयों को वही सान्त्वना देता है।

महान् सौमनस्य को पाने के लिए भी उसी रुद्र का यजन कर। उसके यजन से तेरे मन में किसी के प्रति उत्पन्न होनेवाले समस्त दुर्भाव, दुर्विचार और वैमनस्य आँधी से तिनकों के समान उड़ जायेंगे। जब तू यह सोचेगा कि सब मानव उसी रुद्र के अमृत-पुत्र हैं, तब पारस्परिक दौहार्द लुप्त होकर सौहार्द की भावना तुझमें हिलोरें लेने लगेगी। स्मरण रख, वह रुद्र 'असुर' है, प्राणशक्ति का प्रदाता है, संजीवन-रस पिलानेवाला है। उसकी तू नमस्कारों द्वारा परिचर्या कर। दिखावे की स्तुति से वह रीझनेवाला नहीं है, वह तो नमन का, हार्दिक प्रेम का, भूखा है। उसके प्रति तू नम्र हो जा, विनत हो जा, नमस्कारों की प्रसूनाञ्जलि का उपहार उसे प्रदान कर। तेरी भेंट स्वीकार होगी। तू कृतकृत्य हो जाएगा। तू 'रुद्र' की वन्दना कर।

१०१. आओ, सुधी बनें

एतो न्वद्य सुध्यो भवाम[१], प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः[३२]।
आरे द्वेषांसि सनुतर्दधामा,[५६] ऽयाम प्राञ्चो यजमानमच्छ[७०]॥

—ऋग् ५.४५.५

ऋषिः **सदापृणः आत्रेयः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(आ इत) आओ, **(नु)** निश्चय ही **(अद्य)** आज **(सुध्यः[१])** सुधी—सुमति और सुकर्मा **(भवाम)** होवें, **(दुच्छुनाः[२])** दुर्गतियों को **(वरीयः[३])** आत्यन्तिकरूप से **(प्र मिनवाम[४])** प्रनष्ट कर दें; **(सनुतः[५])** छिपे हुए **(द्वेषांसि)** द्वेषभावों को **(आरे)** दूर **(दधाम)** रख दें; **(प्राञ्चः[६])** प्रगतिशील [हम] **(यजमानम् अच्छ)** यजमान के प्रति **(अयाम[७])** जायें।

आओ, आज हम सुधी बनें, सुविचारशील और सुकर्मा बनें। विचार और कर्मों का परस्पर बड़ा सम्बन्ध है; जैसे विचार होते हैं, वैसे ही मनुष्य कर्म करता है, अतः वैदिक धी शब्द एक-साथ विचार और कर्म दोनों का वाचक है। अब तक हमारे विचार और कर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते थे, किन्तु आज से निश्चय करें कि हम शुभ विचार ही मन में लायेंगे और तदनुसार कर्म भी शुभ ही करेंगे। कभी-कभी किये जानेवाले अशुभ विचारों और अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप हमें दुष्फल या दुर्गति भी प्राप्त होती रही है। उस दुर्गति की परम्परा को आज हम आत्यन्तिकरूप से समाप्त कर दें, हमें सदा सुगति और सत्फल ही प्राप्त हों। यद्यपि हम अपने मनों से सबके प्रति सौहार्द रखने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं, तो भी सम्भव है मानव-सुलभ दुर्बलतावश हमारे मानस के किसी कोने में द्वेषभाव भी छिपे बैठे हों, जो कभी अपने अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रकट हो जाने का अवसर देखते रहते हों। आओ, आज हम आत्म-निरीक्षण कर उन समस्त द्वेषभावों को खोज-खोजकर विनष्ट कर दें। सबके प्रति सौमनस्य, प्रेम और सख्य को ही धारण करें। साथ ही हम प्रगतिशील भी बनें। हमने अपने मनों में जो अन्ध-विश्वास पाले हुए हैं, जिनसे हमारी उन्नति अवरुद्ध है, उन्हें तिलाञ्जलि दे दें। चारों ओर दृष्टि डालकर हम देखें कि ऐसे व्यक्ति कौन हैं जो यजमान बने हुए हैं, जो स्वार्थ को छोड़कर परार्थ-साधन में लीन हैं। उनमें कोई साक्षरता और विद्या के प्रसार का यज्ञ कर रहे होंगे। कोई अपंगों की सेवा का यज्ञानुष्ठान रचा रहे होंगे। कोई आतुरों की निःशुल्क चिकित्सा का यज्ञ चला रहे होंगे। कोई धर्मोद्धार-यज्ञ के सूत्रधार होंगे। कोई क्षात्र-धर्म-यज्ञ के कर्णधार होंगे। कोई कृषि-यज्ञ के स्रष्टा होंगे। कोई विद्यानुसन्धान-यज्ञ के परिचालक होंगे। इसी प्रकार अनेकों व्यक्ति व्रती यजमान बनकर यज्ञ के आयोजनों में तत्पर होंगे। उनमें से किसी यजमान से हम भी जा मिलें और उसके साथ मिलकर हम भी यज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ कर दें। हे विश्वेदेवाः! हे दिव्य भावनाओं से ओतप्रोत विद्वज्जनो! हमारे इन सङ्कल्पों के पूर्ण होने में सहायक बनो।

१०२. प्राणों का कर्तृत्व

न स जीयते मरुतो न हन्यते[१२], न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति[१२]।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय[१२], ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ[१२]॥

—ऋग् ५.५४.७

ऋषिः **श्यावाश्वः आत्रेयः**। देवता **मरुतः**। छन्दः **जगती**।

(मरुतः) हे प्राणो! [तुम] **(यं)** जिस **(ऋषिं वा)** ऋषि को **(राजानं वा)** या राजा को **(सुषूदथ[१])** प्रेरित या रक्षित करते हो, **(सः)** वह **(न जीयते)** न जीता जाता है, **(न हन्यते)** न मारा जाता है, **(न स्रेधति[२])** न क्षीण होता है, **(न व्यथते)** न व्यथित होता है, **(न रिष्यति[३])** न हानि प्राप्त करता है, **(न)** न **(अस्य)** इसकी **(रायः)** सम्पत्तियाँ **(उपदस्यन्ति[४])** क्षीण होती हैं, **(न)** न ही **(ऊतयः)** रक्षाएँ।

प्राण मनुष्य-शरीर में एक बड़ी सवल शक्ति है। प्राणरूप अश्व ही इस शरीर-रथ को वहन कर रहा है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि एक बार देहस्थ सब शक्तियों में विवाद उपस्थित हो गया कि हममें कौन वलिष्ठ है। चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब स्वयं को बड़ा कहने लगे। वे प्रजापति के पास निर्णय के लिए पहुँचे। प्रजापति ने उन्हें एक सूत्र बताया कि जिसके शरीर से निकल जाने पर शरीर दरिद्रतर हो जाये, वही तुममें सबसे बड़ा है। सबने क्रमशः परीक्षा की। चक्षु, श्रोत्र, मन आदि के एक-एक कर निर्गत हो जानेपर भी शरीर पूर्ववत् सजीव बना रहा, केवल उस-उस इन्द्रिय के व्यापार से शून्य हो गया, परन्तु जब प्राण शरीर से निकलने लगा, तब जैसे कोई बलवान् घोड़ा निकलते समय बन्धन के खूँटों को भी अपने साथ उखाड़ ले जाता है, वैसे ही प्राण चक्षु आदि इतर इन्द्रियों को भी अपने साथ ले जाने लगा। तब सब इन्द्रियों ने प्राण का सिक्का मान लिया कि तुम्हीं हम सबमें बलिष्ठ हो।

हे प्राणो! तुम जिस जन के, जिस ऋषि के, जिस राजा के अनुकूल हो जाते हो, जिसे तुम्हारी प्रेरणा और रक्षा प्राप्त हो जाती है, उसे कोई जीत नहीं सकता, उसे कोई मार नहीं सकता, उसे कोई क्षीण नहीं कर सकता, उसे कोई व्यथित नहीं कर सकता, उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। प्राणों का आयाम करने से ऋषि का ऋषित्व स्थिर रहता है, राजा का राजत्व अक्षुण्ण रहता है। राष्ट्र में जो कार्य वीर क्षत्रिय करते हैं, वही कार्य शरीर में प्राणों का है। प्राणमय कोष की सम्पदा को सुरक्षित रखने से, प्राणायामादि द्वारा प्राण को बलवान् बनाते रहने से, मानव-शरीर की कोई सम्पत्ति क्षीण नहीं होती, अपितु वह सुरक्षित और प्रफुल्ल बनी रहती है। प्राण के निग्रह से इन्द्रियादि के दोष वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्नि में तपाई जाती हुई धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं। अतः आओ, हम भी अपने प्राणमय कोष को समृद्ध करें।

१०३. मित्र का मार्ग

यन्नूनमश्यां गतिं[७], मित्रस्य यायां पथा[७]।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे[८]॥

—ऋग् ५.६४.३

ऋषिः **अर्चनानाः आत्रेयाः**। देवता **मित्रः**। छन्दः **चतुष्पदा भुरिग् उष्णिक्**।

(यत्) यदि **(नूनं)** निश्चय ही [मैं] **(गतिं)** गति को, चलने के सामर्थ्य को **(अश्यां)** पा लूँ, [तो], **(मित्रस्य)** मित्र प्रभु के **(पथा)** मार्ग से **(यायां)** चलूँ। **(अस्य)** इस **(अहिंसानस्य)** अहिंसक **(प्रियस्य)** प्रिय [मित्र प्रभु] के **(शर्मणि)** शरणदायक मार्ग पर [अन्य लोग भी] **(सश्चिरे[१])** चलते रहे हैं।

एक शिशु है, जिसने अभी चलना नहीं सीखा है। अन्यों को चलता हुआ देख उसके मन में भी चलने की अदम्य लालसा उत्पन्न होती है। वह खड़ा होता है, परन्तु पैर डगमगा जाते हैं, चलना चाहता है; किन्तु लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। आज मेरी भी यही अवस्था है। मैं भी चलना नहीं जानता। यद्यपि कदम बढ़ा लेता हूँ, दौड़-भाग भी लेता हूँ, फिर भी मुझे चलना नहीं आता। तुम कहोगे कि यह कैसा विरोधाभास है? पर नहीं, विरोधाभास नहीं, सचमुच मैं चलना नहीं जानता। चलना तो वह है, जो ठीक मार्ग से चला जाये। पशु को कहीं गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए रास्ते में छोड़ दें, तो वह उस रास्ते को छोड़कर जिधर हरियाली देखेगा उधर ही चल पड़ेगा। ऐसा ही हमारा चलना है। हम किसी गन्तव्य पथ पर चलने के लिए प्रवृत्त तो हो जाते हैं, किन्तु सहसा ही प्रलोभनों से आकृष्ट होकर मार्ग-भ्रष्ट हो दूसरी ओर चल पड़ते हैं। पर इसका नाम तो चलना नहीं है। मेरी यह उत्कट इच्छा है कि यदि मैं चलना सीख जाऊँ तो मित्र प्रभु के बताये पथ से ही चलूँ। सच्चा मित्र कभी कुमार्ग पर चलने का परामर्श नहीं देता। जब सांसारिक मित्र भी अपने मित्र को प्रायः सत्पथ से ही ले जाते हैं, तब उस महान् 'सर्वमित्र' प्रभु का तो कहना ही क्या है! वह मुझे टेढ़े-मेड़े रास्तों की भूल-भुलैया में नहीं डालेगा, न ही ऐसे लम्बे रास्तों से ले जायेगा, जिनपर चलते-चलते मेरी सारी आयु ही समाप्त हो जाये, फिर भी लक्ष्य पर न पहुँच पाऊँ। वह तो मुझे सरल, सुन्दर, सीधा, छोटा मार्ग बताकर शीघ्र ही उद्देश्य पर पहुँचा देगा।

वह मित्र प्रभु बड़ा ही प्रिय है, मधुर है, सलोना है। उसकी मैत्री सच्ची मैत्री है, उसका प्यार सच्चा प्यार है। जब प्रेम-विभोर होकर वह अपने सखा की गलबहियाँ लेता है, तब उसका सखा कृतकृत्य हो जाता है। वह 'अहिंसान' है, हिंसा और विद्वेष की प्रवृत्ति से कोसों दूर है। वह जिसे शरण में ले लेता है, उसकी किसी प्रकार की क्षति नहीं होने देता, अपितु उसका कल्याण ही कल्याण करता है। ऐसे उस मित्र प्रभु के शरणदायक मार्ग पर अन्यजन भी चलते रहे हैं और वे उसकी कृपा से ऋषि बन गये हैं। मैं भी आज उसी परम मित्र से निर्दिष्ट पथ पर ही चलने का व्रत लेता हूँ, जिससे मेरा कल्याण हो, जिससे मैं शीघ्र से शीघ्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त कर सकूँ।

१०४. हमें स्पृहणीय वसु प्रदान कर

त्वद् विप्रो जायते वाज्यग्ने[१], त्वद् वीरासो अभिमातिषाहः[१०]।
वैश्वानर त्वमस्मासु धेहि[१०], वसूनि राजन्त्स्पृहयाय्याणि[१०]॥

—ऋग् ६.७.३

ऋषिः **बार्हस्पत्यः भरद्वाजः**। देवता **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **निचृत् पङ्क्तिः**।

(अग्ने) हे अग्रणी परमेश्वर! **(त्वत्)** तुझसे **(विप्रः)** ब्राह्मण **(वाजी[१])** ज्ञानवान् **(जायते)** होता है, **(त्वत्)** तुझसे **(वीरासः)** वीर क्षत्रिय **(अभिमातिषाहः[२])** अभिमानी शत्रुओं के पराजेता [होते हैं]। **(वैश्वानर राजन्)** हे वैश्वानर राजा! **(त्वम्)** तू **(अस्मासु)** हममें **(स्पृहयाय्याणि[३])** स्पृहणीय **(वसूनि)** [सद्गुणरूप] निवासक ऐश्वर्य **(धेहि)** स्थापित कर।

हे अग्नि प्रभु! हे अग्रणी! हे प्रकाशमय! हे प्रकाशक! मनुष्यों के अन्दर जो विलक्षण शक्तियाँ विद्यमान हैं, उन्हें तुम ही प्रदान करनेवाले हो। तुम ही ब्राह्मणों को 'वाजी' बनाते हो, 'वाज' शब्द से सूचित होनेवाले ज्ञान, अध्यात्म-बल, ऋषित्व आदि को उनके अन्दर तुम ही प्रेरित करते हो। तुम्हीं ने वसिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव आदि प्राचीन विप्र ऋषियों को अलौकिक ब्रह्म-बल प्रदान किया था, तुम्हीं वर्तमान विप्रों को ब्रह्म-बल प्रदान करते हो। हे देव! तुम्हीं राष्ट्र के वीर क्षत्रियों को 'अभिमातिषाड्' बनाते हो, उनके अन्दर ऐसी योग्यता उत्पन्न करते हो कि वे बड़े-बड़े पराक्रमी शत्रुओं को परास्त कर सकें। तुम्हीं दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कृष्ण और अर्जुन सदृश वीरों को वीरता प्रदान करते हो, तुम्हीं महाराणा प्रताप, शिवाजी तुल्य रणबाँकुरों में साहस भरते हो, तुम्हीं झाँसी की रानी जैसी वीरांगनाओं में रणचातुरी उत्पन्न करते हो। हे दानी! जैसे तुमने विप्रों को ब्रह्म-बल दिया है, क्षत्रियों को क्षात्र-बल दिया है, वैसे ही वैश्यों को कृषि, व्यापार आदि द्वारा धनार्जन की विद्या और शूद्रों को सेवा की कला सिखानेवाले भी तुम्हीं हो। इस प्रकार चारों वर्ण अपनी-अपनी विद्या के प्रति तुम्हारे ही ऋणी हैं।

हे सर्वनर-हितकारी, सर्वजननायक, हमारे हृदय-सम्राट् वैश्वानर राजा! जब तुमने सबको ही दिया है, तो हमें भी अपने दान का पात्र बनाओ। हमें तुम स्पृहणीय 'वसु' प्रदान करो। हम आज तुमसे सांसारिक धन-दौलत नहीं माँगते, हम तो उसी कोटि का 'वसु' पाना चाहते हैं जिस कोटि का वसु तुमने विप्रों और वीरों को दिया है। हमें तो तुम सद्गुणों का दिव्य 'वसु' दे दो, एकलव्य जैसी गुरु-भक्ति दे दो, भक्त प्रह्लाद जैसी प्रभु-भक्ति दे दो। ऋत दे दो, तप दे दो, जितेन्द्रियता दे दो, श्रम दे दो, यश दे दो, धर्म दे दो, ओज दे दो, साहस दे दो, श्रद्धा दे दो, व्रतपालन दे दो। तुम हमसे अधिक जानते हो कि हमें क्या चाहिए। जो-जो वसु हमें चाहिए वह तुम हमें दे दो। अपना वरद हस्त हमपर रखो। हे प्रभु, हमें दिव्य 'वसु' देकर वसुमान् बना दो।

१०५. देश के धनिक कैसे हों ?

अस्माकमग्ने मघवत्सु धारया[१२], ऽनामि क्षत्रमजरं सुवीर्यम्[१०]।
वयं जयेम शतिनं सहस्त्रिणं[१२], वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः[१२]॥

—ऋग् ६.८.६

ऋषिः **बार्हस्पत्यः भरद्वाजः**। देवता **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(**अग्ने**) हे तेजस्वी परमात्मन्! (**अस्माकं**) हमारे (**मघवत्सु**) धनिकों में (**अनामि**[१]) न झुकने योग्य, दृढ़, (**अजरं**) अक्षय, (**सुवीर्यं**) सुवीर्ययुक्त (**क्षत्रं**) क्षतों से त्राण करने का गुण (**धारय**) धारण करा। (**वैश्वानर अग्ने**) हे विश्व के हितकर्ता एवं विश्वनायक प्रभु! (**तव**) तेरी (**ऊतिभिः**[२]) रक्षाओं से (**वयं**) हम (**शतिनं**) सौ संख्यावाले, (**सहस्त्रिणं**) सहस्र संख्यावाले (**वाजं**[३]) अन्न, बल, संग्राम आदि को (**जयेम**) जीत लेवें।

किसी राष्ट्र के धनिक पुरुष किस वृत्तिवाले हैं, इसपर बहुत-कुछ उस राष्ट्र की उन्नति या अवनति निर्भर करती है। यदि किसी देश का धनिक-वर्ग अच्छे-बुरे कैसे भी साधनों से धन-सम्पत्ति अर्जित कर भोग-विलास में लिप्त रहता है, तो निश्चय ही वह देश अधःपतन को प्राप्त करेगा। परन्तु यदि उसके धनीजन उत्तम साधनों से धन कमाकर दीन-दुःखियों की सहायता तथा देशोत्थान के अन्य सत्कार्यों में उसका व्यय करते हैं, तो वह देश अवश्य ही उत्कर्ष को प्राप्त करेगा। अतः हे अग्ने! हे दिव्य प्रकाश के प्रदाता, प्रकाशमय परमात्मन्! तुम हमारे देश के धनिकों के अन्दर 'क्षत्र' को धारण कराओ। 'क्षत्र' का अर्थ है क्षत, चोट या आपत्ति से त्राण करने का गुण। जब कभी हमारे देश में किसी व्यक्ति या किसी समुदाय-विशेष पर आपत्ति आये, वह निर्धन, दुर्भिक्षग्रस्त या भूकम्प, महामारी आदि विपदा से आक्रान्त हो जाये, तब हमारे देश के धनिक लोग सहायता के लिए आगे बढ़ें। जब कभी देश पर कोई दैवी या शत्रुजन्य विपत्ति आये, तब भी हमारा धनिकवर्ग देश का संकट से त्राण करे। इस प्रकार हमारे धनिकों का धन गरीबों एवं आपद्-ग्रस्तों के काम आये। धनिकों के अन्दर क्षतों की सहायता करने का या आपत्तियों से त्राण करने का यह गुण दृढ़ और अक्षयरूप में विद्यमान रहे तथा वह सुवीर्ययुक्त अर्थात् प्रभावशाली हो।

हे वैश्वानर! हे विश्व के हितकर्ता एवं विश्व के नायक प्रभु! जहाँ तुम हमारे धनिकों में 'क्षत्र' को उत्पन्न करोगे, वहाँ साथ ही हमें भी अपनी रक्षाएँ प्रदान करो, जिनसे रक्षित होकर हम सैंकड़ों और सहस्रों संख्यावाले संग्रामों पर, जीवन में आनेवाले विकट संघर्षों पर, विजय पा सकें। साथ ही वाज-शब्द-वाच्य अन्न, धन, बल, वेग आदि को भी प्राप्त कर सकें। अन्यथा तुमसे रक्षा न पाकर यदि हमारा सारा प्रयास आत्म-रक्षा में व्यय हो जायेगा, तो इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए हम श्रम कहाँ से कर सकेंगे?

१०६. काला और श्वेत दिन

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च[११], वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः[१०]।
वैश्वानरो जायमानो न राजा[११], ऽवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि[१०]॥

—ऋग् ६.९.१

ऋषिः **बार्हस्पत्यः भरद्वाजः**। देवता **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(**कृष्णं च अहः**) [एक] काला दिन है, (**अर्जुनं च अहः**) और [दूसरा] श्वेत दिन है। [ये दोनों] (**वेद्याभिः**) ज्ञातव्य घटनाओं के साथ (**रजसी**[१]) द्यावापृथिवी में (**वि वर्तेते**) घूमते रहते हैं। (**राजा न**) राजा के समान (**जायमानः**) प्रकट होता हुआ (**वैश्वानरः अग्निः**) वैश्वानर अग्नि, अर्थात् सूर्य या आत्मा (**ज्योतिषा**) ज्योति से (**तमांसि**) अन्धकारों को (**अवातिरत्**[२]) छिन्न-भिन्न कर देता है।

एक काला दिन है और एक श्वेत दिन है। ये दोनों अपनी-अपनी ज्ञातव्य प्रवृत्तियों के साथ द्यावा-पृथिवी के अन्दर एक-दूसरे के बाद परिभ्रमण करते रहते हैं। घनघोर निशा की कालिमा से भूतल कृष्णवर्ण हो रहा है, नक्तंचर जीव इतस्ततः घूम रहे हैं, सर्वत्र काले दिन का साम्राज्य छाया हुआ है। इतने में ही प्राची में वैश्वानर सूर्य की ज्योति झाँकती दिखाई देती है। सूर्यदेव राजा बनकर गगन-मण्डल के सिंहासन पर आरूढ़ होते हैं। काला दिन समाप्त होता है, श्वेत दिन का वैभव सर्वत्र छा जाता है।

इस प्राकृतिक घटना-चक्र के समान ही हमारे जीवन में भी काले दिन और श्वेत दिन आते हैं। कभी ऐसा समय आता है, जब चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाई देता है, निराशा की काली घटाएँ छा रही होती हैं, मार्ग नहीं दीखता, हम किंकर्तव्यविमूढ़ हुए होते हैं। अनेकों ऐसे दिन आते हैं, जब हमारा मन शोकातुर होता है, नाना चिन्ताएँ हमें सता रही होती हैं, उद्धार का कोई उपाय नहीं सूझता। संसार असार दीखता है, जीवन दूभर प्रतीत होता है। अन्तरात्मा की वाणी भी सुनाई देनी बन्द हो जाती है। आत्म-सूर्य पर मोह का आवरण छा जाता है और हम भ्रान्त दिशा में चल पड़ते हैं। पर ये काले दिन सदा नहीं रहते। शीघ्र ही श्वेत दिन का आगमन होता है। जीवन के निराशा, भय, शोक, अज्ञान, अविवेक, तामसिकता के अँधेरे को चीरकर आत्म-सूर्य की दिव्य ज्योति उदित होती है। वैश्वानर आत्मा राजा बनकर हृदयासन पर विराजमान होते हैं। प्रकाश-ही-प्रकाश फैल जाता है। निराशा में आशा का सञ्चार हो जाता है, भय निर्भयता में परिणत हो जाता है, शोक मिटकर धीरज का बल प्राप्त होता है, अज्ञान और अविवेक के पर्दे के नीचे से ज्ञान और विवेक की मुस्कान प्रकट हो जाती है। दिग्भ्रान्ति का कोई अवकाश नहीं रहता, पथ स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगताा है। आज हमारा मानस भी तमःप्रधान हो रहा है। हे वैश्वानर ज्योति! आओ, हमारे अन्दर भासित होवो, हमारे निविड़ तमस् को विशीर्ण करो।

१०७. ध्रुव ज्योति मन

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं[११], मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः[१०]।
विश्वे देवाः समनसः सकेता[११], एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु[११] ॥

—ऋग् ६.९.५

ऋषिः **बार्हस्पत्यः भरद्वाजः**। देवता **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

[वैश्वानर परमेश्वर ने] (**पतयत्सु**) गतिशील मनुष्यों में (**अन्तः**) अन्दर (**दृशये**) ज्ञान-दर्शन के लिए (**ध्रुवं**) निश्चल (**ज्योतिः**) ज्योति, (**जविष्ठं**) सबसे अधिक वेगवान् (**मनः**) मन (**कं**) सुखपूर्वक (**निहितं**) निहित किया है। (**समनसः**) मन से युक्त (**विश्वे**) सब (**देवाः**[१]) विद्वज्जन और इन्द्रिय-गण (**सकेताः**[२]) सज्ञान [होकर] (**साधु**) सम्यक् प्रकार से (**एकं**) एक (**क्रतुं**) कर्म को (**अभि वि यन्ति**) अभिमुख होते हुए विविधतया सम्पादित करते हैं[३]।

परमेश्वर ने जो मानव-शरीर निर्मित किया है, वैसे तो वह सारा ही विलक्षण है, उसका एक-एक अंग विस्मयकारी है, परन्तु उसमें निहित मन-रूप ज्योति तो और भी अधिक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है। 'वैश्वानर अग्नि' अर्थात् सब नरों के हित-सम्पादक और नायक ज्योतिर्मय परमेश्वर ने सब मनुष्यों के अन्दर मन-रूप ध्रुव ज्योति को निहित किया है, जो गति में 'जविष्ठ' है, वेगवानों में सबसे अधिक वेगवान् है। बड़े-बड़े तीव्रगामी रथ, वायुयान, पवन, सूर्य के प्रकाश आदि का वेग भी मन के वेग के सम्मुख फीका पड़ जाता है। मन के लिए कुछ भी दूर नहीं है, वह पलभर में कहीं-का-कहीं पहुँच सकता है। आज भौतिक विज्ञान तीव्र गतिवाले कृत्रिम उपग्रहों को अन्तरिक्ष में भेज रहा है। पर मन की गति से उनकी गति की भी कुछ तुलना नहीं है। ऐसी 'जविष्ठ, ध्रुव ज्योति' को परमात्मा ने मनुष्यों के अन्दर ज्ञान-दर्शन के लिए स्थापित किया है; आत्मा उस मन के माध्यम से ही ज्ञान-ग्रहण करता है।

समस्त विद्वद्गण-रूप देव और चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियरूप देव मन से युक्त होकर ही सज्ञान होते हैं। यदि मन साथ नहीं है, तो आँख सम्मुखस्थ रूप को भी नहीं देख पाती, श्रोत्र सम्मुखस्थ शब्द को भी नहीं सुन पाते, रसना सन्निकृष्ट रस का भी स्वाद नहीं ले पाती। महान्-से-महान् विद्वज्जनरूप-देव मन के बिना ज्ञान प्राप्त करने में अक्षम रहते हैं। इस मन के द्वारा सज्ञान होकर ही विद्वद्-देव और इन्द्रिय-देव सम्यक् प्रकार से कर्त्तव्य कर्म को करने में समर्थ होते हैं। मन के बिना न वे ज्ञान पा सकते हैं, न कर्म ही कर सकते हैं, क्योंकि ज्ञान गृहीत करने और कर्म करने के लिए मन को विषय में केन्द्रित करना आवश्यक होता है। आओ, हम भी इस मनरूप वेगशील, ध्रुव ज्योति का प्रयोग कर ज्योतिष्मान्, ज्ञानवान् और कर्मवान् होकर उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हों।

१०८. दैव्य जन उत्पन्न करो

त्वं दूतो अमर्त्य[६], आ वहा दैव्यं जनम्[७]।
शृण्वन् विप्रस्य सुष्टुतिम्[८]॥ —ऋग् ६.१६.६

ऋषिः **बार्हस्पत्यः भरद्वाजः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **वर्धमाना गायत्री**।

[हे अग्ने! हे परमात्मन्!] (**विप्रस्य**) [मुझ] विप्र की (**सुष्टुतिं**) शुभ स्तुति को (**शृण्वन्**) सुनता हुआ (**दूतः**) दूत, (**अमर्त्यः**) अमर (**त्वं**) तू (**दैव्यं**[१]) दैव्य (**जनं**) जन को (**आ वह**) प्राप्त करा।

आज यह धरती किसी दैव्यजन की प्रतीक्षा कर रही है। भूतल पर अदिव्यता ऐसी व्याप गई है कि उसने मानव को असुर बना दिया है। चारों ओर विध्वंस-लीला है, चारों ओर हाहाकार है, चारों ओर पाप का साम्राज्य है, चारों ओर पशुता का ताण्डव है, चारों ओर अनाचार है, चारों ओर भीति और वैक्लव्य है, चारों ओर अधर्म का बोलवाला है, चारों ओर निरीहों का कातर स्वर है, चारों ओर असत्य का समर्थन है, चारों ओर चोरी, डाके और हत्या की सनसनी है, चारों ओर अविद्या और तामसिकता की घोर निशा है, चारों ओर राग-द्वेष की विकलता है। इस भीषण बर्बरता और कराहट के बीच कहीं से एक आवाज उठ रही है कि हे प्रभु! तुम जगती-तल पर मृत चेतना का उद्भेदन कर अमर चेतना का प्रादुर्भाव कर दो। हे परमेश! तुम देवदूत बनकर इस मृत-प्राय भूमण्डल पर दैव्यजन का अवतरण कर दो।

देखो, विप्रजन करबद्ध हो तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं, बड़ी आशाएँ लगाकर तुमसे दैव्यजन को जन्म देने का चमत्कार करने की प्रार्थना कर रहे हैं, अपनी सम्पूर्ण अभीप्सा के साथ भूतल पर दैव्यजन के उदय की बाट जो रहे हैं। उनकी स्तुति सु-स्तुति है, हृदय से निकली हुई पुकार है। हे देवेश! उस पुकार को सुनो और दैव्यजन को उत्पन्न करो, जो अदिव्यता की व्याधि से कराह रहे जगत् में दिव्यता का सञ्चार करे, अधर्म के स्थान पर धर्म को सम्मानित करे, पाशविकता के स्थान पर आध्यात्मिकता को शरण दे, अशान्ति के स्थान पर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करे और पीड़ा एवं चीत्कार को हटाकर दिव्य आनन्द एवं अभीति को पनपा सके। हे दिव्यता के अधिपति! तुम बस, उस दैव्यजन को उत्पन्न मात्र कर दो। आगे उसे सम्मानित करना, हृदय-हार बनाना, राजसिंहासन पर बैठाना हमारा काम है। हम उसकी चरण-रज को मस्तक पर लगायेंगे, उसे दिव्यता का सूत्रधार बनायेंगे और उसके आदेश का पालन करते हुए स्वयं भी दिव्यता के प्रसार में सहयोग अर्पित करेंगे।

१०९. प्रजावद् ब्रह्म

ब्रह्म प्रजावदाभर[८], जातवेदो विचर्षणे[८]।
अग्ने यद् दीदयद् दिवि[८] ॥ —ऋग् ६.१६.३६

ऋषिः **बार्हस्पत्यः भरद्वाजः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **गायत्री**।

(विचर्षणे[१]) हे द्रष्टा, **(जातवेदः)** ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले **(अग्ने)** अग्रणी परमात्मन्! [आप हमें] **(प्रजावत्)** सन्तति-युक्त **(ब्रह्म)** अध्यात्म-ज्ञान **(आभर[२])** प्रदान कीजिए **(यत्)** जो **(दिवि)** [हमारे] आत्मा में **(दीदयत्[३])** प्रखर प्रकाश के साथ चमके।

हे अग्निस्वरूप परमात्मन्! आप 'विचर्षणि' हैं, द्रष्टा हैं। आपका ज्ञान प्रत्यक्ष पर आश्रित है, अतएव यथार्थ एवं निर्भ्रान्त है। आप 'जातवेदाः' हैं, हृदयों में ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले हैं। जब हम बेबस हो अज्ञानान्धकार में टटोल रहे होते हैं, उस समय हमारे हृदय में ज्ञान की विद्युत् आप ही चमकाते हैं। हम मानवों को वेदज्ञान से अनुगृहीत करनेवाले भी आप ही हैं। इस समय हमारा आत्मा अध्यात्म-ज्ञान-शून्य होकर, भौतिक विज्ञान की चकाचौंध से आकृष्ट होकर उसी की उपासना में संलग्न है। पर भौतिक विज्ञान ने अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर अपने खोखलेपन को सिद्ध कर दिया है, क्योंकि उससे दुःख से कराह रहे मानव को शान्ति नहीं मिल रही है, अपितु वह कराहट और बेचैनी को बढ़ाने में ही सहायक हो रहा है। अतः भौतिक विज्ञान की तीक्ष्ण मार से संत्रस्त हो हम अध्यात्म-ज्ञान के पिपासु हो गये हैं, जिस अध्यात्म-ज्ञान को यहाँ वेद ने 'ब्रह्म'[४] शब्द से अभिहित किया है, क्योंकि वह बृहत् है, महान् है, सारवान् है।

हे ज्ञानवित् परमेश्वर! आप हमें वह दिव्य अध्यात्म-ज्ञान प्रदान कीजिए, जिसके सम्मुख सब सांसारिक ज्ञान फीके पड़ जाते हैं। हम यह भी चाहते हैं कि वह ज्ञान 'प्रजावत्' हो, समाप्त हो जानेवाला नहीं, किन्तु नित्य अपनी नवीन-नवीन सन्ततियों को उत्पन्न करनेवाला हो, अर्थात् निरन्तर वृद्धिशील हो। साथ ही वह विविध दिव्यगुण-रूप सन्ततियों को भी जन्म देनेवाला हो। वह हमारे आत्मलोक में प्रखर प्रकाश के साथ चमके, दामिनी-सा दमके, जिसकी ज्योति में हम कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सब संशयों से मुक्त हो जायें, जिसे पाकर हम पूर्णतः तुममें लवलीन हो जायें।

मन्त्र व्यावहारिक दृष्टि से यह सूचित करता है कि जो भी अध्यापक या उपदेशक हों, उन्हें 'विचर्षणि' अर्थात् अधीत विद्याओं का साक्षाद्-द्रष्टा तथा विद्यादान में ऐसा निपुण होना चाहिए कि उनका दिया हुआ ज्ञान सन्तति के समान बढ़ता चले और उनके शिष्य सूर्यकिरणों के समान चमकें, यशस्वी हों।

११०. तेरी शरण

उपच्छायामिव घृणे॑रगन्म शर्म ते वयम्॑।
अग्ने हिरण्यसन्दृशः॑ ॥ —ऋग् ६.१६.३८

ऋषिः **बार्हस्पत्यः भरद्वाजः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **गायत्री**।

(अग्ने) हे अग्रणी परमात्मन्! **(छायाम् इव)** जैसे कोई छाया में [पहुँचता है] वैसे ही **(ते)** तुझ **(हिरण्यसन्दृशः)** हिरण्यसदृश और **(घृणेः[१])** ज्योतिर्मय की **(शर्म[२])** शरण में **(वयं)** हम **(उप अगन्म)** पहुँच गये हैं।

जब मनुष्य धूप से व्याकुल हो रहा होता है, शरीर से पसीने की धारें चू रही होती हैं, ताप से सिर फटा जाता है, तब वह किसी तरु की शीतल छाया में पहुँचना चाहता है। छाया पाकर उसे जो विश्राम मिलता है, उससे वह अपना सब दुःख भूल जाता है। ऐसी ही अवस्था आज हमारी हो रही है। हम सांसारिक तापों से ऐसे संतप्त, क्लान्त और उद्विग्न हो रहे हैं कि छाया पाये बिना चैन नहीं पड़ रहा है। पर जायें तो किस छाया में जायें? घने-से-घने वृक्ष या बड़े-से-बड़े भवन आदि की छाया इस सांसारिक ताप को नहीं मिटा सकती। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि के क्लेशों से सन्तप्त जन को कोई भौतिक छाया कैसे शान्ति दे सकती है? हे जगत्पति! हे ईशों के ईश! तुम्हारी ही छाया हमारे सन्तापों को हर सकती है, अतः हम तुम्हारी शरण में आ रहे हैं। पर तुम तो 'अग्नि' हो, अग्नि से तो ज्वालाएँ निकलती हैं। हम सन्तप्तों को यदि तुम्हारी ज्वालाओं ने घेर लिया, तो क्या और भी अधिक हम आग में नहीं झुलसने लग जायेंगे? नहीं, यद्यपि तुम 'अग्नि' हो, 'घृणि' हो, जाज्वल्यमान हो, तो भी शरणागतों को जलाते नहीं, अपितु उनके ताप को ही भस्म करते हो। तुम 'हिरण्यसन्दृश' हो, सुवर्ण-सदृश तेजवाले हो। हिरण्य यद्यपि आग्नेय है, पर उसका तेज धारणकर्ता को दग्ध नहीं करता, प्रत्युत मनोमोहक और शरीर को शान्ति देनेवाला होता है। इसी प्रकार तुम अग्निमय, देदीप्यमान एवं हिरण्यसंदृश की छत्रछाया और शरण सन्तापों से हमारा उद्धार ही करती है। यदि भूल से हम किसी सीलन-भरी एवं मलिन आसुरी छाया में पहुँच गये, तो सन्ताप तो हमारे क्या ही मिटेंगे, उल्टे हमें किन्हीं नवीन आधि-व्याधियों से ग्रस्त हो जाने का भय है। हे शरणागतों के त्राता! हम अपनी ओर से तुम्हारी शरण में आ ही रहे हैं, तुम भी हमें अपनी शरण में ले लो और हमारे सब सन्तापों को हरकर हमें दिव्य आनन्द प्रदान कर दो।

१११. हे प्रभु! हम तुम्हें समर्पित हैं

इन्द्र तुभ्यमिन्मघवन्नभूम[११], वयं दात्रे हरिवो मा वि वेनः[११]।
नकिरापिर्ददृशे मर्त्यत्रा[१०], किमङ्ग रध्रचोदनं त्वाहुः[१०] ॥

—ऋग् ६.४४.१०

ऋषिः **शंयुः बार्हस्पत्यः**। देवता इन्द्रः। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्।**

(मघवन्) हे प्रशस्त धनवाले **(इन्द्र)** परमेश्वर! **(वयं)** हम **(तुभ्यं)** तुझ **(दात्रे)** दानी के लिए **(इत्)** ही **(अभूम)** [समर्पित] हो गये हैं। **(हरिवः[१])** हे किरणोंवाले! हे ऋक्-साम-रूप हरियोंवाले! **(मा वि वेनः[२])** [हमसे] प्रीतिविमुख मत होवो। **(मर्त्यत्रा[३])** मनुष्यों में **(आपिः)** बन्धु **(नकिः)** कोई नहीं **(ददृशे)** दीख रहा है। **(अङ्ग)** हे प्रिय! **(किं)** क्यों **(त्वा)** तुझे **(रध्रचोदनं[४])** सफलता का प्रेरक **(आहुः)** कहते हैं?

हे इन्द्र! हे परमात्मन्! तुम 'मघवा' हो, धन के अधिपति हो। इसके अतिरिक्त तुम धन के 'दाता' भी हो। साथ ही तुम्हारा धन प्रशस्त है, शुभ्र है, उज्ज्वल है, हम सांसारिक जनों के धन के समान तरह-तरह की अपवित्रताओं को अपने अन्दर समेटे हुए नहीं है। मनुष्य का क्योंकि पूर्णतः पवित्र होना कठिन है, अतः उसके द्वारा अर्जित धन भी पूर्णतः पवित्र नहीं होता। विरला ही कोई मनुष्य यह कहने का साहस कर सकता है कि उसने धनोपार्जन करते हुए किसी भी प्रकार के असत्य, छल-छिद्र आदि का आश्रय नहीं लिया है। पर तुम्हारे धन के विषय में हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि वह पूर्णतः पवित्र है। किन्तु 'मघ' नाम से सूचित होनेवाला धन केवल भौतिक धन ही नहीं होता; शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, नैतिक आदि धनों को भी 'मघ' कहते हैं। हे परमेश्वर! तुम समस्त प्रकार के पवित्र धन का हमें दान करते हो। पर उसके लिए आवश्यक है कि हम तुम्हारे हो जाएँ, अपने-आपको तुम्हें समर्पित कर दें, अतः आज से हम अपने-आपको तुम्हें सौंपते हैं। तुम 'हरिवान्' हो, किरणोंवाले हो। अपनी दिव्य ज्योति की किरणें हमारे ऊपर फेंककर हमें भासमान कर दो, जैसे सूर्य अपनी किरणों को मङ्गल आदि ग्रहों पर प्रक्षिप्त कर उन्हें भासमान करता है। तुम ऋक् और सामरूप हरियोंवाले भी हो। ऋचाओं के स्तोत्र और साम के गीत मानो तुम्हारे वाहन हैं। उनसे तुम विश्व की यात्रा कर लेते हो, विश्व में प्रसार पा लेते हो। हे परमेश! तुम हमें अपना लो, हमसे प्रीति-विमुख मत होवो।

हे प्रिय! हम तुम्हारे अतिरिक्त और किसके द्वार पर जाएँ? मनुष्यों में हमें कोई भी 'बन्धु' नहीं दिखाई देता, ऐसा उदारहृदय दृष्टिगोचर नहीं होता जो हमारा 'आपि' बन जाए, संकट के समय हमारे पास दौड़ा चला आये, हमें अपने में व्याप ले, हमारा अभिन्न-हृदय बन जाये। संसार में सब स्वार्थ के साथी प्रतीत होते हैं। इसलिए हे प्रभु! हम तो तुम्हें ही अपना 'बन्धु' बनाते हैं। तुम हमें अपनी शरण में ले लो। तुम संकुचा क्यों रहे हो? क्या व्यर्थ ही जग तुम्हें 'रध्रचोदन' कहता है, सफलताएँ दिलानेवाले के रूप में तुम्हारा महिमागान करता है? नहीं, तुम सचमुच सफलता के दाता हो। तुम हमें अपने बन्धुत्व में बाँध लो, अपने स्नेह का पात्र बना लो।

११२. सखा प्रभु की पुकार

ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं[८], गीर्भिः सखायमृग्मियम्[८]।
गां न दोहसे हुवे[७]॥ —ऋग् ६.४५.७

ऋषिः **शंयुः बार्हस्पत्यः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(**ब्रह्माणं**) ज्ञानी, (**ब्रह्मवाहसं**) ज्ञान के वाहक, (**सखायं**) सखा, (**ऋग्मियं**[१]) ऋचाओंवाले, अर्चनीय अथवा पूजनीय [इन्द्र प्रभु] को [मैं] (**हुवे**) पुकारता हूँ, (**न**) जैसे (**दोहसे**[२]) दुहने के लिए (**गां**) गाय को [पुकारते हैं]।

गोदोहन-वेला में गोपाल दूध दुहने के लिए गाय को पुकारते हैं। काली, धौली, लाल, भूरी, सफेद अपनी गायों को नाम ले-लेकर आवाज लगाते हैं और वे गो-पालक के पास दौड़ी चली आती हैं। ऊधसों में दूध से भरी हुई वे बछड़े को दूध पिलाने और दुहाने के लिए झुककर खड़ी हो जाती हैं। जैसे उनके अमृतोपम दूध से गो-स्वामी तृप्ति पाता है, ऐसे ही मैं जगन्माता के दूध से संतृप्त होना चाहता हूँ।

मैं वाणियों से अपने इन्द्र प्रभु को पुकारता हूँ। वह 'ब्रह्मा' है, स्वयं ज्ञानी है तथा 'ब्रह्मवाहस्' अर्थात् हमारे प्रति ज्ञान-धारा का वाहक भी है। जैसे गौ-माता के स्तनों में दूध भरा होता है और वह उस दूध को अन्यों को प्रदान करती है, वैसे ही मेरे प्रभु के अन्दर ज्ञान-दुग्ध की धाराएँ भरी हुई हैं और वह ज्ञान-पिपासुओं के लिए उन्हें प्रस्तुत करता रहता है। 'ब्रह्मा' यज्ञ का सञ्चालक भी होता है। होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—यज्ञ के इन चारों ऋत्विजों में ब्रह्मा सबसे प्रमुख रहता है, जो अन्य ऋत्विजों की गति-विधि पर निरीक्षण रखते हुए यज्ञ की सफलतापूर्वक समाप्ति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। हमारा आत्मा भी यजमान बनकर अध्यात्म-यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करनेवाला है और 'ब्रह्मवाहस्' होकर हमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करानेवाला है। मेरा प्रभु 'सखा' है, संकट के समय काम आनेवाला सच्चा साथी है। सांसारिक सखा तो समय पर धोखा भी दे जाते हैं, पर मेरा प्रभु कभी धोखा नहीं देता। वह पूरा सखित्व निर्वाह करता है—विपदा से उबारता है, घावों को भरता है, कष्ट से कराहते हुए को सान्त्वना देता है, सम्पदा प्राप्त कराता है और उस सम्पदा की रक्षा भी करता है। मेरा प्रभु 'ऋग्मिय' भी है। वह ऋचाओं का गायक है, अमर वेदकाव्य का कवि है, अर्चनीय है, पूजनीय है।

आओ, ऐसे अपने परमदेव का हम तन्मय होकर स्तुति-वाणियों से आवाहन करें। जैसे गाय का आह्वान कर उससे हम रस पाते हैं, वैसे ही प्रभु से भी दिव्य आनन्द का रस प्राप्त करें और उसके पान से तृप्ति-लाभ कर स्वयं को कृतार्थ करें। प्रभु कामधेनु बनकर हमें नित्य अपना पयःपान कराता रहे।

११३. सोम का रस

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं[११], तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्[११]।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं[१०], न कश्चन सहत आहवेषु[११]॥

—ऋग् ६.४७.१

ऋषिः **गर्गः भारद्वाजः**। देवता **सोमः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(अयं) यह [सोम-रस] **(किल)** निश्चय ही **(स्वादुः)** स्वादु [है], **(उत)** और **(अयं)** यह **(मधुमान्)** मधुर [है]। **(अयं)** यह **(किल)** निश्चय ही **(तीव्रः)** तीव्र [है,] **(उत)** और **(अयं)** यह **(रसवान्)** रसीला [है]। **(उतो)** और **(नु)** सचमुच **(अस्य)** इसके **(पपिवांसं)** पीनेवाले को **(कश्चन)** कोई भी **(आहवेषु[१])** संग्रामों में **(न)** नहीं **(सहते)** पराजित कर सकता है।

प्राचीनकाल में एक सोम-लता होती थी, जिसके पत्तों और डंठलों का रस दूध, जौ के पानी या अन्य ओषधियों के रस के साथ मिलाकर पान किया जाता था। इस लता में पन्द्रह पत्ते होते थे, जिनकी ह्रास-वृद्धि चन्द्र-कलाओं की ह्रास-वृद्धि के साथ होती थी। पूर्णिमा को लता पूरे पत्तों के साथ लहलहाती थी और अमावस को पत्र-विहीन हो जाती थी। आयुर्वेद के ग्रन्थ सुश्रुत[२] में इस लता का वर्णन मिलता है तथा वहाँ इसके अंशुमान्, रक्तप्रभु, मुञ्जवान् आदि चौबीस भेद तथा हिमालय, अर्बुद, सह्य, महेन्द्र, मलय पर्वत आदि उत्पत्ति-स्थान भी परिगणित हैं। यज्ञों में इसका उपयोग प्रचुररूप से होता था, किन्तु इसकी कृत्रिम उपज सम्भव न थी, या उस समय इस ओर ध्यान नहीं दिया गया, अतः आजकल यह लता खोज का विषय बनी हुई है। मन्त्र में इस सोम के रस का पान करनेवाला स्तोता इसके स्वाद, इसकी तीव्रता तथा इसके रसीलेपन का वर्णन कर रहा है और कह रहा है कि इसके पीनेवाले को संग्रामों में कोई पराजित नहीं कर सकता।

यह तो है बाह्य सोम की गाथा, किन्तु इससे भिन्न एक अन्य सोम भी है, जिसे हम 'ब्रह्म' नाम से जानते हैं। उस 'परब्रह्म' रूप सोम से साधक के आत्मा में प्रस्तुत होनेवाला ब्रह्मानन्द ही सोम-रस है। उस दिव्य रस का वर्णन करता हुआ साधक कह रहा है—अहो, यह कैसा स्वादु है! इसके स्वाद के सम्मुख सब सांसारिक स्वाद फीके हैं। अहो, यह कैसा मधुर है! इसकी मधुरिमा के आगे सब भौतिक माधुर्य नगण्य हैं। अहो, यह कैसा तीव्र है! पान करते ही शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा में अद्भुत स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है। अहो, यह कैसा रसीला है! इसके रसीलेपन की तुलना में सब भौतिक माधुर्य नगण्य हैं। अहो, यह कैसा तीव्र है! पान करते ही शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा में अद्भुत स्फूर्ति उत्पन्न कर देता है। अहो, यह कैसा रसीला है! इसके रसीलेपन की तुलना में सब भौतिक रस तुच्छ हैं। जो आत्मा इसका पान कर लेता है, उसे अन्तःकरण में चल रहे देवासुर-संग्रामों में कोई काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि असुर परास्त नहीं कर सकता। ब्रह्मानन्दरूप सोम की रसीली धार का पान कर उसके अन्दर ऐसे दिव्य अध्यात्म-बल का उदय हो जाता है कि वह संघर्ष में सब दुर्दान्त मायावी आन्तरिक रिपुओं को पराजित कर विजयी होता है। उसका आन्तरिक राष्ट्र तमोविहीन और निष्कण्टक होकर स्वच्छ, समर्थ और ज्योतिष्मान् हो जाता है। आओ, हम भी उस दिव्य सोम-रस का आस्वादन कर स्वयं को आप्लावित, संतृप्त और कृतकृत्य करें।

११४. दिव्य सोमरस के पान का चमत्कार

अयं मे पीत उदियर्ति वाचम्[११], अयं मनीषामुशतीमजीगः[११]।
अयं षड्डुर्वीरमिमीत धीरो[११], न याभ्यो भुवनं कच्चनारे[१०]॥

—ऋग् ६.४७.३

ऋषिः **गर्गः भारद्वाजः**। देवता **सोमः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(पीतः) पान किया हुआ **(अयं)** यह सोम-रस **(मे)** मेरी **(वाचं)** वाणी को **(उदियर्ति[१])** उच्च प्रेरणा दे रहा है। **(अयं)** इसने **(उशतीं[२])** [जगत् के हित की] कामना करनेवाली **(मनीषां)** बुद्धि को **(अजीगः[३])** जगा दिया है। **(धीरः[४])** बुद्धिप्रद [इस सोमरस] ने **(षट्)** छह **(उर्वीः)** विस्तीर्ण दिशाओं को **(अमिमीत)** [मेरे अन्दर ही] रचित कर दिया है, **(याभ्यः)** जिनसे **(कच्चन)** कोई भी **(भुवनं)** भुवन **(आरे)** दूर **(न) नहीं** [है]।

परब्रह्म रूप 'सोम' से प्रस्तुत होनेवाले ब्रह्मानन्दरूप सोमरस का मैंने आज पान किया है। अपने अन्तःकरण में ध्यानरूप सिलबट्टों से पीस-पीसकर इस रस को मैंने अपने हृदय की प्याली में निचोड़ा है, जिसे पीकर मेरे आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ सब सन्तृप्त हो गये हैं। मेरा रोम-रोम आज अनुपम आह्लाद से पुलकित हो रहा है। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे अंग-अंग में किसी दिव्यशक्ति का स्रोत फूट पड़ा है। मेरे अन्दर शीतल रस की स्रोतस्विनी प्रवाहित हो रही है, जिसकी तरंगों में क्रीडा करता हुआ मेरा मन और आत्मा रोमाञ्चित हो गया है। पान किये हुए सोमरस ने मेरी वाणी को प्रेरित कर दिया है। जो वाणी अशक्त, निष्क्रिय, निर्जीव, प्रसुप्त-सी थी, उसे आज अन्तःप्रेरणा मिल गई है। मैं बाहर से मूक बना हुआ अन्दर-ही-अन्दर किसी ऊँचे संगीत के बोल बोल रहा हूँ। मैं अन्दर-ही-अन्दर प्रभु-गरिमा के गान गा रहा हूँ। और अब देखो, वह मेरी अन्तर्वाणी बाहर भी गूँजने लगी है। मेरे रचे प्रभु-भक्ति, उद्बोधन और जागृति के गान जिह्वा द्वारा बाहर भी मुखरित हो रहे हैं, जिन्हें सुनकर धरती की आत्मा तृप्त हो रही है।

सोमपान से आज मेरी लोक-मङ्गल की कामना करनेवाली मनीषा भी स्फुरित हो उठी है। मेरे मन और बुद्धि संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर असीम में पहुँच गये हैं, जहाँ कल्याण ही कल्याण की भावना है। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ कि बाहर की छहों विस्तीर्ण दिशाएँ मेरे अन्दर समा गई हैं, जिनसे दूर कुछ भी नहीं रहा है। सब जगत् मेरे अन्दर है; मैं सबका हूँ, सब मेरे हैं। मैं चाहता हूँ कि दिव्य सोमरस की यह मस्ती मेरे आत्मा का अभिन्न अंग बन जाए, मेरे अन्दर स्थायी हो जाए। हे आनन्दमय सोम प्रभु! तुम्हारी ही कृपा से यह सम्भव है। हे रसमय! अपने रस से सदा मुझे आप्लुत करते रहो।

११५. खड्ग-धार जैसी तीव्र बुद्धि

इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ[११], चोदय धियमयसो न धाराम्[११]।
यत्किंचाहं त्वायुरिदं वदामि[११], तज्जुषस्व कृधि मा देववन्तम्[११]॥

—ऋग् ६.४७.१०

ऋषिः **गर्गः भारद्वाजः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(इन्द्र) हे परमात्मन्! **(मृड)** सुखी कर, **(मह्यं)** मेरे लिए **(जीवातुं)** जीवन को **(इच्छ)** चाह, **(धियं)** बुद्धि को **(अयसः)** लोहमय [खड्ग आदि] की **(धारां न)** धार के समान **(चोदय)** प्रेरित कर। **(यत् किंच)** जो कुछ भी **(इदं)** यह **(त्वायुः[१])** तेरी कामनावाला, तेरा प्रेमी **(अहं)** मैं **(वदामि)** कह रहा हूँ **(तत्)** उसे **(जुषस्व)** स्वीकार कर, पूर्ण कर। **(मा)** मुझे **(देववन्तं[२])** प्रशस्त दिव्य गुणोंवाला और प्रशस्त देवोंवाला **(कृधि)** कर।

हे इन्द्र! हे राजाधिराज परमात्मन्! हे दुःखहर्ता और सुखदाता! इस दुःख-बहुल जगत् में तुम्हीं हमें सुखी कर सकते हो। हम दुःखों से अकुलाकर तुम्हारे द्वार पर आये हैं और तुमसे सुख की भिक्षा माँग रहे हैं। हमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक सर्वविध सुखों से समन्वित करो। 'जीवन' में ही सच्चा सुख है, अतः तुम हमें जीवन से अनुप्राणित करो। जीवन क्या है? प्राणवत्ता, जागरूकता, स्फूर्ति, कर्मण्यता, प्रगतिशीलता का ही नाम 'जीवन' है। वह तुम हमें प्रदान करो। जिनमें 'जीवन' नहीं होता, वे लोग जड़-पत्थर के समान निष्क्रिय और उदासीन होकर पड़े रहते हैं। हम वैसा नहीं बनना चाहते, क्योंकि सुख का सूत्र उसमें नहीं है। हे बुद्धि के देव! हमारी यह भी कामना है कि तुम हमारी बुद्धि को खड्ग आदि की धार के समान प्रेरित करो। जैसे तीव्र खड्ग-धार रिपु-दल को काटकर शान्ति स्थापित करती है, वैसे ही हमारी तीक्ष्ण बुद्धि प्रतिपक्षी के सब कुतर्कों को काटकर सत्य की स्थापना करने में प्रवीण हो। हम अपने बुद्धिबल से सब पाखण्डों का खण्डन कर विश्व में पाखण्ड-खण्डनी पताका लहरा सकें। साथ ही हमारी बुद्धि को ऐसी प्रखर कर दो कि गहन से गहन शास्त्रों के मर्म को वह हृदयंगम करा सके और जटिल से जटिल गुत्थियों को सुलझा सके।

हे प्रभु! मुझे तो तुम्हारी लौ लगी हुई है, मैं तो तुम्हारा प्रेमी बन गया हूँ। तुम्हारा आराधक मैं जो कुछ तुमसे निवेदन कर रहा हूँ, उसे तुम पूर्ण करो। मैं 'देववान्' बनना चाहता हूँ। 'देववान्' वह कहलाता है, जिसमें प्रशस्त दिव्यगुणों का वास होता है, जो धर्मनिष्ठ, विद्वान्, न्यायप्रिय, समाजसेवी, परोपकार-परायण, सदाचारी ओर सत्कर्मों का प्रेमी होता है। इसके अतिरिक्त उसे भी 'देववान्' कहते हैं, जिसे प्रशस्त माता, पिता, गुरुजन आदि देवों को प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता है। वह भी 'देववान्' कहाता है, जिसके मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि देव प्रशस्त एवं नियन्त्रण में रहनेवाले होते हैं। तुम मुझे ऐसा ही 'देववान्' बना दो, तभी मैं सच्चा सुख पा सकूँगा।

११६. हम सुवीर्य के अधिपति हों

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः[१०], सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः[११]।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु[११], सुवीर्यस्य पतयः स्याम[९] ॥

—ऋग् ६.४७.१२

ऋषिः **गर्गः भारद्वाजः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(सुत्रामा) शुभ त्राणकर्ता, **(स्ववान्[१])** अपने अद्वितीय गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त, **(विश्ववेदाः)** विश्ववेत्ता, सर्वज्ञ **(इन्द्रः)** ऐश्वर्यशाली परमेश्वर **(अवोभिः[२])** रक्षाओं एवं प्रीतियों के द्वारा **(सुमृडीकः[३])** उत्तम सुख देनेवाला **(भवतु)** होवे। [वह] **(द्वेषः)** द्वेष को **(बाधतां)** दूर करे, **(अभयं)** निर्भयता को **(कृणोतु)** प्रदान करे। [हम] **(सुवीर्यस्य)** शुभ वीर्य के **(पतयः)** स्वामी **(स्याम)** हों।

हम चाहते हैं कि 'इन्द्र' प्रभु हमें उत्तम सुख प्रदान करे। यह वही जानता है कि उत्तम सुख क्या है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। हम अविद्या-ग्रस्त अविवेकी जन तो बहुधा वैषयिक सुख को ही सुख मान बैठते हैं, जोकि वस्तुतः दुःख है। अनुभवी जन बताते हैं कि अध्यात्म-सुख या ब्रह्मानन्द ही सब सुखों में उत्तम है, अतः हमारा प्रभु वह सुख हमें प्रदान करे। प्रभु 'सुत्रामा' है, शुभ त्राता है, विपत्तियों से उत्तम त्राण करनेवाला है। संसारी जन कितने भी त्राता बनें, वे उत्तम त्राता नहीं बन पाते, क्योंकि बहुत बार वे विपत्ति से त्राण करने के स्थान पर उल्टे किसी नई विपत्ति में फँसा देने में कारण बन जाते हैं, भले ही वे सच्चे भाव से त्राण करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हों। प्रभु 'स्ववान्' है, अपने ही अद्वितीय सत्य गुण-कर्म-स्वभावों से युक्त है। हम अल्पशक्ति मानवों में भला उस जैसे गुण-कर्म-स्वभाव कहाँ हो सकते हैं? उसके 'अवः', उसकी रक्षाएँ और प्रीतियाँ भी अनुपम हैं। जहाँ 'सुत्रामा' पद उसके विपत्-त्राण-सामर्थ्य का सूचक है, वहाँ 'अवः' शब्द उसके भावात्मक रक्षा-सामर्थ्य एवं प्रेम को द्योतित करता है, जिस रक्षा और प्रेम से वह सबका पोषण एवं विकास करता है। वह प्रभु हमें सच्चा सुख प्रदान करे।

पर इस सच्चे सुख के भागी हम तभी बन सकेंगे, जब हम पारस्परिक द्वेषभावों को दूर कर लें, अतः इन्द्र परमेश्वर हमारे अन्दर से द्वेषभावों को भी दूर करे। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के तथा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के रक्त का प्यासा इस द्वेषभाव के कारण ही हो जाता है। यह द्वेषभाव ही भय का भी मूल है। जो जिससे द्वेष करता है, वह उससे सदा आशंकित रहता है कि कहीं वह मेरे विरुद्ध कोई षड्यन्त्र न कर रहा हो, कहीं वह मुझे कोई हानि न पहुँचा दे। इसी भय से ग्रस्त होकर राष्ट्रों में परस्पर शस्त्रास्त्रों की होड़ मचती है, विपुल धनराशि रक्षा-सेनाओं पर और युद्ध-सामग्री के उत्पादन पर व्यय होती है। यदि प्रभु-कृपा से हम द्वेषभाव से मुक्त हो जायें, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति तथा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति प्रेमभाव अपना ले, तो हम भय से भी मुक्त हो जायेंगे और जब परस्पर प्रेमबद्ध हो सब व्यक्ति और सब राष्ट्र एक हो जायेंगे तब प्रत्येक राष्ट्र का बल पृथक्-पृथक् बिखरा न रहकर एक राष्ट्रिय बल उत्पन्न होगा और सब राष्ट्रों का भी बल बिखरा न रहकर एक सामूहिक विश्व-बल विकसित होगा। युद्ध-सामग्री आदि के उत्पादन की आवश्यकता न रहने से उस बल का जनहितकारी कार्यों में उपयोग हो सकेगा। हे इन्द्र प्रभु! तुम हमें द्वेषमुक्त और निर्भय कर दो, जिससे हम 'सुवीर्य' के अधिपति बन सकें।

११७. क्यों करें हम उसकी स्तुति ?

क ईं स्तवत् कः पृणात् को यजाते[११], यदुग्रमिन्मघवा विश्वहावेत्[११]।
पादाविव प्रहरन्नन्यमन्यं[११], कृणोति पूर्वमपरं शचीभिः[११] ॥

—ऋग् ६.४७.१५

ऋषिः **गर्गः भारद्वाजः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(कः) कौन **(ईं[१])** इस [इन्द्र] की **(स्तवत्[२])** स्तुति करे, **(कः)** कौन **(पृणात्[३])** [इसे] रिझाये, **(कः)** कौन **(यजाते[४])** [इसकी] पूजा करे, **(यत्)** क्योंकि **(मघवा)** धनवान् इन्द्र **(उग्रम् इत्)** उग्र की ही **(विश्वहा)** सदा **(अवेत्)** रक्षा करता है। [वह] **(शचीभिः[५])** [अपने] कर्मों से **(अन्यम्-अन्यम्)** एक-एक करके **(अपरं)** पिछड़े हुए को **(पूर्वं)** अग्रगामी [तथा] **(पूर्वं)** अग्रगामी को **(अपरं)** पीछे **(कृणोति)** कर देता है, **(इव)** जैसे **(पादौ)** पैरों को **(प्र-हरन्)** आगे रखता हुआ [मनुष्य] **(अन्यम्-अन्यम्)** एक-एक करके **(अपरं)** पीछे के [पैर को] **(पूर्वं)** आगे [और] **(पूर्वं)** आगे के [पैर को] **(अपरं)** पीछे **(कृणोति)** करता चलता है।

तुम कहते हो कि परमैश्वर्यवान् इन्द्र-प्रभु की स्तुति करो, अर्चना करो, वन्दना करो। पर हम पूछते हैं कि क्यों करें हम उसकी स्तुति? कौन उसका स्तवन करे? कौन उसे रिझाये? कौन उसका यजन-पूजन करे? यह सब करने से क्या लाभ है? तुम्हारा वह परमैश्वर्यशाली इन्द्र तो उसी की रक्षा करता है, जो उग्र है। संसार में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की ही लोकोक्ति चरितार्थ हो रही है। जो उग्र, प्रचण्ड और बली है, उसी की विजय होती है। पूजा करने से परमेश्वर हमारी रक्षा तो कर नहीं देगा। फिर उसकी पूजा में समय नष्ट क्यों करें?

भाइयो! यदि तुम ऐसा समझते हो तो भूल करते हो। यदि जगत् में उग्र लोगों की ही सदा विजय होती, तो यह जगत् कभी का समाप्त हो चुका होता। उग्र जन सदा पनपते रहते और धर्मात्माओं का शोषण करते रहते तो एक भी धर्मात्मा भूतल पर न बचता। भले ही कभी-कभी यह देखने में आता हो कि उग्र दुर्जन ही रक्षित हो रहे हैं, उन्हीं की विजय हो रही है, पर अन्ततः वे परमेश्वर के प्रकोप के ही भाजन बनते हैं। जब उनके पाप का घड़ा भर जाता है, तब एक दिन वे सबसे पीछे खड़े दिखाई देते हैं और रक्षा तो तो दूर, उनकी सत्ता भी खतरे में पड़ी दिखाई देती है। क्या तुम नहीं देखते कि जो आज पिछड़े हुए हैं, वे सबसे आगे की पंक्ति में पहुँच जाते हैं? जैसे चलता हुआ कोई मनुष्य क्रमशः पीछे के पैर को आगे बढ़ाता और अगले पैर को पीछे ले जाता है, वैसे ही समाज में लोगों की गति हो रही है। इन्द्र परमेश्वर ही अपने कर्मों से यह सब कर रहे हैं। अतः परमेश्वर की स्तुति को निष्फल मत समझो। उसकी स्तुति, कृपा और प्रेरणा से एक दिन तुम अवश्य ही सबके शिरोमणि बन जाओगे। उग्र की नहीं, तुम्हारी रक्षा होगी, तुम विजयी बनोगे, अतः सब शंकाओं और सन्देहों को मिटाकर बिना प्रमाद के तल्लीन होकर इन्द्र-प्रभु की स्तुति और आराधना करो। प्रभु तुम पर कृपा करेंगे।

११८. दुन्दुभि बजे

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा[११], निःष्टनिहि दुरिता बाधमानः[११]।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत[१२], इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीळयस्व[११]॥

—ऋग् ६.४७.३०

ऋषिः **गर्गः भारद्वाजः**। देवता **दुन्दुभिः**। छन्दः भुरिक् त्रिष्टुप्।

(दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! [तू] **(आ क्रन्दय)** [शत्रुओं को] क्रन्दन करा, **(नः)** हमारे अन्दर **(बलं)** मनोबल [और] **(ओजः)** आत्मिक तेज **(आधाः)** आधान कर, **(दुरिता)** दुष्टताओं को **(बाधमानः)** बाधित करता हुआ **(निः ष्टनिहि[१])** गरज, **(इतः)** यहाँ से **(दुच्छुनाः[२])** हमें दुःखी करके सुख माननेवाली शत्रु-सेनाओं को **(अप प्रोथ[३])** दूर खदेड़। [तू] **(इन्द्रस्य)** वीरात्मा की **(मुष्टिः)** मुट्ठी **(असि)** है, **(वीडयस्व[४])** दृढ़ता धारण कर, पराक्रम दिखा।

हे दुन्दुभि! तू बज, उच्च नाद कर। अपने गम्भीर गर्जन की प्रतिध्वनि से शत्रु के दिलों को दहला दे, उनके अन्दर हाहाकार मचवा दे। तेरे जिस गगनव्यापी उच्च निनाद से शत्रुओं के मन भयभीत हों, वही तेरा निनाद हमारे अन्दर मनोवल, उत्साह और आत्म-तेज का आधान करनेवाला हो। शत्रुजनों की दुष्टताओं को बाधित करती हुई तू बिजली के समान गरज। हमें दुःखी करके सुख के दीपक जलाने के मनसूबे बाँधनेवाली शत्रुसेनाओं को हे दुन्दुभि! दू दूर खदेड़ दे। तू महावीर 'इन्द्र' की मुट्ठी है, जैसे वैदिक इन्द्र अपनी मुट्ठी में पकड़े हुए वज्र से वृत्र का संहार करता है, वैसे ही तू अपने उग्र शब्द से शत्रुओं की हिम्मत पस्त कर देनेवाली है। तू दृढ़ हो, अपना पराक्रम दिखा। शत्रुदल को परास्त कर, हमारे दल को प्रहृष्ट कर।

भाइयो! यह तो है बाह्य दुन्दुभि की बात; पर हमारे अन्दर भी तो दुन्दुभि बजनी चाहिए। अन्दर बजनेवाली दुन्दुभि है ईश्वरीय वाणी। बाह्य संग्राम के समान हमारे अन्दर भी देवासुर-संग्राम मचा हुआ है। ईश्वरीय वाणी का दुन्दुभि-नाद असुर-सैन्य को रुला और सुर-सैन्य को हर्षित कर सकता है। वह हमारे अन्दर मनोवल और आत्मतेज का आधान कर सकता है, हमारी प्रसुप्त शक्तियों को जगा सकता है। वह हमारे 'दुरितों' का, पापों, दुर्व्यसनों और दुष्ट कर्मों का अन्त कर सकता है। हमारे अधःपतन में सुख मनानेवाली हिंसा, अनृत, सुरा आदि की सेनाओं को पददलित कर सकता है। ईश्वरीय अन्तःप्रेरणा की वह दुन्दुभि हमारे 'आत्म'-रूप इन्द्र की 'मुष्टि' है, कसकर पकड़ रखने योग्य है। यदि आत्मा ने ईश्वरीय प्रेरणा-रूप 'दुन्दुभि' को दृढ़ता के साथ न पकड़ा तो वह बजनी बन्द भी हो सकती है।

हे मेरे आत्माकाश में बजनेवाली ईश्वरीय प्रेरणा की दुन्दुभि! तू सदा बजती रह, उच्च विद्युद्-गर्जन के समान गम्भीर ध्वनि से गरजती रह, दृढ़ता के साथ पराक्रम दिखाती रह, समस्त आसुरी माया को विच्छिन्न करती रह।

११९. ऐश्वर्य का रथी

त्वं नश्चित्र ऊत्या[६], वसो राधांसि चोदय[८] ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि[११], विदा गाधं तुचे तु नः[८] ॥

—ऋग् ६.४८.९

ऋषिः **शंयुः बार्हस्पत्यः (तृणपाणिः)**। देवता **अग्निः**। छन्दः **ककुम्मती भुरिक् अनुष्टुप्।**

(वसो) हे धनस्वरूप परमेश्वर! **(चित्रः)** अद्भुत गुण, कर्म, स्वभाववाला **(त्वं)** तू **(नः)** हमारे लिए **(ऊत्या)** [अपनी] रक्षा से **(राधांसि[१])** ऐश्वर्यों को **(चोदय)** प्रेरित कर। **(अस्य)** इस **(रायः)** ऐश्वर्य का **(त्वं)** तू **(अग्ने)** हे अग्निस्वरूप परमात्मन्! **(रथीः)** रथ-चालक, नेता **(असि)** है, **(नः)** हमारी **(तुचे[२])** सन्तान के लिए **(तु)** शीघ्र **(गाधं[३])** प्रतिष्ठा को **(विदाः)** प्राप्त करा।

हे जगदीश्वर! तुम 'वसु' हो, हम निर्धनों के धन हो, दीन-हीन अवस्था से हमारा उद्धार करनेवाले हो। तुम चित्र हो, अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाववाले हो। तुम जैसा गुणी, तुम जैसा सुकर्मा, तुम जैसा धीर-वीर-शान्त स्वभाववाला जगतीतल में अन्य कोई नहीं है। जो एक बार तुम्हारी झाँकी पा लेता है, वह तुमपर मुग्ध हो जाता है। उसके मुख से सहसा तुम्हारे लिए ये शब्द निकल पड़ते हैं—'अद्भुत! आश्चर्यजनक! विस्मयकारी!' हे भगवन्! तुम ऐश्वर्य के रथी हो, चालक हो, ऐश्वर्य-रथ को लिये फिरते हो और जिन्हें ऐश्वर्य की आवश्यकता है, चाह है, उन्हें ऐश्वर्य बाँटते जाते हो। तुम जिसे अपनी रक्षा में ले लेते हो उसकी सब चिन्ता तुम स्वयमेव करते हो, उसे अपनी चिन्ता करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। हे प्रभुवर! हमें भी तुम अपनी रक्षा में ले लो और हमारे प्रति ऐश्वर्यों को प्रेरित करते चलो। किस अवस्था में कौन-से ऐश्वर्य हमारे लिए कल्याणकर होंगे, यह भी तुम स्वयं ही देखो, क्योंकि जब हमारी रक्षा की डोर तुमने पकड़ ली, तो क्या हमारे लिए हितकर है और क्या अहितकर इसके निर्णायक हम नहीं होना चाहते। हम तो इतना ही जानते हैं कि सोना-चाँदी, धन-दौलत को भी ऐश्वर्य कहते हैं, शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को भी ऐश्वर्य कहते हैं, सद्‌गुणों को भी ऐश्वर्य कहते हैं, सुख-शान्ति को भी ऐश्वर्य कहा जाता है और मानवजाति की आध्यात्मिक निधि भी ऐश्वर्य कहाती है। इनमें से जिस ऐश्वर्य का भी हमारे पास अभाव है और अपने समुचित विकास के लिए हमें उसकी आवश्यकता है, वह ऐश्वर्य तुम प्रदान कर दो।

हे दीनबन्धु! हमारी तुमसे यह प्रार्थना भी है कि तुम हमारी सन्तान को प्रतिष्ठा प्राप्त कराओ। ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि वंशानुक्रम से विरासत में प्राप्त होकर आगे-आगे चलते रहने चाहिएँ। अन्यथा यदि हम तो ऐश्वर्यवान् और प्रतिष्ठित हो गये, किन्तु हमारी सन्तानें ऐश्वर्यहीन तथा प्रतिष्ठाहीन रहीं, तब तो हमारे बाद ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा का अन्त हो जायेगा। हम तो चाहते हैं कि यह परम्परा अविच्छिन्नरूप से चलती रहे, तभी लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। हे प्रभु! इस लक्ष्य-पूर्ति में तुम हमारे सहायक बनो।

१२०. नमः ने द्यावापृथिवी को धारा है

नम इदुग्रं नम आ विवासे[११], नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम्[११]।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां[११], कृतं चिदेनो नमसा विवासे[११]॥

—ऋग् ६.५१.८

ऋषिः **ऋजिश्वाः भारद्वाजः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(नमः) नमः **(इत्)** निश्चय ही **(उग्रं)** प्रबल शक्तिवाला [है], [अतः मैं] **(नमः)** नमः को **(आ विवासे[१])** सेवन करता हूँ। **(नमः)** नमः ने **(पृथिवीं)** भूमि को **(उत)** और **(द्यां)** द्युलोक को **(दाधार)** धारण किया हुआ है। **(देवेभ्यः)** विद्वानों को **(नमः)** नमः [हो]। **(एषां)** इन विद्वानों पर **(नमः)** नमः **(ईशे)** प्रभुत्व करता है। **(कृतं चित्)** किये हुए भी **(एनः)** अपराध को **(नमसा)** नमः के द्वारा **(विवासे[२])** दूर कर लेता हूँ।

'नमः' के अन्दर बहुत बड़ी शक्ति है। 'नमः' में नमस्कार, झुकना, किसी को बड़ा मानना, किसी की शरण में जाना, अपराध स्वीकार करना, प्रायश्चित्त करना, किसी अवसर पर झुककर अपने-आपको बचा लेना आदि अनेक अर्थ समाविष्ट हैं। 'नमः' ने ही द्यावापृथिवी को धारण किया हुआ है। यदि भूमि सूर्य के सम्मुख नत न होती, उसे महत्त्वपूर्ण मानकर उसके चारों ओर परिक्रमा न करती, तो वह किसी भी आकाशीय पिण्ड से टकराकर कभी का अपना अस्तित्व खो चुकी होती। पृथिवी के क्षेत्र में विद्यमान वृक्ष-वनस्पति, नदियाँ, बादल आदि भी झुककर ही अपनी सत्ता बनाये हुए हैं। जब तीव्र झँझावात आता है, उस समय वृक्ष यदि अपनी शाखाओं को झुका न लें, तो वे टूटकर एक ओर जा गिरें। नदियों ने भी झुकने का व्रत धारण किया हुआ है। वे नीचे की ओर बहती हुई, अपने अमृत-सलिल से धरा को सींचती हुई समुद्र में जा मिलती हैं। समुद्र से जलवाष्प बनकर जो बादल अपनी ऊर्ध्वयात्रा आरम्भ करते हैं, वे भी 'नमः' का व्रत ले, जलभार से नत हो, भूमि पर बरस जाते हैं। अनेक बार संसार के बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने गणना करके यह भविष्यवाणी की है कि अमुक वर्ष के अमुक दिन और अमुक समय पर हमारा भूमण्डल या अन्य कोई ग्रह-उपग्रह अमुक आकाशीय पिण्ड से टकराकर चूर-चूर हो जायेगा, किन्तु हमने देखा कि समय आने पर वह पिण्ड थोड़ा-सा झुक गया और विनाश टल गया। सूर्य भी यदि झुके नहीं तो दिवस-रात्रि के चक्र का प्रवर्तन ही समाप्त हो जाये।

द्यावापृथिवी के 'नमः' से शिक्षा लेकर मैं भी 'नमः' को अपनाता हूँ। मैं भी विद्वज्जनों के प्रति झुकता हूँ, उन्हें नमस्कार करता हूँ, उनकी चरण-रज का स्पर्श कर अपने-आपको धन्य मानता हूँ। माता देवी है, उसके चरणों में लोटता हूँ। पिता देव हैं, उनको शीष नवाता हूँ। गुरुजन देव हैं, उन्हें प्रणाम करता हूँ। अतीत और वर्तमान काल के अन्य महापुरुष देव हैं, उनकी वन्दना करता हूँ। देवजन 'नमः' के वशवर्ती हैं, 'नमः' को देखकर पसीज उठते हैं, अतः मुझसे यदि कोई अपराध हो गया है, तो मैं 'नमः' को धारण कर शुद्ध हृदय से अपना अपराध उनके सम्मुख निवेदन कर देता हूँ। उस अपराध के लिए स्वेच्छापूर्वक प्रायश्चित्त करता हूँ, दण्ड के लिए भी स्वयं को प्रस्तुत करता हूँ। पर वे मुझे क्षमा कर देते हैं। वे कहते हैं कि प्रायश्चित्त के आँसुओं से तुम्हारा पाप धुल गया। आओ, हम सब 'नमः' को अपने अन्दर धारण करें और 'नमः' के द्वारा ही ऊँचे उठें।

१२१. हमारी पुकार सुनो

किमङ्ग त्वा ब्रह्मणः सोम गोपां[११], किमङ्ग त्वाहुरभिशस्तिपां नः[११] ।
किमङ्ग नः पश्यसि निद्यमानान्[११], ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य[११] ॥

—ऋग् ६.५२.३

ऋषिः **ऋजिश्वाः भारद्वाजः** । देवता **विश्वेदेवाः** । छन्दः **त्रिष्टुप्** ।

(**अङ्ग सोम**) हे सोम प्रभु ! (**किं**) किसलिए (**त्वा**) तुम्हें (**ब्रह्मणः**) ब्रह्मत्व का (**गोपां**) रक्षक (**आहुः**) कहते हैं ? (**अङ्ग**) हे प्रिय ! (**किं**) किसलिए (**त्वा**) तुम्हें (**नः**) हमारा (**अभिशस्तिपां**) अभिशस्ति से रक्षा करनेवाला (**आहुः**) कहते हैं ? (**अङ्ग**) हे भद्र ! (**किं**) क्यों (**नः**) हमें (**निद्यमानान्**[१]) निन्दा का विषय बने हुए (**पश्यसि**) देख रहे हो ? (**ब्रह्मद्विषे**) ब्रह्म-विरोधी पर (**तपुषिं**) सन्तापक (**हेतिं**) वज्र को (**अस्य**[२]) फेंको ।

हे मेरे प्रभुवर ! तुम 'सोम' हो, चन्द्र हो, सद्विचार-समुद्र को बढ़ानेवाले तथा दुर्भाव-तिमिर को नष्ट करनेवाले हो। मनीषीजन पुकार-पुकारकर कहते हैं कि तुम 'ब्रह्म' के रक्षक हो, ब्रह्मशब्दवाच्य सत्य, ज्ञान, विवेक, सत्कर्म, सदाचार, धर्म, आस्तिकता, बृहत्ता, उदारता, उत्कर्ष आदि की रक्षा करनेवाले हो। हे भगवन् ! तुम्हारे विषय में बार-बार कहा जाता है कि जब कभी सत्य और धर्म पर आपत्ति आती है, तब तुम उसकी रक्षा करते हो। पर हमारे विषय में तुम्हारी यह प्रशस्ति चरितार्थ क्यों नहीं हो रही ? तुम्हारे स्तुति-गीत गाते हुए तुम्हारे भक्त सदा यह दुहाई देते हैं कि तुम 'अभिशस्ति' से, दुर्भाग्य, विपत्ति, अनिष्ट, हिंसा, अभिशाप, निन्दा, अपयश, अपमान आदि से, त्राण करनेवाले हो। पर तुम हमारी पुकार क्यों नहीं सुनते ? देखो तो, हमारे व्यक्तियों की, हमारे समाज की, हमारे देश की क्या अवस्था हो रही है। पहले कभी हमारा देश सब गुण-गरिमाओं से अलंकृत था। हमारे देश के अश्वपति कैकेय सदृश राजा लोग यह घोषणा करते थे कि हमारे देश में न कोई चोर है, न कृपण है, न मद्यपायी है, न अनग्निहोत्री है, न अविद्वान् है, न व्यभिचारी पुरुष है, न व्यभिचारिणी स्त्री है।, किन्तु आज तो बड़े-बड़े कुख्यात दस्यु निरीह प्रजा को लूट रहे हैं, तस्कर-व्यापार हो रहा है, मिलावटरहित शुद्ध वस्तुएँ दुर्लभ हो रही हैं। सत्य लुप्त हो रहा है, अविद्या बढ़ रही है, अविवेक पनप रहा है, सत्कर्म और सदाचार नामशेष हो रहे है। अधर्म धर्म का स्थान ले रहा है, नास्तिकता फैशन बन रही है, अनुदारता हृदयहार हो रही है। हम दुर्भाग्यग्रस्त हो रहे हैं। अनिष्ट हमें दबोच रहा है, अभिशाप हमपर गिर रहा है।

हे सोम प्रभु ! क्या तुम देख नहीं रहे कि हम निन्दा, अपयश और अपमान के पात्र बनते जा रहे हैं ? तो फिर हमसे विमुख क्यों हो ? आओ, हमारे मनों में, हमारे समाज में और हमारे राष्ट्र में जो ब्रह्म-विरोधी विचार और कर्म व्याप्त हो रहे हैं, उनपर पूरे बल के साथ वज्र-प्रहार करके उन्हें निर्मूल कर दो।

१२२. ब्रह्मचोदनी आरा

यां पूषन् ब्रह्मचोदनीम्[८], आरां बिभर्ष्याघृणे[७]।
तया समस्य हृदयम्[८], आरिख किकिरा कृणु[८]॥

—ऋग् ६.५३.८

ऋषिः **भरद्वाजः बार्हस्पत्यः**। देवता **पूषा**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्**।

(आघृणे[१]) हे दीप्तिमान् **(पूषन्)** पोषक परमेश्वर! [तुम] **(यां)** जिस **(ब्रह्मचोदनीं)** ब्रह्म-प्रेरिका **(आरां)** बेधनी को **(बिभर्षि)** धारण करते हो, **(तया)** उससे **(समस्य)**सबके **(हृदयं)** हृदय को **(आरिख[२])** आलिखित कर दो, [और फिर] **(किकिरा[३])** उत्कीर्ण **(कृणु)** कर दो।

हे पूषन्! हे पोषक परमेश्वर! तुम 'आघृणि' हो, ज्योति से देदीप्यमान हो। स्वभावतः तुम हमें भी सद्गुणों की ज्योति से प्रदीप्त करना चाहते हो। हमारे समाज में बहुत-से लोग 'ब्रह्मत्व' से हीन हैं, वे आस्तिक विचारधारा में विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टि में यह संसार प्रकृति का ही खेल है, इसकी व्याख्या के लिए बीच में परमात्मा और जीवात्मा को लाना व्यर्थ है। वे वेदादि शास्त्रों पर और धर्म-कर्म , दान-पुण्य आदि पर भी आस्था नहीं रखते। उनके मत में प्रकृति या अपनी इच्छा जो कुछ कराती है, वह मनुष्य को करते जाना चाहिए। उनका कथन है कि जैसे गेंद को भूमि पर जितना अधिक जोर से मारते हैं, उतना ही अधिक वह ऊपर उछलती है, वैसे ही इच्छा को संयम के नाम पर जितना दबाते हैं, उतने ही प्रचण्डरूप से वह उभरती है; अतः इच्छा की पूर्ति करते जाना ही मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, परन्तु यह दृष्टिकोण समाज के वातावरण पर एक भयंकर प्रभाव छोड़ता है। इस दृष्टिबिन्दु के व्यक्ति प्रायः 'पणि' या स्वार्थ-परायण होते हैं। उन लोगों में हे पूषन्! तुम 'ब्रह्मत्व' की दीप्ति को, आस्था की ज्योति को, प्रदीप्त करो।

हे पूषा देव! तुम्हारे पास 'ब्रह्मचोदनी आरा' है, ब्रह्मभाव को प्रेरित करनेवाली बेधनी है। उस बेधनी से तुम समाज के समस्त नास्तिक, अश्रद्धालु, असहृदय व्यक्तियों के हृत्पटल पर आस्तिकता के और आस्तिकता के अनुवर्ती सत्य, सहृदयता, दान आदि गुणों के अक्षर लिख दो। लिखे हुए वे अक्षर कहीं मिट न जाएँ, इसलिए उन अक्षरों को उत्कीर्ण करके पक्का कर दो। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण समाज ब्रह्मपरायण, आत्मदर्शी, आस्थावान् और पारस्परिक स्नेह-सौहार्द से युक्त बन जाए। हे प्रभु! हमारे राष्ट्र को ब्रह्म-राष्ट्र बना दो।

१२३. कैसा विद्वान् गुरु हमें मिले ?

सं पूषन् विदुषा नय॑, यो अञ्जसानुशासति॑।
य एवेदमिति ब्रवत्॑ ॥ —ऋग् ६.५४.१

ऋषिः **भरद्वाजः बार्हस्पत्यः**। देवता **पूषा**। छन्दः **गायत्री**।

(पूषन्) हे पूषा देव! हे पुष्टिदाता परमात्मन्! [तुम हमें] **(विदुषा)** [ऐसे] विद्वान् से **(संनय)** संयुक्त कराओ, **(यः)** जो **(अञ्जसा[१])** ऋजु मार्ग से, शीघ्र **(अनुशासति[२])** शास्त्रोपदेश करे [और] **(यः)** जो **(एव[३] इदम्)** 'ऐसा ही है यह' **(इति)** इस प्रकार [निश्चयात्मकरूप से] **(ब्रवत्[४])** कह सके।

हे पूषा परमात्मन्! तुम पुष्टि के देव हो। शारीरिक, आर्थिक आदि अन्य पुष्टियों के समान तुम हमें विद्या की पुष्टि भी प्रदान करते हो। इस विद्या की पुष्टि के लिए तुम किन्हीं विद्वानों को माध्यम बनाते हो। बालक की अध्ययन के योग्य आयु हो जानेपर माता-पिता द्वारा उसे आचार्याधीन वास करने के लिए गुरुकुल में भेज दिया जाता है, जहाँ वह गुरुजनों के सान्निध्य में रहता हुआ विद्यार्जन करता है। गुरुकल से स्नातक बन जाने के बाद भी उसके जीवन में अनेक विद्वान् आते हैं, जिनसे वह ज्ञान-ग्रहण करता है। हम चाहते हैं कि तुम्हारी कृपा से हमें ऐसा उच्चकोटि का विद्वान् गुरु प्राप्त हो, जो शिक्षण और उपदेश की कला में पूर्ण निष्णात हो। उसमें यह गुण हो कि वह जटिल से जटिल विषय को ऋजु मार्ग से, सरल शैली से, हृदयंगम करा सके। वह कठिन से कठिन शास्त्रीय सन्दर्भों को कथाओं, दृष्टान्तों आदि के माध्यम से सुबोध बनाकर प्रस्तुत कर सके, जैसा उपनिषदों के ऋषि करते हैं। वह उन शिक्षकों के समान न हो, जो स्वयं तो शास्त्र के पण्डित होते हैं, पर श्रोता को विषय का बोध नहीं करा सकते। जो विद्वान् गुरु हमें मिले उसकी शिक्षण की गति भी तीव्र और शीघ्रतायुक्त हो, जिससे अल्पसमय में अधिक से अधिक विद्या का ग्रहण करा सके। अन्यथा स्वल्प आयु में अनन्त शब्द-शास्त्र में से थोड़े अंश का भी अध्ययन दुष्कर है।

जो विद्वान् तुम हमें प्राप्त कराओ उसका ऐसा चूडान्त पाण्डित्य हो कि वह किसी भी गूढ़ से गूढ़ विषय की व्याख्या करते हुए निश्चयात्मकरूप में यह कह सके कि इसका अभिप्राय यही है। वह संशयों से घिरा हुआ न हो। न केवल वह शास्त्रीय विषयों के शिक्षण में पटु हो, किन्तु योग-विधि द्वारा जिज्ञासु को ब्रह्म-साक्षात्कार कराता हुआ भी ब्रह्म की हस्तामलकवत् 'ऐसा ही है, यही है' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूति करा सके, जैसे कठोपनिषद् में नचिकेता को उसका आचार्य यम "एतद् वै तत्[५] (यही है वह)" इस प्रकार कहता हुआ ब्रह्म का प्रत्यक्ष कराता है। हम जानते हैं कि ऐसे विद्वान् गुरु विरले ही होते हैं, पर हे पूषन्! तुम ऐसा ही विद्वान् आचार्य और उपदेशक प्रदान करके हमें 'अपरा' और 'परा' विद्या के ज्ञान और अनुभव से पूर्णतः परिपुष्ट कर दो।

१२४. सौन्दर्य की याचना

वाममद्य सवितर् वाममु श्वो[११], दिवे-दिवे वाममस्मभ्यं सावीः[११]।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरे[११]रया, धिया वामभाजः स्याम[१०]॥

—ऋग् ६.७१.६

ऋषिः **भरद्वाजः बार्हस्पत्यः**। देवता **सविता**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**सवितः**[१]) हे सर्जक और प्रेरक परमेश्वर! (**अद्य**) आज (**वामं**) सौन्दर्य को (**उ**) और (**श्वः**) कल (**वामं**) सौन्दर्य को, [और] (**दिवे-दिवे**) प्रतिदिन (**वामं**) सौन्दर्य को (**अस्मभ्यं**) हमारे लिए (**सावीः**) प्रेरित कर, प्रदान कर। (**देव**) हे देव! हे दानादिगुणविशिष्ट! [तू] (**भूरेः**) प्रचुर (**वामस्य**) सुन्दर (**क्षयस्य**[२]) निधि का [दाता है]। (**अया**[३]) इस (**धिया**) प्रज्ञा और कर्म से [हम] (**वामभाजः**) सौन्दर्य-सेवी (**स्याम**) हों।

हे सविता देव! हे परमात्मन्! तुम समस्त गुणों के सर्जक भी हो और सत्पात्रों में उन गुणों को प्रेरित करनेवाले भी हो। बड़े-से-बड़े साधक भक्त सद्गुणों की प्राप्ति के लिए तुमसे ही याचना करते हैं। आज हम भी तुमसे एक गुण की कामना कर रहे हैं। हम 'वाम' अर्थात् सौन्दर्य को पाना चाहते हैं, सौन्दर्य के उपासक बनना चाहते हैं। कोशकारों ने 'वाम' के प्रशस्त, सेवनीय और सुन्दर अर्थ किये हैं[४]। जो वस्तु प्रशस्त और सेवनीय होती है, वस्तुतः वही सुन्दर कहलाने योग्य है। कोई वस्तु रूप-रंग से सुन्दर भी हो, किन्तु हानिकर होने से अप्रशस्त एवं असेवनीय हो, तो वह सुन्दर नहीं कहाती। परिणामतः 'सुन्दर' वही है, जो 'सत्य' और 'शिव' भी हो, अतः हे प्रभु! जब हम तुमसे 'सुन्दरम्' की याचना कर रहे हैं, तब उसमें 'सत्यम्' और 'शिवम्' भी सम्मिलित हैं। हे सवितः! हमें तुम आज सौन्दर्य प्रदान करो, कल भी सौन्दर्य प्रदान करना, प्रतिदिन सौन्दर्य प्रदान करते रहना। तुम 'देव' हो, दानादि-गुणयुक्त होने से स्वयं सुन्दर हो, अतएव प्रचुर सुन्दर सद्गुणों की निधि के दाता भी हो। तुम हमें सद्गुणों की सुन्दर निधि प्रदान करो। ऐसी कृपा करो कि हम सदा ही प्रज्ञा और कर्म दोनों से सौन्दर्य-सेवी बने रहें। मन से सौन्दर्य के ही विषय में सोचें, बुद्धि से सौन्दर्य को ही पाने का निश्चय करें और कर्म से सौन्दर्य को ही पाने के लिए प्रवृत्त हों। साथ ही मन, बुद्धि और कर्म तीनों को सुन्दर बनायें। 'वाम' का अर्थ 'विपरीत' भी होता है। कभी-कभी हमें सौन्दर्य को पाने के लिए असुन्दर के प्रति मन में विपरीत-भावना भी करनी आवश्यक होती है, जिसे योगदर्शनकार ने 'प्रतिपक्ष-भावना'[५] कहा है। जब हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य आदि असुन्दर वस्तुएँ लुभावनारूप दिखाकर मन पर आक्रमण करें, तब साधक इनमें दोष-दर्शन करके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सुन्दर वस्तुओं को सहज ही प्राप्त कर सकता है। हे भगवन्! तुम सौन्दर्य के स्रष्टा और प्रेरक हो, हमें सर्वांग-सुन्दर बना दो।

१२५. ब्रह्म का आन्तरिक कवच

यो नः स्वो अरणो[६], यश्च निष्ट्यो जिघांसति[८]।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु[८], ब्रह्म वर्म ममान्तरम्[८] ॥

—ऋग् ६.७५.१९

ऋषिः **पायुः भारद्वाजः**। देवता **देवाः ब्रह्म च**। छन्दः **ककुम्मती विराड् अनुष्टुप्**।

(यः) जो **(स्वः)** अपना सम्बन्धी, **(अरणः[१])** अपरिचित व्यक्ति **(यः च)** और जो **(निष्ट्यः[२])** [सज्जनों के बीच से] निकाला गया व्यक्ति **(नः जिघांसति)** हमारी [नैतिक] हत्या करना चाहता है, **(तं)** उसे **(सर्वे देवाः)** [हमारे] सब दिव्यगुण **(धूर्वन्तु[३])** असफल कर दें। **(ब्रह्म)** ब्रह्म **(मम)** मेरा **(आन्तरं)** आन्तरिक **(वर्म)** कवच [हो]।

जब हम शत्रु के तीव्र आघातों से बचना चाहते हैं, तब शरीर पर कवच धारण कर लेते हैं। पर यदि आघात शरीर पर न होकर मन या आत्मा पर हो रहा हो, हमारी नैतिक हत्या की जा रही हो, तब बाह्य कवच से क्या हो सकता है ? उस समय तो हमें आन्तरिक कवच धारण करना होगा। नैतिक हत्या करनेवाले कौन होते हैं ? कभी अपने इष्ट-सम्बन्धी जन, जिनसे हम आशा कर रहे होते हैं कि ये हमें प्रहारों से बचायेंगे, प्रहार करनेवाले बन जाते हैं। वे कभी स्वार्थवश, कभी हमारे प्रति अन्धे प्रेमवश, कभी अन्य लोगों से किसी कारण उकसाये जानेपर हमारी हानि करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त कभी कोई अपरिचित व्यक्ति, जिनका हमारे साथ कोई साक्षात् वैर नहीं होता, दूसरों के गुट में सम्मिलित होकर हमारा नैतिक पतन करने की चेष्टा करते हैं। कभी कोई सज्जनों के बीच से निकाला गया शत्रु बना व्यक्ति हमारा नैतिक वध करने का प्रयास करता है। ये सब हमारे सगे-सम्बन्धी, अपरिचित जन या बद्धवैर शत्रु व्यक्ति भले ही नैतिक हत्या के उद्देश्य से हमपर प्रहार करना चाहते हों, पर हम यदि अपने अन्दर विद्यमान दिव्यगुणों की सेना को सजग कर लेंगे और ब्रह्म का कवच पहन लेंगे, तो ये कभी सफल नहीं हो सकते। हमारी नैतिक हत्या तब होती है, जब दुर्गुणों और दुष्कर्मों से लोहा लेनेवाले हमारे दिव्यगुण निर्बल पड़ जाते हैं। यदि उन्हें हम सवल और सन्नद्ध कर लेंगे, अपने आत्मा और मन के सजग प्रहरी बना लेंगे, तो किसी का हमपर आक्रमण करने का साहस नहीं हो सकेगा। साथ ही यदि हम ब्रह्म को अपना आन्तरिक कवच बना लेंगे, तो शत्रु भले ही प्रहार करने में सफल भी हो जाए, तो भी उसके प्रहार ढाल पर तलवार की धार के समान कुण्ठित हो जायेंगे। ब्रह्म का दृढ़ कवच, ईश्वर-विश्वास का अभेद्य बल, सब नैतिक हत्याओं से बचाकर हमें सद्विचार, सत्कर्म, सद्भावना आदि का अग्रदूत और पावन चरित्र का धनी बना देगा, अतः आओ, हम ब्रह्म का आन्तरिक कवच धारण कर अच्छेद्य, अभेद्य और विजयी बने रहें।

१२६. अवीरता, नग्नता, अमति, क्षुधा दूर रहें

मा नो अग्नेऽवीरते परा दा:१०, दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै११।
मा न: क्षुधे मा रक्षस ऋतावो११, मा नो दमे मा वन आ जुहूर्था:११॥

—ऋग् ७.१.१९

ऋषि: **मैत्रावरुणि: वसिष्ठ:**। देवता **अग्नि:**। छन्द: **निचृत् त्रिष्टुप्।**

(अग्ने) हे तेजोमय परमात्मन्। **(न:)** हमें **(अवीरते[१])** अवीरता के **(मा परा दा:)** सुपुर्द मत करो, **(मा)** न ही **(दुर्वाससे)** दुर्वस्त्रता के [और] न **(अस्यै अमतये)** इस अमति के। **(ऋताव:[२])** हे सत्यवाले! **(मा)** न **(न:)** हमें **(क्षुधे)** क्षुधा के [और] **(मा)** न **(रक्षसे)** राक्षस के [सुपुर्द करो]। [तुम] **(न:)** हमें **(मा)** न **(दमे[३])** घर में, **(मा)** न **(वने)** वन में **(आजुहूर्था:[४])** कुटिलता का पात्र बनने दो।

हे अग्नि प्रभु! हे तेजोमय देव! तुम हमें तेज प्रदान करके इंस योग्य बना दो कि हम अवीरता, दुर्वस्त्रता, अमति, क्षुधा, राक्षसी वृत्ति, कुटिलता आदि पैशाची शक्तियों पर विजय पा सकें। यदि हमारे अन्दर भक्ति-धारा के नाम पर अवीरता या कायरता व्याप जाती है और शत्रु का आक्रमण होनेपर हम उसका प्रतिरोध करने के स्थान पर निष्क्रिय हो, तुम्हारी वन्दना करने बैठ जाते हैं, तो हमारे समान अभागा भला और कौन होगा! शौर्य-प्रदर्शन का समय होनेपर भक्ति, अहिंसा, क्षमा आदि का नाम लेना अशक्ति और अवीरता का लक्षण है। ऐसी अवीरता से हमें बचाओ। यदि हमारे देश में दुर्वस्त्रता छा गई है, जहाँ-तहाँ चीथड़ेधारी, अर्ध-नग्न जनता के दर्शन होते हैं तो उससे भी हमारा उद्धार करो और ऐसी सुवस्त्रता हमें प्रदान करो कि प्रत्येक राष्ट्रवासी सदा उत्तम वस्त्रों से अलंकृत रहे। यदि हमारा राष्ट्र अमति, अर्थात् मति-हीनता, अमननशीलता, निरक्षरता और अविद्या से ग्रस्त है, तो यह अवस्था भी बड़ी शोचनीय है। जब राष्ट्र में प्रज्ञा, सुमति, विद्या और विवेक का सूर्य चमकता है, तभी वस्तुत: कोई राष्ट्र सच्चे अर्थों में राष्ट्र कहलाने का अधिकारी होता है। यदि हमारे देश में अनेकों लोग क्षुधा से तड़पकर मर जाते हैं, बहुतेरे आधा पेट खाकर रहते हैं, बच्चे दूध के लिए तरसते हैं, तो इस भुखमरी से भी हमारा त्राण करो। साथ ही यदि हमें क्षुधा-रोग हो गया है, हम कुछ भी पा लें उससे हमें सन्तोष नहीं होता, सबका ऐश्वर्य छीनकर अपने पास जमा कर लेना चाहते हैं, अपरिग्रहवृत्ति हममें नहीं रही है, तो उससे भी हमारी रक्षा करो। राक्षसी वृत्तियों को तथा राक्षसी वृत्तिवाले व्यक्तियों को भी हमसे दूर करो। ऐसी कृपा करो कि हम घर में हों या वन में, कहीं भी कुटिलता की वृत्ति हमारे अन्दर न आने पाये। किसी के भी कुटिल परामर्श के वशीभूत हम न हों। हमारे स्वभाव में सत्य और सरलता का वास हो। हे प्रभु! तुम 'ऋतावा' हो, स्वयं सत्यमय हो, अत: हमें भी सत्यमय बनाओ।

१२७. अश्रद्धावान् पिछड़ जाते हैं

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः[१०], पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्[११]।
प्र प्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय,[१०] पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्[१०]॥

—ऋग् ७.६.३

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(**अक्रतून्**) धर्म-कर्म न करनेवाले, (**ग्रथिनः**[१]) मायाजाल में फँसानेवाले, (**मृध्रवाचः**[२]) हिंसक वाणीवाले, (**पणीन्**) कृपण, (**अश्रद्धान्**) श्रद्धारहित, (**अवृधान्**) न बढ़ानेवाले, (**अयज्ञान्**) यज्ञ न करनेवाले, (**तान् दस्यून्**[३]) उन दस्युओं को, (**अग्निः**) अग्निस्वरूप परमेश्वर (**प्र प्र**) अतिदूर (**नि विवाय**[४]) नीचे फेंक देता है। (**पूर्वः**) श्रेष्ठ [परमेश्वर] (**अयज्यून्**) अयाज्ञिकों को (**अपरान्**) पिछड़ा हुआ (**चकार**) कर देता है।

धर्म-कर्म-हीन, अश्रंद्धालु दस्युजनों को कभी-कभी संसार में फूलते-फलते देखकर तुम्हारे मन में कहीं यह विचार तो नहीं आया कि धर्म-कर्म, ध्यान-उपासना सब व्यर्थ का आडम्बर है? यदि ऐसा विचार तुम्हारे मन में आया है, तो निश्चय ही यह तुम्हारी भूल है। अश्रद्धालु जन कभी थोड़े दिनों की आनन्द-मौज भले ही मना लें, पर स्थायीरूप से वे कभी समृद्धिशाली नहीं होते। इसके विपरीत श्रद्धालुजन अपने पूर्व सञ्चित कर्मों के परिपाकवश कुछ समय के लिए कष्टापन्न चाहे हो जाएँ, पर स्थायी रूप से उन्हें सुख-शान्ति और सम्पदा ही प्राप्त होती है। समाज में एक श्रेणी ऐसे लोगों की होती है, जो 'अक्रतु' होते हैं, जिन्हें शुभकर्मों से कोई सरोकार नहीं होता, किन्तु दुष्कर्म वे जी-भर करते हैं। वे 'ग्रथी' भी होते हैं, अन्यों को भी अपने मायाजाल में फँसाना चाहते हैं। वे 'मृध्रवाक्' होते हैं, उनकी वाणी सर्जनात्मक नहीं, प्रत्युत हिंसक होती है, जो दूसरों पर दुधारी तलवार के समान वार करती है। उनके अन्दर किसी दैवी शक्ति पर या किसी पुण्यकर्म आदि में श्रद्धा नाम को भी नहीं रहती, प्रत्युत वे अश्रद्धा के साक्षात् अवतार होते हैं। वे किसी को बढ़ाने में नहीं, अपितु स्वयं बढ़ने और समृद्ध होने में गौरव का अनुभव करते हैं। वे यज्ञ से कोसों दूर रहते हैं, संध्या, अग्निहोत्र आदि यज्ञों एवं लोकोपकार के कार्यों से उन्हें सदा अरुचि रहती है। वे दस्यु कहलाते हैं, क्योंकि उपक्षय, घात-पात, हिंसा-उपद्रव आदि ही उनके एकमात्र लक्ष्य होते हैं। ऐसे लोग भले ही आज समृद्धिशाली दिखाई दे रहे हों, पर अन्ततः अग्निस्वरूप परमेश्वर उन्हें असफलता के गर्त में फेंक देता है। अयज्ञशील, अश्रद्धालु दस्यु जन आज चाहे सबसे आगे पहुँच गये हों, पर एक दिन वे अग्नि प्रभु की तीक्ष्ण मार से सबसे पिछड़े हो जाते हैं, अतः मित्रो! श्रद्धा को अपनाओ, धर्म-कर्म में रुचि लो, यज्ञ करो, लोकोपकार का व्रत लो। प्रभु तुम्हारा कल्याण करेंगा।

१२८. इन्द्र के घोर मन को अनुकूल कर

नूचित् स भ्रेषते जनो न रेषत्[११], मनो यो अस्य घोरमाविवासात्[११]।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि[११], क्षयत् स राय ऋतपा ऋतेजाः[११]॥

—ऋग् ७.२०.६

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(सः) वह **(जनः)** मनुष्य **(नू चित्[१])** न ही **(भ्रेषते[२])** भयभीत और स्थानभ्रष्ट होता है, **(न)** न ही **(रेषत्[३])** विनष्ट होता है, **(यः)** जो **(अस्य)** इस [इन्द्र] के **(घोरं)** घोर **(मनः)** मन को **(आ विवासात्)** परिचर्या द्वारा अनुकूल कर लेता है। **(यः)** जो **(इन्द्रे)** इन्द्र के प्रति **(यज्ञैः)** यज्ञ-कर्मों द्वारा **(दुवांसि[४])** पूजाओं को **(दधते)** धारण करता है, **(ऋतपाः)** सत्य का रक्षक और **(ऋतेजाः)** सत्य में प्रसिद्ध **(सः)** वह **(राये)** ऐश्वर्य के लिए **(क्षयत्[५])** निवास करता है।

इन्द्र के दो रूप हैं, एक सौम्यरूप, दूसरा घोररूप। धर्मात्माओं के सम्मुख वह अपना स्नेहिल सौम्यरूप प्रकट करता है, किन्तु दुरात्माओं के आगे वह 'घोर' भयावह रूप में आता है। काल्पनिक चित्रों में जो उसका गर्जन-तर्जन करता हुआ, बड़े-बड़े दाँतोंवाला, दुरात्मा को हाथों से उठाकर शिला पर पटकने के लिए तैयार, काला, विकराल रूप अंकित किया जाता है, वह उसके घोररूप का ही प्रतिनिधित्व करता है। इन्द्र बड़े-से-बड़े पापी नास्तिकों को क्षणभर में धूलिसात् कर देता है, अपने वज्र का, अर्थात् अपनी दण्ड-शक्ति का निशाना बनाकर चकनाचूर कर देता है, परन्तु पापी को भी प्रथम इस बात का अवसर मिलता है कि वह पाप-जीवन को त्यागकर इन्द्र प्रभु के घोर मन को परिचर्या द्वारा अपने अनुकूल कर ले। जो इस अवसर का लाभ उठाते हैं, उसके घोर मन को अपने प्रति स्नेहसिक्त और सौम्य कर लेते हैं, वे कभी भय-संत्रस्त, स्थानभ्रष्ट, पदभ्रष्ट एवं मार्गभ्रष्ट नहीं होते, न ही वे विनाश को प्राप्त होते हैं, किन्तु परिचर्या द्वारा इन्द्र के घोर मन को अनुकूल करने का अभिप्राय यह नहीं है कि कर्म कैसे ही करते रहें, झूठी भक्ति दिखाकर और उसके आगे हाथ जोड़कर उसे छल लें। वह कभी किसी से छला जानेवाला नहीं है। उसकी पूजा चन्दन-तिलक लगाने से, घण्टा-घड़ियाल बजाने से या 'मुँह में राम बगल में छुरी' की कहावत चरितार्थ करने से नहीं होती, अपितु 'यज्ञ-कर्म' करना ही उसकी पूजा है। जो यज्ञ-भावना से अपने मन को सुवासित करता है और पर-सेवा के यज्ञ-कर्मों से अपने जीवन को पवित्र करता है, वही इन्द्र का पूजक होता है और वही इन्द्र के घोर मन को अपने प्रति सौम्य कर सकता है। वह 'ऋतपाः' और 'ऋतेजाः' होकर, अर्थात् सत्य का संरक्षक बनकर और सत्य-व्यवहार में प्रसिद्धि पाकर उत्तम निवास प्राप्त करता है और स्पृहणीय ऐश्वर्यों का अधिकारी हो जाता है। आओ, हम भी इन्द्र प्रभु के घोर मन को अनुकूल करें और उसकी कृपा से बाह्य और आन्तरिक उत्तमोत्तम ऐश्वर्यों के अधिकारी बनें।

१२९. देव-पुरुष कुत्सित आचरण नहीं करते

मा स्त्रेधत सोमिनो दक्षता महे[१२], कृणुध्वं राय आतुजे[८]।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति[१२], न देवासः कवत्नवे[८]॥

—ऋग् ७.३२.९

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **पङ्क्तिः**।

(सोमिनः) हे वीर्यरूप सोम को सञ्चित करनेवालो! **(मा)** मत **(स्त्रेधत[१])** शक्ति क्षीण करो, **(महे)** महान् [इन्द्र प्रभु को पाने] के लिए **(दक्षत[२])** उत्साह धारण करो। **(राये)** धन [कमाने] के लिए [और] **(आतुजे[३])** चारों ओर दान करने के लिए **(कृणुध्वं)** पुरुषार्थ करो। **(तरणिः[४] इत्)** पुरुषार्थी ही **(जयति)** विजयी होता है, **(क्षेति)** निवास प्राप्त करता है [और] **(पुष्यति)** परिपुष्ट होता है, समृद्ध होता है। [याद रखो] **(देवासः)** देव-पुरुष **(कवत्नवे[५])** कुत्सित कर्म के लिए **(न)** नहीं [पैदा होते]।

विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न वस्तुएँ सोम कहलाती हैं। शरीर में वीर्य[६] सोम है। हे मानवो! तुमने जिस वीर्यरूप सोम को देह-कलश में बड़े प्रयत्न से सञ्चित किया है उसे क्षीण मत करो, किन्तु ऊर्ध्वरेताः बनकर महान् इन्द्र प्रभु को पाने के लिए मन में उत्साह धारण करो। यदि तुम सञ्चित वीर्य को प्रभु-प्राप्ति के दीपक का घृत बना लोगे, तो शीघ्र ही तुम्हें प्रभु के दर्शन हो जायेंगे। पर प्रभु-दर्शन के लिए उत्साह होना चाहिए, मन तरंगित होना चाहिए, मन में तीव्र अभीप्सा होनी चाहिए। साथ ही तुम यह न सोचो कि प्रभु को पा लिया तो समाज के प्रति तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रहा। तुम धन-सम्पत्ति कमाने और लोकोपकारार्थ चारों ओर उसका दान करने के लिए भी पुरुषार्थ करो। यदि तुम दान नहीं भी करना चाहोगे, तो भी क्योंकि यह संसार का नियम है कि लक्ष्मी कहीं स्थिर होकर नहीं रहती, किन्तु रथ के चक्र के समान घूमती रहती है और एक के पास से दूसरे के पास जाती रहती है[७], अतः तुम्हारी कमाई हुई धन-सम्पत्ति किसी अन्य प्रकार से तुमसे छिन जाएगी। इसलिए स्वेच्छा से दान करो। यदि तुम अपने जीवन में विजयी होना चाहते हो, उत्तम स्थिति प्राप्त करना चाहते हो और परिपुष्ट-समृद्ध होना चाहते हो तो पुरुषार्थ ही उसका रामबाण नुस्खा है, अतः पुरुषार्थी बनो, सत्वर कर्म करनेवाले बनो। पर पुरुषार्थ के नाम पर कहीं कुत्सित कर्म न करने लगना। स्मरण रखो, तुम जैसे देवपुरुष कदाचार के लिए जन्म नहीं लेते, प्रत्युत सदाचार को अपनाकर संसार में आदर्श उपस्थित किया करते हैं, अतः तुम सदाचार की दिशा में ही पुरुषार्थ करो, इन्द्र प्रभु तुम्हारे सहायक होंगे।

१३०. तेरे प्रति प्रणत

अभि त्वा शूर नोनूमो[८], ऽदुग्धा इव धेनवः[७]।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशम्[११], ईशानमिन्द्र तस्थुषः[८]॥

—ऋग् ७.३२.२२

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता इन्द्रः। छन्दः **विराड् बृहती**।

(शूर इन्द्र) हे शूरवीर परमेश्वर! **(अस्य)** इस **(जगतः)** जंगम जगत् के **(ईशानं)** अधीश्वर, **(स्वर्दृशं)** मुक्ति-सुख का दर्शन करानेवाले **(त्वा अभि)** तेरे प्रति **(नोनुमः[१])** [हम] बारम्बार बहुत-बहुत झुकते हैं, **(इव)** जैसे **(अदुग्धाः)** न दुही हुई **(धेनवः)** गौएँ [झुक जाती हैं]।

हे इन्द्र! हे ऐश्वर्यशाली, शूरवीर परमात्मन्! तुम ही इस समस्त जंगम और स्थावर जगत् के ईशान हो, अधीश्वर हो। तुमसे भिन्न कोई अन्य इसका अधीश्वर नहीं हो सकता। आज का मानव बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार करने का दम भरता है, पर आज तक वह अपनी विज्ञानशाला में किसी जंगम प्राणी का निर्माण नहीं कर सका। तुम ही हो जो सहस्रों सजीव प्राणियों की तथा उनमें सर्वोपरि माने जानेवाले सजीव मानव की रचना करते हो। प्राणियों के जीवित जंगम शरीरों की रचना कैसी आश्चर्यमय है! शरीर में मस्तिष्क, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, श्वास-संस्थान, हृदय, रक्त-वाहिनियाँ, भोजन-प्रणाली, आमाशय, आँतें, मूत्रसंस्थान आदि सभी की रचना अत्यन्त विस्मयकारिणी है। हे परमेश! तुम्हारी इस कारीगरी को देखकर तुम्हारे प्रति मन श्रद्धावनत हो जाता है। स्थावर जगत् भी क्या कुछ कम विस्मयकारी है! ये हिमाच्छादित गगनचुम्बी पर्वत, ये मुख से आग उगलनेवाले ज्वालामुखी, ये कलकल-निनादिनी सरिताएँ, ये रत्नाकर, ये सूर-चाँद-सितारे, ये वन-उपवन, ये अहोरात्र, ऋतुचक्र, संवत्सर, सभी तुम्हारी महिमा को उजागर करते हैं।

हे जगत्पति परमेश्वर! जहाँ तुम जंगम-स्थावर के ईशान हो, वहाँ साथ ही 'स्वर्दृश' भी हो, मनुष्य को मुक्ति-सुख का दर्शन करानेवाले भी हो। जीवात्मा को आवागमन के चक्र में घुमाते हुए तुम उसे कर्मानुसार मानव-योनि प्रदान कर मुक्ति के लिए प्रयास का अवसर देते हो। मानव के मन में मुक्त होने की सत्प्रेरणा करते हो और उसे अपनी शरण में लेकर मुक्ति-सुख प्रदान करते हो। उसे यह सर्वोच्च उपलब्धि करानेवाले एकमात्र तुम्हीं हो।

अतः हे इन्द्र! हे महामहिमाशाली! हे देवेश! हम तुम्हारे प्रति बारम्बार झुकते हैं, श्रद्धा से प्रणत होते हैं। जैसे जब गायों के ऊधसों में दूध भरा होता है, तब वे झुक जाती हैं, वैसे ही श्रद्धा-भक्ति से परिपूर्ण हुए हम भी तुम्हारे प्रति प्रणत हो रहे हैं। हमारी इस प्रणति को, हमारे इस साष्टांग प्रणाम को, हमारे इस समर्पण को तुम स्वीकार करो।

१३१. हमें क्रतु प्रदान कर

इन्द्र क्रतुं न आभर[८]**, पिता पुत्रेभ्यो यथा**[७]**।**
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि[१२]
जीवा ज्योतिरशीमहि[८] **॥** —ऋग् ७.३२.२६

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः, शक्तिः वसिष्ठो वा।** देवता **इन्द्रः।** छन्दः **निचृद् बृहती।**

(इन्द्र) हे परमात्मन्! **(नः)** हमें **(क्रतुं)** प्रज्ञा और कर्म **(आभर)** प्रदान कर, **(यथा)** जैसे **(पिता)** पिता **(पुत्रेभ्यः)** पुत्र को [प्रदान करता है]। **(पुरुहूत)** हे बहुस्तुत! **(अस्मिन्)** इस **(यामनि**[१] **)** [जीवन के] मार्ग में **(नः)** हमें **(शिक्ष)** शिक्षा दे, [जिससे हम] **(जीवाः)** जीवित-जागृत [होकर] **(ज्योतिः)** ज्योति को **(अशीमहि)** प्राप्त करते रहें।

पिता पुत्र को जन्म से लेकर अन्त तक कुछ-न-कुछ शिक्षा देता ही रहता है। वह उसे ज्ञान भी देता है और कर्म करना भी सिखाता है। जब पुत्र लड़खड़ा रहा होता है, तब उसे चलना सिखाता है। जब वह अक्षर-ज्ञान के योग्य होता है, तब उसे अक्षर-ज्ञान देता है। जीवन में वह उसे काम की बातें बताता है, शिष्टाचार एवं लोक-व्यवहार सिखाता है। आचार्यकुल से स्नातक बनकर आनेपर उसे सांसारिक बातों का ज्ञान देता है और उसके कार्यक्षेत्र में आनेपर अपने अनुभव के आधार पर उसकी सहायता करता है। इसी प्रकार हे मेरे परमपिता परमात्मन्! तुम भी मुझे समय-समय पर 'क्रतु' अर्थात् समुचित ज्ञान और कर्म प्रदान करते रहो। मैं कितना ही ज्ञानी हो जाऊँ, तुम्हारे सम्मुख अबोध बालक ही रहूँगा। ज्ञान की कोई सीमा नहीं, ज्ञान अनन्त है। अनेक जन्म लगाकर सञ्चित किया हुआ भी मेरा ज्ञान समुद्र की एक बूँद के समान और विशाल पर्वत की एक कणी के समान रहता है, अतः तुम मुझे नित्य नवीन-नवीन सत्य ज्ञान की सरिता में स्नान कराते रहो। साथ ही मुझमें ऐसी प्रेरणा भी करते रहो कि ज्ञान के अनुसार मेरा आचरण भी हो।

हे जगदीश्वर! मेरी तुमसे प्रार्थना है कि अन्धकार और अविवेक के क्षणों में तुम मुझे सदा सत्य ज्ञान और सत्कर्तव्य बतलाते रहो।

हे पुरुहूत! हे बहुस्तुत! तुम जीवन-मार्ग में सदा हमें अपनी बहुमूल्य सीख देते रहो। जीवन का मार्ग बड़ा ही विकट है, सदा ही मनुष्य को पथभ्रष्ट होने का भय बना रहता है। तुम पूर्ण हो, तुम्हारी शिक्षा से ही हम जीवित-जागृत रहते हुए तमस् से ज्योति की ओर बढ़ सकते हैं, अधः-स्थिति से उच्च स्थिति को पा सकते हैं। अतः हे इन्द्र! हे ज्ञान एवं कर्म के परमैश्वर्य से युक्त परम प्रभु! तुम अपनी शिक्षाओं से सदैव हमें कृतार्थ करते रहो।

१३२. वसिष्ठों की महिमा

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां[११], समुद्रस्येव महिमा गभीरः[११]।
वातस्येव प्रजवो नान्येन[१०], स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः[१०]॥

—ऋग् ७.३३.८

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **वसिष्ठपुत्राः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(वसिष्ठाः[१]) हे सद्विद्या एवं सद्गुणकर्मों में अतिशय निवास करनेवाले आप्त विद्वानो! **(सूर्यस्य)** सूर्य के **(वक्षथः इव)** वक्षस्थलरूप आदित्यमण्डल के समान **(एषां)** इन [तुम लोगों] की **(ज्योतिः)** ज्योति [है], **(समुद्रस्य इव)** समुद्र के समान **(गभीरः)** गम्भीर **(महिमा)** महिमा [है], **(वः)** तुम्हारा **(स्तोमः)** स्तोत्र, प्रशंसा-गीत **(वातस्य)** वायु के **(प्रजवः इव)** प्रकृष्ट वेग के समान **(अन्येन)** अन्य के द्वारा **(अन्वेतवे[२])** अनुसरण करने योग्य **(न)** नहीं [है]।

क्या तुमने वसिष्ठ और वसिष्ठ-पुत्रों को देखा है? ऐतिहासिक वसिष्ठ ऋषि और उनके पुत्रों की बात मैं नहीं कर रहा। मैं उनके विषय में पूछ रहा हूँ जो गुणों से वसिष्ठ या वसिष्ठ-पुत्र हैं। यौगिक दृष्टि से वसिष्ठ वे कहलाते हैं, जो सबसे अधिक विद्या, सद्गुणों और सत्कर्मों के अन्दर निवास करते हैं, उनमें रम जाते हैं। उनकी विद्या विवाद के लिए नहीं, अपितु सद्गुणों को लाने के लिए होती है और सद्गुण प्रदर्शन-मात्र के लिए नहीं, अपितु सत्कर्मों में परिणत होने के लिए होते हैं। ऐसे अतिशय विद्वान्, गुणवान् और सत्कर्मनिष्ठ जन वसिष्ठ नाम से स्मरण किये जाते हैं और उनके अनुरूप-पुत्र भी वसिष्ठ संज्ञा को ही पाते हैं। सुनो, ऐसे वसिष्ठों में क्या-क्या शक्तियाँ आकर निहित हो जाती हैं, यह वेद बता रहा है।

आदित्य-मण्डल के समान इनमें ज्योति विराजमान होती है। इनका मुख तेजस्वी होता है और उसमें से इनका आत्मतेज भी झाँक रहा होता है। कोई भी पाप-विचार या पापी इनकी ज्योति के सम्मुख ठहर नहीं सकता। इसके विपरीत जो भी इनके सम्पर्क में आता है, वह इनकी ज्योति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, जैसे सूर्य के सम्पर्क में आनेवाला पदार्थ उसकी द्युति से विद्योतित होता ही है। इन वसिष्ठों की महिमा समुद्र के समान गम्भीर होती है। समुद्र का जल अगाध होता है, उसकी लहरें भी गम्भीर होती हैं। जहाँ देखो, जल-ही-जल दिखाई देता है और वह रत्नों का आकर भी कहलाता है। ऐसे ही वसिष्ठों का हृदय भी धीरता एवं गम्भीरता का पारावार तथा उज्ज्वल गुणगण-रूप रत्नों का रत्नाकर होता है। इन वसिष्ठों के जो स्तुति-कीर्तन होते हैं, जन-जन के मुख से जो उनके प्रशंसा-गीत गाये जाते हैं, वे अन्य जनों को प्राप्त नहीं होते, जैसे वायु के वेग को कोई प्राप्त नहीं कर पाता। अन्य जन इन प्रशंसा-गीतों के पात्र तभी बनते हैं, जब वे भी वसिष्ठ बन जाते हैं।

हे वसिष्ठो! अपनी इस महिमा को पहचानो और हमारे लिए आदर्श बनकर अपनी विद्वत्ता की तरंगें सर्वत्र उठाते रहो, अपने सद्गुणों का सौरभ सर्वत्र फैलाते रहो, अपनी ज्योति की किरणें सर्वत्र प्रसृत करते रहो। हमें भी वसिष्ठपुत्र कहलाने का अधिकारी बना दो।

१३३. प्रभातवेला में देवों का आह्वान

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे[१२], प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना[१२]।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं[१२], प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम[११]॥

—ऋग् ७.४१.१

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठ**। देवता **लिङ्गोक्ताः**। छन्दः **निचृद् जगती**।

(प्रातः) प्रातःकाल **(अग्निं)** अग्नि को, **(प्रातः)** प्रातःकाल **(इन्द्रं)** इन्द्र को, **(प्रातः)** प्रातःकाल **(मित्रावरुणा)** मित्र और वरुण को, **(प्रातः)** प्रातःकाल **(अश्विना)** अश्विनौ को **(हवामहे[१])** [हम] पुकारें। **(प्रातः)** प्रातःकाल **(भगं)** भग को **(पूषणं)** पूषा को **(रुद्रं)** रुद्र को **(हुवेम[२])** पुकारें।

आओ, प्रभातवेला में देवों का आह्वान करें। सर्वप्रथम हम 'अग्नि' को पुकारते हैं। 'अग्नि' तेजस्विता का प्रतीक है। हम दिनभर अग्नि-ज्वाल के समान चमकें, अग्नि-ज्वाल के समान ऊर्ध्वगामी रहें। चिनगारी बन हम जगत् में दिव्यता की आग प्रज्वलित करें। हम अग्नि का काम करें, हमारे मुख से निकले शब्द अग्नि का काम करें, हमारे लिखे ग्रन्थ अग्नि का काम करें। फिर हम 'इन्द्र' का आह्वान करते हैं। 'इन्द्र' वीरता का देव है। हम भी अपना सम्पूर्ण दिन वीरतापूर्वक व्यतीत करें। वैदिक इन्द्र के समान हम आन्तरिक तथा बाह्य वृत्रासुर का वध करें। फिर हम 'मित्र' और 'वरुण' को स्मरण करते हैं। 'मित्र' मित्रता का देव है। हम भी अपने अन्दर सर्वभूत-मैत्री की भावना जगाएँ, सबको मित्र-दृष्टि से देखें, सब हमें मित्र-दृष्टि से देखें। 'वरुण' पाप-निवारक देव है। वह पाशी है, ज्यों ही हम कोई पाप करते हैं, वह अपने पाशों से हमें बाँध लेता है। उसके गुप्तचर सर्वत्र विचर रहे हैं, जो सहस्र नेत्रों से सबको देख रहे हैं, अतः कृत दुष्कर्म के फल-भोग से कोई बच नहीं सकता। एवं वरुण के स्मरण से हम पापों से बचने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। फिर हम 'अश्विनौ' का ध्यान करते हैं। किन्हीं मत में द्यावापृथिवी 'अश्वनौ' हैं, किन्हीं के मत में सूर्य-चन्द्रमा 'अश्विनौ' हैं, किन्हीं के मत में प्राणापान 'अश्विनौ' हैं। वेदों में ये देव-भिषग् भी हैं, जो लंगड़े की टांग लगाते हैं, अन्धों को आँख देते हैं, वंध्या गाय को दुधारु बनाते हैं। हम भी द्यावापृथिवी और सूर्य-चन्द्र के समान बनें। हम भी प्राणापानों के स्वामी बनें। हम भी दीन-दुःखियों की सेवा करें।

हम ऐश्वर्य के देव 'भग' का आह्वान करते हैं, हम जीवनभर ऐश्वर्यशाली रहें। हम पुष्टि के देव 'पूषा' का आह्वान करते हैं, हम भौतिक व आत्मिक पुष्टि को प्राप्त करें। हम ज्ञान के देव 'ब्रह्मणस्पति' का आह्वान करते हैं, हम निरन्तर नवीन-नवीन ज्ञान के उपार्जन में संलग्न रहें। हम शान्ति और रस के देव 'सोम' का आह्वान करते हैं, अपने मन को तथा जगत् को शान्त, सौम्य रसमय बनायें। हम रौद्रता के देव 'रुद्र' का आह्वान करते हैं। अन्याय, अत्याचार, पाप आदि के प्रति हम रौद्ररूप धारण करें। इन सब देवों से प्राप्त होनेवाले सन्देशों को हम प्रभातवेला में अपने हृदय में अंकुरित करते हैं। इस समय अंकुरित किये गये ये समस्त सन्देश हमारे जीवन में दिन-भर पल्लवित होते रहें। हमारा देवाह्वान सफल हो।

१३४. शुचि-यज्ञ में शुचि-हवि

शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां[११], शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः[१०]।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयन्[११], शुचिजन्मानः शुचयः पावकाः[११]॥

—ऋग् ७.५६.१२

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **मरुतः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**मरुतः**[१]) हे मनुष्यो! (**शुचीनां वः**) तुम पवित्रों की (**हव्या**[२]) हवियाँ (**शुची**[३]) पवित्र [हों]; (**शुचिभ्यः**) पवित्रों के लिए (**शुचिं**) पवित्र (**अध्वरं**[४]) हिंसारहित यज्ञ को (**हिनोमि**[५]) प्रेरित करता हूँ। (**ऋतसापः**[६]) सत्य-प्रतिज्ञ लोग (**सत्यं**) सचमुच (**ऋतेन**) सत्य से (**आयन्**[७]) व्यवहार करते हैं; (**शुचिजन्मानः**) पवित्र जीवनवाले (**शुचयः**) पवित्र जन (**पावकाः**) पवित्र करनेवाले [होते हैं]।

भाइयो! ईश्वर की वाणी सुनो! ईश्वर सम्बोधित कर रहा है—"हे मनुष्यो! तुम शुचि हो, पवित्रात्मा हो। तुम पवित्रों के लिए मैं पवित्र अध्वर की प्रेरणा करता हूँ। तुम पवित्रों की हवियाँ पवित्र होनी चाहिएँ।" मनुष्य का आत्मा-स्वभाव से नीरंग निर्मल जल के समान पवित्र है। जैसे जल जिस भू-भाग या पात्र में जाता है, उसी के रूप-रंग और गुण-दोषों को ग्रहण कर तत्सम हो जाता है, वैसे ही मनुष्य का निर्मल आत्मा जिसके सम्पर्क में आता है, उसके गुण-दोष उसमें संक्रान्त हो जाते हैं, जिससे वह उसी के सदृश मलिन या पवित्र हो जाता है। वह आत्मा कर्म-संस्कारों के लेप से भी शुचि या मलिन होता है। परमात्मा का सन्देश है कि देह धारणकर आत्मा को शुचि ही रहना चाहिए। शुचि मनुष्यों के लिए परमात्मा 'शुचि अध्वर' की प्रेरणा कर रहे हैं। अध्वर[४] यज्ञ का नाम है, जो यौगिक अर्थ के अनुसार हिंसारहित ही होना चाहिए। जिससे लोक-हिंसा या लोक का अकल्याण हो वह कर्म यज्ञ नहीं है, प्रत्युत लोक के कल्याणार्थ किया जानेवाला कर्म ही यज्ञ है। मनुष्य का यह यज्ञ शुचि रहे, इसके लिए आवश्यक है कि इसमें पड़नेवाली हवियाँ भी शुचि हों। इसी शुचिता के सूत्र को पकड़कर मनुष्य को समस्त यज्ञों का अनुष्ठान करना है, चाहे वे दैनिक पञ्च यज्ञ हों, चाहे वाजपेय, राजसूय, पुरुषमेध, अश्वमेध आदि श्रौत यज्ञ हों, चाहे कोई अन्य लोकहित के अनुष्ठानरूप यज्ञ हों।

मनुष्य के शुचि होने की एक निशानी यह है कि वह 'ऋतसाप' या सत्य-स्पर्शी हो जाता है, सत्य-प्रतिज्ञ बन जाता है। परिणामतः वह अपने व्यवहार में क्रियात्मकरूप सत्य को अपना लेता है। सत्यमय शुचि जीवन व्यतीत करनेवालों की शुचिता उन्हीं तक सीमित नहीं रहती, अपितु वह अन्यों को भी 'पावक' बना देती है। पवित्र जीवन अपने सम्पर्क में आनेवालों को पवित्र करता ही है।

१३५. सूर्योदय

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति[११], दूरे अर्थस्तरणिर् भ्राजमानः[११] ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता[१०], अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि[११] ॥

ऋग् ७.६३.४

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **सूर्यः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**दिवः**) द्युलोक का (**रुक्मः**[१]) स्वर्णालंकार, (**उरुचक्षाः**[२]) विस्तीर्ण दृष्टि को देनेवाला, (**दूरे-अर्थः**[३]) दूर लक्ष्यवाला, (**भ्राजमानः**) प्रकाशमान (**तरणिः**) तारक सूर्य (**उदेति**) उदित हो रहा है। (**नूनं**) निश्चय ही (**सूर्येण**) सूर्य से (**प्रसूताः**[४]) प्रेरित (**जनाः**) लोग (**अर्थानि**) लक्ष्यों के प्रति (**अयन्**[५]) अग्रसर होते हैं, [और] (**अपांसि**[६]) कर्मों को (**कृणवन्**) करते हैं।

यह देखो, सामने पूर्वदिशा के क्षितिज से सूर्य उदित हो रहा है। सूर्योदय का यह दृश्य कैसा मनोमोहक और प्रेरणाप्रद है! भूमि-आकाश में फैला हुआ तमःपुंज विदीर्ण हो गया है। ज्योति की किरणें चारों ओर विस्तार पा रही हैं। रात्रिंचर जीव पलायन कर गये हैं। यह सूर्य द्युलोक का स्वर्ण-मुकुट है। यह 'उरुचक्षाः' है, विस्तीर्ण दृष्टि को देनेवाला है। रात्रि में हमारी जो दृष्टि अन्धकार से प्रतिबद्ध हो जाती है, सूर्य के प्रकाश में वह पुनः दूर-दूर तक देखने लगती है। यह सौर जगत् के सञ्चालन-रूप महान् लक्ष्यवाला है। यह भ्राजमान है, अद्भुत द्युति से देदीप्यमान है। यह 'तरणि' है, आकाश-सागर को तैर जानेवाला तथा व्याधियों से तरानेवाला है।

यद्यपि यह सूर्य जलती हुई गैसों का एक जड़ पिण्ड-मात्र है, जो अनवरत गति से चारों ओर प्रकाश फेंक रहा है, परन्तु जो विवेकी जन हैं वे इसे प्रेरणा के एक परम स्रोत के रूप में देखते हैं। वे इस सूर्य से प्रेरणा पाकर अपने मानस-पटल पर व्याप्त तमोजाल को विच्छिन्न कर आत्म-सूर्य को उदित करते हैं। वे अपने आत्मा को शारीरिक दिव्यलोक का जगमगाता स्वर्णालंकार बनाते हैं। वे संकीर्ण दृष्टि को तिलाञ्जलि दे अपने आत्म-सूर्य से विस्तीर्ण और उदार दृष्टि प्राप्त करते हैं। वे अपना उच्च लक्ष्य निर्धारित करते हैं और गुणों से भ्राजमान होते हुए संतरणशील तथा संतारक बनकर निरन्तर लक्ष्यों के प्रति अग्रसर रहते हैं। वे निष्क्रिय जीवन व्यतीत न कर सूर्य के समान कर्मण्य बन जाते हैं। ''मेरे दाहिने हाथ में कर्म है, तो बाएँ हाथ में विजय रखी हुई है[७]'' इस वैदिक सूक्ति को अपने जीवन में मुखरित करते हैं।

आओ, आज हम भी अपने अन्दर सूर्य उदित करें। तामसिकता में आनन्द न मानकर दिव्य प्रकाश की प्राप्ति के प्रयास में संलग्न हों। लक्ष्य की ओर कदम बढ़ायें और उसे प्राप्त करके ही विश्राम लें।

१३६. उषाएँ खिलीं, तमस् दूर हुआ

एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्[११], ज्योतिर्यच्छन्तीरुषतो विभातीः[११]।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निम्[१०], अपाचीनं तमो अगादजुष्टम्[११]॥

—ऋग् ७.७८.३

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **उषाः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्।**

(एताः उ) ये **(त्याः)** वे **(ज्योतिः)** ज्योति को **(यच्छन्तीः)** प्रदान करती हुई **(विभातीः)** जगमगाती **(उषसः)** उषाएँ **(पुरस्तात्)** सामने **(प्रत्यदृश्रन्[१])** दिखाई दे रही हैं। [इन्होंने] **(सूर्य)** सूर्य को **(यज्ञं)** यज्ञ को **(अग्निं)** अग्नि को **(अजीजनन्)** उत्पन्न कर दिया है। **(अजुष्टं[२])** अप्रिय **(तमः)** तमस् **(अपाचीनम्[३] अगात्)** अपगत हो गया है।

यह देखो, थिरकती-जगमगाती उषाएँ सामने दिखाई दे रही हैं। न केवल ये स्वयं ज्योति से भासमान हैं, किन्तु अन्धकारावृत जगत् को भी ज्योति प्रदान कर रही हैं, जिस ज्योति से मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, फूल, पत्ती सब प्राणवान् हो उठे हैं। इन प्रकाशवती उषाओं ने सूर्य को जन्म दिया है। रक्तिम आभा से परिपूर्ण आदित्य देव शनैः-शनैः क्षितिज से ऊपर झाँक रहे हैं। यज्ञशालाओं में अग्निहोत्र की अग्नियाँ प्रज्वलित हो गई हैं। सम्पूर्ण भूमि यज्ञमय हो उठी है। निशा का अप्रिय अन्धकार धराधाम से निःशेष हो गया है।

प्रकृति में हँसती-खेलती, अट्टहास करती इन उषाओं के समान आज मेरे मनोमय आकाश में भी दिव्य उषाओं ने पदार्पण किया है। ये उषाएँ आत्म-ज्योति की उषाएँ हैं, जिनके उद्भासित होते ही, मेरे शरीर के चक्षु, श्रोत्र, प्राण आदि सब लोक अन्तःप्रकाश से प्रकाशमान हो उठे हैं। इस आत्मिक उषा के खिलते ही मेरे अन्दर परमात्म-सूर्य का आविर्भाव प्रारम्भ हो गया है। यह लो, अब मानस-गगन में प्रभु-प्रकाश का पूर्ण सूर्य उदित हो गया। मेरे हृदय की यज्ञशाला में सङ्कल्प की अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं। प्रभु-ध्यान का मानस-यज्ञ प्रवृत्त हो गया है। सत्त्व गुण के उद्रेक से तमोगुण का सब कलुष, सब मालिन्य, सब पाप, सब कल्मष, सब दुरित अपगत हो गया है। मैं दिव्य आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। प्रभु करे, यह दिव्य उषाओं का आगमन, यह दिव्य सूर्योदय, यह दिव्य अग्नियों का जन्म, यह दिव्य यज्ञ मेरे अन्दर सदा के लिए स्थिर हो जाए। मैं इन उषाओं का ऋणी हूँ, इन्होंने मुझे मनुष्य से देव बना दिया है।

१३७. इन्द्र-वरुण का प्रभाव

न तमंहो न दुरितानि मर्त्यम्[११], इन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन[१२]।
यस्य देवा गच्छथो वीथो अध्वरं[१२], न तं मर्तस्य नशते परिह्वृतिः[१२] ॥

—ऋग् ७.८२.७

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवते **इन्द्रावरुणौ**। छन्दः **निचृद् जगती**।

(**देवा**[१]) हे दानादिगुणयुक्त (**इन्द्रावरुणा**[२]) इन्द्र और वरुण, जीवात्मन् और परमात्मन्! [तुम] (**यस्य**) जिसके ([illegible]वरं [illegible]) [illegible]वन-यज्ञ को (**गच्छथः**) व्यापते हो, [और जिससे] (**वीथः**[३]) प्रीति करते हो ([illegible]) [illegible]स मर्त्य को (**कुतः चन**) कहीं से भी (**न अंहः**) न पाप [प्राप्त होता है], (न [illegible] [illegible] तं) उसे (**मर्तस्य**) मनुष्य की (**परिह्वृतिः**[४]) कुटिलता (**नशते**[५]) प्राप्त होती है।

इन्द्र और वरुण देवों का प्रताप देखो। इन्द्र कर्मशील जीवात्मा है और वरुण भक्तजनों को वरनेवाला पाप-निवारक परमात्मा है। ये दोनों दानादिगुणयुक्त होने से देव कहाते हैं। जो मानव अपनी अन्तरात्मा की आवाज को दबा लेता है और परमात्मा से मिलनेवाले सन्देश को अनसुना कर देता है, वह एक महान् लाभ से वञ्चित रह जाता है। इसके विपरीत जिसके जीवन-यज्ञ को ये दोनों देव व्याप लेते हैं और जिसे अपने प्रेमपाश में बाँध लेते हैं, उसे अनेकानेक वरदान स्वतः प्राप्त होते चलते हैं। मनुष्य मर्त्य है, मरणधर्मा है, पर ये दोनों देव अजर-अमर हैं। सामान्यतः मनुष्य मर्त्य एवं अल्पशक्ति होने के कारण पाप करता है और उनके फल के रूप में दुर्गतियाँ भी प्राप्त करता है, क्योंकि किये हुए पापों का फल ईश्वरीय विधान के अनुसार उसे अनिवार्यरूप में भोगना पड़ता है, परन्तु जिस मनुष्य पर आत्मा-परमात्मा-रूप इन्द्र-वरुण की कृपा हो जाती है, उसे पाप और दुर्गति प्राप्त नहीं होते। उसकी अपनी अन्तरात्मा उसे सदा पाप करने से रोकती रहती है और परमात्मा के गुणों का चिन्तन भी उसे पाप-कर्मों से बचाता है। उसे सन्ताप भी विह्वल नहीं करता। अपने आत्मा की सहन-शक्ति और अशरण-शरण प्रभु का नाम-स्मरण समस्त सन्तापों से उसका उद्धार कर देता है। या तो इन दोनों देवों के सान्निध्य के कारण उसे सन्ताप प्राप्त होता ही नहीं, या किन्हीं कर्मों के फलोन्मुख होने से सन्ताप प्राप्त होता भी है, तो उसे वह धीरज के साथ सह लेने में सक्षम होता है।

जिसपर आत्मा और परमात्मा का वरद हस्त पड़ जाता है, वह मानव-सुलभ कुटिलता के चक्र में भी नहीं पड़ता। अन्यथा अनात्मज्ञ व्यक्ति प्रायः कुटिल-वृत्तियों के वशीभूत हो जाते हैं। जिसपर आत्मा और परमात्मा का अनुग्रह हो जाता है, उसके प्रति कोई अन्य मनुष्य भी कुटिल व्यवहार करने का साहस नहीं करता। हम चाहते हैं कि इन इन्द्र-वरुण का प्रभाव हमें भी पापरहित, दुर्गतिरहित, सन्तापरहित और कुटिलतारहित कर दे, जिससे हम निश्छल जीवन व्यतीत कर सकें।

१३८. जिस युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो[१२], यस्मिन्नाजा भवति किं च न प्रियम्[१२]।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्[११], तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम्[१२]॥

—ऋग् ७.८३.२

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **इन्द्रावरुणौ**। छन्दः **निचृद् जगती**।

(**यत्र**) जहाँ (**नरः**) योद्धागण (**कृतध्वजः**) झण्डे उठाए हुए (**सम् अयन्ते**) मुठभेड़ करते हैं, (**यस्मिन्**) जिस (**आजा**[१]) युद्ध में (**किंच**) कुछ भी (**प्रिय**) प्रिय (**न भवति**) नहीं होता है, (**यत्र**) जहाँ (**स्वर्दृशः**) प्रकाश के द्रष्टा (**भुवना**) राष्ट्र [भी] (**भयन्ते**) भयभीत हो जाते हैं, (**तत्र**) वहाँ (**इन्द्रावरुणा**) हे इन्द्र और वरुण! (**नः**) हमें (**अधिवोचतम्**) कर्त्तव्य-निर्देश करो।

आज सर्वत्र युद्ध की विभीषिका व्याप्त हो रही है। हर पल आशंका बनी हुई है कि न जाने कब किन्हीं दो राष्ट्रों के मध्य युद्ध छिड़ जाए और शनैःशनैः अन्य राष्ट्रों को भी युद्ध की आग में कूदना पड़े। पर क्या युद्ध से कभी जगत् का कल्याण हुआ है? युद्ध की लपटों में घिरकर अपार जन-धन की हानि होती है, बड़े-बड़े वीरों का संहार हो जाता है, बड़े-बड़े समृद्ध राष्ट्र जलकर खाक हो जाते हैं। यह देखो, युद्ध की गगनभेदी दुन्दुभि सुनाई दे रही है। दो राष्ट्रों की सेनाएँ अपने-अपने राष्ट्र-ध्वज फहराती हुई परस्पर मुठभेड़ करने के लिए तैयार खड़ी हैं। इनके मनों में वैर-भाव हैं, इनकी वाणी में कर्कश सिंहनाद है, इनके हाथों में संहारक हथियार हैं। अब युद्ध आरम्भ हो गया। स्थल-सेना स्थल-युद्ध का कौशल दिखा रही है, जल-सेना युद्ध-पोत और पनडुब्बियों से रण-चातुरी प्रदर्शित कर रही है, वायु-सेना आकाश से गोले बरसा रही है। यह सब दृश्य देखकर बड़े-बड़े 'स्वर्दृश्' राष्ट्र भी, जो चरम उत्कर्ष का प्रकाश देख चुके हैं, भयभीत हो उठे हैं कि इस युद्ध की भीषण ज्वालाएँ न जाने कहाँ-कहाँ फैलेंगी और न जाने किस-किस को अपनी लपेट में लेंगी! निरपराध शिशुओं, तरुणों, वृद्धों, वनिताओं के चीत्कार दिल को दहला रहे हैं। इस भीषण युद्ध में किसी का कुछ भी प्रिय होनेवाला नहीं है।

हे इन्द्र और वरुण! तुम्हीं इस संकटकाल में हमारा मार्ग-निर्देशन करो। वेद कहता है कि तुममें से एक वृत्रों को नष्ट करता है, दूसरा प्रजाओं के व्रतों की रक्षा करता है[२]। हे जगदीश्वर! इन्द्र और वरुण ये दोनों तुम्हारे ही दो रूप हैं। हे इन्द्र प्रभु! तुम 'वृत्रों' का ध्वंस करनेवाले हो। मनुष्यों के अन्दर विद्यमान वे सब दुर्भावनाएँ ही वृत्र हैं, जो युद्धों को जन्म देती हैं। उन्हें नष्ट कर पारस्परिक मैत्री की सद्भावनाएँ तुम उत्पन्न करो। हे वरुण प्रभु! तुम प्रजाओं के सत्यव्रतों की रक्षा करनेवाले हो। तुम सब राष्ट्रों के मानवों के अन्दर व्रत-निष्ठा उत्पन्न करो, जिससे वे व्यक्तिगत और सामूहिकरूप में सत्य व्रतों को ग्रहण करें और उनके पालन में तत्पर होकर अपने-अपने राष्ट्र को ऊँचा उठायें तथा स्वप्न में भी युद्ध का नाम न लें। तभी युद्ध का विकट संत्रास दूर होगा, तभी विश्व में शान्ति की स्थापना होगी। भाइयो! जिस युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता उसकी कल्पना भी मन से निकाल दो, तभी तुम शान्ति से रह सकोगे और तभी विश्व में शान्ति व्याप्त हो सकेगी।

१३९. मण्डूकों का वेद-गान

संवत्सरं शशयाना[८], ब्राह्मणा व्रतचारिणः[८]।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां[८], प्र मण्डूका अवादिषुः[८]॥

—ऋग् ७.१०३.१

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **मण्डूकाः**। छन्दः **अनुष्टुप्।**

(संवत्सरं) वर्ष-भर **(शशयानाः[१])** [अपने-आपको ज्ञान से] तीक्ष्ण करते हुए **(ब्राह्मणाः[२])** वेद का अध्ययन करनेवाले, **(व्रतचारिणः)** व्रतचारी **(मण्डूकाः)** मण्डूक-तुल्य ब्रह्मचारी **(पर्जन्य-जिन्वितां[३])** पर्जन्य या आचार्य से प्रेरित **(वाचं)** वाणी को **(अवादिषुः)** बोल रहे हैं।

वर्षा की सुहानी ऋतु आई है। ताल-सरोवर वर्षा-जल से भर गये हैं। वर्षभर से जो व्रतधारी ब्राह्मणों के समान मौन धारण कर भूमि के अन्दर बिलों में सोये पड़े थे, वे मेंढक पर्जन्य से प्रीत वाणी बोल रहे हैं। आकाश में बादलों का रौरवगान, भूमि पर वर्षा का रिम-झिम संगीत और सरोवरों में मेंढकों का समूह-गान हो रहा है। दादुर-धुनि ऐसी लग रही है, मानो वटु-समुदाय मिलकर सस्वर वेदपाठ कर रहा हो। सचमुच वेदपाठी ब्रह्मचारी भी तो मण्डूक होते हैं। मेंढक वर्षा-जल से मुदित और तृप्त होते हैं, ब्रह्मचारी ज्ञान-वर्षा से। मेंढकों की त्वचा मण्डित होती है, ब्रह्मचारी का आत्मा। मेंढकों का सरोवर-गृह कमल-पुष्पों से मण्डित होता है, ब्रह्मचारी का गुरुकुल-गृह वेद की ऋचाओं से[४]।

प्राचीनकाल में वर्षाऋतु में ही वेदाध्ययन आरम्भ किया जाता था। श्रावणी पूर्णिमा को वेदपाठ का उपाकर्म करके साढ़े चार या पाँच मास बाद उत्सर्जन होता था। इस काल में विशेषरूप से वेदाध्ययन ही होता था। वर्ष के शेष मासों में इस काल में पठित वेद की पुनरावृत्ति तथा वेदांगों का अध्ययन चलता था। एवं वर्षभर जो वेदपारायण तथा वेदांगों के अध्ययन से स्वयं को ज्ञान से तीक्ष्ण करते रहे हैं और ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों का पालन करते रहे हैं वे 'मण्डूक'-ब्रह्मचारी ज्ञानवर्षीपर्जन्य-आचार्य से तथा वर्षाऋतु के पर्जन्य से प्रेरित वेदवाणी का उच्चारण कर रहे हैं, सस्वर वेदपाठ तथा वेदार्थ का अध्ययन कर रहे हैं। यज्ञशाला में मुखरित होती हुई इन 'मण्डूकों' की वाणी सुनकर श्रोताओं के हृदय में अपूर्व उल्लास का अनुभव हो रहा है, इनकी ऋचाओं से गूँजती हुई दिशाएँ स्वर्गीय सुख और शान्ति को प्रतिध्वनित कर रही हैं। हे मण्डूक बटुओ! हे वेद के गायको! अपना यह सुरीला वेद-गान सदा ही गाते रहो।

१४०. स्वामी से कौन नहीं माँगता ?

मा त्वा सोमस्य गल्दया[८], सदा याचन्नहं गिरा[८]।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं[१२], क ईशानं न याचिषत्[८] ॥

—ऋग् ८.१.२०

ऋषिः **मेधातिथि-मेध्यातिथी काण्वौ**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **बृहती**।

[हे इन्द्र परमेश्वर!] (**सवनेषु**) यज्ञों में (**सोमस्य**) भक्ति-रस-रूप सोम के (**गल्दया**[१]) क्षारण के साथ (**गिरा**) वाणी से (**सदा**) हमेशा (**याचन्**) याचना करता हुआ (**अहं**) मैं (**भूर्णिं**[२]) भरण-पोषण-कर्त्ता [आपको] (**मृगं**[३] **न**) सिंह के समान (**न चुक्रुधं**) क्रुद्ध न कर दूँ। (**ईशानं**) स्वामी से (**कः**) कौन (**नः**) नहीं (**याचिषत्**) याचना करता है ?

हे इन्द्र! मैं सदा ही तुमसे कुछ-नकुछ माँगता रहता हूँ, अपनी खाली झोली पसारे तुम्हारे सामने खड़ा रहता हूँ। कभी मैं तुमसे आत्मबल माँगता हूँ, कभी बुद्धि की याचना करता हूँ, कभी धर्म-कर्म की अभिलाषा करता हूँ, कभी शत्रुओं पर विजय की कामना करता हूँ, कभी धन-सम्पत्ति के लिए हाथ पसारता हूँ, कभी संकट में साहस और विपत्ति में धैर्य देने के लिए तुम्हारे द्वार खटखटाता हूँ, कभी तुमसे अपनी वैयक्तिक उन्नति और सामाजिक उन्नति की प्रार्थना करता हूँ। पर तुमसे न माँगूँ तो और किससे माँगूँ? तुम्हीं तो विश्व के सम्राट् हो और तुम्हीं तो मेरे हृदय-मन्दिर के भी राजा हो।

मैं उपासनारूपी सोमयज्ञ रचाता हूँ, प्रातः मध्याह्न, सायं उसके 'सवन' आयोजित करता हूँ, भक्तियज्ञ के शिविर सञ्चालित करता हूँ और उनमें भक्तिरूप सोमरस के क्षारण के साथ वाणी द्वारा तुमसे याचना करता हूँ, भिक्षुक बनकर तुम सम्राट् के सामने उपस्थित होता हूँ। पर मुझे भय है कि अहर्निश माँगते-माँगते कहीं मैं तुम्हें कुपित न कर दूँ। सिंह वनराज कहलाता है, पर वह वन्य प्राणियों की माँगें पूरी नहीं करता, प्रत्युत उन्हें अपना ग्रास बनाता है। यदि वे उससे राजा होने के नाते कुछ याचना करें, तो उलटा वह क्रुद्ध हो उठेगा और अपना विकरालरूप दिखाकर संत्रस्त कर देगा। पर हे प्रभु! आप मुझ याचक के सम्मुख सिंह का रूप धारण न करें; मुझे तो आप अपना सौम्य रूप ही दिखाते रहें। मुझे विश्वास है कि मैं जब भी आपके सम्मुख हाथ पसारूँगा, मुझे कुछ-न-कुछ अवश्य मिलेगा, क्योंकि आप 'भूर्णि' हैं, भरण-पोषण-कर्ता हैं। आप घावों को भरनेवाले हैं, छिद्रों को भरनेवाले हैं, रीते हृदय को भरनेवाले हैं, खाली भिक्षापात्र को भरनेवाले हैं। आप यदि माँगने पर कुपित होंगे तो उसी स्थिति में होंगे, जब मैं केवल माँगता ही चलूँगा और प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करूँगा। पर मैं तो पुरुषार्थी बनकर आपसे माँगता हूँ, आलसी और भाग्यवादी होकर नहीं, अतः आपके मुझपर कुपित होने का प्रश्न ही नहीं है।

मैं माँगूँ और आप देते चलें, यह समा बँधा रहे, मेरी तो यही एक साध है। इस माँगने में मुझे कुछ संकोच-लज्जा नहीं है, क्योंकि स्वामी से कौन नहीं माँगता ?

१४१. अहर्निश प्रवृत्त स्तोम

मम त्वा सूर उदिते[८], मम मध्यन्दिने दिवः[८] ।
मम प्रपित्वे अपि शर्वरे वसो[१२], आ स्तोमासो अवृत्सत[८] ॥

—ऋग् ८.१.२९

ऋषिः **मेधातिथि-मेध्यातिथी काण्वौ**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **बृहती**।

(वसो) हे निवासक इन्द्र परमात्मन्! **(सूरे उदिते)** सूर्य के उदित होनेपर **(मम)** मेरे [स्तोत्र], **(दिवः)** दिन के **(मध्यन्दिने)** मध्याह्न में **(मम)** मेरे [स्तोत्र], **(प्रपित्वे)** सायंकाल में [और] **(अपि शर्वरे)** रात्रिकाल में **(मम स्तोमासः)** मेरे स्तोत्र **(त्वा)** तुझे **(आ अवृत्सत[१])** मेरी ओर लाते हैं।

हे इन्द्र! हे मेरे हृदय के सम्राट् परम प्रभु! हे परमैश्वर्यशालिन्! हे दुःख-दुर्गुण-विदारक! हे शूर! हे मुझ असहाय के परम सहायक! तुम्हारे प्रति मेरे स्तोत्र अहर्निश प्रवृत्त हो रहे हैं। जब उषा की पावन-किरणें अन्धकार को चीरती हुई आकाश और धरित्री-तल पर अवतीर्ण होती हैं तथा ज्योति के परम स्रोत सूर्य का उदय होता है, तब मैं स्तोत्रों से तुम्हारा महिमा-गान करता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि रात्रि के गमन और दिवस के आगमन का यह मोहक और प्रभावोत्पादक घटना-चक्र तुम्हारे ही द्वारा सञ्चालित हो रहा है। जब मध्याह्नकाल में मरीचिमाली सूर्य गगन के मध्य में आ विराजते हैं और अपनी सम्पूर्ण तीव्रता के साथ तपने लगते हैं, उस समय भी हे इन्द्रदेव! मेरे स्तोत्र तुम्हारा गान करने लगते हैं, क्योंकि प्रभाकर की इस मध्याह्नकालीन तीव्र प्रभा के स्रोत भी तुम ही हो। जब सायंकाल होता है, सूर्य भगवान् अपनी मरीचियों को समेटने लगते हैं, संध्या की रक्तिमा प्रतीची में उमड़ आती है, उस समय भी हे देवाधिदेव! मैं भावविभोर होकर तुम्हारे ही स्तुतिगीत गाता हूँ, क्योंकि संध्या-काल के इस मोहक दृश्य के सृष्टा भी तो तुम ही हो। जब चारों ओर रात्रि का सन्नाटा छा जाता है, शुक्लपक्ष की स्निग्ध चाँदनी या कृष्णपक्ष की कृष्णवसना अँधियारी द्यावापृथिवी में व्याप्त हो जाती है, मुस्कराती तारावली गगन में खिल उठती है, तब भी हे परमेश! मैं तुम्हारी ही स्तुति-वन्दना करता हूँ, क्योंकि प्रतिदिन रूप बदल-बदलकर आती हुई ज्योत्स्नामयी रजनियों और अन्धकारपूर्ण निशाओं के जन्मदाता भी तो तुम्हीं हो।

इस प्रकार विभिन्न कालों में किये जाते हुए ये मेरे सबल स्तोत्र तुम्हें रिझाते हैं, तुम्हें मेरी ओर खींच लाते हैं। तब मैं और तुम मिलकर कविगोष्ठी रचाते हैं, मैं तुम्हारे स्तुतिगान गाता हूँ, तुम मेरे लिए प्रेरक गीत गाते हो।

१४२. हे प्रभु! अपनी प्यास बुझाओ

यथा गौरो अपा कृतं[८], तृष्यन्नेत्यवेरिणम्[७] ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि[१२], कण्वेषु सु सचा पिब[८] ॥

—ऋग् ८.४.३

ऋषिः **देवातिथिः काण्वः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् बृहती**।

(यथा) जैसे **(तृष्यन्)** प्यासा **(गौरः)** गौर मृग **(अपा[१])** पानी से **(कृतं)** पूर्ण किये हुए **(इरिणम्[२])** मरुस्थल [के तालाव] पर **(अव एति)** पहुँचता है [वैसे ही, हे इन्द्र परमेश्वर!] **(नः)** हमारे **(आपित्वे)** बन्धुत्व के **(प्रपित्वे[३])** पूर्ण हो जानेपर [तू] **(तूयं)** शीघ्र **(कण्वेषु[४])** [हम] धीमानों के अन्दर **(आगहि)** आ [और] **(सु)** भलीभाँति **(सचा)** एकसाथ **(पिब)** [भक्ति रस का] पान कर।

मरुस्थल का तालाब जब शुष्क पड़ा होता है तब गौर मृग प्यासा होते हुए भी पानी पीने के लिए उसके पास नहीं पहुँचता, परन्तु अकस्मात् कभी वृष्टि हो जानेपर जब तालाव पानी से पूर्ण हो जाता है, तब प्यास लगते ही गौर मृग छलांगें भरता हुआ प्यास बुझाने के लिए वहाँ पहुँच जाता है। हे मेरे इन्द्र प्रभु! तुम भी भक्तिरूप सोमरस के प्यासे गौर मृग हो। पर हमारा हृदय तो मरुस्थल हो रहा है, भक्ति-सलिल की एक बूँद भी वहाँ नहीं है। हम तो मनों में नास्तिकता को धारण किये हुए फिर रहे हैं। आज के वैज्ञानिक आविष्कारों की चकाचौंध में हम मानव-बुद्धि को ही सर्वोपरि समझने लगे हैं। हमें अभिमान है कि हम आज पँख न होते हुए भी आकाश में उड़ सकते हैं, ग्रहोपग्रहों में पहुँच सकते हैं, ओषधि-विज्ञान के आविष्कारों से मरते हुए को जिला सकते हैं, गणित-ज्योतिष के बल से आकाशीय पिण्डों की गति को माप सकते हैं, संहार करना चाहें तो एक क्षण में प्रलय मचा सकते हैं। हम मानव की इस अपूर्व सफलता पर गर्वोन्नत होते हुए ईश्वर को भुला ही बैठे हैं। पर जबतक हम सुखी-समृद्ध हैं तभीतक उसे भूले रह सकते हैं, जब कभी अकस्मात् हमपर दुःख का पहाड़ आ टूटता है, तब हमारे सम्पूर्ण नास्तिकता के विचार आँधी से तृणों के समान उड़ जाते हैं और हम प्रभु को स्मरण कर उसकी छत्रछाया की याचना करने लगते हैं और उससे बन्धुत्व स्थापित करने में ही कल्याण मानते हैं।

हे इन्द्र! हे परमात्मन्! सांसारिक आघातों से बार-बार आहत होकर अब हमारा मिथ्या अभिमान नष्ट हो चुका है। हम जान गये हैं कि तुम्हारे सहारे के बिना मानव-बुद्धि अकिंचित्कर है। यदि तुम्हारा हाथ हमपर न हो तो हम घास का एक तिनका तक नहीं उगा सकते। अब तो हमारी हृदय की मरुभूमि वर्षा से सिक्त हो गई है, अन्तःकरण तुम्हारे प्रति बन्धुत्व और कृतज्ञता के भावों से परिपूर्ण हो गया है। अब तो हृदय-सरोवर में भक्ति-सलिल की तरंगें उठ रही हैं। हे भक्तिरस के प्यासे प्रभुवर! तुम शीघ्र ही हम कण्वों के, मेधावियों के, हृदय-सरोवर पर आकर एकसाथ बहुत समय तक भक्तिरस का पान करते रहो। हमारे पवित्र स्नेह और भक्ति का निर्मल जल किनारों तक भरकर उमड़ रहा है और प्यासे की प्रतीक्षा कर रहा है। हे प्रभु! अब देर न करो, आकर अपनी प्यास बुझाओ।

१४३. तेरे सखा को क्या मिलता है ?

अश्वी रथी सुरूप इद्[८], गोमाँ इदिन्द्र ते सखा[८]।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा[१२], चन्द्रो याति सभामुप[८] ॥

—ऋग् ८.४.९

ऋषिः **देवातिथिः काण्वः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **बृहती**।

(इन्द्र) हे सम्राट् परमेश्वर! **(ते)** तेरा **(सखा)** सखा **(इत्)** निश्चय ही **(अश्वी[१])** प्रशस्त घोड़ों एवं प्रशस्त प्राणोंवाला, **(रथी[२])** प्रशस्त रथ एवं प्रशस्त शरीरवाला **(सुरूपः)** सुरूप और **(इत्)** निश्चय ही **(गोमान्)** प्रशस्त गौओं, प्रकाश-किरणों, वाणियों, भूखण्डों एवं इन्द्रियोंवाला [हो जाता है]। [वह] **(श्वात्र[३] भाजा वयसा[४])** धनयुक्त अन्न से एवं त्वरित आयु से **(सचते)** संयुक्त होता है [और] **(चन्द्रः[५])** चन्द्रवत् आह्लादक [होता हुआ] **(सभां)** सभा में **(उप याति)** पहुँचता है।

हे परमेश्वर! तुम इन्द्र हो, अखिल जगत् के सम्राट् हो, अतः तुमसे सखित्व स्थापित करनेवाले को महान् फल प्राप्त होता है। वह प्रशस्त रथ एवं अश्व से युक्त तो होता ही है, साथ ही उसका शरीररूप रथ और उसे चलानेवाला प्राणरूप अश्व भी प्रशस्त हो जाता है। उसका शरीर-रथ व्याधियों की चोटों से जर्जर न होकर आत्मारूप रथी को धारण करने में सदा समर्थ रहता है और प्राणरूप अश्व सदा बलवान् बना रहता है। हे प्रभु! तुम्हारा सखा 'सुरूप' बन जाता है। उसके अन्दर सज्जनता, माधुर्य, प्रेम, वीरता, परोपकार आदि सद्गुणों का सुन्दर रूप विकसित हो जाता है। वह 'गोमान्' अर्थात् गो शब्द-वाच्य गाय पशुओं, गोदुग्ध, गोघृत, आध्यात्मिक प्रकाश की किरणों, वाणियों, भूमियों एवं इन्द्रियों का श्रेष्ठ स्वामी हो जाता है।

हे परमैश्वर्यवान्! तुम्हारे सखा के पास धन-धान्य की कमी नहीं रहती। उसके पास धन और अन्न के कोठे भरे हुए न भी हों, तो भी आवश्यकता पड़ने पर अन्य लोग अपना अन्न-धन उसके चरणों में न्योछावर करने के लिए उद्यत रहते हैं। साथ ही वह त्वरित कर्मोंवाली आयु को प्राप्त करता है, कर्मशूरों का जीवन व्यतीत करता हुआ चिरजीवी होता है। हे देव! तुम्हारा सखा साक्षात् चन्द्र बन जाता है, चन्द्रमा के समान सौम्य और आह्लादक होता हुआ विद्वत्सभा में, राजसभा में और जनता की सभा में जाता है। सब उसकी सौम्य मूर्त्ति से, सौम्य वाणी से और सौम्य व्यवहार से प्रभावित होते हैं। उसमें सभा को अपने पीछे चलाने की क्षमता आ जाती है। हे इन्द्र! हे महाराजाधिराज! तुम हमें भी अपना सखा बनाकर उपर्युक्त लाभों से विभूषित करो।

हम तुमसे सखित्व स्थापित करके अश्व-बल से आगे बढ़े, वायुयान ने वेग से उत्कर्ष प्राप्त करें, सब सद्गुणों और सत्कर्मों से सुरूप-सर्वाङ्गसुन्दर हो जाएँ। हमारी इन्द्रियरूप गौएँ हमें अपना प्रशस्त दूध देती रहें। हम भौतिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में आयुष्मान् होकर चाँद-जैसा चमकें और सभा-सम्मेलनों में निमन्त्रित होकर अपने सत्परामर्शों एवं प्रवचनों से श्रोताओं को लाभान्वित करें।

१४४. स्वर्वित् ऐश्वर्य

नूनं तदिन्द्र दद्धि नो[८], यत् त्वा सुन्वन्त ईमहे[८]।
रयिं नश्चित्रमा भरा स्वर्विदम्[११]॥ —ऋग् ८.१३.५

ऋषिः **नारदः काण्वः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् उष्णिक्**।

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली परमात्मन्! **(नूनं)** अवश्य ही **(नः)** हमें **(तत्)** वह **(दद्धि)** प्रदान कर, **(यत्)** जो **(सुन्वन्तः[१])** [भक्ति के] सोमरस को क्षरित करते हुए [हम] **(त्वा)** तुझसे **(ईमहे[२])** माँग रहे हैं। **(नः)** हमें **(स्वर्विदम्)** मोक्ष का आनन्द प्राप्त करानेवाले **(चित्रं)** अद्भुत, स्पृहणीय **(रयिं)** [मोक्ष-साधन-रूप] ऐश्वर्य को **(आ भर[३])** प्राप्त करा।

हे इन्द्र! हे ऐश्वर्यशाली परमात्मन्! हम सोम-सवन करते हुए, हृदय में भक्ति-रस प्रवाहित करते हुए चिरकाल से तुमसे कुछ माँग रहे हैं। क्या तुम हमारी पुकार अनसुनी करते रहोगे? निश्चय ही शीघ्र तुम हमें वह वस्तु दे दो, जिसकी हम कामना कर रहे हैं, कब तक प्रतीक्षा करवाओगे? हम तुमसे 'स्वर्दित् चित्र रयि' की कामना कर रहे हैं, मोक्ष का आनन्द प्राप्त करानेवाले, अद्भुत स्पृहणीय मोक्ष-साधन-रूप ऐवश्र्य की कामना कर रहे हैं।

क्या कहते हो? कुछ और माँग लो, सांसारिक धन-दौलत माँग लो, हाथी-घोड़े-पुत्र-पशु माँग लो, भूमि का विशाल राज्य माँग लो, प्रज्ञा माँग लो, धर्म-अर्थ-काम माँग लो, पर यह अध्यात्म-जिज्ञासा न करो, क्योंकि यह मार्ग बड़ा कठिन है, जटिल है, प्रत्येक की गति इसमें सम्भव नहीं है। पर हे भगवन्! क्यों तुम 'यम' बनकर मुझ नचिकेता को भ्रमा रहे हो? क्या तुम ऐसा सामर्थ्य मुझे नहीं दे सकते कि कठिन और जटिल भी मेरे लिए सरल और सुग्राह्य हो जाये? मुझे तो तुमसे वही वर चाहिए, जिसे पाने के लिए नचिकेता ने यम से आग्रह किया था। वेदशास्त्रों ने, अनुभवी ऋषि-मुनियों ने मोक्ष के आनन्द की बहुत अधिक महिमा गाई है। इसलिए स्वभावतः मुझे तो उसी को पाने की लौ लगी हुई है। तुमसे मैं यह नहीं चाहता कि सीधा तुम मुझे कहीं से लाकर मोक्षानन्द प्रदान कर दो। मैं तो तुमसे दिव्य आनन्द को प्राप्त करानेवाला मोक्ष का उपाय माँग रहा हूँ। बस, तुम मुझे वह उपाय प्राप्त करा दो। आगे उस उपाय का अवलम्बन कर तुम्हारे अनुग्रह से मोक्ष के आनन्द को तो मैं स्वयं प्राप्त कर लूँगा।

हे प्रभुवर! कृपा करो, मेरी प्रार्थना पूर्ण करो। मुजे उस पथ का पथिक बना दो, जिसपर चलकर मनुष्य मोक्ष के दिव्य आनन्द को प्राप्त कर सकता है। उस समाधि-अवस्था में मुझे पहुँचा दो, जिसमें मनुष्य को तुम्हारा साक्षात्कार हो जाता है। वह निष्काम कर्म मुझे सिखा दो, जिसका पालन कर मनुष्य त्रिविध ताप से मुक्त होकर आनन्दमग्न हो जाता है।

१४५. तेरी देन को कोई रोक नहीं सकता

न ते वर्तास्ति राधसः[८], इन्द्र देवो न मर्त्यः[७]।
यद् दित्ससि स्तुतो मघम्[८]॥ —ऋग् ८.१४.४

ऋषिः **गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ।** देवता **इन्द्रः।** छन्दः **निचृद् गायत्री।**

(**इन्द्र**) हे परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! (**न देवः**) न देव (**न मर्त्यः**) न साधारण मनुष्य (**ते**) तेरे (**राधसः**[१]) सफलता या ऐश्वर्य का (**वर्ता**) निवारक (**अस्ति**) होता है, (**यत्**) जब (**स्तुतः**) स्तुति का विषय [होकर] (**मघं**) ऐश्वर्य को (**दित्ससि**) [तू] देना चाहता है।

जब मैं किसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर उसकी प्राप्ति के लिए जी-तोड़ प्रयास करता हूँ, कर्म करता हूं, तब भी कभी-कभी मुझे सफलता नहीं मिलती और कभी सफलता ऐसे आकर चरण चूम लेती है, मानो बिना प्रयास के ही मिल गई हो। जब मैं इसका कारण सोचता हूँ, तब इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि ईश्वर विश्वास की कमी ही सफलता की प्रतिरोधक होती है और जब कर्म के साथ ईश्वर-विश्वास की सुगन्ध आ मिलती है, तब सफलता इतनी त्वरित गति से पास आ पहुँचती है, मानो पास खड़ी हुई निमन्त्रण की प्रतीक्षा ही कर रही हो।

हे इन्द्र! हे परम ऐश्वर्यों के अधिपति परमात्मन्! जब मनुष्य तुम्हारी सच्चे हृदय से स्तुति करता है, तुम्हें स्मरण करता है, तुमपर तीव्र विश्वास रखकर किन्हीं आध्यात्मिक या भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के लिए परिश्रम करता है, तब तुम रुक नहीं सकते, स्वयं उसपर ऐश्वर्यों का दान करने के लिए तत्पर हो जाते हो और क्षणभर में उसे अभीष्ट ऐश्वर्यों का स्वामी बना देते हो। जब तुम अपने स्तोता को ऐश्वर्य देने का सङ्कल्प कर लेते हो तब कोई कितना ही बीच में विघ्न डालना चाहे, बाधक नहीं बन सकता। न कोई उच्च पद पर विद्यमान राज्याधिकारी, न ही कोई साधारण मनुष्य स्तोता की ओर तुम्हारे पास से तीव्र गति से आती हुई ऐश्वर्य की धारा को रोक सकता है। न ही मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि देव उन्मार्गगामी होकर बाधक बन सकते हैं। न ही मनुष्य का मर्त्यत्व या मरणधर्मत्व बाधक हो सकता है। ईश्वर-भक्त को कोई नहीं कह सकता कि तुम तो मरणधर्मा हो, इतने उच्च ऐश्वर्यों को पाने का स्वप्न कैसे ले रहे हो, ऐसे परम ऐश्वर्य तो अनेक जन्मों के प्रयत्न के पश्चात् ही किसी को मिल पाते हैं। ईश्वर पर सच्चा विश्वास रखनेवाले मनुष्य के सम्मुख समय भी बाधक नहीं बनता, उसे अल्प समय में भी बड़ी-से-बड़ी उपलब्धियाँ हो जाती हैं।

हे जगत्पति! हे मेरे हृदय-मन्दिर के देव! आज से मैं भी तुम्हारा स्तोता बनता हूँ, तुमपर अविचल श्रद्धा रखकर दिव्य ऐश्वर्यों की कामना से पुरुषार्थ में प्रवृत्त होता हूँ। मुझे विश्वास है कि तुम मुझे दोगे, तुम्हारी मेरे प्रति आती हुई दिव्य देन को कोई रोक नहीं सकेगा।

१४६. कुटिल और अकुटिल को पहचानो

पाकत्रा स्थन देवा[७], हृत्सु जानीथ मर्त्यम्[७]।
उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः[११]॥ —ऋग् ८.१८.१५

ऋषिः **इरिम्बिठिः काण्वः**। देवता **आदित्याः**। छन्दः **भुरिग् गायत्री**।

(वसवः[१]) हे निवास देनेवाले **(देवाः)** विद्वानो! [तुम] **(द्वयुं[२] च)** द्विविध आचरणवाले कुटिल **(अद्वयुं च)** और अद्विविध आचरणवाले अकुटिल **(मर्त्यम्)** मनुष्य को **(हृत्सु)** हृदयों में **(जानीथ)** जानते हो। [तुम] **(पाकत्रा[३])** परिपक्व के पक्ष में **(स्थन)** होवो।

संसार में दो प्रकार के मनुष्य रहते हैं, एक द्वयु और दूसरे अद्वयु। 'द्वयु' वे कपटीजन हैं, जिनका आचरण द्विविध है। ऐसे लोगों के मन में कुछ और रहता है, वाणी में कुछ और। मन में शत्रुता छिपी होती है, तो वाणी से ये मित्रता प्रकट करते हैं। कहते हित की बात हैं, पर मन में कूट-कूटकर अहित भरा होता है। जिह्वा से अमृत झरता है, पर मन में कालकूट विष व्याप्त होता है। दुरंगी चाल चलते हुए प्रायः ये अपनी कूटनीति में सफल भी हो जाते हैं। हम अपना सच्चा मित्र समझ इन्हें अपनी अन्तरंग बातें भी बता देते हैं, जिसका लाभ उठाकर ये अन्दर-ही-अन्दर षड्यन्त्रों का ऐसा कुचक्र चलाते हैं कि हमारा भयंकर अहित होकर रहता है। अहित होनेपर उल्टे ये सहानुभूति प्रदर्शित करने आते हैं और हम इनके विश्वास में ऐसे बँधे होते हैं कि तब भी इनका असली रूप नहीं पहचान पाते। पर कभी-न-कभी तो रहस्य खुलता ही है। तब हम अपने भोलेपन पर और इनके 'द्वयु' आचरण पर खीझकर रह जाते हैं। इनसे भिन्न 'अद्वयु' वे होते हैं जो मन, वचन, कर्म में एक-समान होते हैं। इनके मन में किसी के प्रति प्रेम है तो वाणी और कर्म से प्रेम ही प्रकट होगा। ऐसे लोग कटु भी बोलते हैं, तो भी वह हितकर और चेतानेवाला होता है। भले ही इनकी वाणी से अमृत न झरे, पर इनका मन शुद्ध होता है। पर हम नादान और खुशामद-पसन्द लोग इन मित्रों को शत्रु मान बैठते हैं और इनसे प्राप्त होनेवाले लाभों से वञ्चित रहते हैं।

हे प्रजाओं में सद्गुणों का निवास करानेवाले विद्वज्जनो! तुम हमारे समान अविवेकी नहीं हो, तुम द्वयु और अद्वयु दोनों के हृदयों को पहचानते हो, जो जैसा है उसे उसी रूप में देखते हो, अतः तुम परिपक्व विचार और कर्मोंवाले अद्वयु का ही पक्ष लो। जब तुम उसका पक्ष लोगे, तो हम भी उसके असली रूप को पहचान सकेंगे और हमारा समाज उससे लाभ उठा सकेगा तथा कुटिल 'द्वयु' से सावधान रहेगा।

१४७. हमारा सब-कुछ भद्र हो

भद्रो नो अग्निराहुतो[८], भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः[१२]।
भद्रा उत प्रशस्तयः[८] ॥ —ऋग् ८.१९.१९

ऋषिः **सोभरिः काण्वः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **ककुब् उष्णिक्**।

(सुभग) हे शुभ ऐश्वर्यवाले सर्वतोभद्र परमात्मन्! **(आहुतः)** आहुति दिया हुआ **(अग्निः)** अग्नि **(नः)** हमारे लिए **(भद्रः)** भद्र [हो], **(रातिः)** दान **(भद्रा)** भद्र [हो]। **(अध्वरः)** यज्ञ **(भद्रः)** भद्र [हो]। **(उत)** और **(प्रशस्तयः)** प्रशस्तियाँ **(भद्राः)** भद्र [हों]।

हम चाहते हैं कि जीवन में हमारा सब-कुछ भद्र हो। आत्मा भद्र, भद्रतर और भद्रतम होने के लिए ही इस संसार में मानव-जन्म पाता है। हे अग्ने! हे ज्योतिर्मय परमात्मन्! तुम 'सुभग' हो, सर्वतोभद्र हो, सर्वांग-सुन्दर हो, शुभ ऐश्वर्यवाले हो। तुम्हें आदर्श बनाकर हम भी सुभग एवं सुभद्र होना चाहते हैं। हमारी कामना है कि हमारा प्रत्येक कार्य भद्र हो। हम जो यज्ञाग्नि में सुगन्धित द्रव्यों की आहुति देते हैं, वह भद्र हो, भद्र प्रकार से दी गई हो और भद्र परिणाम प्रदान करनेवाली हो। हम जो किसी दीन-दुःखी की सहायता करने के लिए या किसी महान् लोकोपयोगी कार्य की सफलता के लिए दान देते हैं वह भी अभिमान, प्रतिफल की भावना आदि से प्रदत्त न होकर भद्र भावना से दिया गया हो और भद्र फल लानेवाला हो। हमारा अध्वर, अर्थात् शतवार्षिक जीवन-यज्ञ भद्र हो। हम भद्र तरीके से जियें, भद्र गतिविधियाँ करें, भद्र पथ से चलें, भद्र व्रत धारण करें, भद्र व्यवहार करें, भद्र दर्शन करें, भद्र श्रवण करें, भद्र प्रवचन करें, भद्र स्पर्श करें, भद्र खान-पान करें, भद्र पुरुषार्थ करें, भद्रजनों की संगति करें, भद्र उत्सव रचायें, भद्र समाज बनायें। ब्राह्मण बनकर हमारा अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, पौरोहित्य करना भद्र हो, क्षत्रिय बनकर हमारा राष्ट्र-रक्षा का व्रत लेना, सैन्य-संगठन करना, संग्राम करना, राष्ट्रहित में आत्म-बलिदान करना भद्र हो। वैश्य बनकर हमारा कृषि करना, व्यापार करना, पशुपालन करना, धनार्जन करना भद्र हो। शूद्र होकर हमारा सहज स्नेह से सेवा करना भद्र हो। हमारा ब्रह्मचर्य-धर्म-पालन भद्र हो, गृहस्थ-धर्म-पालन भद्र हो, वानप्रस्थ-धर्म-पालन भद्र हो, संन्यास-धर्म-पालन भद्र हो। सम्पूर्ण जीवन-यज्ञ को यापित करते हुए हम भद्रता की मूर्ति बने रहें। इस प्रकार यदि जीवन में हमारा सब-कुछ भद्र होगा तो हमें भद्र प्रशस्तियाँ प्राप्त होंगी। सर्वत्र हमारा भद्र यशोगान होगा, हमारी भद्र कीर्ति-पताकाएँ फहरेंगी। हे प्रभु! हमारी प्रार्थना पूर्ण करो, हमें सर्वतोभद्र बना दो।

१४८. मैं भिक्षुक, तू दाता

अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि[२], किं मुहुश्चिद् वि दीधयः[३]।
सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वं[११], स्मो वयं सन्ति नो धियः[८]॥

—ऋग् ८.२१.६

ऋषिः **सोभरिः काण्वः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् पङ्क्तिः**।

(हरिवः[१]) हे ऋक्-सामरूप हरियोंवाले! **(त्वा अच्छ च)** तेरे अभिमुख [होकर] **(एना)** इस **(नमसा)** नमस्कार के साथ **(वदामसि[२])** [हम] प्रार्थना कर रहे हैं, **(मुहुः चित्)** फिर भी [तू] **(किं वि दीधयः[३])** किस सोच में पड़ा हुआ है? हमारे **(कामासः)** मनोरथ **(सन्ति)** विद्यमान हैं, **(त्वं)** तू **(ददिः)** दाता [विद्यमान है]। **(वयं स्मः)** हम विद्यमान हैं, **(नः धियः)** [और] हमारी बुद्धियाँ तथा कर्म **(सन्ति)** विद्यमान हैं। [फिर भी तेरी कृपा क्यों नहीं हो रही है?]।

हे इन्द्र! हे परम ऐश्वर्य के धनी परमात्मन्! तुम 'हरियों वाले' हो, ऋक् और सामरूप तुम्हारे दो हरि हैं। ऋक् सत्योक्ति है, साम संगीत है; ऋक् अर्चना है, साम स्वर की लहर है; ऋक् सत्यज्ञता है, साम सत्याचरण है; ऋक् धृति है, साम धैर्यालम्बन है; ऋक् सृष्टि है, साम सृष्टिधारण है; ऋक् गति है, साम स्थैर्य है; ऋक् प्रीति है, साम सौन्दर्य है; ऋक् कला है, साम कला का सर्जन है; ऋक् नीति है, साम धर्म है; ऋक् क्षमा है, साम स्नेह है; ऋक् प्रज्ञा है, साम मन है; ऋक् भद्रता है, साम भद्र-व्यवहार है; ऋक् कान्ति है, साम शान्त साम्राज्य है; ऋक् दृढ़ता है, साम मृदु स्वभाव है। तुम इन समस्त हरि-युगलों को अपने साथ साधे हुए हो।

हे सर्वशक्तिमान् परमेश! हम पूर्ण नमस्कार के साथ, हृदय की सम्पूर्ण प्रणति के साथ, तुम्हारे प्रति विनीत भाव से अपनी विनति पहुँचा रहे हैं, प्रार्थना कर रहे हैं, दिव्य ऐश्वर्यों की याचना कर रहे हैं। फिर भी, न जाने तुम किस सोच में पड़े हुए हो, इधर ध्यान ही नहीं देते! अब यह स्थिति हमारे लिए असह्य हो उठी है। सब कारण-सामग्री विद्यमान है, फिर भी कार्योत्पत्ति नहीं हो रही। हमारे अन्दर अभीष्ट दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति के उत्कट मनोरथ विद्यमान हैं, तुम दाता भी विद्यमान हो, हम भी विद्यमान हैं, हमारी बुद्धियाँ और कर्मशीलताएँ भी विद्यमान हैं। तुम्हारे दान के प्रवृत्त होने के लिए अब किस बात की कसर है? अतः हे देवेश! अब तो तुम अपने दान को हमपर बखेरो, अपनी दानवृष्टि से हमें स्नात करो, हमारी भिक्षा की झोली में कुछ दिव्य सम्पत्ति डालो। हमें तो इस बात का भी आग्रह नहीं है कि जो कुछ हम माँग रहे हैं, वही हमें दो। हमने तो पूर्णतः तुम्हें आत्म-समर्पण कर दिया है। जो कुछ हमारे लिए हितकर हो, वह हमें दे दो। हे प्रभुवर! हम भिक्षुक हैं, तुम दाता हो। हमारी भिक्षा की झोली भर दो।

१४९. कर्मक्षेत्र में विजयी हों

जयेम कारे पुरुहूत कारिणो[१२], ऽभितिष्ठेम दूढ्यः[६]।
नृभिर्वृत्रं हन्याम शूशुयाम चा[१२], ऽवेरिन्द्र प्रणो धियः[७]॥

—ऋग् ८.२१.१२

ऋषिः **सोभरिः काण्वः**। देवता **इन्द्र**। छन्दः **भुरिग् बृहती**।

(**पुरुहूत इन्द्र**) हे बहुस्तुत परमेश्वर! (**कारिणः**[१]) कर्म-परायण [हम] (**कारे**) कर्मक्षेत्र में (**जयेम**) विजयी हों, (**दूढ्यः**[२]) दुर्बुद्धियों और दुष्कर्माओं को (**अभितिष्ठेम**) पराजित करें, (**नृभिः**) पौरुषवानों और पौरुषों के द्वारा (**वृत्रं**) वृत्र को (**हन्याम**) नष्ट करें, (**च**) और (**शूशुयाम**[३]) बढ़ें। (**नः**) हमारे (**धियः**) ज्ञानों तथा कर्मों को (**प्र अवेः**) प्रकृष्टरूप से रक्षित कर।

हे बहुतों से पुकारे जानेवाले परमात्मन्! हम भी तुम्हें पुकारते हैं। पर हम तुमसे यह प्रार्थना नहीं करते कि हमारे करने के जो कार्य हैं, उन्हें तुम आकर कर जाओ। हम तो तुम्हें पुकारते हैं, शक्ति और प्रेरणा पाने के लिए, जिससे हम स्वयं कर्मण्य बनकर कर्मक्षेत्र में उतरें। हे अनन्त बली! शूरों में शूर! तुम हमें ऐसी प्रेरणा करो कि हम कर्म से घबरायें नहीं, किन्तु कर्मवीर बनकर कर्मक्षेत्र में विजयी हों, अपने निर्धारित लक्ष्य में सफल हों। जो दुष्प्रज्ञ दुष्कर्मा लोग हमारे मार्ग में आयें, उन्हें हम पराजित कर दें, क्योंकि ये लोग सज्जनता के शत्रु हैं। साथ ही, हमारे अन्दर भी यदि दुर्बुद्धि और दुष्कर्म की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, तो उनका भी हम संहार करें। विभिन्न क्षेत्रों में 'वृत्र' ने अपना साम्राज्य जमाया हुआ है। अन्तःकरण में वह, पाप और तामसी वृत्तियों के रूप में पनपता है। समाज में वह अविद्या, अन्याय, अत्याचार, हिंसा, पशुता आदि के रूप में सिर उठाता है। उस वृत्र को हम नष्ट करें, क्योंकि उसे नष्ट किये बिना हमारी वैयक्तिक और सामाजिक वृद्धि एवं उन्नति नहीं हो सकती।

हे रक्षक! हे प्रज्ञानघन! हे सत्कर्मकुशल! तुम हमारी 'धी' पर अपना नियन्त्रण स्थापित करो, 'धी' शब्द से सूचित होनेवनाले हमारे ज्ञान एवं कर्म दोनों को रक्षित करो; केवल रक्षित ही नहीं, प्रकृष्टरूप से रक्षित करो। ज्ञान और कर्म हमारे जीवन-रथ के दो पहिये हैं, जिनमें से एक के भी अभाव या क्षतिग्रस्त होने की दशा में हमारी प्रगति नहीं हो सकती। हमारा ज्ञान सत्य, समृद्ध एवं विकासशील हो तथा उसके अनुकूल कर्म भी पटु, प्रभावशाली और फलोन्मुख हो, यह सफलता का एक दृढ़ सूत्र है। हे इन्द्र! हम तुम्हारा आह्वान कर रहे हैं, हमारी प्रार्थनाओं को पूर्ण करो।

१५०. राजा और धर्माध्यक्ष

विशां राजानमद्भुतम्[८], अध्यक्षं धर्मणामिमम्[८]।
अग्निमीळे स उ श्रवत्[८] ॥ —ऋग् ८.४३.२४

ऋषिः **विरूपः आङ्गिरसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **गायत्री**।

(**विशां**) प्रजाओं के (**राजानं**) राजा, (**अद्भुतं**) अद्भुत, (**धर्मणां**) धर्मों के (**अध्यक्षं**) अध्यक्ष (**इमं**) इस (**अग्निं**) तेजस्वी नायक परमेश्वर की (**ईडे**) स्तुति करता हूँ। (**सः उ**) वह निश्चय ही (**श्रवत्**) सुने।

क्या तुम उसे जानते हो, जो सब प्रजाओं का राजा है, अद्भुत है और धर्मों का अध्यक्ष है? अग्निस्वरूप तेजोमय परमेश्वर ही इन सब गुणों एवं वैचित्र्यों का धारक है। यद्यपि जगत् के विविध भूभागों में अनेक मानवीय राजे-महाराजे शासन कर रहे हैं, पर असली शासकों का शासक और राजाओं का राजाधिराज तो वह अग्निदेव ही है, तेजस्विता की राजमाला धारण करनेवाला परमात्मदेव ही है। जहाँ मानवीराजे-महाराजों की गति नहीं है, वहाँ उसकी गति है। सांसारिक राजाधिराजों के बड़े-बड़े साम्राज्य उसके एक हल्के-से प्रहार से विध्वस्त हो जाते हैं। बड़े-से-बड़े सत्ताधारी उसके आगे झुकते हैं, उसकी कृपाकोर को पाने के लिए लालायित रहते हैं। वह परमात्मदेव 'अद्भुत' है, अलौकिक है, विस्मयकारी है। हमें सूर्य, चाँद, सितारे, पर्वत, समुद्र आदि लौकिक वस्तुएँ ही कम विस्मयकारी नहीं लगतीं, परमात्मा की रची हुई एक-एक प्राकृतिक वस्तु पर हम मुग्ध हो जाते हैं। पर परमात्माग्नि तो उन सबसे अधिक विस्मयावह है, क्योंकि प्रत्येक विशेषता की पराकाष्ठा उसमें विद्यमान है। सूर्य पर हम उसकी ज्योति के कारण मुग्ध होते हैं, पर प्रभु की ज्योति उससे भी सहस्रगुणित है। चाँद पर हम उसकी शीतल चाँदनी के कारण मुग्ध होते हैं, पर प्रभु की शीतलता उससे भी अनन्तगुणित है। सितारों पर हम उनकी चमक के कारण मुग्ध होते हैं, पर प्रभु की चमक के आगे सितारों की चमक कुछ भी नहीं है। पर्वत पर हम उसकी ऊँचाई के कारण मुग्ध होते हैं, पर प्रभु की ऊँचाई के सम्मुख पर्वत की ऊँचाई तुच्छ है। समुद्र पर हम उसकी अगाधता के कारण मुग्ध होते हैं, पर प्रभु की महिमा की अगाधता समुद्र की अगाधता को भी मात करती है। इस प्रकार परम प्रभु सबसे अद्भुत हैं, सबसे अधिक विस्मयकारी हैं। वह परमात्म-देव धर्माध्यक्ष भी हैं। जैसे कोई न्यायाधीश धर्माध्यक्ष बनकर अभियोगों को न्याय की तराजू पर तोलता और सबके साथ न्याय करता है, वैसे ही वह देवाधिदेव भी सब-के-सब शुभाशुभ धर्मों का प्रत्यक्षदर्शी होता हुआ सबको न्यायपूर्वक कर्मफल प्रदान करता है। साथ ही वह समस्त धर्मों, अर्थात् गुणों का अध्यक्ष भी है; सत्य, न्याय, दया आदि सब गुण उसमें सर्वातिशायीरूप में एकनिष्ठ होकर विद्यमान हैं। ऐसे उस अग्निदेव का मैं स्तवन करता हूँ, पूजन करता हूँ, उससे सद्गुणों की याचना करता हूँ। वह देव मेरी पुकार को सुने, पूर्ण करे।

१५१. अपराधियों को मृत्युदण्ड मत दो

मा न एकस्मिन्नागसि, मा द्वयोरुत त्रिषु।
वधीर्मा शूर भूरिषु॥ —ऋग् ८.४५.३४

ऋषिः **त्रिशोकः काण्वः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(शूर) हे शूरवीर [इन्द्र परमात्मन्] **(एकस्मिन्)** एक **(आगसि)** अपराध पर **(नः)** हमारा **(मा)** मत **(वधीः)** वध करो, **(मा)** न **(द्वयोः)** दोपर **(उत)** और **(त्रिषु)** तीन पर, **(मा)** न **(भूरिषु)** बहुतों पर।

मनुष्य जन्मजात अपराधी है। पूर्वजन्म के किन्हीं अपराधों का फलभोग करने के लिए ही यह शरीर उसे मिला है। साथ ही संसार के प्रलोभनों के मध्य अपराधों के आकर्षण में कड़ी परीक्षा के बीच उसे छोड़ दिया गया है, जिससे उसके अपराध में फँसने की आशंका बनी ही रहती है। अपराध यद्यपि न मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के लिए स्पृहणीय हैं, न सामाजिक जीवन के लिए, तो भी किसी अंश तक मनुष्य के हितकर मित्र सिद्ध हुए हैं। वैद्यों का कहना है कि शारीरिक रोग मनुष्य के मित्र हैं, क्योंकि वे कुपथ्यसेवी को चेतावनी देने आते हैं कि—इसी प्रकार कुपथ्य करते रहे तो किसी महाव्याधि या मृत्यु के परिणाम के लिए तैयार रहो। इसी प्रकार नैतिक अपराध भी मनुष्य के मित्र होते हैं, क्योंकि अपराध करने पर उसे दण्ड का भागी होना पड़ता है, जिसमें मनुष्य को चेतावनी मिलती है।

वेदों ने तथा इतर शास्त्रों ने कई प्रकार के विहित तथा निषिद्ध कर्मों का प्रतिपादन किया है। विहित कर्त्तव्यों को न करना और निषिद्ध कर्मों को करना ही अपराध है। ये अपराध व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक आदि भेद से कई प्रकार के होते हैं। हम एक, दो, तीन, चार, दस, बीस, पचास, सौ, अनेकों अपराध करते रहते हैं। पर हे शूरवीर इन्द्र! क्या तुम उन अपराधों के बदले हमें मार ही डालोगे? क्या तुम्हारी शूरता हम अल्प शक्तिवालों का वध करने में ही परिसमाप्त होगी? हे देव! हम जितने भी अपराध करते हैं, हमें करने दो। हम अपराध करने में स्वतन्त्र हैं, तुम दण्ड देने में स्वतन्त्र हो। हम तुमसे दण्ड की क्षमा-याचना नहीं करते। एक दिन ये ही अपराध हमारे उद्धारक सिद्ध होंगे। दण्ड भोगते-भोगते किसी दिन हम अवश्य चेतेंगे और भविष्य में अपराध न करने का सङ्कल्प लेंगे। तब हमारे जीवन की दिशा ही परिवर्तित हो जायेगी। हे अनन्त-शक्ति-सम्पन्न! तुम अपनी शूरता हमारा वध करने में नहीं, किन्तु हमें निरपराध बनाने में दिखाओ। हमारे मनों में ऐसी प्रेरणा करो कि देर से चेतने के स्थान पर हम शीघ्र ही अपराधों के दुष्परिणाम से सजग हो जाएँ और अपराधी जीवन को सदा के लिए तिलाञ्जलि देकर एक निर्दोष जीवन का आरम्भ करें। हे शूरवीर! हमें भी तुम शूर बनाओ, जिससे हम अपराधों के प्रति शूरता दिखाकर उनपर विजय पाने में सफल हो सकें।

हे इन्द्र! हे राष्ट्र के मानव राष्ट्रपति! हम तुमसे भी यही प्रार्थना करते हैं कि अपराध करने पर हमें अन्य दण्ड भले ही दो, पर मृत्यु-दण्ड मत दो, क्योंकि मृत्यु-दण्ड मिलने पर अपराधी के सुधार की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। बड़े-बड़े जघन्य अपराध करनेवाले दस्युराज तक प्रायश्चित्तपूर्वक आत्मसमर्पण करके सदाचारियों में अग्रणी बन जाते हैं, फिर अन्यों का तो कहना ही क्या है! अतः हम अपराधियों को भी मृत्यु-दण्ड न देकर सुधरने का अवसर दो।

१५२. हे उषाओ! हे आदित्यो!

अजैष्माद्यासनाम चा[८], ऽभूमानागसो वयम्[७]।
उषो यस्माद् दुष्वप्न्याद्[७], अभैष्माप तदुच्छतु[८]।
अनेहसो व ऊतयः[८], सुऊतयो व ऊतयः[८]॥

—ऋग् ८.४७.१८

ऋषिः **त्रितः आप्त्यः**। देवता **आदित्याः उषाश्च**। छन्दः **विराट् षट्पदा महापंक्तिः जगती।**

(अद्य) आज **(वयं)** हम **(अजैष्म)** विजयी हुए हैं, **(असनाम[१] च)** और [हमने] प्राप्तव्य को पा लिया है, **(अनागसः)** निष्पाप-निरपराध **(अभूम)** हो गये हैं। **(उषः)** हे उषा! **(यस्मात्)** जिस **(दुष्वप्न्यात्[२])** दुःस्वप्न-जन्य दुष्परिणाम से **(अभैष्म)** [हम] डरते हैं **(तत्)** वह **(अप उच्छतु)** दूर हो जाये। [हे आदित्यो और उषाओ] **(वः)** तुम्हारी **(ऊतयः)** रक्षाएँ **(अनेहसः)** निष्पाप हैं, **(वः)** तुम्हारी **(ऊतयः)** रक्षाएँ **(सु-ऊतयः)** शुभ रक्षाएँ हैं।

हमारा जीवन अतिशय कंटकाकीर्ण है। जितना हमारा लक्ष्य महान् है, उतने ही अधिक विघ्न हमारे मार्ग में हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखत्रय के अभिघात से संभल पाना मानव के लिए अति दुष्कर है। चिरकाल से विघ्नों और संकटों पर विजय पाने के लिए हम जूझ रहे थे। यह देखकर हृदय में हर्ष का पारावार हिलोरें ले रहा है कि हम निष्पाप और निरपराध हो गये हैं। पर अब भी हम संत्रस्त हैं कि प्रकाश की इस पूँजी को हम स्थिर रख पायेंगे भी या नहीं।

जब हम भूत के दुःस्वप्नों का ध्यान करते हैं, तब थोड़ी देर के लिए विचलित हो जाते हैं। जीवन में दुःस्वप्न कैसी व्यापकता और भयानकता के साथ मनुष्य को घेरे हुए हैं। सोते हुए जो दुःस्वप्न आते हैं, उनसे कहीं अधिक दुःस्वप्न जागृत अवस्था में हम जान-बूझकर लेते हैं। हम जो किसी सत्पुरुष को हानि पहुँचाने का विचार बनाते हैं, पवित्र भावना से चल रहे किसी यज्ञकार्य में बाधाएँ डालने के अपवित्र इरादे करते हैं, सामूहिक पाप करने की योजनाएँ बनाते हैं वे सब जागृत अवस्था के दुःस्वप्न हैं, जो स्वप्नावस्था के दुःस्वप्नों से भी भयंकर हैं। ठीक-ठीक कहा जाए तो स्वप्नावस्था के दुःस्वप्न स्वतन्त्र नहीं, किन्तु जागृत अवस्था के दुःस्वप्नों की ही प्रतिध्वनि होते हैं। हम चाहते हैं कि ये दोनों दुःस्वप्न और इनसे होनेवाले दुष्परिणाम हमसे दूर रहें और हम पवित्रात्मा बनकर जगतीतल पर निवास करें। हे हमारे मानस में तामसिकता को चीरकर उदित होनेवाली उषा! तू सदा ही हमारे अन्दर ज्योति को उद्भासित करती रह।

हे उषाओ और उषाओं के आगमन के पश्चात् उज्ज्वलतम प्रभा के साथ एक-एक करके उदित होनेवाले दिव्यगुणरूप आदित्यो! तुम हमें अपनी रक्षा में ले लो। तुम्हारी रक्षाएँ निष्पाप हैं, तुम्हारी रक्षाएँ शुभ रक्षाएँ हैं।

१५३. पुत्र के लिए पिता के समान

शं नो भव हृद आ पीत इन्द्रो[११], पितेव सोम सूनवे सुशेवः[११]।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः[११], प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः[११]॥

—ऋग् ८.४८.४

ऋषिः **प्रगाथः घौरः काण्वः**। देवता **सोमः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(इन्दो[१]) हे रस से आर्द्र करनेवाले! **(पीतः)** पान किया हुआ [तू] **(नः)** हमारे **(हृदे)** हृदय के लिए **(शं)** शान्तिदायक **(भव)** हो। **(सोम)** हे चन्द्र-तुल्य! **(सूनवे)** पुत्र के लिए **(पिता इव)** पिता के समान [तू] **(सुशेवः[२])** उत्कृष्ट सुख का दाता [हो]। **(उरुशंस)** हे प्रभूत कीर्तिवाले! **(सख्ये)** मित्र के लिए **(सखा इव)** मित्र के समान **(धीरः[३])** बुद्धिप्रद एवं कर्मप्रद [हो]। **(सोम)** हे सोम ओषधि के समान वृद्धिप्रद! **(जीवसे[४])** सुखी जीवन के लिए **(आयुः)** [हमारी] आयु को **(प्र तारीः[५])** बढ़ा।

हे इन्द्र! हे मेरे चाँद! हे रस से आर्द्र करनेवाले मेरे सोम प्रभु! जैसे चकोर चन्द्रिका का पान करता है और जैसे याज्ञिक मनुष्य सोमरस का पान करता है, वैसे ही मैं तुम्हारा पान करता हूँ। मुहुर्मुहुः बुद्धि और मनरूप सिलबट्टों द्वारा ध्यानरूप पेषण से जो तुम्हारा रस प्राप्त होता है, उससे हम साधकों को अनुपम तृप्ति उपलब्ध होती है। हम तुम्हारी ऐसी तन्मय होकर भक्ति करते हैं, मानो तुम्हें पी जाते हैं। हे परमात्मन्! हम भक्तों के द्वारा पान किये हुए तुम हमारे हृदय के लिए शान्तिदायक होवो। दुःख-दर्दों से पीड़ित हम मानवों के सन्ताप को हरकर तृप्ति प्रदान करो। तुम हमारे लिए उत्कृष्ट सुख के दाता बनो, जैसे पिता पुत्र के लिए उत्कृष्ट सुख का दाता बनता है। सचमुच तुम्हारा-हमारा सम्बन्ध पिता-पुत्र का ही है, क्योंकि तुम ही हमें जन्म देते हो, तुम ही हमारे उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुएँ जुटाते हो और तुम ही विपदाओं से हमारी रक्षा करते हो और तुम ही हमारा सर्वात्मना लालन-पालन करते हो।

हे प्रभूत कीर्तिवाले भगवन्! तुम हमारे लिए 'धी' के प्रदाता बनो, हमें बुद्धि एवं कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश प्रदान करते रहो, क्योंकि बुद्धि एवं ज्ञान के बिना हम अपना कर्त्तव्य-पथ भी चुनने में असमर्थ हैं। जैसे कोई सांसारिक मित्र अपने मित्र को समय-समय पर ज्ञान एवं उद्बोधन देता है, वैसे ही तुम हमारे मित्र बनकर हमें ज्ञान एवं उद्बोधन देते रहो।

हे सोम! हे चन्द्र और सोम ओषधि के समान वृद्धिप्रद परमात्मन्! तुम हमारी आयु को बढ़ाओ, परन्तु आयुवृद्धि हमें ऐसी नहीं चाहिए कि हम रोगों से आक्रान्त, इन्द्रियों से विकल, मन से हतोत्साह, बुद्धि से विधुर, आत्मा से निर्बल और निष्क्रिय तथा निर्जीव जीवन व्यतीत करते हुए लम्बी आयु पायें। हमें तुम ऐसी शताधिक दीर्घायु प्रदान करो कि हम अन्त तक चक्षु, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों से स्वस्थ एवं सवल, सम्पूर्ण मनोवल से युक्त, आशामय जीवन व्यतीत करते हुए, वृद्धावस्था में भी युवकों के समान शक्ति और स्फूर्ति से समन्वित होते हुए धर्मानुकूल कर्म करते रहें, जिससे हमारा जीवन सुखी हो।

१५४. एक ही

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध[११], एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः[११]।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभा[१०]त्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्[११]॥

—ऋग् ८.५८.२

ऋषिः **मेध्यः काण्वः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(एकः एव) एक ही **(अग्निः)** अग्नि **(बहुधा)** बहुत रूपों में **(समिद्धः)** प्रदीप्त है; **(एकः)** एक **(सूर्यः)** सूर्य **(विश्वं)** सबमें **(अनु)** अनुप्रविष्ट होकर **(प्रभूतः)** प्रभु बना हुआ है। **(एका एव)** एक ही **(उषाः)** उषा **(इदं सर्वं)** इस सबको **(विभाति)** भासित करती है। **(एकं वै)** एक ही **(इदं)** यह [ब्रह्म] **(सर्वं)** सबमें **(वि बभूव)** व्याप्त है।

शक्ति संख्या में नहीं, अपितु गण में निवास करती है। क्या तुम नहीं देखते कि अकेला चन्द्रमा अन्धकार को हर लेता है, परन्तु तारे करोड़ों की संख्या में होते हुए भी नहीं हर पाते? एक गुणी पुत्र संसार में माता-पिता का नाम उज्ज्वल कर जाता है, जबकि गुणहीन अनेक पुत्र भी वैसा नहीं कर पाते। एक भी रणबाँका वीर रिपु-दल के छक्के छुड़ा देता है, जबकि सहस्रों नामधारी योद्धा पीठ दिखाकर भाग खड़े होते हैं।

देखो, अग्नि एक ही है, पर वह अनेक रूपों में प्रदीप्त हो रहा है। वही यज्ञाग्नि के रूप में यज्ञकुण्ड में प्रज्वलित होता है। वही भोजनालय में चूल्हे की आग के रूप में प्रकट होता है। वही ज्वालामुखी पर्वत में 'लावा' के रूप में जन्म लेता है। वही अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में विद्योतमान होता है। वही द्युलोक में आदित्य के रूप में आभासित होता है। वही शरीरों में जाठराग्नि के रूप में विद्यमान रहता है। एक ही अग्नि-तत्त्व का यह सब प्रपञ्च क्या एक के महत्त्व को विशद नहीं करता? एक अन्य दृष्टान्त देखो, सूर्य भी एक ही है, पर वह पृथिवी, मंगल, बुध आदि ग्रहोपग्रहों में अनुप्रविष्ट होकर उनका प्रभु बना हुआ है। कल्पना तो करो, यदि सूर्य न रहे, तो इन ग्रहोपग्रहों की क्या दशा होगी? नायकविहीन सैनिकों के समान ये न जाने किस दिशा के राही होकर अनन्त में विलीन हो जायेंगे या एक-दूसरे से ही टकराकर चूर-चूर हो जायेंगे। उषा की ओर भी दृष्टिपात करो। अकेली उषा जटिल तमः-समूह को विदीर्ण कर सम्पूर्ण भूमण्डल को उद्भासित करती है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है और चक्रवर्ती सम्राट् होकर विश्व का सञ्चालन कर रहा है। भाइयो! हम भी यदि एकाकी हैं, तो चिन्ता की बात नहीं है। उस एक सर्वव्यापी प्रभु को अपना सहचर बनाकर कटिबद्ध हो निर्भयता के साथ लक्ष्यसिद्धि में जुट जाएँ और अग्नि, सूर्य एवं उषा के समान चमकते-चमकाते हुए एक के बाद दूसरी सफलताएँ प्राप्त करते रहें। कोई हमारे मार्ग में विघ्न डालने का साहस नहीं कर सकेगा।

१५५. अहर्निश त्राण और रक्षा करो

अद्याद्या श्वःश्व[५], इन्द्र त्रास्व परे च नः[८] ।
विश्वा च नो जरितॄन्त्सत्पते अहा[१२], दिवा नक्तं च रक्षिषः[८] ॥

—ऋग् ८.६१.१७

ऋषिः **भर्गः प्रागाथः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **शंकुमती बृहती**।

(**इन्द्र**) हे परमेश्वर! (**अद्य अद्य**) आज-आज, (**श्वः श्वः**) कल-कल (**परे च**) और परसों आदि परे (**नः**) हमारा (**त्रास्व**) त्राण कीजिए। (**च**) और (**सत्पते**) हे श्रेष्ठों के रक्षक! (**नः**) हम (**जरितॄन्**[१]) स्तोताओं की (**विश्वा**) सब (**अहा**[२]) दिवसों में (**दिवा**) दिन में (**नक्तं च**) और रात्रि में (**रक्षिषः**) रक्षा कीजिए।

आज जबकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगलने के प्रयास में संलग्न है और प्रत्येक अपने को असुरक्षित समझ रहा है, तब हमें आपत्तियों से त्राण और सुरक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है। त्राण का अर्थ है आगत विपत्तियों, दुःखों, विघ्नों, बाधाओं और शत्रुओं आदि से बचाना और सुरक्षा से अभिप्रेत है अपनी वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय जीवनी-शक्ति को बढ़ाना तथा उन्नति एवं विकास का मार्ग प्रशस्त करना। यह त्राण और रक्षण हमें वही प्रदान कर सकता है, जो स्वयं वीर है तथा आत्मनिर्भर है। जिसे अपने ही त्राण और रक्षण के लिए परमुखापेक्षी होना पड़ता है, वह दूसरों का त्राण और रक्षण भला क्या कर सकेगा! विश्व-ब्रह्माण्ड में सबसे बड़ा वीर और पराक्रमी तो हमारा 'इन्द्र'[३] प्रभु है, अतः हम उसी की शरण में जाते हैं, उसी की बाँह पकड़ते हैं। हे जगत्पति! आप आज भी, कल भी, परसों भी और आगे-आगे आनेवाले दिनों में भी हमारा त्राण करते रहिए। आप स्वयं शस्त्र उठाकर शत्रुओं से हमारा त्राण करें और हम अकर्मण्य होकर बैठे रहें, यह हमारा आशय नहीं है। हम तो यह चाहते हैं कि आप हमारे हृदयों में बल का सञ्चार कीजिए तथा अपना वरद हस्त हमारे ऊपर बनाये रखिये, जिससे हम जीवन में आनेवाली विघ्न-बाधाओं से त्राण पा सकें। आप हम स्तोताओं की सब दिवसों में अहर्निश सुरक्षा भी करते रहिए, जिससे आपकी सुरक्षा एवं प्रेरणा पाकर हम निरन्तर नवीन-नवीन उत्कर्ष को प्राप्त करते रहें।

हे सत्पति! हम जानते हैं, स्तुति में बड़ा बल होता है और फिर सामूहिक स्तुति तो और भी अधिक बलवती होती है, अतः हम सबकी सम्मिलित स्तुति से द्रवित हो आप हमारे त्राण और हमारी रक्षा का बीड़ा उठाइये। हे प्रभु, हमारी आपसे यही प्रार्थना है, यही विनति है। इसे पूर्ण कीजिए, पूर्ण कीजिए।

१५६. गड़ा धन दिलानेवाला

न्रिखातं चिद् यः पुरुसंभृतं वसु[१२], उदिद् वपति दाशुषे[८]।
वज्री सुशिप्रो हर्यश्व इत् करद्[११], इन्द्रः क्रत्वा यथा दशत्[८]॥

—ऋग् ८.६६.४

ऋषिः **कलिः प्रागाथः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **पङ्क्तिः**।

(**यः**) जो (**पुरुसंभृतं**) बहु-अर्जित (**निखातं चिद्**) गड़े हुए भी (**वसु**) ऐश्वर्य को (**दाशुषे**[१]) आत्मदानी के लिए (**इत्**) निश्चय ही (**उद् वपति**) बाहर निकाल लाता है, [वह] (**वज्री**) वज्रधारी (**सुशिप्रः**[२]) सुमुख, सुन्दर, (**हर्यश्वः**) हरणशील घोड़ोंवाला, अर्थात् वेगवान् (**इन्द्रः**) परमेश्वर [स्तोता को] (**क्रत्वा**) कर्म से (**यथा**) जैसा (**वशत्**[३]) चाहता है [वैसा] (**इत्**) निश्चय ही (**करत्**[४]) कर देता है।

गड़ा हुआ धन किसी काम का नहीं होता, यदि हम उसे प्राप्त न कर सकें। हमें ऐसा सहायक चाहिए जो गड़ा धन हमारे उपयोग के लिए बाहर निकाल सके। वेद कहता है कि परम प्रभु इन्द्र उसके लिए जो दाश्वान् है, गड़ा हुआ धन बाहर निकाल लाते हैं। आप सोचेंगे कि यह तो पहेली बुझाई जा रही है। गड़े धन को बाहर निकालने के लिए भला परम प्रभु की क्या आवश्यकता है! आजकल तो ऐसी-ऐसी मशीनें आविष्कृत हो चुकी हैं, जो यह भी पता लगा देती हैं कि गड़ा धन कहाँ पर है और उसे क्षणभर में बाहर भी निकाल देती हैं। भाइयो! आपकी शंका ठीक है। यहाँ प्रधानतः भूमि में गड़ी किसी भौतिक सम्पत्ति के विषय में चर्चा नहीं हो रही है। वैसे तो गड़ी हुई भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति भी प्रभु की कृपा से ही होती है, भले ही उसमें साधन आधुनिक मशीनें बनें। पर यहाँ तो मुख्यतः वह बहुसंचित आध्यात्मिक सम्पत्ति अभिप्रेत है, जिसपर बाद में साधना छोड़ देने तथा उन्मार्गगामी हो जाने के कारण वासनारूप कठोर शिलाओं की बहुत-सी परतें जम गई हैं तथा वह सम्पत्ति मानो नीचे दब गई है। उसे पुनः पाने के लिए मनुष्य को 'दाश्वान्' बनना पड़ता है, प्रभु को आत्म-समर्पण करना होता है। आत्म-समर्पण-कर्त्ता के लिए प्रभु उस बहु-अर्जित, किन्तु गड़ी हुई, अध्यात्म-सम्पदा को क्षणभर में बाहर निकाल लाते हैं और उसे धनी बना देते हैं। इन्द्र प्रभु 'वज्री' हैं, वज्रधर हैं, वे अपने शक्तिरूप वज्र से अवरोधक वासनारूप सुदृढ़ शिलाओं को तोड़ने में समर्थ हैं। वे 'सुशिप्र' हैं, सुमुख, सुन्दर और सुरम्य हैं, अतएव भक्त को रिझा लेनेवाले हैं। वे 'हर्यश्व' हैं, हरणशील घोड़ोंवाले हैं, अतिशय वेगवान् हैं, अतः वेगपूर्वक दौड़ लगाकर कोई उनकी सीमा से बाहर नहीं निकल सकता। जब उनका यह रूप मनुष्य के सामने आता है, तब सहसा वह उनके प्रति नत हो जाता है, उन्हें आत्म-समर्पण कर देता है, 'दाश्वान्' बन जाता है। अपने उस 'दाश्वान्' भक्त को इन्द्र प्रभु जैसा बनाना चाहते हैं, बना देते हैं। वे उसकी शक्ति के अनुरूप उसे तपस्वी, ऋषि, महर्षि, नेता, सम्राट्, कुछ भी बना सकते हैं। आओ, हम भी इन्द्र प्रभु जैसा चाहें वैसा बनने के लिए उनके हाथों में अपने को सौंपने के लिए तैयार हों।

१५७. अर्चना करो, अर्चना करो

अर्चत प्रार्चत[६], प्रियमेधासो अर्चत[८]।
अर्चन्तु पुत्रका उत[८], पुरं न धृष्णवर्चत[७]॥

—ऋग् ८.६९.८

ऋषिः **प्रियमेधः आङ्गिरसः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **अनुष्टुप् ककुम्मती**।

(अर्चत) अर्चना करो, **(प्र अर्चत)** प्रकृष्टरूप से अर्चना करो, **(प्रियमेधासः[१])** हे प्रियमेधो! **(अर्चत)** अर्चना करो। **(पुत्रकाः उत)** पुत्र भी **(अर्चन्तु)** अर्चना करें। **(धृष्णु)** शत्रुधर्षक **(पुरं न)** पुरोगन्ता नेता के समान **(धृष्णु)** कामादि रिपुओं के धर्षक **(पुरं)** पुरोगन्ता इन्द्र प्रभु की **(अर्चत)** अर्चना करो।

संसार में कुछ लोग प्रियमेध, अर्थात् प्रियप्रज्ञ होते हैं। वे बुद्धि का समादर करते हैं और बुद्धि के बल से स्वयं ज्ञानी बनकर ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करते हैं। बुद्धि के बल से वे बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार भी कर लेने में समर्थ होते हैं। कई बार वे बुद्धि के तर्क का आश्रय लेकर विश्व से परमात्मा की सत्ता को भी समाप्त कर देना चाहते हैं और कहते हैं कि परमात्मा नाम की वस्तु कुछ श्रद्धालु लोगों की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, परन्तु उन प्रियमेध लोगों के मन की यह एक दुर्बल अवस्था है। एक दिन आता है जब इस भावना को लेकर चलनेवाले लोगों को बलात् ईश्वरविश्वासी होना पड़ता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण है कि बड़े-बड़े नास्तिक जन भी किसी घटनाविशेष से चमत्कृत होकर या अपने ऊपर आये किसी भीषण संकट से विवश और असहाय होकर ईश्वर के पुजारी हो गये।

अतः हे प्रियमेधो! तुम प्रभु की अर्चना करो, प्रकृष्टरूप से अर्चना करो, ऊपरी मन से नहीं, किन्तु हृदय की गहराई से अर्चना करो। तुम अकेले ही नहीं, किन्तु तुम्हारे पुत्र आदि परिवार के अन्य सदस्य भी प्रभु के अर्चक हों। प्रभु की अर्चना तुम्हारी मेधा में चार चाँद लगा देगी। प्रभु की अर्चना तुम्हारी मेधा को सशक्त, लोक-मंगलकारक, विश्व में सुख का सर्जन करनेवाली और धर्मोन्मुख कर देगी। अर्चना किया हुआ प्रभु शत्रुधर्षक पुरोगन्ता मानव-सखा के ही समान तुम्हारा सहायक बनकर तुम्हारे कामादि विकारों का धर्षण करेगा और ज्योति की मशाल लेकर तुम्हारे आगे-आगे चलता हुआ तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा। तब तुम्हारी मेधा और प्रभु-अर्चना दोनों मिलकर दुःखियों की पीड़ा हरेंगी और विश्व में शान्ति एवं सुख का साम्राज्य स्थापित करेंगी। प्रभु-अर्चना की तरंगे तुम्हारी मेधा को आप्लावित कर उसे सौम्य, शीतल, सुखद और सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की उपासिका बनाकर जगन्मंगलकारिणी एवं वरदायिनी बना देंगी, अतः आओ, हे मेधा से प्यार करनेवालो! अर्चना करो, प्रभु की अर्चना करो।

१५८. द्वेषी हमारी हिंसा न कर सकें

मा नः समस्य दूढ्यः[७], परि द्वेषसो अंहतिः[८]।
ऊर्मिर्न नावमा वधीत्[९] ॥ —ऋग् ८.७५.९

ऋषिः **विरूपः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(**ऊर्मिः**) लहर (**नावं न**) जैसे नाव को [विनष्ट कर देती है, वैसे] (**दूढ्यः**[१]) दुश्चिन्तक (**परि द्वेषसः**) द्वेष से घिरे हुए (**समस्य**) सब लोगों की (**अंहतिः**[२]) हिंसा (**नः**) हमें (**मा**) मत (**आवधीत्**) विनष्ट करे।

कुछ लोगों ने अपना यह व्यवसाय बनाया होता है कि वे स्वयं तो कोई अच्छा कार्य करते नहीं, अन्य सत्कार्य करनेवालों से द्वेष करते हैं और उनके मार्ग में विघ्न डालते हैं। वे चारों ओर से द्वेष से ऐसे घिरे होते हैं, मानो द्वेष की मूर्ति हों। उनके मन में दूसरों के प्रति दुर्विचार, दुर्भावनाएँ और दुश्चिन्तन ही विद्यमान रहते हैं। वे यदि किसी पुण्यात्मा को देखते हैं, तो मन में सोचते हैं कि यह पुण्यों की सीढ़ी से नीचे गिर जाये। यदि किसी धर्म-परायण व्यक्ति पर उनकी दृष्टि पड़ती है, तो वे चाहते हैं कि यह धर्मध्वंसी बन जाये। यदि किसी को दुःखियों की सहायता करता हुआ पाते हैं, तो वे उसे प्रेरणा देते हैं कि इन्हें मरने दो, ये तो मरने के लिए ही पैदा हुए हैं। ऐसे दुश्चिन्तक द्वेषीजन दो-चार नहीं, सैकड़ों हैं, जो निरन्तर अपनी पाप-सलाहें देकर सत्पुरुषों को और सद्धर्मपरायणा नारियों को सन्मार्ग से च्युत करना चाहते हैं। यदि उनकी सलाह मानकर मनुष्य मार्ग-विमुख हो जाता है, तो नैतिक दृष्टि से उसकी मृत्यु हो जाती है।

दुर्बल नाव को जब नदी या समुद्र की भीषण लहरों के आघात लगते हैं, तब वह छिन्न-भिन्न हो जाती है। हमारी जीवन-नौका को भी दुश्चिन्तकों की कुमन्त्रणारूपिणी लहरों का भय है। हम दुर्बल हैं और अकेले हैं, द्वेषीजन बलवान् हैं और सैंकड़ों हैं। वे चारों ओर से उमड़कर हमपर प्रहार करना चाहते हैं। हम अपनी जीवन-नौका को सुदृढ़ और प्रहार-क्षम बना लें, तो उनके प्रहार पत्थर पर तलवार की धार के समान कुण्ठित हो सकते हैं। हे अग्नि प्रभु! हे तेजस्विता के देव! तुम हमारी अन्तरात्मा में ऐसा बल उत्पन्न करो कि यदि सहस्र या लक्ष भी दुश्चिन्तक द्वेषी जन हमारी नैतिक हिंसा करने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ, तो भी वे हमें हानि न पहुँचा सकें। जैसे सुदृढ़ नौका लहरों को चीरती हुई विकट धार को भी पार कर लेती है, वैसे ही हम भी समस्त द्वेषियों के आघात-प्रतिघातों का प्रतिरोध करते हुए, सफलतापूर्वक निरन्तर आगे ही आगे बढ़ते हुए अपने लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ हों।

१५९. वह सब सुनता है, देखता है

न कीमिन्द्रो निकर्तवे॰, न शक्रः परिशक्तवे॰।
विश्वं शृणोति पश्यति॰॥ —ऋग् ८.७८.५

ऋषिः **कुरुसुतिः काण्वः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **गायत्री**।

(इन्द्र) परमेश्वर **(निकर्तवे[१] नकीम्)** अपमानित नहीं किया जा सकता, [वह] **(शक्रः[२])** शक्तिशाली **(परिशक्तवे[३] न)** पराजित नहीं किया जा सकता। [वह] **(विश्वं)** सब-कुछ **(शृणोति)** सुनता है, **(पश्यति)** देखता है।

क्या तुम समझते हो कि तुम 'इन्द्र प्रभु' को अपमानित और लांछित कर लोगे? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वह महान् प्रभु किसी से अपमानित नहीं हो सकता। तुम भले ही उसकी सत्ता से भी इन्कार करते रहो, उसके विरोध में प्रचार करते रहो, उसकी रची अद्भुत सृष्टि के विषय में यह कहते रहो कि यह सृष्टि तो घुणाक्षर-न्याय से बिना किसी रचयिता के बन गई है, अथवा जैसे सागर में तरंगें स्वयं उठती हैं और मिटती हैं, वैसे ही यह जगत् प्रकृति से स्वयं बनता है और नष्ट होता है, अथवा यह कहो कि जगत् को उत्पन्न-स्थित-नष्ट करना तो प्रकृति का स्वभाव ही है, पर तुम्हारी प्रचारित की हुई ये सब बातें उल्टे उसके पक्ष में ही जाती हैं। उसके विरोध में तैयार हुई तुम्हारी सब विचार-शृंखला एक दिन स्वयं तुम्हें निःसार प्रतीत होने लगती है और किसी भी क्षण किसी भी घटना से उद्वेलित हो तुम पक्के आस्तिक बन जाते हो। तब प्रभु के अपमान में कहा तुम्हारा एक-एक शब्द उसकी विजय-दुन्दुभि का नाद करने लगता है। ऐसे ही यदि तुम समझते हो कि इन्द्र प्रभु को पराजित कर लोगे, तो यह तुम्हारी भूल है। वह 'शक्र' है, इतना शक्तिशाली है कि बड़े-बड़े धनुर्धरों से पराजित नहीं हो सकता। उसे पराजित करने के लिए तुम्हारी कमान से निकले हुए तीर उल्टे तुम्हें ही आकर क्षत-विक्षत कर डालेंगे और वह अक्षत मुस्कराता खड़ा देखता रहेगा।

उसकी चामत्कारिक शक्ति तो देखो, वह सब-कुछ देखता और सुनता है। तुम कहीं भी, विश्व के किसी भी गुप्त-से-गुप्त स्थान में जाकर भी कोई शब्द बोलो, उसे वह सुन लेता है। न केवल वाणी से उच्चारण किए गए शब्दों को सुनता है, अपितु वाणी से अनुच्चारित, मन में सोचे गये विचारात्मक शब्द को भी सुन लेने का सामर्थ्य रखता है। उसकी दृष्टि-शक्ति इतनी प्रबल है कि विश्व में कहीं भी घटते हुए घटनाचक्र को देख लेता है। आओ, हम सब मिलकर उस सर्वश्रोता और सर्वद्रष्टा के चरणों में श्रद्धावनत हो प्रणाम करें और यदि हमने उसे अपमानित या पराजित करने का कभी यत्न किया हो तो उसके लिए उससे क्षमा-याचना करें। वह भाव-विभोर हो हमें अपने अंक में भर लेगा और हमपर अपने कल्याण की वर्षा करेगा।

१६०. स्वयं हाथ में दराती पकड़ता हूँ

तवेदिन्द्राहमाशसा[८], हस्ते दात्रं चना ददे[८] ।
दिनस्य वा मघवन्त्संभृतस्य वा[१२], पूर्धि यवस्य काशिना[८] ॥

—ऋग् ८.७८.१०

ऋषिः **कुरुसुतिः काण्वः** । देवता इन्द्रः । छन्दः **बृहती** ।

(**इन्द्र**) हे परमेश्वर (**अहं**) मैं (**तव इत्**) तेरे ही (**आशसा**) उपदेश से (**हस्ते**) हाथ में (**दात्रं चन**) दराती को भी (**आ ददे**) ग्रहण कर रहा हूँ। (**मघवन्**) हे ऐश्वर्यशालिन्! [तू मुझे] (**दिनस्य[१] वा**) काटे हुए (**संभृतस्य वा**) और एकत्र किए हुए (**यवस्य**) जौ की (**काशिना[२]**) मुट्ठी से (**पूर्धि[३]**) भरपूर कर।

हे इन्द्र! हे ऐश्वर्यों के अधिपति! मैं बहुत देर से तुमसे समृद्धि की याचना कर रहा था, पुकार-पुकारकर कह रहा था कि तुम मुझे यव आदि अन्न दो, गाय दो, अश्व दो, व्यञ्जन दो, अभ्यञ्जन दो, हिरण्य दो, अलङ्कार दो, तुम 'भूरिदा' हो मुझे बहुत दो, किन्तु हृदय के पूरे बल के साथ भी की हुई मेरी प्रार्थना व्यर्थ हो रही थी। मैं वैसा-का-वैसा ही निर्धन बना हुआ था, अन्न के दाने को तरस रहा था। मैंने सुना था कि तुमने बहुतों का उद्धार किया है। जिनके पास खाने को नहीं था, उनके भण्डार भर दिये। जिनके पास पहनने को नहीं था, उनके वस्त्रों के कारखाने लगवा दिए। जिनके पास रहने को ठिकाना नहीं था, उनकी कोठियाँ खड़ी कर दीं। जिनके बच्चे दूध को तरसते थे, उन्हें गोशालाओं का स्वामी बना दिया, किन्तु मैं तुम्हारी कृपा से वञ्चित ही था। तुमने मुझे प्रेरणा दी कि यदि अन्नों के स्वामी होना चाहते हो तो स्वयं पुरुषार्थ करो, स्वयं धरती साफ करो, स्वयं हल चलाओ, स्वयं बीज बोओ, स्वयं सिंचाई करो। मैंने आपके आदेश का पालन किया है, परिश्रम किया है, पसीना बहाया है और आज मैं खेत में पकी फसल खड़ी देख रहा हूँ। मैंने फसल काटने के लिए हाथ में दराती पकड़ ली है। जौ की बालियों को मुट्ठी में पकड़-पकड़कर काट रहा हूँ और पूले बना रहा हूँ। काटी हुई और राशीकृत जौ की बालियों से जो अन्न निकलेगा, उससे मेरे खलिहान भर जायेंगे। ये जौ प्राप्तव्य सम्पत्ति का प्रतीकमात्र हैं। जो कोई भी सम्पत्ति मैं प्राप्त करना चाहता हूँ, उसके लिए मुझे स्वयं दराती पकड़नी होगी, स्वयं पुरुषार्थ करना होगा, स्वावलम्बी बनना होगा। तभी कार्यसिद्धि होगी।

पर हे धन-कुबेर! मैं अपने पुरुषार्थ का अभिमान भी क्यों करूँ? असल में तो सब सम्पत्ति के दाता तुम्हीं हो। प्राप्ति के साधन भी तुम्हीं जुटाते हो, पुरुषार्थ भी तुम्हीं कराते हो, अतः मैं तो तुम्हारी ही अर्चना करता हूँ। तुम्हीं मुझसे पुरुषार्थ करवाओ, तुम्हीं धन-धान्य से मेरे भण्डार भरो।

१६१. बहुकर्मा, बहुधनी, बहुदाता

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं[८], तुविदेष्णं तुवीमघम्[८]।
तुविमात्रमवोभिः[७]॥ —ऋग् ८.८१.२

ऋषिः **कुसीदी काण्वः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

[हे इन्द्र! हम] (**अवोभिः**) [तेरी] रक्षाओं के कारण (**त्वा**) तुझे (**तुवि-कूर्मिं**[१]) बहुत कर्मोंवाला, (**तुवि-मघम्**) बहुत धनी, (**तुवि-देष्णं**) बहुत दाता, (**तुवि-मात्रं**) बहुत बड़े परिमाणवाला (**हि**) निश्चय ही (**विद्म**) जानते हैं।

हे जगत्पति परमेश्वर! जब हम तुम्हारी व्यापक रक्षाओं पर दृष्टिपात करते हैं, तब सहसा तुम्हारे प्रति हमारा मस्तक नत हो जाता है। यदि तुम्हारी रक्षा का वरद हस्त हमारे ऊपर न हो, तो हमारी तो क्या गणना, हमारी आश्रयभूत यह पृथिवी ही किसी भी आकाशीय पिण्ड से टकराकर चकनाचूर हो जाये। तुम्हारी इस विराट् रक्षा को देखकर ही हम अनुमान करते हैं कि तुम कितने महान् कर्मोंवाले हो, कैसे महान् धनी हो, कैसे महान् दाता हो और कैसे महान् परिमाणवाले हो।

हे सर्वेश्वर! तुम 'तुविकूर्मि' हो, बहुकर्मा हो। सृष्टि में हो रहे अनन्त कर्म तुम्हारे ही द्वारा किये जा रहे हैं। तुम ही जड़-चेतन जगत् के स्रष्टा, धर्ता और व्यवस्थापक हो। तुम्हीं बादल बनाते हो, तुम्हीं वृष्टि करते हो, तुम्हीं सरितायें बहाते हो, तुम्हीं ऋतुचक्र-प्रवर्तन करते हो। तुम्हीं सज्जनों का त्राण और दुष्टों का दलन करते हो। तुम्हीं ब्रह्माण्ड के नाना पिण्डों को आकर्षण की डोर से बाँधकर धृत करते हो। तुम्हीं समय आनेपर सृष्टि का संहार करते हो। हे महिमामय! तुम 'तुवीमघ' हो, बहुत धनवान् हो। धन का देवता जो कुबेर कल्पित किया गया है, वह वस्तुतः तुम ही हो। तुम्हारे पास धन के भण्डार भरे हैं। प्रकृति में बिखरा हुआ सब धन तो तुम्हारा है ही, उसके अतिरिक्त भी बहुत धन तुम्हारे पास है। तुम न केवल भौतिक सम्पत्ति के स्वामी हो, किन्तु सत्य, न्याय, दया, दाक्षिण्य, धर्म, विवेक आदि आध्यात्मिक धन के भी तुम धनी हो। समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक सम्पदा के धनी होने के कारण ही स्वभावतः तुम 'तुविदेष्ण' अर्थात् बहुत दानी भी हो। संसार में सूर्य, चन्द्र, जल, वायु, भूमि, अग्नि, सोना, चाँदी, हीरे, मोती आदि अथाह धन का पारावार तुमने हमें प्रदान किया है और साथ ही अनेक सद्गुणरूप अनमोल ऐश्वर्य भी प्रदान किये हैं। हे परम महनीय! तुम 'तुविमात्र' भी हो, अर्थात् तुम्हारा परिमाण भी बहुत बड़ा है। तुम हिमालय से बड़े हो, समुद्र से बड़े हो, भूलोक से बड़े हो, अन्तरिक्षलोक से बड़े हो, द्युलोक से बड़े हो, ब्रह्माण्ड से बड़े हो। तुम इतने बड़े हो कि सर्वत्र विस्तीर्ण हो, सर्वव्यापक हो। हे परमात्मन्! हम निश्चय ही तुम्हें उक्त सब विशेषताओं से युक्त जानते हैं और तुम्हारे शरणागत हो विनयपूर्वक तुम्हें शीष नवाते हैं।

१६२. तू सचमुच अमर है

यद् वा प्रवृद्ध सत्पते॑, न मरा इति मन्यसे॑ ।
उतो तत् सत्यमित् तव॑ ॥ —ऋग् ८.९३.५

ऋषिः **सुकक्षः आङ्गिरसः** । देवता **इन्द्रः** । छन्दः **गायत्री** ।

(यद् वा) और जो **(प्रवृद्ध)** हे सर्वोन्नत! **(सत्पते)** हे श्रेष्ठों के पालक! [तू] **(न मरै[1])** मैं मरता नहीं हूँ **(इति)** यह **(मन्यसे)** मानता है, **(उतो)** निश्चय ही **(तव)** तेरा **(तत्)** वह [मानना] **(सत्यम् इत्)** सत्य ही [है]।

संसार में जो जन्मा है, उसे एक दिन नष्ट अवश्य होना है। यह जगत् का शाश्वत नियम है। ये सूर्य, चाँद, सितारे, वन, पर्वत, सागर, भूतल सब प्राकृतिक पदार्थ एक दिन विनाश के ग्रास हो जायेंगे। शत-शत कोटि वर्षों से जो पिण्ड सत्ता में विद्यमान हैं, वे भी एक दिन विनाशलीला के पात्र बन जायेंगे। ये सिंह, द्वीपी, गज, वराह, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि सब प्राणी भी मृत्यु के मुख में समा जायेंगे। प्राणियों में सबसे उच्च और विलक्षण समझे जानेवाले समस्त मानव भी एक दिन काल-कवलित हो जायेंगे। बड़े-बड़े सूरमा सम्राट्, जिनकी एक भृकुटि से ही जग थर्रा उठता था, विकराल काल के गाल में समा गये, अतः आज जो स्वयं को अमर समझे बैठे हैं, उनका यह विश्वास एक दिन असत्य सिद्ध होकर रहेगा और वे आँधी से शुष्क तरु के समान कालचक्र की गति से एक दिन उखड़कर गिर पड़ेंगे और धूलिसात् हो जायेंगे। किसी भी व्यक्ति का यह मन्तव्य कि मैं अमर हूँ, सचाई की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

परन्तु हे प्रवृद्ध! हे सर्वोपरि विराजमान! हे सत्पति! हे श्रेष्ठों के पालक! हे इन्द्र परमात्मन्! आप सचमुच अमर हैं। आप जो अपने विषय में यह मानते हैं कि मैं मरता नहीं हूँ, सर्वथा सत्य है। यों तो दार्शनिकों की दृष्टि में पृथिवी-अप्-तेज-वायु के असंख्य परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन आदि भी नित्य और अमर माने जाते हैं, पर आपके सम्मुख इनका अमरत्व बिल्कुल नगण्य है। कहाँ तो अचेतन परमाणु, आकाश, काल आदि और कहाँ चैतन्य के भण्डार तथा अचेतनों को चेतना देनेवाले आप! आत्मा यद्यपि चेतन भी है तथा अमर भी है और आत्मा की अमरता को वेद, उपनिषद् आदि शास्त्र बार-बार उजागर करते हैं, तो भी आत्मा स्वभावतः अमर होता हुआ भी प्रायः नैतिक मृत्युओं के वशीभूत हो जाता है; अतः उसकी अमरता भी आपकी तुलना में तुच्छ है। इस प्रकार हे अजर, अमर, अनादि, अनन्त, नित्य, सर्वगत, सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मन्! अमरता तो आपकी ही सत्य है। आप जैसा अमर ब्रह्माण्ड में कोई नहीं है। हे देवाधिदेव! सचमुच आप ही अमर हैं, आप ही अमर हैं। अन्य सबका अमरता का गर्व आपके सम्मुख उपहसनीय है।

१६३. यह कर्तृत्व तेरा ही है

त्वमेतदधारयः[७], कृष्णासु रोहिणीषु च[८]।
परुष्णीषु रुशत् पयः[८] ॥ —ऋग् ८.९३.१३

ऋषिः **सुकक्षः आङ्गिरसः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् गायत्री।**

[हे इन्द्र परमात्मन्!] (**त्वं**) तूने (**कृष्णासु**) कृष्णा (**रोहिणीषु च**) और रोहिणी (**परुष्णीषु**) परुष्णियों में (**रुशत्**[१]) चमकीले (**पयः**) रस को (**अधारयः**) निहित किया है।

हे परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! तुम्हारी महिमा का मैं कहाँ तक गान करूँ। तुम्हीं ने सब शरीरों को रचा है, तुम्हीं ने प्रकृति के पदार्थों को रचा है और तुम्हीं ने विविध प्राणियों को रचा है। वेद कहते हैं कि तुमने कृष्ण और रोहिणी परुष्णियों में चमकीले रस को निहित किया है। शरीर में 'परुष्णी' रक्तवाहिनी नाड़ियों का नाम है, क्योंकि वे पर्ववर्ती[२] होती हैं, विभिन्न शाखाओं में फटकर टेढ़ी-मेढ़ी होती हुई शरीर में फैली रहती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं, एक कृष्णा, अर्थात् मलिन रक्तवाली नीली नाड़ियाँ और दूसरी रोहिणी, अर्थात् शुद्ध रक्तवाली लोहिनी नाड़ियाँ। इन द्विविध नाड़ियों में, हे परम प्रभु! तुम्हीं चमकीले रक्तरूप पय को प्रवाहित करते हो। इसके अतिरिक्त शरीरस्थ इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ भी क्रमशः कृष्णा, रोहिणी तथा परुष्णी कहलाती हैं। इनमें तुमने प्राणरूप पय को निहित किया है। प्रकृति में पर्वतों से निकलकर भूमि पर बहनेवाली नदियाँ 'परुष्णी' हैं, क्योंकि वे भी पर्ववती होकर बहती हैं। ये नदियाँ तटों का कर्षण करने या कृषि में सहायक होने के कारण 'कृष्णा[३]' और तटों पर वृक्ष-वनस्पतियाँ उगाने के कारण 'रोहिणी[४]' कहलाती हैं। काले और रोहित वर्ण के जलवाली नदियों को भी क्रमशः 'कृष्णा' और 'रोहिणी' कहते हैं। हे इन्द्रदेव! इन नदियों में तुम्हीं चमकीला जल प्रवाहित करते हो। 'परुष्णी' रात्रियों को भी कहते हैं, यतः ये कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष-रूप पर्वोंवाली होती हैं। ये रात्रियाँ भी कृष्णा और रोहिणी दो प्रकार की हैं, एक काली और दूसरी चाँदनी से चमकीली। इनमें भी हे लीलाधर! तुम्हीं ओस-कण-रूप पय को या विश्रामदायी तमस् और प्रकाशरूप पय को स्थापित करते हो। पशुओं में 'परुष्णी' गौओं का नाम है, क्योंकि वे पर्ववती, अर्थात् पालनकर्त्री[५] होती हैं। गौओं में भी कुछ कृष्णा, अर्थात् काले रंग की और कुछ रोहिणी, अर्थात् रोहितवर्णा होती हैं। इनके ऊधसों में भी हे अद्भुत कौशलवाले जगदीश्वर! तुम्हीं सफेद चमकीला दूधरूप पय भरते हो। इस प्रकार सृष्टि में सर्वत्र तुम्हारा विलक्षण कर्तृत्व दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसके कारण तुम सबसे प्रशंसा और कीर्ति पा रहे हो। हे यशस्वी कलाकार! तुम अपनी अनुपम कलाकृतियों से सदा हमारे मन को मोहते हो।

१६४. आशीर्वाद का प्रसाद

एतो न्विन्द्रं स्तवाम[७], शुद्धं शुद्धेन साम्ना[७]।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं[८], शुद्ध आशीर्वान् ममत्तु[८] ॥

—ऋग् ८.९५.७

ऋषि: **तिरश्चीः आङ्गिरसः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(**एतो**) आओ, (**शुद्धं**) शुद्ध (**इन्द्रं**) इन्द्र प्रभु की (**उ**) निश्चय ही (**शुद्धेन**) शुद्ध (**साम्ना**) साम के द्वारा (**स्तवाम**) स्तुति करें। (**शुद्धैः**) शुद्ध (**उक्थैः**) स्तोत्रों से (**वावृध्वांसं**[१]) बढ़ते हुए, उन्नति करते हुए [स्तोता] को (**आशीर्वान्**) आशीर्वाद से युक्त (**शुद्धः**) शुद्ध [इन्द्र प्रभु] (**ममत्तु**[२]) आनन्दित करे।

आओ, हम राजराजेश्वर इन्द्र प्रभु की स्तुति करें। इन्द्र प्रभु परम शुद्ध और पवित्र हैं, उनमें कहीं मलिनता का लव-लेश भी नहीं है, अतः उनकी स्तुति के लिए पूर्णतः शुद्ध साम-संगीत ही चाहिए। अक्षर, मात्रा, छन्द, तान, आरोह, अवरोह सब दृष्टियों से शुद्ध-पूत साम के द्वारा शुद्ध प्रभु की अर्चना हम करें। हमारे शुद्ध संगीत की लहरियाँ निश्चित ही उन्हें हमारी ओर आकृष्ट कर लायेंगी। वे हमारे हृदय में आविर्भूत होकर हमारे संगीत में आनन्द लेते हुए अपने संगीत की भी तान छेड़ देंगे। हमारी और उनकी संगीत-लहरियाँ मिलकर एक अद्भुत समाँ बाँध देंगी, जिससे तरंगित हुआ हमारा हृदय एक अपूर्व सन्तृप्ति का अनुभव करेगा। शुद्ध सामगायन के अतिरिक्त हम स्वरचित गद्यमय और पद्यमय स्तोत्रों (उक्थों) के द्वारा भी इन्द्र परमेश्वर का स्तुतिगान करें। वे भी रचना और भाव दोनों दृष्टियों से पूर्ण परिशुद्ध होने चाहिएँ, जिससे शुद्ध प्रभु के हृदय को स्पर्श कर सकें। पूर्ण समर्पण-भाव से गान किये गये शुद्ध साम और शुद्ध उक्थों से शुद्ध प्रभु रीझते हैं और स्तोता की ही संवृद्धि करते हैं, स्तोता के ही उत्कर्ष को बढ़ाते हैं, स्तोता को ही सब दृष्टियों से समुन्नत करते हैं। स्तोता को शुद्ध प्रभु के शुद्ध आशीर्वाद का प्रसाद प्राप्त होता है। आशीर्वाद से बढ़कर अन्य कोई वस्तु उस जगतीतल में नहीं है और वह आशीर्वाद का प्रसाद यदि प्रभु का है तब तो वह और भी अमूल्य है, क्योंकि वह कभी असत्य नहीं हो सकता, वह सदा सफल ही होता है। प्रभु के आशीर्वाद में वह बल है जो अज्ञानी को ज्ञानवान्, अकर्मण्य को कर्मण्य, पापी को पुण्यात्मा और पतित को सर्वोन्नत कर सकता है, अतः आओ, हम भी स्वयं को उन भाग्यशालियों की श्रेणी में लायें, जिन्हें प्रभु के आशीर्वाद का प्रसाद प्राप्त होता है। अपने हृदय से आशीर्वाद की पवित्र धाराएँ बहाते हुए शुद्ध प्रभु हमें आह्लादित और आनन्दमग्न करें।

१६५. अव्रती को व्रती बनाओ

य इन्द्र सस्त्यव्रतो[७], ऽनुष्वापमदेवयु:[७] ।
स्वैः ष एवैर्मुमुरत् पोष्यं रयिं[११], सनुतर्धेहि तं ततः[८] ॥

—ऋग् ८.९७.३

ऋषिः रेभः काश्यः। देवता इन्द्रः। छन्दः भुरिग् अनुष्टुप्।

(इन्द्र) हे परमात्मन्! **(यः)** जो **(अदेवयुः[१])** देवों की कामना न करनेवाला, **(अव्रतः)** अव्रती **(अनुष्वापं[२])** निद्रा को निरन्तर प्रवृत्त रखते हुए **(सस्ति[३])** सोया रहता है, **(सः)** वह **(स्वैः)** अपने [ही] **(एवैः[४])** आचरणों से **(पोष्यं)** पोषणीय **(रयिं)** ऐश्वर्य को **(मुमुरत्[५])** नष्ट कर देता है। **(तं)** उसे **(ततः)** उस [निद्रा] से **(सनुतः[६])** पृथक् **(धेहि)** कर दो।

मनुष्य ने मानव-शरीर देवत्व की ओर अग्रसर होने के लिए प्राप्त किया है। उसके लिए उसे कुछ व्रत ग्रहण करने होते हैं तथा सदा जागरूक रहते हुए उन व्रतों का परिपालन करना होता है। वैदिक संस्कृति में जो यज्ञोपवीत-धारण, वर्ण-आश्रम-मर्यादा, संस्कार, यज्ञ आदि का अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में विधान किया गया है, वह विभिन्न व्रतों के धारण और पालन की ओर ही एक संकेत है। व्रतों के परिपालन करने से सद्गुण आदि का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, जिसे साधक को निरन्तर परिपुष्ट करते रहना होता है। व्रतनिष्ठ लोगों को सदा ऐसे परमैश्वर्यों की प्राप्ति होती रहती है। एक व्यक्ति के देव बन जाने पर शनैः-शनैः बढ़ते-बढ़ते एक से दो, दो से चार, चार से दस, दस से बीस, बीस से सौ, इस प्रकार क्रमशः सारा समाज ही देव बन सकता है। पर यह स्थिति तभी होती है, जब मानव 'देवयु' हो, सचमुच देवत्व-प्राप्ति की कामना करे। जो 'देवयु' नहीं होता, जिसे देवत्व-प्राप्ति का उत्साह नहीं होता, वह जीवन में कोई व्रत नहीं लेता और कोई उच्च लक्ष्य निर्धारित नहीं करता। वह निरन्तर गहरी नींद में सोया पड़ा रहता है। अपने प्रति और समाज में अन्य लोगों के प्रति मनुष्य के जो कर्त्तव्य होते हैं, उनका वह पालन नहीं करता। परिणामतः वह निन्दित आचरणों में संलग्न हो जाता है और व्रती तथा सत्कर्मनिष्ठ होनेपर जिन ऐश्वर्यों की प्राप्ति सम्भावित थी उनसे वह वञ्चित रह जाता है। यदि कभी व्रत-पालन एवं सदाचरण से उसे कोई ऐश्वर्य की निधि प्राप्त हुई भी होती है तो सम्प्रति अव्रती होकर उसे वह नष्ट कर डालता है। इस प्रकार धीरे-धीरे पृथिवी पर देवत्व के स्थान पर असुरत्व का साम्राज्य छा जाता है।

हे इन्द्र! हे देवत्व के प्रसारक! हे व्रतियों के व्रती परमात्मन्! इस भूतल पर जो ऐसे निद्रालु लोग हैं, उनकी कुम्भकर्णी नींद को तुम तोड़ो, उन्हें कर्त्तव्य के प्रति सजग करो, उनके अन्दर देवत्व-प्राप्ति की उत्कण्ठा जागृत करो, उन्हें व्रतनिष्ठ बनाओ, जिससे वे परमैश्वर्य को प्राप्त करें। इस प्रकार एक-एक मानव को देव बनाते हुए तुम एक दिन सारे विश्व में देवत्व का प्रसार कर दो।

१६६. संस्कर्ता, बलदाता, शतक्रतु

इष्कर्तारमनिष्कृतं सहस्कृतं[१२], शतमूतिं शतक्रतुम्[८]।
समानमिन्द्रमवसे हवामहे[१२], वसवानं वसूजुवम्[८]॥

—ऋग् ८.९९.८

ऋषि: **नृमेध: आङ्गिरस:**। देवता **इन्द्र:**। छन्द: **पङ्क्ति:**।

(**इष्कर्तारं**[१]) [अन्यों को] संस्कृत करनेवाले, (**अनिष्कृतं**) [स्वयं स्वभावत: शुद्ध होने के कारण किसी से] संस्कृत न होनेवाले, (**सहस्कृतं**) बल देनेवाले, (**शतम्-ऊतिम्**) शत रक्षाओंवाले, (**शत-क्रतम्**) शतप्रज्ञ, शतकर्मा एवं शतयज्ञ, (**वसवानं**) वस्त्रों से आच्छादित करनेवाले, (**वसु-जुवं**[२]) ऐश्वर्यों को प्रेरित करनेवाले, (**समानं**) सबके एक-समान [आराध्य] (**इन्द्रं**) परमैश्वर्यवान् परमात्मा को (**अवसे**[३]) रक्षा के लिए (**हवामहे**) [हम] पुकारते हैं।

हम इस विश्व में बहुत ही असुरक्षित हैं। प्रथम तो न जाने कब कौन-सी विपत्ति आ खड़ी हो और हमें मृत्यु का ग्रास बना ले, फिर समाज में फैले पाप और दुर्व्यसन भी क्या मालूम कब हमें अपने प्रभाव में ले लें और उनमें फँसकर हम विनाश की ओर दौड़ने लगें, अत: स्वयं को हम ऐसी सत्ता के प्रति सौंप देना चाहते हैं, जिससे हमें सुरक्षा का पूर्ण अभयदान मिल सके। वह सत्ता परमैश्वर्यशाली इन्द्र प्रभु ही है। वह प्रभु 'इष्कर्ता' है, असंस्कृतों को संस्कृत करनेवाला है, जिनके मन, बुद्धि आदि संस्कारहीन हैं, उन्हें परिमार्जित-परिष्कृत कर उनमें सद्गुणों का बीजारोपण करनेवाला है। स्वयं वह 'अनिष्कृत' है, स्वभावत: शुद्ध होने के कारण उसे किसी से संस्कृत होने की आवश्यकता नहीं है। वह 'सहस्कृत' है, उत्साहहीनों में साहस और बल को प्रेरित करनेवाला है। उससे शक्ति पाकर निर्बल-से-निर्बल व्यक्ति भी समरांगण के सूत्रधार बन जाते हैं। वह 'शत-ऊति' है, अपनी सैंकड़ों रक्षाओं को लेकर सहायतार्थ मनुष्य के पास पहुँचनेवाला है। वह 'शत-क्रतु' है, शतकर्मा है, शतप्रज्ञ है, शतयज्ञ है। सृष्टि के अनन्त कर्मों को वह अकेला कर रहा है; सृष्टि के सर्जन और सञ्चालन में ही उसकी अनन्त प्रज्ञा के भी दर्शन होते हैं। उसके लोकोपकार-रूप यज्ञ-कार्य भी गणनातीत हैं। वह 'वसवान' है, वस्त्रहीनों को वस्त्रों से आच्छादित करनेवाला है, गुणहीनों को सद्गुणों से आच्छादित करनेवाला है। वह 'वसुजू' है, ऐश्वर्यहीनों के प्रति ऐश्वर्यों को प्रेरित करनेवाला है। वह अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र, इन आठों वसुओं को गति देनेवाला है। वह 'समान' है, निष्पक्ष होकर सबके प्रति एक-समान न्यायानुकूल व्यवहार करनेवाला है और सबका एक-समान आराध्य-देव है। ऐसे महान् इन्द्र परमेश्वर को हम रक्षार्थ पुकारते हैं, क्योंकि जो जितना महान् है, वह उतना ही अधिक निरापद रूप से रक्षक हो सकता है। हे जगत् के सम्राट् इन्द्र! तुम हमें पूर्णरूप से अपनी रक्षा में ले लो।

१६७. वागूरूपा गौ का वध मत कर

वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं[११], विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्[११]।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गाम्[१०], आ माऽवृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः[१०]॥

—ऋग् ८.१०१.१६

ऋषिः **जमदग्निः भार्गवः**। देवता **गौः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्।**

(वचोविदं) शास्त्र-वचन का ज्ञान करानेवाली, **(वाचम्)** शब्दशास्त्र को **(उदीरयन्तीं)** उपदेश करनेवाली, **(विश्वाभिः धीभिः)** सब ज्ञानों और कर्मोपदेशों के साथ **(उपतिष्ठमानां)** उपस्थित होनेवाली, **(देवेभ्यः)** देवजनों के हितार्थ **(पर्येयुषीं)** पहुँचनेवाली **(देवीं गां[१])** दिव्य वाग्-रूपा गौ को **(दभ्रचेताः)** अल्पबुद्धि **(मर्त्यः)** मनुष्य **(मा)** मत **(आ वृक्त[२])** वध करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह नासमझी से कभी गौ-घात न कर बैठे। जैसे गाय का वध अनुचित है वैसे ही वाणीरूपिणी गौ का वध भी अनुचित है। आचार्य की वाणी, ब्राह्मण की वाणी, सन्मित्रों की वाणी, अन्तरात्मा की वाणी एवं मनुष्य की अपनी वाक्-शक्ति वध, अर्थात् उपेक्षा करने योग्य नहीं है। इसका मानव को आदर एवं सदुपयोग करना चाहिए। वह वाग्रूपा गौ 'वचोविद्' होती है, शास्त्र-वचनों का ज्ञान कराती है। वाणी ही ऋग्, यजु, साम, अथर्व, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, गन्धर्वविद्या का ज्ञान कराती है। वही द्युलोक, पृथिवीलोक, वायु, आकाश, अप्, तेज, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण, वनस्पति, कीट, पतंग, पिपीलिका, धर्म, अधर्म, सत्य, अनृत, साधु, असाधु, हृदयानुकूल, हृदयप्रतिकूल का ज्ञान कराती है। यदि वाणी न होती तो मनुष्य को न धर्म का ज्ञान होता, न अधर्म का; न सत्य का, न अनृत का; न साधु का, न असाधु का; न हृदयानुकूल का, न हृदय-प्रतिकूल का[३]।

जो इस वाग्रूपा गौ का वध करता है, ईश्वरीय अन्तर्वाणी की उपेक्षा करता है, वेदवाणी की निन्दा करता है, सन्तों की वाणी का निरादर करता है, गुरु-वाणी का अपमान करता है, शास्त्रों की वाणी का उपहास करता है, मित्र की वाणी को अनसुना करता है, लिखित वाङ्मय का विनाश करता है, वह मानो गौ-घात ही करता है। जैसे गाय अमृतमय दूध प्रदान कर शरीर का पोषण करती है, वैसे ही वाणी भी ज्ञान-रूप दूध देकर आत्मा को परिपुष्ट करती है, अतः हे मनुष्य! तू ऐसी परमोपयोगिनी दिव्य वाग्रूपिणी गाय का हनन मत कर, अपितु इसके अमृतमय पयस् का पानकर तृप्ति लाभ कर।

१६८. उसका दर्शन

अदर्शि गातुवित्तमो[८], यस्मिन् व्रतान्यादधुः[७] ।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनम्[११], अग्निं नक्षन्त नो गिरः[८] ॥

—ऋग् ८.१०३.१

ऋषिः **सोभरिः काण्वः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराड् बृहती**।

(गातुवित्तमः[१]) मार्गों के सबसे बड़े ज्ञाता तथा ज्ञापयिता [अग्नि परमेश्वर] **(अदर्शि)** [हमें] दीख गया है, **(यस्मिन्)** जिसमें [भक्तजन] **(व्रतानि[२])** कर्मों को **(आदधुः)** निहित करते हैं, समर्पित करते हैं। **(नः)** हमारी **(गिरः)** वाणियाँ **(सु जातम्)** सम्यक् रूप से प्रादुर्भूत [और] **(आर्यस्य)** आर्य के **(वर्धनं)** बढ़ानेवाले **(अग्निं)** तेजस्वी परमेश्वर के **(उप नक्षन्त[३])** समीप पहुँच रही हैं।

हमने आज उस परम प्रभु का दर्शन कर लिया है, जो 'गातुवित्-तम' है, सन्मार्गों का सर्वाधिक ज्ञाता और ज्ञापयिता है। जब कभी हम किंकर्तव्यविमूढ़ होते हैं, तब माता, पिता, उपदेशक, आचार्य आदि 'गातुवित्' बनकर हमारा मार्गदर्शन करते हैं। पर श्रेष्ठ मार्गों का सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी तथा सदुपदेश द्वारा ज्ञान करानेवाला तो परमपिता परमात्मा ही है। सांसारिक जनों द्वारा बताई हुई राह तो कभी गलत भी हो जाती है, किन्तु उस 'गातुवित्-तम' परमेश्वर से निर्दिष्ट राह सदा सही ही निकलती है, कभी पथभ्रष्ट करनेवाली नहीं होती। आज हमारा सौभाग्य है कि उस अनुपम पथ-प्रदर्शक का साक्षात्कार हमने कर लिया है। पर केवल दर्शन या साक्षात्कार पर्याप्त नहीं है, हमें अहंभाव को छोड़कर अपने कृत तथा क्रियमाण समस्त कर्मों को उसे समर्पित करना होगा। 'अहंभाव' और 'परब्रह्म' दोनों एक-साथ नहीं रह सकते। जो सच्चे ब्रह्मदर्शी होते हैं, वे सदा ही अपने व्रतों को व्रतपति अग्निस्वरूप परमेश्वर में निहित एवं समर्पित किया करते हैं। हम भी उसी मार्ग का अनुसरण करेंगे। उस परमप्रभु की शरण में जाकर हमें 'आर्य' बनना है। अग्निमय तेजस्वी प्रभु जब 'आर्य' के हृदय में सम्यक् रूप से प्रादुर्भूत हो जाते हैं, तब वे उसे बढ़ाते हैं, समुन्नत करते हैं। 'आर्य' वह है जो श्रेष्ठ है, ऊर्ध्वगति करनेवाला है, ऋत की ओर जाने का सतत प्रयास करनेवाला है। उस प्रयास में उसके हृदय में प्रकट हुए परम प्रभु सहायक होते हैं।

आर्य को बढ़ाने और महिमाशाली बनानेवाले उस 'अग्नि' प्रभु के समीप मेरी वाणियाँ निरन्तर पहुँच रही हैं, उसमें रम रही हैं, उसे रिझा रही हैं, उससे बल पा रही हैं। हे प्रभु! तुम्हारे दर्शन की झाँकी पाकर मैं तुमपर मुग्ध हो गया हूँ, तुम सदा ही मुझे दर्शन देते रहो, मेरी भक्तिरस-भीनी वाणियों से रीझ-रीझकर मुझ 'आर्य' को समृद्ध, महिमान्वित और महान् बनाते रहो।

१६९. प्रभु के गीत गाओ

प्र मंहिष्ठाय गायत[८], ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे[११]।
उपस्तुतासो अग्नये[८]॥ —ऋग् ८.१०३.८

ऋषिः **सोभरि काण्वः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् ककुब् उष्णिक्**।

(उपस्तुतासः) हे प्रशंसित [मनुष्यो!] [तुम] **(मंहिष्ठाय[१])** सबसे बड़े दानी, **(ऋताव्ने[२])** सत्यमय, **(बृहते)** महान्, **(शुक्रशोचिषे[३])** पवित्र ज्योतिवाले **(अग्नये)** अग्रणी परमेश्वर के लिए **(प्र गायत)** प्रकृष्टरूप से गान करो।

आओ, हे मित्रो! सब मिलकर प्रभु के गीत गायें। परस्पर मिलकर भक्तिगान की स्वर-लहरी उठाने से, तरंगित होकर भक्तिभाव से उस परमदेव को श्रद्धा की भेंट समर्पित करने से वातावरण में जो शुचिता, पवित्रता और दिव्यनाद का गुंजन होता है, उसमें कोटि-कोटि मानवों के मनों को प्रभावित करने की शक्ति रहती है, अतः आओ, भावभीनी वैदिक गीतिओं से अग्निस्वरूप तेजस्वी प्रभु की अर्चना-वन्दना करो, उपस्तुत बनकर, प्रशंसित जीवनवाले होकर, उसके चरणों में भक्ति-प्रसूनों की अञ्जलि अर्पित करो।

वह प्रभु 'मंहिष्ठ' है, सबसे बड़ा दानी है। तुम जो कुछ माँगोगे, उससे अधिक तुम्हें मिलेगा। उससे तुम्हें सद्गुणों का प्रसाद मिलेगा, दिव्य आनन्द मिलेगा। वह प्रभु 'ऋतावा' है, सत्य ज्ञान और सत्य आचरणवाला है। वह तुम्हें भी सत्य ज्ञान और सत्य-आचरण का उपहार देगा। वह 'बृहत्' है, महान् है, वह सर्वातिशायिनी गगनचुम्बिनी महत्ता का अधिपति है। वह 'शुक्रशोचिः' है, पवित्र ज्योतिवाला है। उसकी ज्योति की किरण जिसके भी मानस-पटल पर पड़ जाती है, उसकी सब कालिमा एवं मलिनता को नष्ट कर उसके अन्दर असीम निर्मलता एवं पवित्रता की आभा को उत्पन्न कर देती है। वह प्रभु 'अग्नि' है, अग्नि के समान पाप-ताप को भस्म करनेवाला है, अग्रणी है, पथप्रदर्शक नेता है।

भाइयो! तुम भी 'उपस्तुत' हो, पहले ही अपने विद्यादि गुणों के कारण प्रशंसा और कीर्ति अर्जित कर चुके हो, अतः स्वभावतः प्रभु-भक्ति में हमारे साथ मिलकर बैठने में तुम आनन्द अनुभव करोगे। आओ, हम सब समवेत होकर गीतों से उस इन्द्र प्रभु की महिमा को मुखरित करें।

१७०. धनिक, श्रमिक सब यशस्वी हों

अस्मे धेहि द्युमद् यशो॒, मघवद्भ्यश्च मह्यं च॒।
सनिं मेधामुत श्रवः॒॥ —ऋग् ९.३२.६

ऋषिः **श्यावाश्वः**। देवता **पवमानः सोः**। छन्दः **गायत्री**।

[हे पवमान सोम!] **(अस्मे)** हमें **(द्युमद्)** देदीप्यमान **(यशः)** यश **(धेहि)** प्रदान करो, **(मघवद्भ्यः च)** धनिकों को भी **(मह्यं च)** और मुझे भी। **(सनिं[1])** दान-भावना, **(मेधां)** धारणावती प्रज्ञा **(उत)** और **(श्रवः[2])** शास्त्र-श्रवण व दिव्य श्रवणशक्ति [भी प्रदान करो]।

किसी भी राष्ट्र में दो प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं, धनिक-वर्ग और श्रमिक वर्ग। किसी राष्ट्र के धनी लोगों का चरित्र कैसा है, यह देखकर उस राष्ट्र के उत्कर्ष या अपकर्ष का अनुमान हो जाता है। जिस राष्ट्र का धनिक-वर्ग स्वार्थपूर्ति, भोग-विलास एवं शोषण में संलग्न है वह राष्ट्र स्वभावतः हीन कोटि का होगा और जिसका धनिक-वर्ग यज्ञ, विद्याप्रचार, परोपकार, श्रमिक-वर्ग की उन्नति आदि में तत्पर है, उस राष्ट्र का चरित्र उज्ज्वल होगा। यदि सामान्य जनता का स्तर धनिक-वर्ग से बहुत नीचा होता है, तो सामान्य जनता में धनिक-वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हो जाती है और तब सामान्य-वर्ग तथा धनिक-वर्ग में पारस्परिक दूरी कम करने के लिए राजकीय उपाय प्रयोग में लाये जाने आवश्यक हो जाते हैं।

हे धनी-निर्धन सबके हृदयों में समानरूप से प्रवाहित होनेवाले, पवित्रकर्त्ता, शुभ-भावों के प्रेरक 'सोम' परमात्मन्! मैं श्रमिक-वर्ग का प्रतिनिधि होकर तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि धनिक व श्रमिक दोनों को तुम यश प्रदान करो, सामान्य यश नहीं, अपितु देदीप्यमान यश प्रदान करो। पर तुम्हारे पास यश प्रदान करने की कोई जादुई छड़ी नहीं है, जिसे घुमाते ही दोनों इकाइयों से बना हुआ हमारा समाज यशस्वी हो जायेगा। हमें यशःप्रदायक कर्म करने होंगे, अतः तुम धनिक-श्रमिक दोनों को ऐसे कर्म करने की प्रेरणा करो, जिससे हम कीर्ति से जगमगाने लगें। धनिक लोग वैध उपायों से धन का संग्रह कर राष्ट्र-उपयोगी कार्यों में उसका व्यय करें और श्रमिक-वर्ग ईमानदारी के साथ निर्माण-कार्यों को करते हुए अपने श्रम के अनुरूप पुष्कल जीविका प्राप्त करें।

हे हमारी ओर सद्गुणों को बहाकर लानेवाले 'सोम' प्रभु! धनिक-श्रमिक दोनों के ही अन्दर तुम 'सनि' को, दान-प्रवृत्ति को उत्पन्न करो। धनी लोग बड़े-बड़े राष्ट्रकार्यों के हित अपने धन का दान करें, तो हम श्रमिक-वर्ग भी अपने छोटे-छोटे सामाजिक कार्यों के लिए यथाशक्ति दान करें। हम दोनों को तुम 'मेधा' या वह धारणावती प्रज्ञा प्रदान करो, जिसे पाकर मनुष्य प्रत्येक समस्या का दूरगामी परिणामों पर दृष्टि रखते हुए अध्ययन करता है और हल खोजता है। हमारे अन्दर तुम शास्त्र-श्रवण की रुचि भी पैदा करो, क्योंकि प्रतिदिन वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय से मनुष्य को कर्त्तव्यबोध होता है तथा सत्कार्यों के प्रति उद्बोधन प्राप्त होता है। हममें तुम ऐसी दिव्य श्रवण-शक्ति का भी विकास करो, जिससे मनुष्य अन्तरात्मा की आवाज को और दीन-दुखियों की पुकारों को सुनने में समर्थ होता है। यदि उक्त वस्तुएँ प्राप्त हो जाएँ तो निश्चित ही धनिक-वर्ग और श्रमिक-वर्ग दोनों एक दिन देदीप्यमान कीर्ति को प्राप्त कर सकेंगे।

१७१. ऐश्वर्य के चार समुद्र प्रदान करो

रायः समुद्रांश्चतुरो[८], ऽस्मभ्यं सोम विश्वतः[७]।
आ पवस्व सहस्रिणः[८] ॥ —ऋग् ९.३३.६

ऋषिः **त्रितः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(सोम) हे सकलैश्वर्यप्रदाता परमेश्वर! **(अस्मभ्यं)** हमारे लिए **(रायः)** ऐश्वर्य के **(सहस्रिणः)** सहस्रों रत्नों से परिपूर्ण **(चतुरः)** चार **(समुद्रान्)** समुद्रों को **(विश्वतः)** चारों ओर से **(आ पवस्व)** प्रवाहित कीजिए।

हे परमेश्वर! आप 'सोम' हैं, सकल ऐश्वर्यों के प्रदाता हैं। आप हमें धर्म-अर्जित धन दीजिए; इतना धन दीजिए कि धन के चार समुद्र भर जाएँ, जिनमें सहस्रों रत्न हों। हम धन-सम्पत्ति को तुच्छ, हेय, उन्नति में बाधक नहीं समझते, किन्तु उन्नति में साधक, अतएव स्वागत-योग्य मानते हैं। धन के बिना मनुष्य पंगु है, धन से ही सब छोटे-बड़े कार्य सिद्ध होते हैं। धन से ही वैयक्तिक कार्य सम्पन्न होते हैं, धन से ही सामाजिक कार्य सिद्ध होते हैं और धन से ही राजकीय कार्य पूर्ण होते हैं, अतः मैं आपसे भरपूर धन की याचना करता हूँ।

परन्तु वेदार्थ की परिसमाप्ति स्थूल अर्थ पर ही नहीं हो जाती। भौतिक धन के अतिरिक्त अन्य ऐश्वर्य भी हैं, जिनके सहस्र रत्नों से भरे चार समुद्रों की हमें आकांक्षा है। ज्ञानरूप ऐश्वर्य है, जिसके चार समुद्र चार वेद हैं, जो सद्विचार-रूप सहस्रों रत्नों से भरे हैं। हे ज्ञानैश्वर्य के अगार सोम प्रभु! आप हमें ज्ञान के अघाध सागर-रूप चारों वेदों का पाण्डित्य प्राप्त कराइये, जिन वेदों में कहीं अध्यात्म-विज्ञान के रत्न हैं, कहीं राजनीति के रत्न हैं, कहीं रणनीति और विजय-सन्देश के रत्न हैं, कहीं कृषि-विद्या के रत्न हैं, कहीं भौतिक विज्ञान के रत्न हैं, कहीं चिकित्सा-विज्ञान के रत्न हैं। पुरुषार्थ-रूप ऐश्वर्य है, जिसके चार समुद्र हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जो विविध सत्फल-रूप रत्नों से भरपूर हैं। समाज-व्यवस्थारूप ऐश्वर्य है, जिसके चार समुद्र हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण, जो स्वकर्त्तव्य-पालन द्वारा समाज को अनेक कल्याणों के रत्न प्रदान करते हैं। मानव-जीवनरूप ऐश्वर्य है, जिसके चार समुद्र हैं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासरूप चार आश्रम, जो मनुष्य को सहस्रोपकार-रूप सहस्र रत्नों का दान करते हैं। मनोवृत्ति-रूप ऐश्वर्य है, जिसके चार समुद्र हैं मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा-रूप चार वृत्तियाँ, जिनसे चित्तप्रसाद-रूप रत्न प्राप्त होते हैं। पूर्ण आयु ऐश्वर्य है, जिसके चार समुद्र हैं बाल्य, कौमार, यौवन और जरा ये चार अवस्थाएँ, जो सुख-स्वास्थ्य के रत्नों से परिपूर्ण हैं। अन्तःकरण-रूप ऐश्वर्य है, जिसमें चार समुद्र हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, जो सङ्कल्प, अध्यवसाय आदि रत्नों को देते हैं। साधनरूप ऐश्वर्य है, जिसके चार समुद्र हैं साम, दान, भेद और दण्ड, जो वशीकरणरूप रत्न प्रदान करते हैं। हे सोम प्रभु! आप इन समस्त ऐश्वर्यों के रत्नों से भरे चार समुद्र हमारी ओर बहाकर लाइये, जिससे हम अपने जीवन में निरन्तर साफल्य और उत्कर्ष प्राप्त करते रहें।

१७२. हे सोम! मेरी मनोभूमि पर वर्षा करो

परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं॑, जनाय यातयन्निषः॑।

वृष्टिं दिवः परिस्त्रव॑॥ —ऋग् ९.३९.२

ऋषिः **बृहन्मतिः आङ्गिरसः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **गायत्री**।

[हे पवमान सोम!] (**अनिष्कृतं**) अपरिष्कृत को (**परिष्कृण्वन्**) परिष्कृत करता हुआ, (**जनाय**) मानव के लिए (**इषः**) अभीष्टों को (**यातयन्**) प्रयत्नोपार्जित कराता हुआ (**दिवः**) आत्मलोक से (**वृष्टिं**) आनन्द-वर्षा को (**परिस्त्रव**) परिस्रुत कर।

जब धरती वर्षा की प्यासी होती है, तब कोटि-कोटि कण्ठों से वर्षा की पुकार होती है। पर यदि भूमि पर झाड़-झँखाड़ उगे हुए हों, तो वर्षा भी बरसकर क्या करेगी? बरसेगी भी तो उन झाड़ियों को ही बढ़ाने में कारण बनेगी, अतः पहले अपरिष्कृत भू-प्रदेश को परिष्कृत करना आवश्यक होता है। फिर वृष्टि-सिक्त भूमि में बीज-वपन करते हैं। बीज अंकुरित होने के पश्चात् फिर वर्षा होकर फसल को बढ़ाती है, पनपाती है। यह तो है आकाश से होनेवाली भौतिक वर्षा की बात। पर मेरी मनोभूमि भी तो आज आध्यात्मिक वर्षा की प्यासी हो रही है। हे वर्षा के अधिपति रसागार सोम प्रभु! तुम मेरे मानस में आनन्द-रस की वर्षा करो।

किन्तु मेरी मनोभूमि में जो प्रमाद, आलस्य, तन्द्रा, उदासीनता, अनुत्साह, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का कूड़ा-करकट जमा है, पहले उसे साफ किए जाने की आवश्यकता है। हे पवित्रता-सम्पादक सोम प्रभु! तुम्हारी सहायता के बिना तो मैं अपनी अपरिष्कृत मनोभूमि को परिष्कृत करने में भी स्वयं को अशक्त पा रहा हूँ। तुम मेरे अन्दर ऐसी पवित्रता की आँधी चलाओ जो अपने साथ समस्त हृदय-मालिन्य को बहा ले जाए तथा अन्तःकरण को पूर्णतः निर्मल और परिष्कृत कर दे। तदनन्तर मुझे 'इषः' का अधिपति बनाने के लिए, मेरी मनोवांछित अध्यात्म-सम्पत्ति मुझे प्राप्त कराने के लिए, तुम अपने सहारे को अक्षुण्ण रखते हुए मुझसे प्रयत्न करवाओ, उग्र तप करवाओ। सतत् प्रयत्न और तप के परिणामस्वरूप मेरे अन्दर अहिंसा, घृति, क्षमा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, सात्त्विकता आदि अभीष्ट गुणों का अभ्युदय होगा। उसके पश्चात् ही मैं तुम्हारी दिव्य वृष्टि से सिक्त होने का अधिकारी बनूँगा। तब तुम मेरी सुपरिष्कृत तथा अभीष्ट दिव्य गुणों से अंकुरित मनोभूमि पर अध्यात्म-लोक से या आनन्दमयकोश से दिव्य आनन्द-रस की वर्षा करना। तब मेरे आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, सब अंग-प्रत्यंग उस रस से स्नात होकर नवीन स्फूर्ति और चैतन्य का अनुभव करेंगे। ताप से सन्तप्त मनुष्य शीतल वर्षा से नहाकर जिस आह्लाद का अनुभव करता है, उससे सहस्त्रगुणित आह्लाद की मुझे अनुभूति होगी। हे रस-सिन्धु पवमान सोम! अपनी शीतल, दिव्य, मन-भावनी वृष्टि से मुझे कृतकृत्य करो।

१७३. प्रभु-वर्षा की रिमझिम

श्रृण्वे वृष्टेरिव स्वनः, पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युतो दिवि॥ —ऋग् ९.४१.३

ऋषिः **मेधातिथिः काण्वः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **गायत्री**।

(**श्रृण्वे**) सुन रहा हूँ, (**शुष्मिणः**[1]) बलवान्, (**पवमानस्य**) पवित्रतादायक सोम प्रभु का (**वृष्टेः स्वनः इव**) वर्षा की रिमझिम जैसा (**स्वनः**) नाद [हो रहा है]। (**दिवि**) हृदयाकाश में (**विद्युतः**) बिजलियाँ (**चरन्ति**) चल रही हैं, चमक रही हैं।

आज मेरे आत्मलोक में बरसात छाई है। सोम प्रभु मेघ बनकर बरस रहे हैं। साधारण मेघ भी 'पवमान' होता है, क्योंकि वह पवित्रतादायक निर्मल जल की वर्षा करता है; फिर मेरे सोम प्रभु 'पवमान' क्यों न हों। उनमें तो वह पवित्रतादायक आनन्द-रस भरा है, जो आत्मा और मन के युग-युग से सञ्चित पाप को धो देता है। सोम प्रभु 'शुष्मी' हैं, बलवान् हैं, बलियों के बली हैं, अतः अपनी शरण में आनेवाले को आत्मिक बल से परिपूर्ण कर देते हैं। उनसे बरसनेवाली बल की वृष्टि निर्बल को बली, असहाय को सुसहाय और उत्साह एवं जागृति से हीन को उत्साही एवं जागरुक बना देती है। आज मैं स्पष्टरूप से अनुभव कर रहा हूँ कि शुष्मी पवमान सोम प्रभु की आनन्दमयी रिमझिम वर्षा मेरे अन्तर्लोक में हो रही है। वर्षा की रिमझिम में जो संगीत होता है, वैसा ही संगीत मेरी आत्मा में उठ रहा है। उस दिव्य संगीत में मैं अपनी सुधबुध खो बैठा हूँ। बल और आनन्द की रिमझिम के साथ-साथ शीतल, मन्द, सुगन्ध प्राण-पवन बहकर मेरे मानस में नवीनता और स्फूर्ति उत्पन्न कर रहा है। वर्षा होनेपर जैसे भूलोक पर सर्वत्र हरियाली छा जाती है, ऐसे ही मेरा अन्तर्लोक भी सत्य, न्याय, दया, श्रद्धा आदि सद्गुणों की हरियाली से हरा-भरा हो गया है। बरसात में जैसे नदियाँ पर्वतों से नीचे मैदानों में बहने लगती हैं, ऐसे ही मेरे आत्मा के उच्च शिखरों पर बरसे हुए सोम प्रभु के दिव्य रस की नदियाँ नीचे अवतरण कर मेरे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि को आप्लावित कर रही हैं। बरसाती आकाश में जैसे बिजलियाँ चमकती हैं, वैसे ही मेरे हृदयाकाश में आज दिव्यता की विद्युतें चमकार कर रही हैं। वे विद्युतें मेरे मानस को प्रकाश का सूत्र पकड़ा रही हैं। उन क्षणप्रभा विद्युतों से मैं अपने मानस में स्थायी विद्युद्-धारा को अर्जित कर रहा हूँ, जो जीवनपर्यन्त मुझे ज्योति देती रहेगी। मैं मुग्ध हूँ प्रभु-वर्षा की रिमझिम पर, मैं मुग्ध हूँ दिव्य विद्युतों की द्युति पर। हे सोम प्रभु! ऐसी कृपा करो कि यह बरसात मेरे आत्मलोक में सदा उमड़ती रहे, सदा मुझे दिव्य बलदायी रस और प्रकाश प्रदान करती रहे।

१७४. यज्ञ रचा, दान कर

न त्वा शतं चन ह्रुतो[८], राधो दित्सन्तमामिनन्[८]।
यत् पुनानो मखस्यसे[८] ॥ —ऋग् ९.६१.२७

ऋषिः **अमहीयुः आङ्गिरसः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **गायत्री**।

[हे आत्मन्!] **(राधः)** धन को **(दित्सन्तं)** दान करना चाहते हुए **(त्वा)** तुझे **(शतं चन)** सौ भी **(ह्रुतः[१])** कुटिल वृत्तियाँ व कुटिल जन **(न आमिनन्[२])** हिंसित, अर्थात् मार्गच्युत न कर पायें, **(यत्)** जब **(पुनानः)** [स्वयं को] पवित्र करता हुआ [तू] **(मखस्यसे[३])** यज्ञ रचाता है।

हे पवमान सोम! हे स्वयं को तथा मन, बुद्धि आदि को पवित्र करनेवाले सात्त्विकवृत्ति जीवात्मन्! जब तू परोपकार का यज्ञ रचाता है और अपना धन किन्हीं सत्पात्र व्यक्तियों को या संस्थाओं को दान देने का सङ्कल्प करता है, तब बहुत-सी कुटिल स्वार्थवृत्तियाँ और बहुत-से कुटिल मनुष्य तेरे उस दानव्रत की हिंसा करना चाहते हैं और तुझे दान के मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। स्वार्थवृत्ति कहती है कि सहस्र, दश सहस्र, पचास सहस्र, लाख, दो लाख रुपया तुम अन्यों को दान कर रहे हो, तो क्या स्वयं भूखे मरना चाहते हो? देखो, सब अपनी सम्पत्ति बढ़ा रहे हैं; जो सहस्रपति है वह लक्षपति बन रहा है, जो लक्षपति है, वह करोड़पति बन रहा है। उनके पास कई-कई कोठियाँ हैं, मोटरकारें हैं, सेवक हैं। क्या दान का ठेका तुमने ही लिया है? क्या तुम्हारे ही भाग्य में यह लिखा है कि तुम स्वयं तो मोटा-झोटा पहनो, रूखा-सूखा खाओ, झोपड़ी जैसे मकानों में रहो और दूसरों पर धन लुटाओ। पहले अपनी और अपने कुटुम्ब की स्थिति सुधारो, फिर अन्यों की सुध लेना। हे आत्मन्! तू उस स्वार्थ-वाणी को मत सुन। तुझे दान करने के लिए उद्यत देख कई स्वार्थी परिचित मनुष्य भी आकर मिथ्या ही आलोचना करते हैं कि तुम जिस संस्था को दान करने जा रहे हो, उसकी आन्तरिक अवस्था को भी जानते हो? उसमें सब खाऊ-पिऊ बैठे हैं, तुम्हारा दिया हुआ दान उन्हीं के पेट में जाएगा। हे आत्मन्! तू उन स्वार्थी जनों के भी कुटिल परामर्श पर ध्यान मत दे। सौ प्रकार की स्वार्थ-भावनाएँ और सौ स्वार्थी जन भी तुझे तेरे दान के सङ्कल्प से विचलित न कर सकें।

हे मेरे आत्मन्! वेद-शास्त्रों की वाणी सुन, जो तुझे दान के लिए प्रेरित कर रही है। तू अपनी कमाई में से प्रतिदिन या प्रतिमास कुछ निश्चित प्रतिशत दान-खाते में डाल और उसे लोक-कल्याण में व्यय कर। दान से दक्षिणा पानेवाले का तो हित होता ही है, उससे भी अधिक हित और मंगल दाता का होता है, यह वैदिक संस्कृति की भावना है। इसके विपरीत, "अकेला भोग करनेवाला मनुष्य पाप का ही भोग करता है"[४]।

१७५. अविवेकी जन डूब जाते हैं

अभि वेना अनूषत[८], इयक्षन्ति प्रचेतस:[८]।
मज्जन्त्यविचेतस:[७]॥ —ऋग् ९.६४.२१

ऋषि: **काश्यप:**। देवता **पवमान: सोम:**। छन्द: **विराड् गायत्री**।

(वेना:[१]) प्रभु-प्रेमी मेधावीजन **(अभि अनूषत[२])** अभिमुख होकर [पवमान सोम प्रभु की] स्तुति करते हैं। **(प्रचेतस:)** प्रकृष्ट चित्तवाले विवेकी जन **(इयक्षन्ति[३])** यज्ञ करने का सङ्कल्प करते हैं। **(अविचेतस:)** अविवेकी जन **(मज्जन्ति)** डूब जाते हैं।

सोम प्रभु पवमान हैं, जग को पवित्र करनेवाले हैं। जो मलिनता संसार में कई कारणों से उत्पन्न होती है, उसे विविध साधनों से पवित्र करनेवाले सोम प्रभु यदि न होते तो मलिनता इतनी बढ़ जाती कि प्राणियों का जीवित रहना कठिन हो जाता। वे मानव के हृदय को भी पवित्र करनेवाले हैं, परन्तु उन्हीं के हृदय को पवित्र कर सकते हैं, जो अपना हृदय पवित्र होने के लिए उन्हें देते हैं। प्रभु-प्रेमी मेधावीजन सोम प्रभु के अभिमुख हो उनके प्रति प्रणत होते हैं, उनकी स्तुति करते हैं, उनकी पावनता का गुणगान करते हैं, उन्हें आत्म-समर्पण करते हैं। परिणामत: वे 'प्रचेता:' बन जाते हैं, उनका चित्त प्रकृष्ट, पवित्र, ज्ञानमय और विवेकयुक्त हो जाता है। 'प्रचेता:' मनुष्य दीर्घद्रष्टा होते हैं। जिस यज्ञ को अन्य लोग निरर्थक समझते हैं, उन्हें वही प्यारा होता है। वह अपने जीवन में यज्ञ करने का सङ्कल्प लेते हैं। वे सोम-यज्ञ करते हैं, सोम प्रभु के नाम से यज्ञ में आहुतियाँ डालते हैं, 'सोम' प्रभु का भजन-कीर्तन करते हैं और उससे प्रेरणा पाकर स्वयं भी साक्षात् 'सोम' बन जाते हैं। उनके जीवन में सोम-सदृश ररसमयता, मधुरता और पावनता आ जाती है। 'सोम' के आदर्श को अपने सम्मुख रखते हुए वे अन्य यज्ञों का भी आयोजन करते हैं। 'सोम' प्रभु सृष्टि-यज्ञ चला रहे हैं, वे भी सर्जनात्मक कार्यों को करते हैं। 'सोम' प्रभु पालन-पोषण और पूर्ति का यज्ञ कर रहे हैं, वे भी निर्बलों का पालन करते हैं, अपुष्टों को पुष्टि देते हैं, अपूर्णों के दोषों को दूर कर उनके छिद्र भरते हैं। यज्ञमयी नौका पर चढ़कर वे भवसागर से पार हो जाते हैं, परन्तु जो 'अविचेता:' हैं, अविवेकी हैं, अल्पदर्शी हैं, वे न 'सोम' प्रभु का स्तवन करते हैं, न यज्ञ करते हैं। परिणामत: वे भवसागर में डूब जाते हैं और दुर्गति पाते हैं।

१७६. शुद्ध सात्त्विक ज्योति का जन्म

पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्।
कृष्णा तमांसि जङ्घनत्॥ —ऋग् ९.६६.२४

ऋषयः **शतं वैखानसाः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **गायत्री**।

(कृष्णा) काले **(तमांसि)** तमों को **(जङ्घनत्[१])** पुनः-पुनः अतिशय नष्ट करते हुए **(पवमानः)** पवमान सोम ने **(बृहत्)** महान् **(ऋतं)** ऋत को [तथा] **(शुक्रं[२])** शुद्ध पवित्र **(ज्योतिः)** ज्योति को **(अजीजनत्)** जन्म दिया है।

यह जगत् सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का खेल है। सत्त्व गुण लघु है और प्रकाश को लाता है। रजोगुण चल है और कार्य में प्रवृत्त करता है। तमोगुण गुरु है और क्रिया-निरोध उत्पन्न करता है। यदि रजोगुण प्रवर्तक न हो तो सत्त्व और तमस् स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार तमोगुण निरोधक न हो तो रजस् और रजस् द्वारा प्रवृत्त सत्त्व सदा ही क्रियाशील बने रहें, कभी रुकें ही नहीं। एवं तीनों गुण एक-दुसरे के सहायक होते हैं। ये तीनों जब उचित अनुपात में मिलते हैं, तब जीवन को उसी प्रकार प्रबुद्ध करते हैं, जिस प्रकार उचित अनुपात में मिट्टी, तेल, बत्ती और अग्नि मिलकर दीपक को प्रज्वलित करते हैं, किन्तु अनुपात में न्यूनता या आधिक्य होनेपर अनर्थकारी हो जाते हैं। तमोगुण का आधिक्य विशेषरूप से तामसिकता, जड़ता, मोह, अज्ञान, अविवेक आदि को उत्पन्न कर देता है। उससे मनुष्य अविद्या-ग्रस्त हो जाता है। अनित्य जगत्, देह आदि को नित्य समझना, अशुचि स्व-शरीर, कान्ता-शरीर आदि को शुचि समझना, दुःखरूप वैषयिक सुख को वास्तविक सुख समझना और अनात्म-भूत देह, इन्द्रिय आदि को आत्मा समझना ही अविद्या[३] है। हृदय में अविद्या का साम्राज्य हो जानेपर मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव सभी तामसिक हो जाते हैं। घनघोर काले तमोगुणों से आच्छन्न होकर मनुष्य दिशाभ्रष्ट हो जाता है। तमोगुण की इस काली निशा को काटनेवाला पवमान सोम के अतिरिक्त अन्य कौन है? पावक सोम प्रभु ही चाँद बनकर कृष्ण रात्रि के काले तमों को विच्छिन्न करते हैं, पुनः-पुनः अतिशय तीव्रता के साथ अपनी दिव्य किरणों के प्रहार से जर्जर करते हैं। वे न केवल तम को नष्ट करते हैं, अपितु सत्त्वगुण की पवित्र ज्योति को, सत्त्वगुण की निर्मल चन्द्रिका को भी जन्म देते हैं। सत्त्व की शुद्ध-शुभ्र ज्योति के जन्म से अन्तःकरण में 'बृहत् ऋत' का, महती ऋतम्भरा प्रज्ञा का, उदय होता है, जिससे साधक को निर्विकल्पक समाधि का आनन्द प्राप्त होता है।

हे पवमान सोम! आज मेरा यह सौभाग्य है कि तुमने मेरे हृदयान्तरिक्ष में उदित होकर तमोगुण के समस्त तमस्तोम को नष्ट-भ्रष्ट कर सत्त्व की पवित्र ज्योति को तथा महान् ऋत को जन्म दिया है। इस दिव्य जन्म पर मैं मुग्ध हूँ और मेरी कामना है कि यह मुझमें सदा के लिए स्थिर हो जाए। हे परमात्मन्! तुम सदा मेरे हृदय-गगन में चन्द्र बन चमकते रहो।

१७७. निर्भय बनूँ

यदन्ति यच्च दूरके॑, भयं विन्दति मामिह॑।
पवमान वि तज्जहि॑॥ —ऋग् ९.६७.२१

ऋषिः **मैत्रावरुणिः वसिष्ठः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **गायत्री**।

(यत्) जो **(अन्ति)** समीप **(यत् च)** और जो **(दूरके)** दूर **(इह)** यहाँ **(मा)** मुझे **(भयं)** भय **(विन्दति)** प्राप्त करता है, **(पवमान)** हे सर्वत्र-सञ्चारी, पवित्रकर्ता सोम प्रभु! **(तत्)** उसे **(वि जहि)** विनष्ट करो।

मनुष्य प्राणियों में सबसे अधिक बुद्धिमान् होता हुआ भी सबसे अधिक भयशील है। अन्य सब पशु, पक्षी, सरीसृप, कीट, पतङ्ग आदि जन्तु भयावह जङ्गलों में भी निर्भय विचरते हैं। पर मानव घर में भी भयभीत रहता है, दंश, मशक, वृश्चिक, सर्प, आधि, व्याधि, चोर, शत्रु, शासक आदि के भय से व्याकुल रहता है। ये भय आत्मविश्वास और प्रभु-विश्वास की कमी के कारण होते हैं।

मैं भी समीप के और दूर के अनेक प्रकार के भयों से घिरा हुआ हूँ। समीप में मुझे अपनी पड़ोसियों से, साथी-संगियों से, यहाँ तक कि घर के सदस्यों से भी भय लगा रहता है कि ये कहीं मेरा कुछ अनिष्ट न कर दें। अपने मन में सन्देह का बीज बोकर मैं सोचता हूँ कि कहीं ये मेरी हत्या न कर दें, मेरा धन न हड़प लें, मेरा रथ न हर लें। नींद में भी मुझे चोरों के सपने आते हैं। दूर जाता हूँ तो वहाँ भी भय पीछा नहीं छोड़ता। सोचता हूँ कहीं रेलगाड़ी न टकरा जाए, कहीं मोटरकार आदि यान दुर्घटनाग्रस्त न हो जाए, कहीं लुटेरे मुझे लूट न लें, कहीं मेरे दूर यात्रा पर आये होने के कारण मेरी अनुपस्थिति में परिवार पर कोई संकट न आ जाए। ये सब तो ऐसे भय हैं, जो व्यर्थ ही मेरे शङ्काशील मन को उद्विग्न किए रखते हैं; पर इनके अतिरिक्त कई भय सचमुच के भी होते हैं, जिनके भय का कारण वास्तव में उपस्थित होता है। उस समय भी मैं भय-कारणों का प्रतीकार करने के स्थान पर भयग्रस्त हुआ निष्कर्मा खड़ा रहता हूँ। मैं इतना भयशील हूँ कि मुझे सन्ध्या-वन्दन आदि सत्कर्म करते हुए भी भय व्यापे रहता है कि कहीं कोई मेरा उपहास न करे।

इन दूर के तथा समीप के सभी भयों को हे मेरे प्रभु! तुम्हीं दूर कर सकते हो। तुम्हारा सच्चा ध्यान मेरे अन्दर आत्म-सम्बल उत्पन्न कर सकता है। तुम 'पवमान' हो, सर्वत्र-सञ्चारी, सर्वव्यापी और अन्तःकरण को पवित्र करनेवाले हो। तुम सर्वत्र मेरे चित्त की भय-दशा को जानकर और उससे मुझे मुक्त कर पवित्र करते रहो। हे पवित्रता के देव! तुम मेरे भयों को समूल विनष्ट कर दो, जिससे फिर कभी भय मेरे मानस को आक्रान्त न कर सके। समीप और दूर के सब स्थानों को, सब दिशाओं को, मेरे लिए निर्भय कर दो।

१७८. हे सोम! हृदय-कलश में प्रवेश करो

पवस्व सोम देववीतये वृषे[१२]न्द्रस्य हार्दिं सोमधानमा विश[११]।
पुरा नो बाधाद् दुरिताति पारय[१२], क्षेत्रविद्धि दिश आहा विपृच्छते[१२] ॥

—ऋग् ९.७०.९

ऋषिः **रेणुः वैश्वामित्रः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः निचृद् **जगती**।

(सोम) हे सोम परमात्मन्! [तू] **(वृषा)** वर्षक [होता हुआ] **(देववीतये[१])** दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **(पवस्व)** प्रवाहित हो; **(इन्द्रस्य)** आत्मा के **(हार्दिं)** हृदयरूप **(सोमधानं)** सोम-कलश में **(आविश)** प्रविष्ट हो। **(बाधात्)** बाधे जाने से **(पुरा)** पहले **(नः)** हमें **(दुरिता अति)** पापाचरणों से लंघाकर **(पारय)** पार करदे। **(क्षेत्रवित्)** मार्ग का ज्ञाता **(विपृच्छते)** विशेषरूप से पूछनेवाले के लिए **(दिशः)** दिशाओं को **(आह हि)** बताता ही है।

हे रसागार सोम परमात्मन्! तुम 'वृषा' हो, रस की वर्षा करनेवाले हो। तुम दिव्यगुणों के रस के साथ मेरे अन्दर प्रवाहित होवो। तुम आत्मा के हृदयरूप सोम-कलश में आकर प्रविष्ट होवो। मेरा आत्मा न जाने कब से सोमपान के लिए उत्कण्ठित हो रहा है, उस प्यासे की तृषा दूर करो। तुम कामवर्षी हो, मेरी कामना को पूर्ण करो। तुम आनन्दवर्षी हो, मुझपर आनन्द की वर्षा करो।

कभी-कभी मेरा आत्मा 'दुरितों' से घिर जाता है। पाप-भावनाएँ उसे आगे बढ़ने से रोकती हैं। पापकर्म उसे निगलने के लिए तैयार रहते हैं। आसपास का पापमय वातावरण उसे पाप-मार्ग पर चलने के लिए प्रलोभित करता है। ऐसे समय में हे मेरे सोम प्रभु! क्या तुम खड़े देखते ही रहोगे? क्या तुम मुझे 'दुरितों' से ग्रसा जाने दोगे? क्या तुम मुझे पाप-ताप के प्रहारों से छलनी हो जाने दोगे? क्या तुम मुझे दुराचार-रूप शत्रुओं से आक्रान्त हो जाने दोगे? नहीं, तुम मेरे उद्धारक होकर आओ। इससे पहले कि 'दुरित' मेरे आत्मा पर प्रभुत्व पायें, उसे पतनोन्मुख करें, तुम त्वरित गति से मेरे पास आ जाओ और मुझे उन दुरितों से लंघाकर पार कर दो। संसार का यह नियम है कि जो 'क्षेत्रवित्' है, मार्ग का ज्ञाता है, वह पूछनेवाले को दिशा बताता ही है। तुमसे बढ़कर क्षेत्रवित्, तुमसे बढ़कर मार्गज्ञ अन्य कौन है! अतः हे मेरे सोम प्रभु! मैं तो तुम्हीं से दिशा पूछता हूँ। मैं दिग्भ्रान्त हो रहा हूँ, तुम कुतुबनुमा यन्त्र की सुई बनकर मुझे दिशा दर्शाओ। यदि तुमसे दिशा-ज्ञान न मिला, तो मेरा जीवन-पोत भवसागर में डूबकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। हे प्रभु! मुझ भूले को सही राह दिखाओ, मुझ भटके को गन्तव्य लक्ष्य पर पहुँचाओ।

१७९. त्रिविध पवित्रता

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतस्[१२], त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे[११]।
विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्य[११]त्यवा जुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्[१२] ॥

—ऋग् ९.७३.८

ऋषिः **पवित्रः आङ्गिरसः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(**ऋतस्य**) सत्य का (**गोपाः**) रक्षक (**सुक्रतुः**) शुभ प्रज्ञानों और शुभ कर्मोंवाला [सोम प्रभु] (**दभाय[१] न**) हिंसा या उपेक्षा किये जाने योग्य नहीं है। (**सः**) वह (**हृदि अन्तः**) हृदय के अन्दर (**त्री[२] पवित्रा**) तीन पवित्रों को—विचार, वचन और कर्म की पवित्राओं को (**आ दधे**) स्थापित करता है। (**विद्वान्**) विद्वान् (**सः**) वह (**विश्वा**) समस्त (**भुवना[३]**) भूतों को (**अभि पश्यति**) देखता है, (**अजुष्टान्**) अप्रिय (**अव्रतान्**) व्रतहीनों को (**कर्ते[४]**) अन्ध कूप में (**विध्यति[५]**) धकेलता है।

'सोम' परमात्मा 'ऋत' का संरक्षक और अनृत का धर्षक है। जहाँ भी वह सत्य को पाता है, उसे प्रश्रय देता है। वह 'सुक्रतु' है, शुभ प्रज्ञानों, शुभ विचारों, शुभ सङ्कल्पों और शुभ कर्मों से युक्त है और अपने सम्पर्क में आनेवाले मानवों को भी वैसा ही बनाना चाहता है, परन्तु मानव को सत्य पथ का पथिक तथा 'सुक्रतु' वह तभी बना सकता है, जब मानव उसकी शरण में जाए, उसे आत्म-समर्पण करे, उसे अपने हृदय-मन्दिर में उपास्य देव के रूप में प्रतिष्ठित करे। यदि मानव जीवन में उसकी हिंसा या उपेक्षा ही करता रहेगा, तो उससे मिलनेवाली 'सत्य' और 'शुभक्रतु' की प्रेरणा से वह वञ्चित ही रहेगा, अतः 'पावनकर्ता' सोमप्रभु किसी से कभी भी उपेक्षणीय नहीं है।

'सोम' प्रभु जब अपने उपासक को पवित्र करना चाहता है, तब उसके हृदय में तीन 'पवित्रों' को स्थापित कर देता है। वे तीन हैं विचार की पवित्रता, वाणी की पवित्रता और कर्म की पवित्रता। मनुष्य के विचार ही वाणी और कर्म के रूप में प्रतिफलित हुआ करते हैं, अतः वाणी और कर्मों को पवित्र बनाने के लिए सर्वप्रथम विचारों की पवित्रता आवश्यक है। यदि किसी मनुष्य के विचार अपवित्र हैं, मन में वह पाप-चिन्तना करता रहता है, तो वाणी या कर्म से पाप न भी करे, तो भी वेद-शास्त्र उसे पापी कहते हैं, अतः प्रभु प्रथम अपने कृपापात्र मनुष्य के मन को पवित्र करता है, फिर उस पवित्रता को क्रमशः वाणी और कर्म में भी प्रतिमूर्त कर देता है। 'सोम प्रभु' विद्वान् है, वह प्रत्येक प्राणी की गतिविधि को सूक्ष्मता के साथ देखता है। उसकी आँख से कुछ भी नहीं छिपता। अपनी विवेक-चक्षु से साधु और असाधु की पहचान कर लेता है। साधुओं को सत्कर्म में प्रोत्साहित करता है। जो व्रतहीन हैं, किसी भी शुभकर्म के सङ्कल्प से रहित हैं, अतएव जो दुर्वृत्त, अप्रिय और असेव्य हैं, उन्हें दुर्गति के अन्ध कूप में धकेलता है, दण्डित करता है। आओ, हम 'पवमान सोम' को अपने जीवन की पतवार सौंपकर मन, वचन और कर्म से पवित्र बनें।

१८०. तुम इन्द्र के सखा, हम तुम्हारे सखा

ऋजुः पवस्व वृजिनस्य हन्ता[११], ऽपामीवां बाधमानो मृधश्च[१०]।
अभिश्रीणन् पयः पयसाभि गोनाम्[१२], इन्द्रस्य त्वं तव वयं सखायः[११]॥

—ऋग् ९.९७.४३

ऋषिः **पराशरः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

[हे जीवात्मन् सोम!] (**ऋजुः**) सरल, (**वृजिनस्य हन्ता**) वर्जनीय पाप का विनाशक, (**अमीवां**) रोग को (**मृधः च**) और हिंसाओं तथा हिंसावृत्तियों को (**अपबाधमानः**) दूर करता हुआ, (**गोनां**[१]) [इन्द्रियरूप] गौओं के (**पयसा**) [ज्ञानरूप] दुग्ध के साथ (**पयः**) [अपने] रस को (**अभिश्रीणन्**[२]) मिलाता हुआ, पकाता हुआ [तू] (**पवस्व**) [हमें] पवित्र कर। (**त्वं**) तू (**इन्द्रस्य**) परमेश्वर का [सखा है, और] (**वयं**) हम (**तव**) तेरे (**सखायः**) सखा [हैं]।

हे जीवात्मन्! तुम 'पवमान सोम' हो, शुभ प्रेरणा देकर पवित्र कर सकनेवाले हो। तुम हमें पवित्र करो। तुम सांसारिक कुटिलता से प्रभावित न होकर ऋजुगामी और सरल बने रहो। तुम वर्जनीय पाप के हन्ता बनो, हमारा मन और हमारी इन्द्रियाँ यदि पाप-विचार या पापकर्म में प्रवृत्त होने लगें, तो तुम उन्हें उस पथ पर जाने से रोको। यदि समाज में वर्जनीय पाप और अपराध की वृत्ति बढ़ गई है, तो तुम उसका हनन करो। यदि हमारे मन में हिंसावृत्तियाँ जन्म ले रही हैं और यदि हम आत्महिंसा या परहिंसा में लिप्त हो गये हैं, तो तुम उन हिंसावृत्तियों और हिंसाओं को धक्का देकर हमसे दूर कर दो। हमारी ज्ञानेन्द्रियरूप गौएँ ग्राह्य-विषयरूप घास को चरकर जो दर्शन, श्रवण आदि से जन्य ज्ञान-दुग्ध मन और बुद्धि को अर्पित करती हैं, उसमें हे आत्मन्! तुम अपना रस भी मिलाओ और उसें पकाकर इन्द्रियजन्य ज्ञान को विशुद्ध तथा निर्मल कर लो। चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ तो भद्र-अभद्र सब प्रकार का दर्शन, श्रवण आदि करती हैं और भद्र-अभद्र जैसा भी ज्ञान-दुग्ध वे तुम्हें समर्पित करेंगी, उसे उसी रूप में तुम पान कर लोगे, तो तुम आधि-व्याधियों के घर बन जाओगे, अतः इन्द्रियों से आहृत ज्ञान-दुग्ध को अपने रस के मिश्रण से तथा परिपाक से परिशुद्ध करके ही स्वयं पान करो तथा अन्य ज्ञान-पिपासुओं को भी पान कराओ। अन्यथा तुम्हारे द्वारा किया हुआ ज्ञान-प्रसार वैसा ही होगा, जैसे अतिथियों को बिना छना, बिना-औटाया, तिनकों आदि से मिश्रित दूध पिलाना। उससे न पीनेवाले को तृप्ति मिलेगी, न पिलानेवाले को सन्तोष।

हे आत्मन् सोम! तुम 'इन्द्र' प्रभु के सखा हो, हम तुम्हारे सखा हैं। 'इन्द्र' के पास पहुँचने के लिए भी पहले तुमसे ही सखित्व स्थापित करना होता है। यदि हम तुम्हारे सच्चे सखा बन गये, तो अपने सखा के पास तुम हमें स्वतः ही पहुँचा दोगे। तब हम आत्मा और परमात्मा दोनों का सख्य पाकर परम संतृप्त हो जायेंगे। आओ, हे आत्मन्! हम तुम्हारे प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाते हैं।

१८१. मनोयुजा धी तथा पार्थिव और दिव्य सम्पत्ति

त्वं धियं मनोयुजं[७], सृजा वृष्टिं न तन्यतुः[८]।
त्वं वसूनि पार्थिवा[७], दिव्या च सोम पुष्यसि[८] ॥

—ऋग् ९.१००.३

ऋषिः **रेभसूनू काश्यपौ**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(सोम) हे सोम परमेश्वर! **(त्वं)** तू **(मनोयुजं)** मन से संयुक्त **(धियं)** बुद्धि और क्रिया को **(सृज)** उत्पन्न कर, **(तन्यतुः)** विद्युत् **(वृष्टिं न)** जैसे वर्षा को [उत्पन्न करती है]। **(त्वं)** तू **(पार्थिवा)** पार्थिव **(दिव्या च)** और दिव्य **(वसूनि)** ऐश्वर्यों को **(पुष्यसि[१])** पुष्ट कर।

हे सोम परमेश्वर! तुम्हारे अन्दर अपूर्व सर्जनात्मक शक्ति है, तुम सम्पूर्ण चराचर जगत् का ही सर्जन करनेवाले हो[२], अतः मेरी तुमसे प्रार्थना है कि तुम मेरे अन्दर मनःसंयुक्त 'धी' का सर्जन करो। वैदिक 'धी' में बुद्धि और क्रिया-शक्ति दोनों सम्मिलित हैं। मन का कार्य सङ्कल्प और विचार करना तथा बुद्धि का कार्य अध्यवसाय या निश्चय करना है। हमारी बुद्धि मनःसंयुक्त हो, अर्थात् हम जो कुछ निश्चय करें वह मन से सोच-विचार के उपरान्त ही करें, क्योंकि बना विचारे सहसा किया गया निश्चय प्रायः भ्रान्त होता है। इसी प्रकार हमारी क्रिया भी मनःसंयुक्त हो, अर्थात् हम कर्म भी विचारपूर्वक ही करें। जैसे विद्युत् मेघ से वृष्टि उत्पन्न करती है, वैसे ही तुम हमारे अन्दर मनःसंयुक्त 'धी' को उत्पन्न करो, 'धी' की वर्षा करो। उस 'धी' की वृष्टि से संस्नात होकर हम अपने अन्दर प्रबोध, चैतन्य, स्फूर्ति, प्रफुल्लता को अनुभव करें।

हे सोम प्रभु! तुम ऐश्वर्यशाली हो[३]! तुम मुझे पार्थिव और दिव्य दोनों प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करो। पार्थिव ऐश्वर्यों में हम तुमसे धन-धान्य, पुत्र, पशु, दुग्ध, घृत, वस्त्र, उत्तम गृह, भूमि, खेत, बाग-बगीचे आदि की समृद्धि चाहते हैं। वेद ने गृह-समृद्धि का चित्राङ्कन करते हुए कहा है कि हमारी चिरकाल तक स्थिर खड़ी रहनेवाली शाला में अश्व हों, गौएँ हों, सूनृता हो, अन्न हो, घृत हो, वत्स हों, कुमार हों, तरुण हों, दूध से भरे घड़े हों, दही के मटके हों[४]। हमारे घरों में तुम ऐसा ही चित्र ला दो। हम समृद्धिपूर्वक इस प्यारे लोक में हँसते-खेलते, नाचते-गाते दीर्घजीवन पाते हुए आगे बढ़ें। साथ में तुम हमें दैवी सम्पत् भी प्रदान करो, जिसे भगवद्गीता[५] में अभय, सत्त्व-संशुद्धि, ज्ञानयोग-व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपत्व, मार्दव, ह्री, अचापल्य, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अतिमानिता का अभाव, इन नामों से परिगणित किया गया है। इन पार्थिव और दिव्य उभयविध ऐश्वर्यों को हमें प्रदान करके तुम सदा इन्हें परिपुष्ट करते रहो, जिससे कभी ये क्षीण न हों, प्रत्युत अधिकाधिक बढ़ते ही जाएँ।

१८२. तुम्हारे रस के प्यासे

कारुरहं ततो भिषग्[८], उपलप्रक्षिणी नना[८]।
नानाधियो वसूयवो[८], ऽनु गा इव तस्थिमे[७]-
न्द्रायेन्दो परिस्रव[७]॥ —ऋग् ९.११२.३

ऋषिः **शिशुः आङ्गिरसः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **विराट् पङ्क्तिः**।

(अहं) मैं **(कारुः)** शिल्पी और गीतकार [हूँ], **(ततः)** पिता और पुत्र **(भिषग्)** वैद्य [हैं], **(नना)** माता और पुत्री **(उपलप्रिक्षिणी)** भाड़ में अन्न भूननेवाली या चक्की चलानेवाली [है]। **(वसूयवः)** धन के इच्छुक [हम] **(नानाधियः)** विभिन्न कर्मों के कर्ता [होकर] **(गाः इव)** गौओं के समान **(अनु तस्थिम)** विभिन्न स्थानों पर स्थित हैं। **(इन्दो)** हे सोम! **(इन्द्राय)** [हममें से प्रत्येक] आत्मा के लिए **(परि स्रव)** प्रवाहित हो[१]।

एक परिवार के हम विभिन्न सदस्य जीविका-उपार्जन के लिए विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए हैं। मैं स्वयं शिल्पी हूँ, लकड़ी आदि सामग्री से विविध सुन्दर कलापूर्ण वस्तुओं का निर्माण करता हूँ। साथ ही मैं सरस्वती का उपासक भी हूँ, गीत रचता हूँ। मेरी कला-कृतियाँ धनी-गरीब सबके घरों की शोभा बढ़ाती हैं। मेरे रचे गीत सहृदयों के हृदय-हार बनते हैं। कला-कृतियों का मैं मूल्य लेता हूँ, पर गीत बिन-मोल देता हूँ। मेरे पिता और मेरा पुत्र भिषक् है, उनकी ओषधि में गुण है, उनके हाथ में यश है। वे आतुरों के रोग हरते हैं, पीड़ितों का दर्द दूर करते हैं। मेरी माता और मेरी पुत्री जौ या गेहूँ को भाड़ में भूनकर और चक्की से पीसकर सात्त्विक सत्तू तैयार करती हैं। इसी प्रकार परिवार के अन्य लोग भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न कार्यों में लगे हुए ही अपने-अपने योग्य विभिन्न स्थानों पर स्थित हैं, जैसे गौएँ गोशाला में अपने नियत स्थानों पर स्थित रहती हैं। हममें से किसी का भी व्यवसाय अपवित्र या अधर्मपूर्ण नहीं है। हममें से किसी का भी उद्देश्य जिस-किसी भी शुभ या अशुभ मार्ग का अवलम्बन करके धन कमा लेना नहीं है।

यह तो हमने अपने विभिन्न जीविका के कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया है। असल में तो हम सब इस नाते एक हैं कि हम एक ही प्रभु की अमृत-सन्तान हैं। हे प्रभु! तुम 'इन्दु' हो, भक्त के हृदय को अपने आनन्द-रस से आर्द्र करनेवाले हो। तुम 'सोम' हो, रस के आधार हो। तुम 'पवमान' हो, हम नीचे खड़े हुओं की ओर प्रवाहित होनेवाले हो। हे इन्दु! तुम अपने आनन्द-रस के साथ हममें से प्रत्येक आत्मा के अन्दर परिस्रुत होवो, प्रवाहित होवो। हम सबको समानरूप से अपना रस-पान कराओ। हमारा सारा परिवार तुम्हारे रस का प्यासा है।

१८३. तू मरुस्थल की प्याऊ है

प्र ते यक्षि प्र त इयर्मि मन्म[११], भुवो यथा वन्द्यो नो हवेषु[१०]।
धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्ने[११], इयक्षसे पूरवे प्रत्न राजन्[११]॥

—ऋग् १०.४.१

ऋषिः **त्रितः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(अग्ने) हे परमेश्वर! **(ते)** तेरे लिए **(प्र यक्षि[१])** [मैं] प्रकृष्टतया आत्म-दान करता हूँ, **(ते)** तेरे लिए **(मन्म)** स्तोत्र को **(प्र इयर्मि[२])** प्रेरित करता हूँ, **(यथा)** जिससे **(वन्द्यः)** वन्दनीय [तू] **(नः)** हमारे **(हवेषु)** आह्वानों में **(भुवः[३])** संनिहित हो जाए। **(प्रत्न राजन्)** हे सनातन राजन्! **(त्वं)** तू **(इयक्षवे[४])** यज्ञ के इच्छुक **(पूरवे[५])** मनुष्य के लिए **(धन्वन्[६])** मरुस्थल में **(प्रपा इव)** प्याऊ के समान **(असि)** होता है।

हे मेरे अग्नि प्रभु! तुम राजा हो और मैं रंक हूँ। इस पद पर तुम आज नये-नये अभिषिक्त नहीं हुए हो, किन्तु सनातन राजा हो। मैं तुम्हें क्या उपहार दूँ! मुझ अकिंचन के पास यदि कुछ है भी तो वह तुम्हारा ही दिया हुआ है। तुम्हारी ही वस्तु तुम्हें कैसे दूँ? अतः मैं तो तुम्हें अपने आत्मा का ही दान कर रहा हूँ। इस आत्मार्पण के अवसर पर मुहुर्मुहुः तुम्हारे प्रति वैदिक स्तोत्रों का गान कर रहा हूँ, तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुम उपस्थित होकर मेरे स्वागत को ग्रहण करो, मेरे अभिनन्दन को स्वीकार करो।

हे वन्दनीय अग्निदेव! मैं 'इयक्षु' हूँ, मेरे मन में यज्ञ करने की उत्कट लालसा उमड़ रही है। संसार में ज्यों-ज्यों आधि-व्याधियाँ, दुःख, दारिद्र्य बढ़ रहे हैं, त्यों-त्यों यज्ञ की भी आवश्यकता बढ़ती जा रही है, अतः मैंने यज्ञ करने का सङ्कल्प किया है। मैं बाढ़, दुर्भिक्ष, भूकम्प, भुखमरी, महामारी से कराह रहे जन-समाज की सेवा का व्रत लेता हूँ। मैं व्यापक संगठन करूँगा, स्वयं-सेवक-संघ बनाऊँगा। सहायता-शिविर खोलूँगा। हमारे स्वयं-सेवक आतुरों की मरहम-पट्टी करेंगे, अन्न-हीनों को भोजन देंगे, गृह-हीनों को निवास देंगे, कर्म-हीनों को कार्य देंगे। क्या तुम पूछते हो कि सब यज्ञों के लिए धन कहाँ से आयेगा? सुनो, सङ्कल्प की दृढ़ता के आगे धनाभाव कभी बाधक नहीं होता। धन स्वयं बरसेगा। प्रभु यज्ञेच्छु के लिए मरुस्थल में प्याऊ के समान हो जाते हैं। वे स्वयं प्यासे को पानी पहुँचाने की, भूखे को भोजन पहुँचाने की, रोगार्त को औषध पहुँचाने की व्यवस्था करते हैं। मुझ 'पूरु' की, पालन-पूरण करनेवाले की भिक्षा-झोली भी वे स्वयं ही भरेंगे और मैं उनका दूत बनकर भिक्षा बाँटने के लिए द्वार-द्वार पर पहुँचूँगा। मेरा यज्ञ सफल होकर रहेगा।

१८४. हम तेरे सम्मुख मूढ़ हैं

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो[११], महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से[१०]।
शये वव्रिश्चरति जिह्वयाऽदन्[११], रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन्[११]॥

—ऋग् १०.४.४

ऋषिः **त्रितः आप्त्यः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**अङ्ग**) हे (**अमूर**) अमूढ़, (**चिकित्वः**[१]) ज्ञानी (**अग्ने**) परमेश्वर! (**मूराः**) मूढ़ (**वयं**) हम (**महित्वं**) महत्ता को (**न**) नहीं [जान पाते]। (**त्वं**) तू (**वित्से**[२]) जानता है। [हमारा] (**वव्रिः**[३]) रूपवान् आत्मा (**शये**[४]) सोया पड़ा है, (**जिह्वया**) जिह्वा [आदि इन्द्रियों] से (**अदन्**) भोग करता हुआ (**चरति**) विचरता है, (**विश्पतिः सन्**) राजा होता हुआ [भी] (**युवतिं**) प्रकृतिरूप युवति को (**रेरिह्यते**[५]) अतिशय पुनः-पुनः चाट रहा है।

हे अग्ने! हे तेजोमय ज्ञानी प्रभु! हम मूढ़ हैं, तुम अमूढ़ हो। हम तो यह भी नहीं जानते कि 'महत्ता' किसका नाम है, महत्त्व प्राप्त करना किसे कहते हैं। हम तो समझते हैं कि सांसारिक दृष्टि से महिमाशाली होना, हाथी, घोड़े, रथ, सेवक आदि का स्वामी हो जाना ही महत्ता है। हमारा तो विचार है कि नचिकेता को यम ने जिस सांसारिक धन-दौलत, पुत्र-पौत्र, भूमि के राज्य आदि सम्पत्ति के प्रलोभन में फँसाना चाहा था, उस सम्पत्ति को पा लेना ही महत्ता है। पर हम मूढ़ अज्ञानियों के ऊपर रहनेवाले अमूढ़ ज्ञानी तुम जानते हो कि सच्ची 'महत्ता' क्या है।

हमारा रूपवान् आत्मा सोया पड़ा है, उसे यही चेतना नहीं है कि मैं किसलिए इस शरीर में आया हूँ, मेरा लक्ष्य क्या है और मुझे किधर जाना है। वह जिह्वा आदि इन्द्रियों से निरन्तर भोगों को भोगने में आसक्त हुआ विचर रहा है और इस भोग भोगने में ही अपने जीवन की इतिश्री मान बैठा है। भगवान् ने उसे 'विश्पति' बनाया है, शरीर-नगरी का राजा बनाया है, जिसमें मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ आदि अनेक प्रजाएँ निवास करती हैं। उसे इस शरीर-नगरी को ईश्वरीय साम्राज्य बनाना चाहिए था, अध्यात्म-साधना द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र बनाना चाहिए था। शरीर-राष्ट्र को भोगों से जर्जर न कर सबल, सप्राण और समनस्क करना चाहिए था। पर धिक्कार है इस आत्मा को! यह तो एक 'युवति' को चाट रहा है, अतिशय पुनः-पुनः चाट रहा है। प्रकृति ही यह युवति है जो नटी बनकर आत्मा को अपने साथ नचा रही है, भोग भुगा रही है। आत्मा प्रकृति को चाट रहा है, प्रकृति आत्मा को चाट रही है। इस प्रकार आत्मा लौकिक भोग-विलासों में आनन्द ले रहा है।

हे मेरे आत्मन्! इस मूढ़ता को त्यागो, अपने अन्दर ज्ञान की ज्योति जगाओ, 'सच्ची महत्ता क्या है' इसे जानो, सोते से उठ खड़े हो, इन्द्रियों के वशवर्ती न हो, अपितु इन्द्रियों के स्वामी बनो। प्रकृति को न चाटकर परम प्रभु के अमृत-रस का आस्वादन करो। तुम्हारा उद्धार होगा, तुम महिमाशाली बन जाओगे।

१८५. आओ, हे गोपाल!

यन्नियानं न्ययनं[७], संज्ञानं यत् परायणम्[८]।
आवर्तनं निवर्तनं[८], यो गोपा अपि तं हुवे[८]॥ —ऋग् १०.१९.४

ऋषिः **मथितः यामायनः वारुणिः भृगुः, भार्गवः च्यवनो वा।** देवता **आपः गावो वा।**
छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्।**

(यत्) जो **(नियानं)** नियन्त्रण में प्रस्थान करना [और] **(न्ययनं)** नियन्त्रण में गति करना [है], **(यत्)** जो **(संज्ञानं)** परस्पर ऐकमत्य रखना, **(परायणम्)** दूर-दूर तक जाना, **(आवर्तनं)** चारों ओर चक्कर लगाना और **(निवर्तनं)** वापिस लौटाना [है, उसे तथा] **(यः)** जो **(गोपाः)** गोपाल [है], **(अपि तं)** उसे भी **(हुवे)** [मैं] पुकारता हूँ।

मैं 'गोपाल' को पुकारता हूँ। वह अपने संरक्षण में गौओं को वन में चराने ले जाता है। उन्हें घुमाता-फिराता है, आपस में लड़ने नहीं देता, प्रत्युत उनमें संज्ञान स्थापित रखता है, दूर-दूर तक दौड़ें लगवाता है, घेरे में बैठाता है, चारों ओर चक्कर लगवाता है, फिर अपने संरक्षण में ही उन्हें लौटा लाता है। यदि 'गोपाल' उनके साथ न हो, तो कोई गाय खड्ड में गिरकर लंगड़ी हो जाए, कोई सिंह या व्याघ्र की शिकार हो जाए, कोई पहाड़ से गिरकर अपनी हड्डी-पसली तुड़ा बैठे, कोई आपस में ही लड़कर सींगों से लहूलुहान हो जाए।

भाइयो! बाह्य गौओं के समान हमारे अपने शरीर के अन्दर भी गौएँ रहती हैं, वे हैं मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ[१]। वे अपने-अपने ग्राह्य विषयों के वन में चरने जाती हैं। चक्षु, जिह्वा, नासिका, श्रोत्र, त्वचा और मनरूपिणी गौओं की भक्ष्य घास क्रमशः रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और संकल्प्य विषय है। ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं को परमात्मा ने हमें सत्य की ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होने के लिए दिया है, न कि विषय-भोगों में फँसने के लिए। इन्हें श्रेष्ठ घास का ही स्वाद लेना है, विषैली घास का नहीं। 'गोपा'[२] या गोपाल इन गौओं का संरक्षक जीवात्मा है। इनपर उस 'गोपाल' आत्मा का नियन्त्रण आवश्यक है। जब ये अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने के लिए प्रस्थान करती हैं, वृत्तियों को बाहर भेजती हैं, तबसे लेकर वापिस लौटने तक इनपर उस गोपाल का संरक्षण रहना चाहिए, अतः मैं अपने 'गोपाल' को पुकारता हूँ। हे मेरे गोपाल आत्मन्! तुम इन इन्द्रियरूपिणी गौओं को अपने नियन्त्रण में ही विषयों के वन में प्रस्थान कराओ, अपने नियन्त्रण में ही इन्हें गति कराओ, अपने नियन्त्रण में ही इनमें परस्पर ऐकमत्य उत्पन्न करो, अपने नियन्त्रण में ही इन्हें भद्र विषयों को ग्रहण करने के लिए दूर-दूर तक ले जाओ, अपने नियन्त्रण में ही इन्हें जगत् की परिक्रमा कराओ और अपने नियन्त्रण में ही इन्हें सकुशल वापिस लौटाओ। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारी गोशाला की गौएँ स्वच्छ, पवित्र, परिपुष्ट बनी रहेंगी और उनका पवित्र पोषक दूध तुम्हें मिलता रहेगा।

१८६. जो अन्धे-लंगड़े को तारता है

अयं विप्राय दाशुषे[८], वाजाँ इयर्ति गोमतः।[८]
अयं सप्तभ्य आ वरं वि वो मदे[१२],
प्रान्धं श्रोणं च तारिषद् विवक्षसे[१२]॥ —ऋग् १०.२५.११

ऋषिः **ऐन्द्रो विमदः, प्राजापत्यो वा, वासुक्रो वसुकृद् वा।** देवता **सोमः।** छन्दः **आस्तारपङ्क्तिः।**

(अयं) यह [सोम प्रभु] **(दाशुषे)** विद्यादान करनेवाले **(विप्राय)** ज्ञानी ब्राह्मण के लिए **(गोमतः)** गौओं से युक्त **(वाजान्)** अन्न, धन, बल आदि **(इयर्ति[१])** प्रेरित करता है, प्रदान करता है, **(अयं)** यह **(सप्तभ्यः)** [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन-बुद्धि इन] सात ऋषियों के लिए **(वरं)** वर **(आ [इयर्ति])** प्रदान करता है [और] **(वः)** अपने **(वि मदे)** विशेष मद में [आकर] **(अन्धं)** अन्धे को **(श्रोणं च)** और लंगड़े को **(प्र तारिषत्[२])** प्रकृष्टरूप से तार देता है। [हे सोम!] तू **(विवक्षसे[३])** महान् है।

आओ, मित्रो! 'सोम' प्रभु की महिमा सुनो। सोम प्रभु जिसपर प्रसन्न हो जाता है, उसका कल्याण कर देता है। प्रसन्न वह उन्हीं पर होता है जो वर्णाश्रम-मर्यादा के अनुसार अपने कर्त्तव्य-पालन में संलग्न रहते हैं। वह विद्यादान करनेवाले ज्ञानी ब्राह्मण को धेनु, अन्न, धन, बल आदि प्रदान करता है। देखो, इन तपःपूत ज्ञानी ब्राह्मणों के अन्दर दिव्य गौएँ, अन्तःप्रकाश की दिव्य किरणें स्फुरित हो रही हैं, इनके अन्दर अदम्य आत्म-बल हिलोरें ले रहा है, बिना माँगे ही इन्हें गो-दुग्ध, अन्न, धन आदि अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हो रहे हैं। यह सब इन्हें इनके विद्यादान के प्रतिफल में सोम प्रभु ने दिया है। इसी प्रकार वह स्व-स्व-कर्त्तव्य-निरत क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को उन-उनके योग्य ऐश्वर्य से सम्मानित कर कृतार्थ करता है। इसके अतिरिक्त सप्त-ऋषियों को वह वर प्रदान करता है। शरीर के अन्दर जो पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात ज्ञान के साधन निहित हैं, ये ही सप्त-ऋषि[४] हैं, इन्हें वह अभीष्ट वर-प्रदान से निहाल कर देता है। नेत्रों को दिव्य दृष्टि-शक्ति, श्रोत्रों को दिव्य श्रवण-शक्ति, रसना को दिव्य स्वादन-शक्ति, नासिका को दिव्य घ्राण-शक्ति, त्वचा को दिव्य स्पर्श-शक्ति, मन को दिव्य सङ्कल्प-शक्ति, बुद्धि को दिव्य अध्यवसाय-शक्ति देकर कृतकृत्य कर देता है।

और भी उस सोम-प्रभु की लीला देखो। वह अन्धे-लंगड़े को भी तार देता है। अन्धे को आँखें देनेवाला, नेत्रहीन को प्रज्ञा-चक्षु देनेवाला, अज्ञानियों को ज्ञान-चक्षु देनेवाला, अविवेकियों को विवेक की आँख देनेवाला वही है। वही लंगड़े को पैर प्रदान करता है, साधनहीन के भी समीप लक्ष्य-सिद्धि के साधन जुटा देता है। उसकी कृपा होनेपर अन्धा चक्षुष्मान् से अधिक और विकल चरणवाला अविकल चरणवाले से अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है—**जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधेरे को सब कछु दरसाई।** हे सोम प्रभु! तुम महान् हो, सचमुच महान् हो।

१८७. विकलांगों के प्रति सद्भाव रख

यस्यानक्षा दुहिता जात्वास[१०], कस्तां विद्वाँ अभिमन्याते अन्धाम्[११]।
कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते[११], य ईं वहाते य ईं वा वरेयात्[११]॥

—ऋग् १०:२७.११

ऋषिः **ऐन्द्रो वसुक्रः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(यस्य) जिसकी **(दुहिता)** पुत्री **(जातु)** कदाचित् **(अनक्षा)** बिन आँखों की **(आस)** हो जाती है, [तो] **(कः विद्वान्)** कौन विद्वान् **(तां)** उसे **(अन्धां)** अन्धी **(अभिमन्याते)** मानता है। **(कतरः)** कौन **(तं प्रति)** उसके प्रति **(मेनिं)** वज्र **(मुचाते[१])** छोड़ता है, **(यः)** जो **(ईं वहाते[२])** इसके भार को वहन करता है **(यः वा)** या जो **(ईं वरेयात्[३])** इसे वरता है, इससे विवाह करता है?

क्या तुम किसी विकलांग को देखकर सहानुभूति से द्रवित होने के स्थान पर कठोर हो जाते हो? क्या तुम सोचते हो कि विधाता ने इसे हाथ, पैर, अंगुलि, आँख, जिह्वा, श्रोत्र आदि किसी अंग से विकृत करके कष्ट भोगने के लिए ही सृजा है? यदि तुम्हारा अपना कोई सम्बन्धी विकलांग होता, तो भी क्या तुम उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करते? किसी अन्धे, काने, लूले, लंगड़े, बहरे, कुष्ठी आदि को देखकर तुम्हारी आँखें भर क्यों नहीं आतीं, हृदय दयार्द्र क्यों नहीं होता, ममता क्यों नहीं उद्वेल्लित होने लगती, सहायता की भावना क्यों नहीं बल लाती? तुम सहानुभूति प्रदर्शित करने के स्थान पर उल्टा अन्धे को अन्धा कहकर पुकारते हो और कटे पर नमक छिड़कते हो। क्या तुम उसे बेटा, भैया या बाबा सूरदास नहीं कह सकते? क्या तुम्हें पंगु को लंगड़दीन कहने में ही आनन्द आता है?

देखो, यदि किसी की पुत्री बिना आँखोंवाली होती है, तो क्या वह उसे अन्धी कहकर पुकारता है? नहीं, उसके लिए तो वह 'रानी बेटी' ही होती है। उसकी उस अन्धी पुत्री के भार को यदि कोई वहन करता है और उसका पाणिग्रहण करता है, तो क्या उसके प्रति उसके नेत्र सजल नहीं हो जाते और उसे वह साधुवाद नहीं देता? क्या वह उस सहायक के प्रति वाणी से वज्रपात करता है? क्या वह उसे बुरा-भला कहता है? क्या वह उसे मारने के लिए हाथ में वज्र उठाकर दौड़ता है? नहीं, वह तो उसका माथा चूमता है और उसे शत-शत धन्यवाद देता है। ऐसा ही व्यवहार क्या उसे किसी दूसरे की पुत्री को अन्धी देखकर नहीं करना चाहिए? ऐसा ही दयालुता का बर्ताव क्या उसे अन्य किसी अंग से विकल भाई, बहन, पुत्री आदि को देखकर नहीं करना चाहिए?

अतः आओ, आज से विकलांगों की सहायता का व्रत लें। किसी भी विकलांग को देखकर उसके प्रति ममत्व की भावना मन में जागृत करें। स्वयं से व्यक्तिगतरूप में जो भी हो सके, उसके लिए करें और उसे समाज एवं राष्ट्र से भी सहायता दिलाने का प्रयत्न करें। विकलांगों के लिए आतुरालय, शिक्षणालय आदि खुलवाकर उनके प्रति जो हमारा ऋण है, उससे अनृण हो।

१८८. मनुष्य का कर्त्तव्य

परि चिन्मर्तो द्रविणं ममन्याद्[११], ऋतस्य पथा नमसा विवासेत्[११]।
उत स्वेन क्रतुना संवदेत[११], श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्[११]॥

—ऋग् १०.३१.२

ऋषिः **कवयः ऐलूषः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**मर्तः**) मनुष्य (**द्रविणं**) बल और धन को (**चित्**) निश्चय ही (**परिममन्यात्**[१]) प्राप्त करना चाहे। [वह] (**ऋतस्य**) सत्य के (**पथा**) मार्ग से (**नमसा**) नमन के साथ (**विवासेत्**) पूजा करे। (**उत**) और (**स्वेन क्रतुना**) अपने ही प्रज्ञान से—अपनी ही अन्तरात्मा से (**संवदेत**) अनुकूलता स्थापित करे। (**श्रेयांसं**) श्रेयस्कर (**दक्षं**[२]) सबल त्वरित निर्णय को (**मनसा**) मन से (**जगृभ्यात्**[३]) ग्रहण करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह 'द्रविण' प्राप्त करे। 'द्रविण' बल का नाम है, क्योंकि बल के द्वारा ही हम किसी वस्तु को पाने के लिए और किसी शत्रु से आत्मरक्षा करने के लिए उसकी ओर दौड़ते हैं। 'द्रविण' धन का भी नाम है, क्योंकि धन के प्रति सब दौड़ लगाते हैं[४]। बल से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार का बल तथा धन से भौतिक एवं आध्यात्मिक उभयविध धन ग्राह्य है। अपने जीवन में इनका प्रत्येक मनुष्य सञ्चय करे। मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य है कि वह परमात्मा की पूजा करे। संसार के सभी आस्तिक जन अपने मन में परमात्मा का कोई रूप कल्पित कर लेते हैं तथा उसकी पूजा का भी अपनी रुचि के अनुकूल कोई मार्ग चुन लेते हैं। परमात्मा के उन कल्पित रूपों तथा पूजा के उन मार्गों में से कौन-सा रूप और कौन-सा मार्ग सत्य है, इसके विवेक की आवश्यकता है। हमें देखना होगा कि ईश्वर-पूजा के नाम से हम कहीं किसी ऐसे मिथ्या आडम्बर में तो नहीं फँस गए हैं, जो ईश्वर से तो कोसों दूर है ही, समाज को भी पतन के गर्त में ले जानेवाला है? मनुष्य सत्य मार्ग का अवलम्बन कर नमन और नमस्कार के साथ सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर अभय, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की पूजा करे।

मनुष्य का तीसरा कर्त्तव्य यह है कि वह अन्तरात्मा की वाणी को सुने। जीवन में अनेक ऐसे समय आते हैं, जब मनुष्य संशयों से घिर जाता है तथा कर्त्तव्य-निश्चय नहीं कर पाता। साथी-संगियों के तथा जिन्हें वह अपना बड़ा और हितचिन्तक मानता है, उनके परामर्श भी उसके सन्देहों को नहीं काट पाते। ऐसे समय मनुष्य अपने आन्तरिक प्रज्ञान की सहायता ले, अन्तरात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करे। सच्चे अन्तःकरण से निकली आवाज उसका मार्गदर्शन करेगी। अन्तरात्मा की आवाज को सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था से पार होकर वह सबल त्वरित निर्णय पर पहुँचे तथा उसे क्रियारूप में परिणत करे।

१८९. अनुशासन का भद्र प्रकार

अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट्[१०], स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः[१०]।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्य[११], उत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्[१०]॥

—ऋग् १०.३२.७

ऋषिः **कवषः ऐलूषः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **पङ्क्तिः**।

(अक्षेत्रवित्) अक्षेत्रज्ञ **(क्षेत्रविदं)** क्षेत्रज्ञ से **(हि)** ही **(अप्राट्[१])** पूछता है। **(क्षेत्रविदा)** क्षेत्रज्ञ से **(अनुशिष्टः)** उपदेश किया हुआ **(सः)** वह **(प्र एति)** प्रकृष्ट दिशा में चल पड़ता है। **(एतत्)** यह **(वै)** ही **(अनुशासनस्य)** अनुशासन का **(भद्रम्)** श्रेष्ठ प्रकार [है]। [इसी मार्ग से मनुष्य] **(अञ्जसीनाम्[२])** अर्थव्यञ्जिका वेदवाणियों के **(स्रुतिम्[३] उत)** मार्ग को भी **(विन्दति)** प्राप्त कर लेता है।

क्या तुम 'अनुशासन' का श्रेष्ठ प्रकार जानना चाहते हो ? जो जिस क्षेत्र का विद्वान् होता है, वह उस क्षेत्र का 'क्षेत्रवित्' कहाता है और जिसका उस क्षेत्र में प्रवेश नहीं होता, वह उस क्षेत्र की दृष्टि से 'अक्षेत्रवित्' है। उस क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त करने के लिए अक्षेत्रवित् मनुष्य क्षेत्रवित् के पास जिज्ञासाभाव से पहुँचता है और उससे प्रश्न करता है। क्षेत्रवित् से अनुशिष्ट होकर वह ज्ञानी हो जाता है और उस ज्ञान को क्रियारूप में भी परिणत करता हुआ प्रकृष्ट दिशा में चल पड़ता है। यही अनुशासन या उपदेश का श्रेष्ठ प्रकार है। इस अनुशासन-विधि का विश्लेषण करने पर शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम बात यह सामने आती है कि जिस विषय का ज्ञान प्राप्त करना हो, उस विषय के 'क्षेत्रवित्' या विशेषज्ञ के ही पास जाना चाहिए, अपरिपक्व ज्ञानवाले के पास नहीं। दूसरी बात है 'अक्षेत्रवित्' का स्वयं ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से समित्पाणि होकर गुरु के पास पहुँचना। अ-जिज्ञासु उपदेश का अधिकारी नहीं है। तीसरी बात है प्रश्नोत्तर के माध्यम से ज्ञान-प्रदान, अर्थात् जिज्ञासु का प्रश्न करना और शिक्षक द्वारा पूछे गए प्रश्नों का समाधान किया जाना, न कि शिक्षक द्वारा बलात् शिष्य पर ज्ञान का थोपा जाना। चौथी बात है गृहीत ज्ञान को आचरण में भी लाना। यही अनुशासन, शिक्षण या उपदेश का सही वैदिक मार्ग है। इस मार्ग से अनुशासन होनेपर विविध विद्याओं के गम्भीर-से-गम्भीर रहस्य जिज्ञासु के सम्मुख स्पष्ट हो सकते हैं। वेदवाणी के अन्दर जो वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ छिपे हुए हैं और जिन जीवन-मार्गों का उपदेश वेद देते हैं, उन्हें आत्मसात् करने की भी यही विधि है।

अध्यात्म-दृष्टि से सर्वज्ञ परमात्मा क्षेत्रवित् है और अल्पज्ञ जीवात्मा अक्षेत्रवित्। परमात्मा के पास आत्मा के सब प्रश्नों का समाधान है। आवश्यकता इसकी है कि आत्मा जिज्ञासु बनकर उससे पूछे। हे क्षेत्रवित् परमेश्वर! तुम गुरुओं के गुरु हो, हमारे भी गुरु बनो, तुम्हारा अनुशासन ही हमें सन्मार्ग पर चला सकता है।

१९०. मेरी हालत पर तरस खाओ

सं मा तपन्त्यभितः⁷, सपत्नीरिव पर्शवः⁸।
निबाधते अमतिर्नग्नता जसुर्¹², वेर्न वेवीयते मतिः⁸॥

—ऋग् १०.३३.२

ऋषिः **कवषः ऐलूषः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृद् बृहती**।

(पर्शवः) पार्श्व अस्थियाँ, पसलियाँ **(सपत्नीः इव)** एक पति की अनेक पत्नियों के समान **(अभितः)** दोनों ओर से **(मा)** मुझे **(सं तपन्ति)** संतप्त कर रही हैं। **(अमतिः)** मतिहीनता, **(नग्नता)** नग्नता, [और] **(जसुः[1])** दुर्बलता, मृत्यु **(निबाधते)** पीड़ित कर रही है। **(वेः न)** पक्षी [की मति] के समान **(मतिः)** '[मेरी] मति **(वेवीयते[2])** अतिशय काँप रही है।

हे भगवन्! देखो तो, मैं क्या-से-क्या हो गया! तुमने राजा बनाकर मुझे इस देहरूप अयोध्यापुरी में भेजा था। पर राजा होना तो दूर रहा, मैं तो दीन-हीन-दरिद्र होकर निवास कर रहा हूँ। एक समय ऐसा अवश्य था, जब मैं उन्नति के शिखर पर आसीन था। जहाँ कहीं मैं निकल जाता था, वहाँ मेरा स्वागत होता था, सब दुर्जन मुझसे थर-थर काँपते थे और सब सुजन मुझे अपने मध्य पाकर प्रफुल्ल हो जाते थे। पर आज तो मेरी अपनी पार्श्व-अस्थियाँ ही मुझे चुभ रही हैं, जैसे एक पति की अनेक पत्नियाँ उसे सन्तप्त करती हैं। मुझे मतिहीनता ने घेर लिया है, अविचारशीलता ने अपने पंजे में कस लिया है। जहाँ मैं किसी समय मतिमानों में अग्रणी माना जाता था, वहाँ अब अविवेक और किंकर्तव्यविमूढ़ता से ग्रस्त हूँ। नग्नता भी अपने पैर फैला रही है। जहाँ मैं भौतिक सम्पत्ति से नग्न हो गया हूँ, वहाँ मेरी आध्यात्मिक सम्पत्ति भी लुट गई है। शारीरिक और मानसिक दुर्बलता भी पीड़ित कर रही है। शरीर से चला नहीं जाता, गिर-गिर पड़ता हूँ। मन मर गया है, उत्साह समाप्त हो गया है, इच्छा-शक्तियाँ और महत्त्वाकांक्षाएँ किनारा कर गई हैं।

जैसे सामने बहेलिये को देखकर पक्षी की मति काँपने लगती है, वैसे ही अपने ही सम्मुख मृत्यु को नाचता देखकर मेरी मति भी काँप रही है। शारीरिक मौत और आध्यात्मिक मौत का नग्न ताण्डव मेरे आगे हो रहा है। मैं उससे त्राण पाने के लिए आकुल हो रहा हूँ, पंख फड़फड़ा रहा हूँ, बेचैनी से करवटें बदल रहा हूँ। हे प्रभु! इस दुरवस्था से, इस भीषण परिस्थिति से, मेरा उद्धार कर दो। तुम्हारे अतिरिक्त इस समय कोई साथी दृष्टिगत नहीं हो रहा। तुम्हीं रक्षक हो, तुम्हीं खिवैया हो, तुम्हीं मंझधार से पार करानेवाले हो। हे प्रभु! मेरी हालत पर तरस खाओ, मुझे अपनी शरण में ले लो।

१९१. शत्रु-पराजय

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुता[११], ऽदेव इन्द्र युधये चिकेतति[११]।
अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्[१२], त्वया वयं तान् वनुयाम संगमे[१२] ॥

—ऋग् १०.३८.३

ऋषिः **मुष्कवान् इन्द्रः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(पुरुष्टुत इन्द्र) हे बहु-स्तुत परमात्मन्! **(यः)** जो **(दासः)** दस्यु **(वा)** अथवा **(आर्यः)** आर्य **(अदेवः)** अदेव [बनकर] **(नः)** हमें **(युधये)** युद्ध के लिए **(चिकेतति[१])** जानता है—युद्ध का पात्र बनाता है, **(ते)** वे **(शत्रवः)** शत्रु **(अस्माभिः)** हमसे **(सुषहाः)** सुपराजेय **(सन्तु)** हों। **(त्वया)** तेरे द्वारा, तेरी सहायता से **(वयं)** हम **(संगमे[२])** संग्राम में **(तान्)** उन्हें **(वनुयाम[३])** विध्वस्त कर दें।

हमारा जीवन संग्राममय है, संघर्षों से ओतप्रोत है। हिमालय की कन्दरा में जाकर भी संघर्षों से बचा नहीं जा सकता। हमें चारों ओर से युद्ध की ललकार मिल रही है। जो दस्युजन हैं, जो किसी को शान्ति और चैन से बैठने देना नहीं चाहते, जिनके मन में सज्जनों के प्रति विरोध और दौर्मनस्य की भावनाएँ घर किये हुए हैं, वे तो हमारा युद्ध के लिए आह्वान करते ही हैं, किन्तु कभी-कभी शिष्ट आर्यजन भी अदिव्यता का चोगा पहनकर, पाशविक वृत्ति को अपनाकर हमें युद्ध का निमन्त्रण देते हैं। इस प्रकार क्या दास, क्या आर्य, सबसे ही हमें भय है। जगत् में किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। क्या जाने, आज जो आर्यत्व की वंशी बजाता है, कल वही अदेव बनकर हमारे प्राणों का प्यासा हो जाए।

जब ऐसी विकट स्थिति में हम पड़े हुए हैं, तब हमें अपने अन्दर बल सञ्चित करना होगा, संग्रामों से जूझने के लिए शक्ति का स्रोत बनना होगा। आत्मिक, मानसिक और शारीरिक बलों से अनुप्राणित होना होगा, मुष्कवान् इन्द्र ऋषि बनना होगा। अन्यथा काल के थपेड़ों से, दस्युजनों और अदेव बने आर्यजनों के आघातों से, हम चकनाचूर हो जायेंगे। कहीं हम यह न समझ लें कि अकेला शस्त्र-बल इन संग्रामों से हमारा त्राण करेगा, शस्त्र-बल और शास्त्रबल, क्षत्रबल और ब्रह्मबल, दोनों का भण्डार हमें अपने पास भरना होगा। कुछ शत्रुओं को हम क्षत्रबल से पराजित कर सकेंगे, पर कुछ का पराजय ब्रह्मबल से ही हो सकेगा। शत्रु-पराजय के लिए हमें शक्ति के पुञ्ज परम-प्रभु का सहारा पकड़ना होगा। उसके सखित्व को पाकर हम समस्त रिपुगणों को, चाहे वे मानवरूपधारी दस्यु हों, चाहे आन्तरिक कामादि षड्रिपु हों, हम पराजित और विध्वस्त करने में सफल हो सकेंगे।

हे परमशक्तिशाली परमेश्वर! तुम हमारे युद्धों का नेतृत्व करो, तुम हमारे अग्रनेता बनो और विश्व के समस्त रिपुओं को हमारे वशवर्ती करके हमें विजयी बनाओ। हम तुम्हारे चिर ऋणी रहेंगे।

१९२. मेरी भी झोली भर दो

किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः[११], शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि[११]।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र[११], वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः[११]॥

—ऋग् १०.४२.३

ऋषिः **कृष्णः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(अङ्ग मघवन्) हे ऐश्वर्यवान् परमात्मन्! **(किं त्वा)** क्यों तुझे **(भोजम्[१])** दानी **(आहुः)** कहते हैं। **(मा)** मुझे **(शिशीहि[२])** तीक्ष्ण कर, **(त्वा)** तुझे **(शिशयं[३])** तीक्ष्णकर्ता **(शृणोमि)** सुनता हूँ। **(शक्र)** हे शक्तिशालिन्! **(मम)** मेरी **(धीः)** बुद्धि **(अप्नस्वती[४])** कर्मयुक्त **(अस्तु)** हो। **(इन्द्र)** हे इन्द्र प्रभु, **(नः)** हमारे लिए **(वसुविदं)** निवासप्रद **(भगम्)** ऐश्वर्य **(आभर)** प्राप्त करा।

हे सब धनों के धनी ऐश्वर्यशाली परमात्मन्! तेरी महिमा का गान करनेवाले सन्तों से मैं सुनता हूँ कि तू बड़ा दानी है, तेरे पास से कोई याचक रिक्त-हस्त नहीं लौटता, जो कोई जो कुछ तुझसे माँगता है, उसकी झोली तू उस वस्तु से भर देता है। पर मैं तो तुझे दानी तब समझूँ, जब तू मुझे भी अपने दान से कृतकृत्य कर दे।

मैं तुझसे पहली वस्तु यह माँगता हूँ कि तू मुझे तीक्ष्ण कर दे, क्योंकि मैंने सुना है कि तू कुण्ठितों को तीक्ष्ण और पैना किया करता है। मैं जंग लगे लोहे के समान न पड़ा रहूँ, किन्तु तू मुझे चमचमाती तीक्ष्णधार तलवार के समान सुतीव्र कर दे, जिससे कोई भी आन्तरिक या बाह्य शत्रु मुझे आक्रान्त करने का साहस न कर सके। हे शक्ति के पुञ्ज! मेरी दूसरी याचना तुझसे यह है कि मेरी बुद्धि को कर्मवती बना। उन्नति के आकाश में उड़ने के लिए मनुष्य के पास ज्ञान और कर्मरूप दो पंख हैं। बुद्धि या बुद्धि के बल से प्राप्त विद्या तबतक अकिंचित्कर होती है, जबतक उसके साथ कर्म नहीं मिल जाता। ऋषियों ने कहा है कि जो अकेले कर्म के उपासक हैं, वे घोर अन्धकार में पड़ते हैं और जो अकेली विद्या या बुद्धि के उपासक हैं वे उससे भी अधिक घोर अन्धकार में जाते हैं। अतः जीवन में दोनों का समन्वय श्रेयस्कर है। बुद्धि से हम जो ज्ञान अर्जित करें, उसके अनुसार आचरण भी करें।

हे इन्द्र! तुम भगवान् हो, अतः तीसरी वस्तु जिसकी मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ! वसुविद् भग है, अर्थात् ऐसा धन जो बसानेवाला हो, न कि उजाड़नेवाला। मैं तो देखता हूँ कि संसार में अनेकों व्यक्ति धनों के स्वामी होकर उजड़ते हैं, वे भोगों को नहीं भोगते, अपितु भोग उन्हें भोगते हैं। ऐसा धन मैं नहीं चाहता। मैं तो ऐसे धन की कामना करता हूँ, जो मुझे सच्चा भोक्ता बनाए। जो दीनों पर बरसे, जो मेरा गौरव बढ़ाये, जो मेरे यश का हेतु बने, जो मेरे अन्दर सद्गुणों का आधान करे, जो मेरे अन्दर सबकुछ लाकर बसा दे। हे मघवन्! हे शक्र! हे इन्द्र! मैं भिक्षु बनकर तेरी सम्मुख झोली पसार रहा हूँ, मेरी झोली भर दे।

१९३. अमति, क्षुधा और निर्धनता दूर करें

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां[११], यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्[११]।
वयं राजभिः प्रथमा धना[१०]न्य स्माकेन वृजनेना जयेम[११]॥

—ऋग् १०.४२-४४.१०

ऋषिः **कृष्णः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्।**

(पुरुहूत) हे बहुस्तुत इन्द्र परमेश्वर! **(प्रथमाः वयं)** श्रेष्ठ हम लोग **(गोभिः[१])** वेदवाणियों से तथा गोदुग्ध, गोघृत आदि से **(दुरेवाम्)** दुराचार में प्रवृत्त करानेवाली **(अमतिं)** अमति को, [तथा] **(यवेन)** जौ से **(विश्वां)** समस्त **(क्षुधं)** भुखमरी को **(तरेम)** दूर करें, [और] **(राजभिः)** राज्याधिकारियों के सहयोग से, [तथा] **(अस्माकेन)** अपने **(वृजनेन[२])** बल से **(धनानि)** धनों को **(जयेम)** जीत लेवें।

हे पुरुहूत इन्द्र! हे बहुतों से पुकारे जानेवाले सम्राट् परमेश्वर! जीवन में हमें जिन अनेक समस्याओं से उलझना पड़ता है, उन्हें सुलझाने में तुम सदा हमारे सहायक होते हो। तुम्हारी प्रेरणा हमारे सम्बल का काम करती है, अतः स्वभावतः हम तुम्हें पुकारते हैं, किन्तु तो भी हम यह नहीं चाहते कि तुम हमें पंगु बनाकर स्वयं हमारे सब कार्यों को सिद्ध कर जाओ। हमें शक्ति दो कि हम स्वयं अपनी त्रुटियों को भरें और अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करें। हमारे सम्मुख प्रमुख समस्याएँ हैं अमति, क्षुधा और निर्धनता की।

जब हमारे किन्हीं व्यक्तियों में या हमारे समाज में अमति या अविद्या घर कर लेती है, तब हम कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक को खोकर दुराचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं और हमारा पतन होने लगता है। इस 'दुरेवा अमति' को हम वेदवाणियों के अध्ययन से, वेदों में विद्यमान मति, मेधा और प्रज्ञा की प्रेरणाप्रद सूक्तियों से, दूर कर दें। साथ ही अमति को नष्ट करने के लिए गोदुग्ध, गोघृत आदि का भी सेवन करें। यदि हमारा समाज क्षुधा और भुखमरी से पीड़ित हो तो हम यव आदि अन्नों को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करें। वेद में ओषधियों के पाँच वर्ग कहे गये हैं। सोम-वर्ग, दर्भ-वर्ग, भङ्ग-वर्ग, यव-वर्ग और सहस्-वर्ग[३]। यव-वर्ग में यव, व्रीहि, माष, तिल, मुद्ग, चने, प्रियंगु, अणु, श्यामाक, नीवार, गेहूँ, मसूर आदि सब अन्न आ जाते हैं[४]। इनकी कृष्टि को प्रोत्साहन देकर हम भूखों का पेट भरें। तीसरी वस्तु निर्धनता है, जिस पर हमें विजय पानी है। हमारा लक्ष्य है स्वयं को और अपने राष्ट्र को समृद्ध बनाना। हम समृद्धिशील होने के लिए स्वयं भी उद्योग करेंगे और राजकीय सहायता भी लेंगे। हे इन्द्र! हमें बल दो कि हम 'प्रथम' बनें, श्रेष्ठ बनें और अमति, क्षुधा, निर्धनता आदि को अपने राष्ट्र से निर्वासित करने में समर्थ हों।

१९४. उषाओं के आगे चमकनेवाला राजा

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां[११], मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः[११]।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा[११], विभात्यग्र उषसामिधानः[१०]॥

—ऋग् १०.४५.५

ऋषिः **वत्सप्रिः भालन्दनः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्।**

(**श्रीणां**) शोभाओं का (**उदारः**[१]) उत्पन्न करनेवाला, (**रयीणां**) ऐश्वर्यों का (**धरुणः**) धारण करानेवाला, (**मनीषाणां**) बुद्धियों का (**प्रार्पणः**) प्रदाता, (**सोमगोपाः**) आत्मारूप सोम का या सौम्यता आदि गुणों का रक्षक, (**वसुः**) निवासप्रद, (**राजा**) राजा (**सहसःसूनुः**) बल का पुत्र [अग्नि परमेश्वर] (**इधानः**[२]) चमकता हुआ (**अप्सु**) जलों में [और] (**उषसां**) उषाओं के (**अग्रे**) आगे-आगे (**विभाति**) भासित होता है।

आओ, हम 'अग्नि' राजा की, तेजोमय प्रभु-राजा की, शरण में जायें। वह राजा कैसा है, उसकी कैसी निराली शान है, वह अपनी प्रजा को क्या देता है, यह भी वेद के शब्दों में सुन लें। वह साधक के अन्दर श्री को, अर्थात् आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक परम शोभा को उत्पन्न करनेवाला है। वह ऐश्वर्यों का, समस्त स्पृहणीय धन-सम्पत्तियों का, धारण करनेवाला है। जब मनुष्य के कुसंगति आदि में पड़ जाने से उसके पास से एक-एक करके सत्य-अहिंसा आदि सम्पत्तियाँ बिखरने लगती हैं, तब वह उसे जागरुक करके उसकी उन सम्पत्तियों का धारक बनता है। वह मानव की भौतिक सम्पत्ति को भी उसके पास धृत रखने में निमित्त बनता है, उसे दरिद्र नहीं होने देता। वह मनीषाओं का, मन की अभीप्साओं का, स्फुरणाओं का, प्रतिभाओं और बुद्धियों का प्रकृष्ट दाता है। वह 'सोमगोपा' है, आत्मारूपी सोम का रक्षक है। साथ ही वह 'सोम' शब्द से सूचित होनेवाली सौम्यता, समस्वरता, अन्तःप्रेरणा, शान्ति, ज्ञान की अमृतमयी धारा आदि का भी रक्षक है। वह 'वसु' है, उजड़ते हुए को बसानेवाला है, बसे हुए के निवास को दृढ़ करनेवाला है। वह 'सहस्' का 'सूनु' है, साहस, मनोबल, आत्म-बल आदि का पुत्र या पुतला है।

अन्धकार को विच्छिन्न करनेवाली चमकीली उषाएँ प्राची में प्रतिदिन उदित होती हैं, क्या ये स्वयं अपनी शक्ति से चमक रही हैं? नहीं, इन्हें चमकानेवाला वही अग्निस्तूप परमेश्वर है। सूक्ष्म आँख से देखने पर वही अपनी दिव्य चमक से चमकता हुआ उषाओं के आगे-आगे चलता है और अन्तरिक्षस्थ जलों में जो विद्युत् विद्योतित होती है, वह भी जल की अपनी द्युति नहीं है, परमात्माग्नि ही विद्युत् को भी भासमान कर रहा है। उपनिषद् के ऋषि ने ठीक कहा है—"न उसके सम्मुख सूर्य अपनी कुछ चमक रखता है, न चाँद-तारे कुछ चमक रखते हैं, न बिजलियाँ कुछ चमक रखती हैं, न भौतिक अग्नि चमक रखती है। उसी की चमक में से थोड़ी-सी चमक लेकर ये सब चमक रहे हैं, उसी की आभा से यह जगत् भासमान है, '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**[३]।' आओ, उषाओं और विद्युतों के आगे चमकनेवाले उस राजा से हम भी थोड़ी-सी चमक प्राप्त कर लें।

१९५. उल्लासमय वातावरण

इयं मे नाभिरिह मे सधस्थम्[११], इमे मे देवा अयमस्मि सर्वः[११]।
द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्य[११], इदं धेनुरदुहज्जायमाना[११]॥

—ऋग् १०.६१.१९

ऋषिः **नाभा नेदिष्ठो मानवः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(इयं) यह [पृथिवी] **(मे नाभिः[१])** मेरी नाभि [है], **(इह)** इसमें **(मे)** मेरा **(सधस्थं[२])** स्थिति-स्थान [है]। **(अयं)** यह [मैं] **(सर्वः)** सर्वरूप **(अस्मि)** हूँ। **(द्विजाः)** ब्राह्मण **(अह)** निश्चय ही **(ऋतस्य)** सत्य ज्ञान के **(प्रथमजाः[३])** श्रेष्ठ प्रचारक [हो रहे हैं]। **(जायमाना)** उत्पन्न होती हुई **(धेनुः)** विद्यारूपिणी कामधेनु **(इदं)** इस [ज्ञानरस-रूप दूध को] **(अदुहत्)** दे रहीहै।

मैं आज अपनी स्थिति को और चारों ओर के वातावरण को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यह पृथिवी मेरी माता है, यह मेरी नाभि है, नाभि के समान मुझ शिशु को अपने से बाँधनेवाली है। यह माता मुझे क्या नहीं देती ? मुझे अन्न, फल, रस, ओषधि, रजत, हिरण्य, हीरे, मोती, सबकुछ देकर मेरा पालन करती है। इसमें मेरा 'सधस्थ' है, मेरा स्थिति-स्थान है, मेरी गोद है। इसी की गोद में हम पले हैं, खेले-कूदे हैं, बढ़े हैं। इसी की गोद में हमने घर बसाये हैं। ये जो चारों ओर 'देव' दिखाई दे रहे हैं, ये सब मेरे हैं। ये सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत्, अग्नि, पर्जन्य, समुद्र, पर्वत, नदी, सरोवर सब मेरे हैं, समाज के ये व्रतनिष्ठ तपस्वी गुरुजन, उपदेशक, साधु, संन्यासी आदि विद्वद्-देव सब मेरे हैं, सब मेरी सहायता के लिए तत्पर हैं। मैं 'सर्व' हूँ, सबका केन्द्र-बिन्दु हूँ, सर्वोपरि हूँ, सर्वशक्ति का भण्डार हूँ, सर्वरूप हूँ, सर्वमय हूँ। मेरे अन्दर सब देव स्थित हैं, वायुदेव प्राण होकर नासिका में प्रविष्ट हैं, अग्निदेव वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हैं, सूर्यदेव चक्षु बनकर नेत्रों में प्रविष्ट हैं, दिशाएँ श्रवण-शक्ति होकर कानों में प्रविष्ट हैं, ओषधि-वनस्पतियाँ लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हैं, चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट है[४]। द्विजगण सत्यज्ञान के श्रेष्ठ प्रचारक हो रहे हैं। उन्होंने विद्यारूपिणी कामधेनु को उत्पन्न किया है, जो सहस्र धाराओं में ज्ञानरस-रूप दूध को दे रही है। इस कामधेनु के अमृततुल्य पय का पान कर सब पृथिवी-माता के पुत्र ज्ञानी और कर्त्तव्यपालक हो गये हैं।

हे पृथिवी-मातः! हे विश्वेदेवाः! हे द्विजगण! हे कामधेनु! तुम सब सदा मुझे अपने लाभों को प्रदान करते रहो।

१९६. अङ्गिरस ऋषियों की राष्ट्र-सेवा

य उदाजन् पितरो गोमयं वसु[१२], ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्[१२]।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु[११], प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः[१२]॥

—ऋग् १०.६२.२

ऋषिः **नाभा नेदिष्ठो मानवः**। देवता **विश्वेदेवाः अङ्गिरसो वा**। छन्दः **जगती**।

(पितरः[१]) पालनकर्ता **(ये)** जो **(गोमयं वसु)** गौ-रूप धन को **(उदाजन्[२])** [गुफा से] बाहर निकाल लाते हैं और **(परिवत्सरे)** वर्षभर **(ऋतेन)** सत्य द्वारा **(वलं)** वलासुर को **(अभिन्दन्)** छिन्न-भिन्न करते हैं, **(तेभ्यः)** उन तुम्हारे लिए **(अङ्गिरसः)** हे अङ्गिरस ऋषियो! **(दीर्घायुत्वं)** दीर्घायुष्य **(अस्तु)** हो। **(सुमेधसः)** हे शुभ मेधावालो! [तुम] **(मानवं)** मानव को **(प्रतिगृभ्णीत[३])** ग्रहण कर लो, आश्रय में ले लो।

हमारे राष्ट्र की गौएँ हरी गई हैं, उन्हें वलासुर ने ले-जाकर अपनी गुफा में छिपा लिया है। गौएँ वेद में सम्पत्ति और प्रकाश की प्रतीक हैं। जो राष्ट्र पहले समृद्ध, विद्या के प्रकाश से परिपूर्ण, चतुर्मुखी उन्नति से सम्पन्न तथा सब देशों का शिरोमणि था, वही अब श्री-विहीन और दुर्गतिग्रस्त हो गया है। ऐसे विकट समय में अङ्गिरस ऋषि सामने आते हैं। 'अङ्गिरस' वे हैं, जिन्होंने अङ्गारों पर तप किया है, जिन्होंने परार्थ होम करने के लिए यत्नपूर्वक अपने अङ्ग-रस को सञ्चित किया है[४], जिनमें बलिदान की भावना कूट-कूटकर भरी है, जो देश को पुनः पूर्ववत् गौरव के शिखर पर आसीन करने के स्वप्न अपने मन में संजोये हुए हैं। सूर्य-किरणरूण गौएँ भी मेघरूप वलासुर के कारागार से अन्ततः मुक्त होती ही हैं, इसी प्रकार सैकड़ों वलासुरों के द्वारा अपने अधिकार में की हुई हमारे राष्ट्र की नैतिक और भौतिक श्री की गौएँ भी मुक्त होकर रहेंगी। हमारे तत्त्वदर्शी वीर अङ्गिरस ऋषियों ने अपहर्ताओं के कारागार को छिन्न-भिन्न कर राष्ट्र की गौओं का उद्धार करने का सङ्कल्प ले लिया है और ये पूर्णतः संघर्ष के लिए कटिबद्ध हो गये हैं। तन, मन, धन, वाणी सबकुछ इन्होंने इसके लिए अर्पित कर दिया है। देखो, काले बादल छटने लगे हैं, वलासुर की गुफा टूट रही है, गौएँ रम्भाती हुई बाहर निकल रही हैं। पूरे वर्षभर के भीषण संग्राम के पश्चात् यह फल सामने आ रहा है। हे सुमेध अङ्गिरस ऋषियो! हे पालनकर्ताओ! हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं। भगवान् तुम्हें दीर्घायुष्य प्रदान करे, तुम जुग-जुग जियो और हम मानवों को सदा अपना आश्रय देते रहो। गौओं से परिपूर्ण हुआ यह सुखी राष्ट्र तुम्हारा स्वागत कर रहा है, इसे स्वीकार करो।

१९७. ईश-महिमा

अग्निर्दाद् द्रविणं वीरपेशा[१०], अग्निर्ऋषिं यः सहस्रा सनोति[११]।
अग्निर्दिवि हव्यमाततानाऽ[१०], ऽग्नेर्धामानि बिभृता पुरुत्रा[१०]॥

—ऋग् १०.८०.४

ऋषिः **सौचीकः अग्निः, वैश्वानरो वा, सप्तिः वाजंभरो वा।** देवता **अग्निः।**

छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः।**

(**वीरपेशाः**[१]) वीर स्वरूपवाला (**अग्निः**) परमेश्वर (**द्रविणं**) धन और बल (**दात्**) प्रदान करता है। (**अग्निः**) परमेश्वर (**ऋषिं**) ऋषि [प्रदान करता है], (**यः**) जो (**सहस्रा**[२]) सहस्रों [ज्ञान] (**सनोति**[३]) देता है। (**अग्निः**) परमेश्वर (**दिवि**) आकाश में (**हव्यं**[४]) जल को (**आततान**) [मेघरूप में] विस्तीर्ण करता है। (**अग्नेः**) परमेश्वर के (**धामानि**) धाम (**पुरुत्रा**) सर्वत्र (**बिभृता**[५]) स्थित [है]।

आओ, भाइयो! 'अग्नि' का महिमागान करें, अग्नितुल्य ज्योतिर्मय प्रभु के महिमामय गुणों एवं कार्यों का वर्णन करें। वह प्रभु 'वीरपेशाः' है, वीर स्वरूपवाला है। वीर उसे कहते हैं जो विशेषरूप से शत्रुओं को प्रकम्पित करनेवाला एवं विक्रमशील हो[६]। प्रभु हमारे समस्त बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं को प्रकम्पित करता है, अतएव महान् विक्रमी है। वह हमें 'द्रविण' देता है, सर्वविध धन-धान्यादि ऐश्वर्य एवं बल प्रदान करता है। यह अभिमान मत करो कि कृषि, व्यापार आदि से धन का उपार्जन तथा व्यायाम, पौष्टिक भोजन आदि से बल का उपार्जन तो हम स्वयं करते हैं। जिस धन का अर्जयिता तुम स्वयं को समझ रहे हो, उसे प्रभु ने पहले ही प्रकृति में बखेरा हुआ है और जिस बल का सञ्चयकर्ता तुम स्वयं को मान रहे हो, वह बल सङ्कट के समय निस्तेज हो जाता है, यदि प्रभु मनों में बल का सञ्चार न करें।

अग्नि प्रभु हमें ऐसे युग-निर्माता ऋषि प्रदान करता है, जो अपनी आध्यात्मिक धाराओं से समस्त विश्व को आप्लावित कर देते हैं, जो अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सबकुछ हस्तामलकवत् साक्षात् कर लेते हैं, संसार का मार्गदर्शन करते हैं और सहस्रों ज्ञान प्रदान करते हैं। अग्नि प्रभु का यह चमत्कार भी देखो कि वह आकाश में मेघरूप जल को विस्तीर्ण करता है। नियमितरूप से सागर, नदी-सरोवर आदि का जल सूर्य के ताप से वाष्प बनकर ऊपर पहुँच मेघाकार हो जाता है और वह वृष्टि के रूप में पुनः हमें प्राप्त हो जाता है, यह सब उस प्रभु की लीला सचमुच अपरम्पार है। साथियो! देखो, अग्नि प्रभु के धाम सर्वत्र स्थित हैं। वह किसी एक धाम में नहीं रहता, किन्तु ब्रह्माण्ड के सभी धामों में उसका निवास है। उसके तेजरूपी धाम भी सर्वत्र विद्यमान हैं। आओ, उस प्रभु से हम प्रार्थना करें, उसकी वन्दना करें और उसके उपकारों का स्मरण करते हुए उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करें।

१९८. मैं अभागा ही रहा

अभागः सन्नप परेतो अस्मि[११], तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः[११]।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळा[१०], ऽहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि[११]॥

—ऋग् १०.८३.५

ऋषिः **मन्युः तापसः**। देवता **मन्युः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(प्रचेतः) हे प्रकृष्ट चित्तवाले **(मन्यो)** मन्युमान् परमेश्वर! **(तविषस्य[१] तव)** तुझ महान् के **(क्रत्वा)** प्रज्ञा और कर्म का **(अभागः सन्)** भागी न होता हुआ **(अप परेतः अस्मि)** [मैं तुझसे] दूर हट गया हूँ। **(अक्रतुः अहं)** प्रज्ञाहीन और कर्महीन मैंने **(तं त्वा)** उस तुझको **(जिहीड[२])** क्रुद्ध कर दिया है। **(स्वा तनूः)** [मेरा] अपना शरीरभूत [तू] **(बलदेयाय)** बल प्रदान करने के लिए **(मा)** मुझे **(एहि)** प्राप्त हो।

हे परमेश्वर! तुम साक्षात् मन्यु हो, मन्यु के मूर्तरूप हो। मन्यु के अन्दर प्रज्ञा और कर्म दोनों समाविष्ट होते हैं। प्रथम सत्य-असत्य को विवेकपूर्वक जानना और फिर कर्मण्य बनकर सत्य की रक्षा और असत्य के उन्मूलन के लिए उग्रभाव से कटिबद्ध हो जाना, यह मन्यु को धारण करने का प्रभाव होता है, जो तुम्हारे अन्दर कूट-कूटकर भरा हुआ है। बिन्दुमात्र मन्यु को धारण करनेवाले तो अन्य लोग भी हैं, पर तुम 'महान्' हो। अपने मन्युत्व का गुण तुम उन सांसारिक जनों को भी बाँटते हो, जो मन्युमान् होने की अभीप्सा करते हैं। पर मैं अभागा ही रहा, मेरे हिस्से में तुम्हारा मन्युमय ज्ञान और मन्युमय कर्म लेशमात्र भी नहीं आया। इसमें तुम बाँटनेवाले का कुछ दोष नहीं, दोष तो मेरा है, जो मन्यु को पाने के लिए मचल कर तुमसे लिपट न गया। तुम मन्यु के भण्डार और मैं निपट मन्युहीन, हम दोनों का साथ कैसे बनता? परिणामतः मैं तुमसे बहुत दूर होता चला गया। अपनी आँखों के सामने ही अधर्म और अनाचार होते देखकर भी मेरे मन में प्रतिरोधक सङ्कल्प नहीं उठते, पाशविकता का नग्न नृत्य होते देखकर भी मेरी भुजाएँ नहीं फड़कतीं। मेरी विचार और कर्म की इस कायरता ने तुम्हें कुपित कर दिया। तुम मेरे प्रति भी मन्यु से उद्दीप्त हो उठे हो। शायद तुम सोचते हो कि मुझ-जैसे मन्युहीन को जीने का भी क्या अधिकार है, जो व्यर्थ ही भूमि के भार को बढ़ा रहा है। पर हे भगवन्! अपने कोप को शान्त करो, मुझे कृपा की कोर से देखो, तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। तुमने बड़े-बड़े मन्युहीनों को मन्यु देकर उबारा है। मुझे भी मन्यु का बल प्रदान करने के लिए आओ, मैं तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ।

१९९. विजय-घोष

एको बहूनामसि मन्यवीळितो[१२], विशं विशं युधये संशिशाधि[११]।
अकृत्तरुक् त्वया युजा वयं[१०], द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे[१२]॥

—ऋग् १०.८४.४

ऋषिः **मन्युः तापसः**। देवता **मन्युः**। छन्दः **भुरिक् त्रिष्टुप्**।

(मन्यो) हे मन्युमान् परमेश्वर तथा राजन्! [तू] **(एकः)** अकेला **(बहूनां)** बहुतों का **(ईडितः)** स्तुतिपात्र **(असि)** है। **(विशं विशं)** प्रजा-प्रजा को **(युधये)** युद्ध के लिए **(सं शिशाधि[१])** संतीक्ष्ण कर। **(अकृत्तरुक्[२])** हे अच्छिन्न दीप्तिवाले! **(त्वया युजा)** तुझ सहायक [को पाकर] **(वयं)** हम **(विजयाय)** विजय के लिए **(द्युमन्तं)** तेजस्वी **(घोषं)** घोष **(कृण्महे)** करते हैं।

हे मन्युमान् राजन्! तुम अकेले बहुत-सी प्रजाओं के स्तुतिपात्र बनते हो। राष्ट्र में सम्पादित किये गये तुम्हारे सत्कर्मों से रीझकर अनेक राष्ट्रवासी तुम्हारा यशोगान करते हैं, तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं, तुम्हें बधाई देते हैं। हे राष्ट्र के उन्नायक! राष्ट्र को सङ्कट से बचाने के लिए तुम राष्ट्र में सैनिक शिक्षा को अनिवार्य कर दो, एक-एक प्रजा को युद्ध के लिए संतीक्ष्ण करो। तुम भी अच्छिन्न दीप्तिवाले बनो, जिससे तुम सहायक को पाकर हम विजय के लिए देदीप्यमान, गगनभेदी विजयघोष आकाश में गुँजा दें। इस प्रकार हम विजयी हों और हमारे राष्ट्र की विजय-पताका सज-धज के साथ आकाश में फहराती रहे।

इसके अतिरिक्त हमें अपने आन्तरिक राष्ट्र को भी विजयी बनाना है। हे मन्युमान् परमात्मन्! तुम हमारे अध्यात्म-राष्ट्र के राष्ट्रपति हो। तुम एक हो, तुम्हारे समकक्ष कोई अन्य नहीं है, अतएव तुम अनेकों से स्तुति पाते हो, अनेकों के पूजापात्र बनते हो, अनेकों साधक तुम्हारा कीर्तिगान करते हैं। हे भगवन्! हमारे अध्यात्म-राज्य में युद्ध का सङ्कट उपस्थित हो गया है। पाशवी वृत्तियाँ दैवी वृत्तियों को दबाना चाह रही हैं। इस विकट घड़ी में यदि तुम हमारे अन्दर की मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ आदि प्रत्येक प्रजा को युद्ध में शिक्षित नहीं करोगे, तो हम निश्चय ही धराशायी हो जायेंगे, अतः शरीर की प्रत्येक प्रजा को, शरीर के अङ्ग-अङ्ग को, तुम प्रचण्ड योद्धा बना दो; संग्राम-कुशल कर दो। हे प्रभु! तुम 'अकृत्तरुक्' हो, अखण्ड ज्योतिवाले हो, अध्यात्म-संग्राम में तुम हमारे सहायक बनो। तुम सच्चे सहायक को पाकर हम फूले नहीं समायेंगे। हमारी दैवी सेना आसुरी सेना को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जायेगी और ऐसा उच्च विजय-घोष करेगी कि असुर सैनिकों के दिल बैठ जायेंगे, वे हतोत्साह होकर चीत्कार करते हुए रणभूमि में ही गिरकर सदा के लिए सो जायेंगे। हमारी दैवी सेना विजयी होगी, अध्यात्म-राज्य निष्कण्टक होकर विकसित होगा, फूले-फलेगा। एक दिन आयेगा जब सारा विश्व अध्यात्म-राष्ट्र बन जायेगा। हे मन्युमान् जगदीश्वर! वह दिन शीघ्र लाओ।

२००. तुझे ही हृदय में धारण करते हैं

परि त्वाग्ने पुरं वयं, विप्रं सहस्य धीमहि।
धृषद्वर्णं दिवे दिवे, हन्तारं भङ्गु रावताम्॥

—ऋग् १०.८७.२२

ऋषिः **पायुः भारद्वाजः**। देवता **रक्षोहा अग्निः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**सहस्य**१) हे साहस बढ़ानेवाले (**अग्ने**) तेजोमय परमात्मन्! (**पुरं**२) पूर्णता की ओर ले-जानेवाले, पालनकर्ता (**विप्रं**) ज्ञानी, (**दिवे दिवे**) प्रतिदिन (**धृषद्वर्णं**) धर्षक स्वरूपवाले [और] (**भङ्गु रावताम्**) भञ्जनशीलों के (**हन्तारं**) हन्ता (**त्वा**) तुझे (**वयं**) हम (**परिधीमहि**३) [हृदय में] परिधारण कर लेते हैं।

इस जगत् में सुख-दुःख, सम्पत्-विपद् की भूलभुलैयों में पड़ा हुआ मानव किसी पथ-प्रदर्शक के बिना स्वयं को बड़ा असहाय अनुभव करता है तथा किसी सहायक की शरण पकड़ना चाहता है। पर ऐसा कोई सहायक उसके काम नहीं आ सकता, जो स्वयं ही पथ से भटका हुआ तथा असहाय हो, अतः हम तो उस महा-सहायक, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तुझ तेजःस्वरूप एवं तेजःप्रदाता परमेश्वर को सहायकरूप में हृदय में परिधारण करते हैं।

हे अग्निस्वरूप, जनाधिनायक परमात्मन्! तुम 'सहस्य' हो, हमें मार्ग में आनेवाली विपदाओं की चिन्ता न करते हुए आगे बढ़ते जाने का साहस प्रदान करनेवाले हो, हमारे अन्दर छिपी हुई शक्ति को स्मरण कराकर हमारा बल बढ़ानेवाले हो। तुम 'पुर' हो, पूर्णता की ओर ले-जानेवाले और पालनकर्ता हो। हम अबोध-अज्ञानी मनुष्य स्वयं तो यह भी नहीं जान पाते कि पूर्णता है कहाँ और उसकी ओर ले-जानेवाली राह कौन-सी है। तुम प्रकाशस्तम्भ बनकर हमें पूर्णता का मार्ग दर्शाते हो और हमें परिपूर्ण बनाकर हमारा पालन करते हो। तुम 'विप्र' हो, ज्ञानी हो, सर्वज्ञाता हो। तुम संसार के कोने-कोने को जानते हो और हमारे जीवन की समस्त गतिविधियों का भी ज्ञान रखते हो। जब हम तुम्हारे सर्वज्ञता के स्वरूप का ध्यान करते हैं, तब अनेक दुर्व्यसनों एवं पापों से हम स्वतः ही बच जाते हैं। तुम 'धृषद्वर्ण' हो, धर्षक स्वरूपवाले हो। जो संसारीजन या संसारी भाव हम सन्मार्गगामियों को भयभीत करने आते हैं, उन्हें तुम धर्षित कर देते हो। न केवल कभी-कभी, किन्तु प्रतिदिन तुम्हारा यह क्रम प्रवृत्त रहता है।

हे जगदीश्वर! तुम भञ्जनशीलों के हन्ता हो, जो घात-पात, हिंसा-उपद्रव मचानेवाले दुष्टजन और हमारे उत्साह को तोड़नेवाले दुर्भाव जीवन में हमें पीड़ित करने आते हैं, उन्हें तुम अपनी पूरी शक्ति से विध्वस्त कर देते हो। हे देव! ऐसे अद्भुत सामर्थ्यशाली तुम्हें हम अपने हृदय में परिधारण करते हैं। तुम हमारे पथप्रदर्शक बनकर हमें मार्ग दिखाओ, नेता बनकर हमारा नेतृत्व करो।

२०१. सबका अधीश्वर

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या[११], इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्[११]।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणाम्[११], इन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः[१०]॥

—ऋग् १०.८९.१०

ऋषिः **रेणुः वैश्वामित्रः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**इन्द्रः**) इन्द्र प्रभु (**दिवः**) द्यु-लोक का (**ईशे**) अधीश्वर है, (**इन्द्रः**) इन्द्र प्रभु (**पृथिव्याः**) पृथिवी का [अधीश्वर है], (**इन्द्रः**) इन्द्र प्रभु (**अपां**) नदियों का [अधीश्वर है], (**इन्द्रः**) इन्द्र प्रभु (**वृधां**) समृद्धों का [अधीश्वर है], (**इन्द्रः इत्**) इन्द्र प्रभु ही (**मेधिराणां**[१]) मेधावियों का [अधीश्वर है]। (**इन्द्रः**) इन्द्र प्रभु (**क्षेमे**[२]) क्षेम के निमित्त [और] (**इन्द्रः**) इन्द्र प्रभु (**योगे**[३]) योग के निमित्त (**हव्यः**[४]) पुकारने योग्य है।

क्या तुम भगवान् के साम्राज्य-विस्तार को जानते हो? हम छोटे-छोटे राज्यों में बँटे हुए मानव उसके विस्तीर्ण साम्राज्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। ब्रह्माण्ड के एक छोटे-से पिण्ड इस भूमण्डल का भी कोई एक मानव अधिपति नहीं है, किन्तु इसमें सैकड़ों राज्य हैं। वे राज्य भी स्थिर नहीं हैं, किन्तु बनते-बिगड़ते और खण्डों-उपखण्डों में विभक्त होते रहते हैं। आज कोई भूखण्ड किसी एक राजा के अधीन है, तो कल किसी दूसरे की अधीनता में चला जाता है। ऐसी स्थिति में हम विराट् ब्रह्माण्ड के उस चक्रवर्ती सम्राट् परब्रह्म परमेश्वर के विशालतम साम्राज्य को भला क्या अनुभव कर सकते हैं।

भाइयो! वह परमेश्वर द्युलोक का भी अधीश्वर है और पृथिवीलोक का भी। द्युलोक भी कहने में तो एक लोक के समान भले ही प्रतीत हो, पर असल में उसमें अनन्त लोक विद्यमान हैं। जिसके महत्त्व से हम सुपरिचित हैं, उस सूर्यलोक के अतिरिक्त असंख्यों नक्षत्रलोक भी उसमें देदीप्यमान हो रहे हैं, अतः जब हम कहते हैं कि परमेश्वर द्युलोक का स्वामी है, तब हमारी दृष्टि इस ओर जानी चाहिए कि वह द्युलोकवर्ती अगणित दीप्तिमय पिण्डों का महान् शासक है। द्युलोक का अधिक चमत्कार तो हम दूरवीक्षण-यन्त्र से भी नहीं देख पाते, पर पृथिवी की विलक्षण सृष्टि तो बहुत-कुछ हमारी आँखों के सामने है। अखिल चामत्कारिक पदार्थों से परिपूर्ण यह पृथिवी ही उस दिव्य शासक के शासन की महत्ता को बताने के लिए पर्याप्त है। उदाहरणार्थ हम मेघों, पर्वतों और नदियों पर ही सूक्ष्मतया दृष्टिपात कर लें, तो उसके साम्राज्य की गरिमा को हृदयङ्गम कर सकते हैं।

वह प्रभु धनिकों का भी अधीश्वर है और मेधावियों का भी। विपुल-से-विपुल धनों से स्वामी धन-प्राप्ति के लिए उसीके ऋणी हैं। विपुल-से-विपुल मेधावाले मेधा-प्राप्ति के लिए उसीके द्वार पर जाते हैं। वही सर्वाधीश्वर प्रभु योग और क्षेम के लिए सबसे पुकारने योग्य है। उसीसे हमें 'योग' अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति होती है, वही क्षेम, अर्थात् प्राप्त का रक्षण कर सकता है, अतः आओ, उसी सकलाधिपति, सर्वनियन्ता प्रभु के साम्राज्य के सदस्य होते हुए हम उसके आदेशों का पालन करें तथा उसकी सच्ची प्रजा कहलाने के अधिकारी बनें।

२०२. इन्द्र सबसे महान् है

प्राक्तुभ्य इन्द्रः प्र वृधो अहभ्यः[११], प्रान्तरिक्षात् प्र समुद्रस्य धासेः[११]।
प्र वातस्य प्रथसः प्र ज्मो अन्तात्[११], प्र सिन्धुभ्यो रिरिचे प्र क्षितिभ्यः[११]॥

—ऋग् १०.८९.११

ऋषिः **रेणुः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**इन्द्रः**) परमैश्वर्यवान् प्रभु (**अक्तुभ्यः**[१]) रात्रियों से (**प्र**) महान् है, (**अहभ्यः**) दिनों से (**प्र वृधः**) महान् है, (**अन्तरिक्षात्**) अन्तरिक्ष से (**प्र**) महान् है, (**समुद्रस्य**) समुद्र की (**धासेः**[२]) कुक्षि से (**प्र**) महान् है। (**वातस्य**) वायु के (**प्रथसः**[३]) यश और विस्तार से (**प्र**) महान् है, (**ज्मः**[४]) पृथिवी के (**अन्तात्**) अन्त से (**प्र**) महान् है, (**सिन्धुभ्यः**) नदियों से (**प्र**) महान् है और (**क्षितिभ्यः**[५]) मनुष्यों से (**प्र रिरिचे**[६]) महान् है।

वेदों में इन्द्र नाम से स्मरण किये परमैश्वर्यशाली प्रभु की महिमा महान् है। कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की काली और चाँदनी रात्रियों को, उनमें प्रतिदिन नवीन-नवीन रूप में उदित होते हुए चन्द्रमा को और आकाश में छिटकी हुई तारकावलि को देखकर कौन मुग्ध नहीं हो जाता? पर मेरे इन्द्र की महिमा रात्रियों से भी महान् है। रात्रि के पश्चात् प्राची में आकाश की कालिमा को चीरती हुई उषा का और उषा के अनन्तर सूर्य का दर्शन होता है। सूर्य की ज्योति ही दिन का निर्माण करती है। दिन प्राणिमात्र को प्राण प्रदान करता है, कर्मों में व्यापृत करता है, जीवन में सफलताएँ लाता है। पर मेरे इन्द्र की महिमा दिनों से भी महान् है। अन्तरिक्ष की ओर देखो, जहाँ पवन बहता है, बादल बनते हैं, बिजलियाँ चमकती हैं, जो अमृत बरसाता है। पर मेरे इन्द्र की महिमा अन्तरिक्ष से भी महान् है। समुद्र की ओर भी दृष्टिपात करो, जो जल का अथाह पारावार है, जो नदियों का आश्रय है, जो पर्जन्य को जल का दान करता है, जिसकी कुक्षि में रत्न भरे पड़े हैं। पर मेरे इन्द्र की महिमा समुद्र से भी महान् है।

वायु के वेग, विस्तार और यश की ओर भी निहारो। वह निरन्तर चलता रहता है, कभी श्रान्त नहीं होता। वह सर्वत्र व्याप्त है, वह प्राण का स्रोत है, वह जीवन का आधार है, वह गन्धवह है, वह यश से यशस्वी है। पर मेरे इन्द्र की महिमा वायु से भी महान् है। पृथिवी की ओर भी नेत्र-सञ्चार करो। यह सब प्राणियों की माता है, यह वनस्पतियों की अंकुरण-स्थली है, इसके गर्भ में सोने-चाँदी की खानें हैं, इसके अन्दर अमृत के स्रोत हैं, यह अन्नदात्री है, धनदात्री है। पर मेरे इन्द्र की महिमा पृथिवी से भी महान् है। नदियों की महिमा भी नयनगोचर करो। ये हिममय शिखरों से निकल भूमि पर प्रवाहित होती हैं और धरा को अमृततुल्य जल से सींचकर सस्य-श्यामला बनाती हैं। पर इन्द्र की महिमा नदियों से भी महान् है। फिर मनुष्य को देखो, यह कैसा विलक्षण हाड़-मांस का पुतला है, जो सोचता-विचारता है, सङ्कल्प करता है, निश्चय करता है, ऐसे-ऐसे निर्माण और आविष्कार करता है, जिन्हें देख मानव-बुद्धि पर चकित हो जाना पड़ता है। पर इन्द्र की महिमा मानव से भी महान् है। आओ, हम उस इन्द्र के प्रति नतमस्तक हों और उसकी महिमा के गीत गाएँ।

२०३. तू अकेला ही

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुर्[१२], अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित्[११]।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद्[१२], द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः[१२]॥

—ऋग् १०.९१.३

ऋषिः **अरुणो वैतहव्यः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् जगती**।

(अग्ने) हे तेजस्वी परमेश्वर! [तू] **(दक्षैः)** बलों से **(सुदक्षः)** सुबली [और] **(क्रतुना)** प्रज्ञा तथा कर्म से **(सुक्रतुः)** सुप्रज्ञ तथा सुकर्मा **(असि)** है। **(काव्येन)** काव्य से **(कविः)** कवि [और] **(विश्ववित्)** सर्वज्ञ **(असि)** है। **(यानि)** जिन्हें **(द्यावा च पृथिवी च)** द्युलोक और पृथिवीलोक **(पुष्यतः)** परिपुष्ट करते हैं [उन] **(वसूनां)** वसुओं का [तू] **(वसुः)** निवासक [है]। **(त्वं)** तू **(एकः इत्)** अकेला ही **(क्षयसि)** निवास करता है।

हे अग्ने! हे तेजस्वी परमेश्वर! तेरी गुण-गाथा का मैं कहाँ तक गान करूँ! तेरे महान् गुण-कर्मों की सूची इतनी लम्बी है कि उसका वर्णन कर सकना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। फिर भी तेरी कुछ विशेषताओं का गान करके मैं अपने आत्मा को पवित्र और धन्य कर रहा हूँ।

हे परमपिता परमेश्वर! तुम दक्षों से 'सुदक्ष' बने हुए हो। दक्ष शब्द में दक्षता आत्मबल, चातुर्य, किसी भी कार्य को तदुचित निपुणता के साथ करने की शक्ति, वृद्धि आदि विविध बल संगृहीत हैं। तुम इन समस्त बलों से सुबली बने हुए हो। तुम्हारे ये बल शुभ हैं, मनुष्य के उपकारक हैं, किसी को उद्वेजित करनेवाले नहीं हैं। हे देवाधिदेव! तुम 'क्रतु' से 'सुक्रतु' हो। वैदिक क्रतु शब्द में ज्ञान, मेधा, प्रज्ञा, कर्म, यज्ञ, सङ्कल्प आदि अर्थ निहित हैं। शुभ क्रतुवाले होकर तुम जन-जन को अपने उस क्रतु से लाभान्वित कर रहे हो।

हे जगदीश्वर! तुम अपने काव्य से कवि बने हुए हो। काव्य वह कहलाता है जिसे सुनकर मनुष्य का तन-मन-आत्मा झूम उठे, रस से आप्लुत हो उठे। तुम्हारा वेदकाव्य ऐसा ही चामत्कारिक है। तुम्हारे उस वेदकाव्य का एक-एक मन्त्र, एक-एक पद ऐसे अर्थ-वैविध्य को लिये हुए है, ऐसे अधिभूत, अधिदैवत, अध्यात्म आदि अर्थों को मानस-पटल पर उतारनेवाला है कि वैसा काव्य संसार में दुर्लभ है। हे सकल जगत् के स्रष्टा! तुम 'विश्ववित्' हो, सर्वज्ञ हो, तुमसे किसी के मन की बात छिपी नहीं रहती, तुम्हें संसार के किसी भी कोने में घटित होनेवाली घटना अविदित नहीं रहती, किसी के द्वारा किये गये कोई भी कर्म अज्ञात नहीं रहते। सर्वज्ञ होकर ही तुम सकल आध्यात्मिक एवं भौतिक जगत् का नियन्त्रण और सञ्चालन कर रहे हो।

हे द्यावापृथिवी के अधिष्ठाता! द्युलोक और पृथिवीलोक में जो 'वसु' विद्यमान हैं, अद्भुत सम्पत्तियाँ निहित हैं, उन सबके निवासक भी तुम्हीं हो। स्वर्ण-रजत आदि की खानें, रत्नाकारों के विविध रत्न, अन्य अनेक-विध खनिज पदार्थ सब तुम्हारी ही महिमा से स्थित होते हुए हमारे उपकारक बने हुए हैं। हे राजाधिराज! तुम्हारे विषय में एक अद्भुत बात यह भी है कि तुम 'एक' ही हो, बिन किसी सहायक के अकेले सारे विश्व का सर्जन, नियमन, पालन आदि करते हो। हे प्रभु! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है।

२०४. ब्राह्मण वैद्य

यत्रौषधीः समग्मत॑, राजानः समिताविव॑।
विप्रः स उच्यते भिषग्॑, रक्षोहाऽमीवचातनः॑॥

—ऋग् १०.९७.६

ऋषिः **आथर्वणः भिषग्।** देवता **ओषधयः।** छन्दः **अनुष्टुप्।**

(यत्र) जहाँ **(ओषधीः)** ओषधियाँ **(समग्मत)** [वैसे ही] संगत रहती हैं, **(राजानः)** राजा लोग **(समितौ इव)** जैसे समिति में [सङ्गत होते हैं], **(सः)** वह **(रक्षोहा)** रोग-कृमि-रूप राक्षसों को नष्ट कर देनेवाला, **(अमीव-चातनः[१])** रोगों का उन्मूलन करनेवाला **(विप्रः)** ब्राह्मणवृत्ति मनुष्य **(भिषग्)** वैद्य **(उच्यते)** कहलाता है।

तुम भिषग् बनने जा रहे हो, पर क्या तुम भिषग् की परिभाषा जानते हो? वेद की दृष्टि में सच्चा भिषग्, चिकित्सक, डॉक्टर या वैद्य कौन है, इसका परिज्ञान क्या तुम्हें है? भिषग् या वैद्य में सर्वप्रथम विशेषता यह होनी चाहिए कि वह चिकित्साशास्त्र का पूर्ण पाण्डित्य रखता हो। वह चुन-चुनकर ओषधियों को गुण-धर्मानुसार क्रम से अपने औषधालय में ऐसे रखता हो, जैसे राजा लोग बड़े-छोड़े के क्रम से राज-समिति में अध्यासीन होते हैं। ओषधियाँ उसके पास ऐसे अव्यवस्थितरूप में संगृहीत न हों कि आवश्यकता के समय खोजने में बहुत समय नष्ट हो जाए, जो समय रोगी को देखने में व्यय होना उचित है। द्वितीय विशेषता उसमें यह होनी चाहिए कि वह 'विप्र' हो, ब्राह्मणवृत्ति रखता हो। वह रोगियों से निश्चित शुल्क नहीं, किन्तु ब्राह्मण के समान दक्षिणा लेता हो। ब्राह्मण-पुरोहित की कोई दक्षिणा नियत नहीं होती, यजमान अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार जो पत्र-पुष्प भेंट कर देता है, उसे वह सहर्ष स्वीकार करता है। ऐसे ही वैद्य को भी निर्धन लोग कम और धनिकवर्ग अधिक दे सकेंगे। उसे दक्षिणा समझकर अङ्गीकार करना वह अपना कर्त्तव्य समझे। ऐसा न हो कि निर्धन लोग केवल इस कारण उसकी चिकित्सा से वञ्चित रहें कि वे उसका निश्चित शुल्क उसे नहीं दे सकते।

वैद्य की तृतीय विशेषता यह है कि वह 'रक्षोहा' हो, संक्रामक रोग फैलानेवाले रोगकृमि-रूप राक्षसों को नष्ट करने की विधि उसे ज्ञात हो। यदि उन रोगकृमियों के विनाश की कला वह नहीं जानेगा तो रोग सर्वत्र संक्रान्त होकर महामारियों का रूप धारण कर लेंगे। वैद्य की चतुर्थ विशेषता यह है कि वह 'अमीव-चातन' हो, रोग को थोड़े समय के लिए दबा देनेवाला नहीं, अपितु उसका समूल उन्मूलन कर सकनेवाला हो।

मित्रो! यदि तुम वैद्य बनना चाहते हो तो तुम भी उक्त वैदिक गुणों को अपनाओ तथा जनसेवा का व्रत लेकर इस क्षेत्र में उतरो। धन तुम्हारे, पास स्वतः दौड़ा चला आयेगा।

२०५. गणपति का आह्वान

निषु सीद गणपते गणेषु[११], त्वामाहुर् विप्रतमं कवीनाम्[१०]।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे[११], महामर्कं मघवञ् चित्रमर्च[११]॥

—ऋग् १०.११२.९

ऋषिः **वैरूपः नभः प्रभेदनः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(गणपते) हे गणाधिपति इन्द्र परमेश्वर! तुम **(गणेषु)** गणों में **(सु)** सम्यक् प्रकार से **(नि सीद)** बैठो, **(त्वां)** तुम्हें **(कवीनां)** कवियों में **(विप्रतमं)** सबसे अधिक मेधावी **(आहुः)** कहते हैं। **(त्वत् ऋते)** तुम्हारे बिना **(आरे[१])** दूर या समीप **(किं चन)** कुछ भी **(न क्रियते)** नहीं किया जाता है। **(मघवन्)** हे ऐश्वर्यशालिन्! [तुम हमारे] **(महां)** महान् **(चित्रं)** नानाविध **(अर्कं[२])** स्तोत्र को **(अर्च)** सत्कृत करो।

हे इन्द्र! तुम गणपति हो, मानवों के सब गणों में आकर बैठो। विश्व में मानवों के अनेक गण हैं—ब्राह्मणों का गण, क्षत्रियों का गण, वैश्यों का गण, शूद्रों का गण, ब्रह्मचारियों का गण, गृहस्थों का गण, वानप्रस्थों का गण, संन्यासियों का गण, धनिकों का गण, श्रमिकों का गण, विभिन्न लघु-राज्यों का गण, विभिन्न राष्ट्रों का गण। जबतक तुम्हारा निवास इन गणों के अन्दर रहेगा, तबतक इनकी पवित्रता और लोकोपयोगिता अक्षुण्ण बनी रहेगी, किन्तु तुम्हारे इन्हें छोड़कर निकलते ही ये गण लोक-संहारक राक्षसी गणों का रूप धारण कर सकते हैं, अतः तुम हमारे सब गणों में व्याप्त होकर मार्गदर्शन करते रहो। हे परमदेव! तुम कवियों में परम कवि हो, तुम विप्रों में परम विप्र हो, तुम मेधावियों में परम मेधावी हो। वेदवाक्य तुम्हारे ही कवित्व का परिचय दे रहे हैं, ब्रह्माण्ड की सब कलापूर्ण कृतियाँ तुम्हारी ही काव्यकला, मेधा और दूर-दृष्टि का गान कर रही हैं। तुम अपने गणों में भी काव्यकला, मेधा और दूर-दृष्टि को उत्पन्न करो। हे सर्वव्यापिन्! हे सर्वकर्मक्षम! तुम्हारे बिना दूर या समीप कहीं भी कुछ कर्म सम्भव नहीं है। हम मानव व्यर्थ ही यह अभिमान अपने मनों में धारण किये रहते हैं कि अमुक वस्तुओं के हम रचयिता हैं, अमुक नगरियों के हम निर्माता हैं, अमुक साम्राज्यों के हम भाग्य विधाता हैं। असल में तो प्रत्येक शुभ कार्य को जो हमारे हाथों से भी होता है, हममें बैठे हुए तुम्हीं सञ्चालित कर रहे हो।

हे मघवन्! हे ऐश्वर्यों के राजा! मैं तुम्हारे प्रति नानाविध महान् स्तोत्रों का उपहार लेकर आया हूँ। यद्यपि तुम्हारे ऐश्वर्यों की तड़क-भड़क के सम्मुख मेरा बड़े-से-बड़ा भी उपहार अति-तुच्छ है, नगण्य है, तो भी तुम मेरे उपहार को सराहो, मान दो, सत्कृत करो। हे गणपति! तुम मेरे आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण एवं इन्द्रियों से बननेवाले आन्तरिक गणराज्य में भी अपनी राजकीय आभा के साथ विराजमान होवो। तुम्हारी उपस्थिति से मुझे बल प्राप्त होगा, कान्ति प्राप्त होगी, विजय प्राप्त होगी।

२०६. आत्मन्! यज्ञ का सञ्चालन करो

इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि[११], पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्[११]।
असो हव्यवाळुत नः पुरोगा[११], ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः[११] ॥

—ऋग् १०.१२४.१

ऋषयः **अग्निवरुणसोमाः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(अग्ने) हे आत्मन्! **(नः)** हमारे **(इमं)** इस **(पञ्चयामं)** पाँच यमों से चलनेवाले, **(त्रिवृतं)** तीन चक्रोंवाले, **(सप्ततन्तुम्)** सात ऋत्विजों से फैलाए जानेवाले **(यज्ञं)** यज्ञ को **(उप एहि)** प्राप्त हो। **(हव्यवाट्)** हव्य को वहन करनेवाला **(उत)** और **(नः)** हमारे **(पुरोगाः)** पुरोगामी अध्यक्ष **(असः[१])** हो। [तू] **(ज्योक् एव)** चिरकाल से ही **(दीर्घं तमः)** दीर्घ अन्धकार में **(आ अशयिष्ठाः[२])** शयन किये हुए है।

हे मेरे आत्मन्! तू चिरकाल से मोहान्धकार में, तामसिकता की नींद में क्यों पड़ा हुआ है? मानव-जीवन एक यज्ञ है, जिसका तू संचालक है। उस यज्ञ से विमुख होकर तू अंधेरी गुहा में जाकर क्यों सो गया है? तू नींद से जाग जा; आ, यज्ञ का 'पुरोगाः' बन, यज्ञ का नेतृत्व कर, यज्ञ की अध्यक्षता कर। यह यज्ञ 'त्रिवृत्' है, बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य इन तीन चक्रों पर घूमनेवाला है। ये ही इस यज्ञ के तीन सवन हैं। उपनिषद्[३] के ऋषि का कथन है कि मनुष्य की आयु के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातः-सवन हैं, अगले चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन-सवन हैं, उसके बाद के अड़तालीस वर्ष सायं-सवन हैं। इस प्रकार मानव-जीवन ११६ वर्ष चलनेवाला यज्ञ है।

यह यज्ञ 'पञ्चयाम' है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच यमों से नियन्त्रित होनेवाला है। यह 'सप्ततन्तु' है, सात ऋत्विजों से फैलाया जानेवाला है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, ये ही इस जीवनयज्ञ के सात ऋत्विज् हैं, जो इसे निरन्तर अविघ्नितरूप से प्रवृत्त रखते हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ और प्राण-अपान अन्य सात ऋत्विज् हैं, जो इसके विविध क्रियाकलापों में सहायक होते हैं। इस यज्ञ में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने ज्ञान और कर्म के हव्य को आहुत करती हैं। हे आत्मन्! तुम 'हव्यवाट्' बनकर उस हव्य का वहन करो, उसे अपने ज्ञान और कर्म का विषय बनाओ। आओ, हे आत्मन्! तुम्हारे बिना यह यज्ञ अवरुद्ध पड़ा हुआ है। आकर इस यज्ञ का सञ्चालन करो।

तभी हम आनन्दविभोर होकर गायेंगे—"आहा! वह देखो दिव्यता के अनुरागियों का हितकर पवित्र आत्म-तेज उदित हुआ है। उसके दिव्य प्रकाश में हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवित-जागृत रहते हुए प्रकृति का और परब्रह्म का दर्शन करें, श्रवण करें, प्रवचन करें और अदीन होकर आगे बढ़ें।"[४]

२०७, दूसरी शाखा का अतिथि

पश्यन्नन्यस्या अतिथिं वयाया[११], ऋतस्य धाम विममे पुरूणि[११]।
शंसामि पित्रे असुराय शेवम्[११], अयज्ञियाद् यज्ञियं भागमेमि[११]॥

—ऋग् १०.१२४.३

ऋषिः **अग्निः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(अन्यस्याः) दूसरी **(वयायाः[१])** शाखा के **(अतिथिं)** अतिथि को **(पश्यन्)** देखता हुआ [मैं] **(पुरूणि)** बहुत-से **(ऋतस्य)** सत्य के **(धाम)** तेजों का **(विममे[२])** निर्माण करता हूँ। **(असुराय[३])** प्राणप्रदाता तथा पाप-ताप को प्रक्षिप्त करनेवाले **(पित्रे)** पिता [अग्नि प्रभु] के लिए **(शेवं[४])** सुखकारक स्तोत्र का **(शंसामि)** कीर्तन करता हूँ। **(अयज्ञियात्)** अयज्ञिय से **(यज्ञियं)** यज्ञिय **(भागं)** भाग को **(एमि)** प्राप्त होता हूँ।

श्रुति कहती है कि एक वृक्ष की दो विभिन्न शाखाओं पर दो पक्षी बैठे हुए हैं, उनमें से एक उसके फलों को चख रहा है और दूसरा द्रष्टा मात्र बना हुआ है[५]। मेरा आत्मा भी उन पक्षियों में से एक है। मैं जगद्-वृक्ष या शरीर-वृक्ष की एक शाखा पर बैठा हुआ अपने अर्जित कर्म-संस्कारों के अनुसार कर्म-फलों का भोग कर रहा हूँ। ये कर्म-फल कड़वे-मीठे दोनों प्रकार के हैं। कृत शुभ-कर्मों के आधार पर मैं मीठे फलों का स्वाद ले रहा हूँ और अशुभ-कर्मों के आधार पर न चाहते हुए भी मुझे कड़वे फलों का स्वाद लेना पड़ रहा है। अब तक मैं फलों को चखने में और मौज-मस्ती के कर्मों को करने में संलग्न था। पर आज मेरा ध्यान दूसरी शाखा पर बैठे हुए अतिथि परमात्मा की ओर गया है। अहो, मेरे घर में अतिथि आया बैठा था, मेरे ही आश्रय-वृक्ष की एक शाखा पर उसने आवास बनाया हुआ था, पर अब तक मेरा उसकी ओर ध्यान तक नहीं गया। गृहागत अतिथि का सत्कार न कर मैं अपने ही भोग भोगने में लगा रहा, यह मुझसे कितना बड़ा अपराध हुआ है। पर अब तो मैं उस अपराध का परिमार्जन और प्रायश्चित्त कर लूँ।

आज मैंने दूसरी शाखा पर बैठे हुए उस विलक्षण अतिथि की ओर दृष्टिपात किया है तो मुग्ध रह गया हूँ। वह तो मेरा पिता है। अब तक मैं अपने पिता को न पहचान पाया। मेरा पिता मेरे घर अतिथि बनकर आया है। वह 'असुर' है, प्राणप्रदाता है और पाप-ताप को दूर प्रक्षिप्त कर देनेवाला है। वह तो सांसारिक फलों के भोग से सर्वथा उपरत होकर ऋत के पंखों से ऋत की उड़ान भरनेवाला पंछी है। उसके ऋत को मैं भी ग्रहण करता हूँ। मैं अपने अन्दर 'ऋत' के तेजों का निर्माण करता हूँ। अब तक मैं अयज्ञिय भाग को प्राप्त करता रहा, बिना यज्ञ किए, स्वयं को भोग लगाता रहा। पर अब मैंने जगद्-वृक्ष की दूसरी शाखा पर बैठे हुए अतिथि से यज्ञ का महत्त्व समझ लिया है। अब तो मैं जो-कुछ प्राप्त करता हूँ, उसकी पहले यज्ञ में हवि देता हूँ, फिर जो यज्ञशेष होता है, उसका भोग करता हूँ। यही 'यज्ञिय भाग' को ग्रहण करना है।

हे अतिथिवर! हे पिता! मैं तुम्हारे प्रति सुखकर स्तोत्र का कीर्तन करता हूँ, श्रद्धावनत हो तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मेरे श्रद्धा-सुमन, स्तोत्र-कीर्तन एवं प्रणाम को स्वीकार करो।

२०८. मेरे राष्ट्र का आधिपत्य ग्रहण करो

निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन्[११], त्वं च मा वरुण कामयासे[१०]।
ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन्[११], मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि[१०]॥

—ऋग् १०.१२४.५

ऋषय: **अग्निवरुणसोमा:**। देवता **वरुण:**। छन्द: **विराट् त्रिष्टुप्**।

(त्ये) वे **(असुराः)** असुर **(निर्मायाः उ)** मायारहित **(अभूवन्)** हो गए हैं। [अत:] **(त्वं च)** तू भी **(वरुण)** हे वरुण! **(मा कामयासे[१])** मुझे चाह, मुझसे प्रेम कर। **(राजन्)** हे राजन्! **(ऋतेन)** सत्य से **(अनृतं)** असत्य को **(विविञ्चन्[२])** पृथक् करता हुआ **(मम)** मेरे **(राष्ट्रस्य)** राष्ट्र के **(आधिपत्यं)** आधिपत्य को **(एहि)** प्राप्त कर।

हे भक्तों को वरण करनेवाले वरुण प्रभु! तुम मुझसे रूठ गये थे। तुम्हारे रूठने का कारण भी मैं जानता हूँ कि मेरे हृदय में आसुरी माया छा गई थी। स्वार्थ, अनीश्वरवाद आदि की मैं गुणों में गणना करता था। नास्तिकता की आसुरी माया के वशीभूत हो, मैं सर्वत्र यह घोषणा करता फिरता था कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु दुनिया के तख्ते पर नहीं है, न ही एक जन्म से दूसरे जन्म में जानेवाली और कर्मफलों का भोग करनेवाली आत्मा नाम की कोई वस्तु है। मैं प्रभु-भक्त सन्तों का उपहास करता था, आस्तिक दर्शनों की खिल्ली उड़ाता था। मैं न शील की पर्वाह करता था, न वैदग्ध्य को गिनता था, न शास्त्र का श्रवण करता था, न धर्म को धारण करता था, न त्याग का आदर करता था, न विशेषज्ञता का विचार करता था, न आचार का पालन करता था, न सत्य का अनुसरण करता था, न विद्वानों की पूजा करता था, न गुरुजनों का अभिवादन करता था। इस स्थिति में तुम्हारा मुझसे विमुख हो जाना स्वाभाविक ही था। पर अब असुरों का सैन्य तितर-बितर हो गया है, उनका माया-जाल विच्छिन्न हो गया है। मेरा चित्त निर्मल हो गया है, अत: तुम भी हे वरुण प्रभु! मुझे चाहने लगो, मुझसे प्रेम करने लगो।

हे भगवन्! अब मेरा अपने ऊपर से विश्वास उठ गया है। मैंने समझ लिया है कि मेरे हाथ में मेरे राष्ट्र की बागडोर सुरक्षित नहीं है। अब तुम्हीं मेरे इस अध्यात्म-राष्ट्र का आधिपत्य स्वीकार करो, हृदय-मन्दिर में सिंहासनारूढ़ होकर ऋत और अनृत के विवेकसहित शासन चलाओ। तुम्हारे नियन्त्रण में किसी भी प्रजा के उन्मार्गगामिनी होने का भय नहीं रहेगा; आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, सब सन्मार्ग पर ही चलेंगे। आओ, हे वरुण! मैं तुम्हारे राज्याभिषेक के लिए तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

२०९. विश्व-समाज्ञी की वाणी

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां[११], चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्[११]।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा[१०], भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्[१०]॥

—ऋग् १०.१२५.३

ऋषिः **वागाम्भृणी**। देवता **वागाम्भृणी**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(अहं) मैं **(राष्ट्री)** विश्व-सम्राज्ञी [हूँ], **(वसूनां)** वसुओं का **(संगमनी)** सङ्गम करानेवाली [हूँ]। **(भूरिस्थात्रां)** बहुत रूपों में स्थित **(भूरि[२])** बहुतों को **(आवेशयन्तीं)** अपने-अपने स्थान पर स्थित करनेवाली **(तां)** उस **(मा)** मुझे **(देवाः)** देवजन **(पुरुत्रां[३])** बहुत रूपों में **(व्यदधुः)** [अपने हृदय में] धारण करते हैं, ध्यान करते हैं।

हे मनुष्यो! यदि तुम मेरा परिचय जानना चाहते हो तो सुनो। मैं राष्ट्री हूँ, विश्व की सम्राज्ञी हूँ, अधीश्वरी हूँ। मैं ही समस्त ब्रह्माण्ड में शासन कर रही हूँ। मैं ही वसुओं में सङ्गम करानेवाली हूँ। ऐश्वर्यों को अपने अन्दर बसानेवाले सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि पिण्ड ही वसु कहलाते हैं। इनमें जो एकसूत्रता दिखाई देती है, परस्पर सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है, उसे लानेवाली मैं ही हूँ। मेरे ही रचे नियमों के अनुसार पृथिवीलोक सूर्य, अग्नि एवं पवन के माध्यम से अपने जलों को आकाश में पहुँचाता है और आकाश उन जलों को पुनः पृथिवी पर बरसा देता है। इस प्रकार आपस में उपकार्योपकारक-भाव चलता रहता है। मेरे ही नियमों के अनुसार सूर्य की आकर्षणशक्ति से खिंचे हुए पृथिवी आदि पिण्ड सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं। मेरे ही नियमों में बँधे हुए ये सब पिण्ड एक-दूसरे पर भी अनुग्रह कर रहे हैं और एक-दूसरे को अपनी ओर खींचते हुए बिना आधार के आकाश के मध्य में स्थित हैं। मैं 'चिकितुषी' हूँ, ज्ञानवती हूँ, मुझे विश्व के कण-कण का ज्ञान है और मैं वेदज्ञानमयी भी हूँ तथा अपनी सन्तानों के कल्याणार्थ उन्हें वेद का ज्ञान देती हूँ। मैं 'यज्ञियों में प्रथम' हूँ, पूजनीयों में सर्वाधिक पूज्या हूँ। जो भी माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि अन्य जन पूजायोग्य माने जाते हैं, वे मेरे बाद ही पूजा के अधिकारी होते हैं। मैं 'भूरिस्थात्रा' हूँ, बहुत रूपों में स्थित हूँ। मेरा एक रूप जनयित्री का है, एक रूप पालयित्री का है, एक रूप संहर्त्री का है, एक रूप दयामयी का है, एक रूप न्याय की अधिष्ठात्री का है, एक रूप सुखदात्री का है। मैं ही जगत् की सब वस्तुओं को अपने-अपने स्थान पर स्थित करनेवाली हूँ। मैंने ही यथास्थान हिमालय आदि पर्वतों को स्थापित किया है, मैंने ही चारों ओर समुद्रों को स्थापित किया है, मैंने ही आकाश में सूर्य, चन्द्र, मेघमण्डल आदि को स्थापित किया है, मैंने ही भूमि के अन्दर सोना-चाँदी आदि की खानें स्थापित की हैं, मैंने ही भूतल पर वृक्ष-वनस्पति आदि को स्थापित किया है, मैंने ही रत्नाकारों में रत्नों को स्थापित किया है। ऐसी महिमामयी मुझ जगदीश्वरी को मेरे भक्त देवजन अनन्त रूपों में अपने हृदय में धारण करते हैं, ध्याते हैं, पूजते हैं। यदि तुम भी मुझसे कुछ लाभ प्राप्त करना चाहते हो तो मुझे स्मरण करो। तुम्हारे स्मरण करते ही मैं दौड़कर तुम्हारी सुध लेने के लिए तुम्हारे समीप आ जाऊँगी।

२१०. सहस्रधारा गौ

अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष[१०], या दोहते प्रति वरं जरित्रे[११]।
अच्छिद्रोध्नी पीपयद् यथा नः[१०], सहस्रधारा पयसा मही गौः[११]॥

—ऋग् १०.१३३.७

ऋषिः **सुदाः पैजवनः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(इन्द्र) हे परमात्मन्! **(अस्मभ्यं)** हमें **(तां)** उस गौ को—गाय, पृथिवी और वाणी को **(सुशिक्ष[१])** शुभ रूप से प्रदान करो, **(या)** जो **(जरित्रे[२])** स्तोता के लिए **(वरं)** वर को **(प्रति दोहते)** प्रतिफलरूप में दुहे [और] **(यया)** जिससे [वह] **(मही)** महिमाशालिनी **(गौः)** गौ **(अच्छिद्रोध्नी)** अच्छिद्र ऊधस्वाली [तथा] **(सहस्रधारा)** सहस्र धारोंवाली [होती हुई] **(नः)** हमें **(पयसा)** दूध से **(पीपयत्[३])** परिवृद्ध करे।

हे परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! तुम्हीं विश्व के सकल ऐश्वर्यों को उत्पन्न और प्रदान करनेवाले हो। हम तुम्हीं से अभीष्ट पदार्थों की याचना करते हैं और तुम हमारी उस प्रार्थना को पूर्ण भी किया करते हो। आज हम तुमसे ऐसी गौ की याचना कर रहे हैं, जो स्तोता को अभिलषित वर प्रदान कर देती है, उसकी मन:कामना को पूर्ण कर देती है। यह वैदिक गौ अपने अन्दर कई अर्थों का अन्तर्निहित किये हैं। सर्वप्रथम 'गौ' शब्द गाय-पशु का वाची है। हम ऐसी अच्छिद्र ऊधस्वाली सहस्रधारा गाय माँगते हैं, जो अपने दूध से हमें परिपुष्ट करती रहे, जिससे हमें इतनी प्रचुर मात्रा में दूध प्राप्त हो कि वह केवल हमारे परिवार के लिए ही यथेष्ट न हो, अपितु उससे अतिथियों और अभ्यागतों का भी पोषण होता रहे। 'गौ' शब्द पृथिवी का भी वाचक है। हमें भूमिरूपिणी गौ भी प्राप्त हो, जिससे हम कृषक बनकर उससे सहस्रों धाराओं में अन्न, रसीले फलों आदि का दोहन करते रहें तथा वह हमें अपने अन्दर निहित सुवर्णादि ऐश्वर्य भी सहस्र धाराओं में प्रदान करती रहे और उसका अन्न, धन आदि का भण्डार कभी समाप्त न हो। 'गौ' वाणी को भी कहते हैं। हमें वह वाक्-शक्तिरूपिणी गौ भी प्राप्त हो, जो निर्दोष रहती हुई ज्ञान की सहस्रों धारायें जगतीतल पर बहाती है। 'गौ' वेदवाणी का भी नाम है। हमें वह दिव्य वेदवाणीरूपिणी गौ प्राप्त हो, जो अपने अच्छिद्र ऊधस् में अनन्त ज्ञान-विज्ञान का रस भरे हुए है तथा अपने पाठकों और श्रोताओं को सहस्रों धारों में वह रस प्रदान करती है।

हे इन्द्र प्रभु! यदि इन सब वरदात्री महिमामयी गौओं का स्वामी तुम हम स्तोताओं को बना दोगे तो उनके अमृतोपम दूध से हम निश्चय ही समृद्ध एवं परिपुष्ट होकर शिखरारूढ़ और सर्वोन्नत हो सकेंगे। हे भगवन्! हम स्तोतृजनों की स्तुति को सफल करो, मुँहमाँगी वस्तु देकर हमारा कल्याण करो, हमें गोपाल बना दो, हमें कामधेनुएँ प्रदान कर दो।

२११. रथारोही को उद्बोधन

यं कुमार नवं रथम्, अचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चम्, अपश्यन्नधितिष्ठसि॥

—ऋग् १०.१३५.३

ऋषिः **कुमारः यामायनः**। देवता **यमः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(कुमार) हे कुमार! **(यं)** जिस **(नवं)** नवीन **(अचक्रं)** बिना पहियोंवाले **(रथं)** रथ को [तूने] **(मनसा)** मन से **(अकृणोः)** पसन्द किया है, [उस] **(एकेषं)** एक ईषा-दण्डवाले, **(विश्वतः)** चारों ओर **(प्राञ्चं)** प्रकृष्टता से चलनेवाले [रथ पर तू] **(अपश्यन्)** न देखता हुआ **(अधितिष्ठसि)** स्थित है।

एक रथ है, जो बिना ही पहियों के चलता है और सदा नवीन रहता है। उसमें एक ईषा-दण्ड लगा हुआ है और वह चारों दिशाओं में जिधर चाहो उधर तीव्रता से चल सकता है। यह बिना पहियोंवाला, नित्य नवीन प्रतीत होनेवाला रथ मानव-शरीर है, मेरुदण्ड या पृष्ठवंश ही जिसका ईषा-दण्ड है। जीवात्मा रथी बनकर इस रथ पर आरूढ़ है। बुद्धि उसका सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं[1]।

हे कुमार! हे आत्मन्! तूने इस सुन्दर, नवीन, तीव्रगामी शरीर-रथ को पसन्द तो किया है, पर आश्चर्य है कि तू उसका सम्यक् उपयोग नहीं कर रहा। ऐसे अनुपम रथ पर बैठकर तो तू अबतक न जाने कहाँ-का-कहाँ पहुँच चुका होता। पर तू आँख मूँदकर बैठा हुआ है। तेरी हालत उस व्यक्ति जैसी है, जो किसी उत्कृष्ट रथ, बग्घी, मोटर या वायुयान में बैठा हो, पर उसे यह न मालूम हो कि जाना कहाँ है। ऐसी अवस्था में रथ और रथचालक कैसे ही उत्कृष्ट क्यों न हों, रथारोही या तो आगे बढ़ेगा ही नहीं या सारथि की इच्छानुसार किसी भी अभीष्ट या अनभीष्ट मार्ग पर चल पड़ेगा। इसमें सारथि का कुछ दोष नहीं है, मूढ़ता है रथारोही की, जो ऐसे अद्वितीय रथ का स्वामी होते हुए भी किसी उत्तम स्थान पर जाने का सङ्कल्प ही नहीं करता।

हे मानव! जाग, अपने जीवन का उच्च लक्ष्य निर्धारित कर; रथ को उधर ही मोड़। एक लक्ष्य पर पहुँच, आगे का लक्ष्य बना, वहाँ पहुँच, और भी आगे का लक्ष्य निश्चित कर; आगे-ही-आगे बढ़ता चल। शत वर्ष के लिए तुझे यह शरीर-रथ मिला है; रथ को साफ-सुथरा रखेगा तो और अधिक समय के लिए तुझे यह मिला रह सकता है। इसपर आँख बन्द करके (अपश्यन्) मत बैठ, गन्तव्य उद्देश्य की ओर तीव्रगति से रथ को ले-चलने के लिए सारथि को आदेश दे। अन्यथा, एक दिन आयेगा कि रथ तुझसे छिन जाएगा और तू पछताएगा कि अहो, प्रभु से ऐसा उत्कृष्ट रथ पाकर भी मैं वहीं खड़ा रहा। हे कुमार! उद्बुद्ध हो, वेद की प्रेरणा को हृदयङ्गम कर।

२१२. वातरशन मुनि

मुनयो वातरशनाः[८], पिशङ्गा वसते मला[८]।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति[८], यद् देवासो अविक्षत[८]॥

—ऋग् १०.१३६.२

ऋषयः **वातरशनाः**। देवता **केशी (वातः)**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**वातरशनाः**) वायु या प्राणरूप रज्जुवाले (**मुनयः**) मुनिजन (**पिशङ्गा**) पिंगल वर्ण के (**मला**) मटमैले [वल्कल-वस्त्रों] को (**वसते**[१]) पहनते हैं। वे (**वातस्य**) वायु या प्राण की (**ध्राजिम्**[२]) गति को (**अनुयन्ति**) अनुसरण करने लगते हैं, (**यत्**) जब (**देवासः**) [तप से] देदीप्यमान [वे] (**अविक्षत**[३]) अन्तःप्रवेश पा लेते हैं।

बृहदारण्यक[४] उपनिषद् में उद्दालक आरुणि याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि वह सूत्र कौन-सा है, जिससे यह लोक, परलोक और समस्त भूत ग्रथित हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया है कि वायु ही वह सूत्र है। इसी वायु को सूत्रात्मा प्राण भी कहते हैं। यही प्राण शरीर को भी धारण किये है। वचन-व्रती वाक्, दर्शन-व्रती चक्षु, श्रवण-व्रती श्रोत्र आदि सब इन्द्रियाँ श्रान्त हो जाती हैं, प्राण ही है जो अश्रान्त होकर चलता रहता है। वस्तुतः प्राण ही चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सबका सम्राट् है, क्योंकि प्राण शरीर से उत्क्रान्त होने लगे तो उसके पीछे-पीछे सब उत्क्रान्त होने लगते हैं। मुनिजन इस प्राण की ही साधना करते हैं, प्राणरूप एक रज्जु या सूत्र से अपने आत्मा, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अष्टचक्र, नाड़ीचक्र आदि सबको ग्रथित करते हैं। वानप्रस्थाश्रम में तपः-साधना करनेवाले ये मुनि पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायामों द्वारा सिद्धि प्राप्त कर प्राणवायु की ही गति का अनुसरण करने लगते हैं। प्राणगति का अनुसरण करने से उनके प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है, प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान को आवृत करनेवाला अविद्यादि पञ्च क्लेशों का पर्दा विच्छिन्न हो जाता है, मन वायु के समान लघु हो जाता है और मन में धारण की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। यहाँ तक कि प्राणों के साथ तादात्म्य स्थापित करने से मुनियों में सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से बाहर निकालकर वायु की गति के साथ-साथ सञ्चार करने की सिद्धि भी आ सकती है। मुनिजन बाहर से मनोवृत्तियों को हटाकर जब अन्तः-प्रविष्ट हो जाते हैं, चमक-दमकरहित वल्कल-वस्त्र या तत्सदृश सादे वस्त्र धारण करने में ही गौरव मानते हैं, प्राण में मन का संयम करते हैं, तब सचमुच वे प्राण-रूप या वातरूप हो जाते हैं। उनके अन्दर वायु के समान जगत् की मलिनताओं को हरने की तथा प्राणदान करने की शक्ति आ जाती है। हे प्राणोपासक वानप्रस्थ मुनियो! तुम वायु की गति का अनुसरण करते हुए हमें भी पावन करो।

२१३. वाणी का सत्य में प्रयोग

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति[११], तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः[१०]।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषाम्[१०], ऋतस्य पदे कवयो निपान्ति[११]॥

—ऋग् १०.१७७.२

ऋषिः **पतङ्गः प्राजापत्यः**। देवता **मायाभेदः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(पतङ्गः[१]) जीवात्मारूप पक्षी **(मनसा)** मन से **(वाचं)** वाणी को **(बिभर्ति)** धारण करता है, **(गन्धर्वः[२])** वाणी को धारण करनेवाला मन **(गर्भे अन्तः)** हृदय-गर्भ के अन्दर **(तां)** उस [वाणी] को **(अवदत्)** बोलता रहता है। **(मनीषां[३])** मन से प्रेरित **(द्योतमानां)** प्रकटरूप में प्रकाशित **(स्वर्यं)** स्वर के रूप में परिणत **(तां)** उस [वाणी को] **(कवयः[४])** मेधावीजन **(ऋतस्य पदे)** सत्य के व्यवहार में अथवा सत्य के प्रतिष्ठापक परमेश्वर में **(निपान्ति)** रक्षित करते हैं, प्रयुक्त करते हैं।

मनुष्य में वाणी परमात्मा की ओर से दी हुई विशेष देन है। मनुष्य व्यक्त वाणीवाला है, जबकि अन्य प्राणी अव्यक्तवाक् होते हैं। मनुष्य स्पष्टतया अपनी वाणी से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है। इस अद्वितीय शक्ति के रूप में प्राप्त वाणी का प्रयोग मानव कैसे करे?

जिस स्थूल वाणी को हम लोकव्यवहार में बोलते हैं, वाणी का एकमात्र वही रूप नहीं है। स्थूल रूप में बोली जानेवाली वाणी को पहले 'पतङ्ग' आत्मा विचाररूप से गन्धर्वरूप मन में धारण करता है। पक्षीवाचक पतङ्ग यहाँ जीवात्मा का नाम है, क्योंकि जीवात्मा पक्षी के समान ज्ञान-कर्म-रूप अपने पंखों से उड़ता रहता है, जीवन की गति को करता रहता है। मन गन्धर्व है, क्योंकि वह अपने अन्दर सूक्ष्म वाणी को धारण करता है। जिह्वा के दन्त, ओष्ठ, तालु आदि में संयोग से वाणी का उच्चारण बाद में होता है, उससे पूर्व वह विचाररूप से मन में आ जाती है।

मन से प्रेरित होकर प्राणवायु के बाहर निकलते समय जिह्वा के कण्ठ-ताल्वादि संयोग से स्वररूप में परिणत होनेवाली उस वाणी को कविजन सत्य के पद में प्रतिष्ठित करते हैं, सत्य वचन बोलने में प्रयुक्त करते हैं और सत्य के पद, अर्थात् सत्य के परमाधार सत्यस्वरूप परमेश्वर के महिमागान में व्यय करते हैं। जो वाणी मनुष्य के लिए परमेश्वर की अद्वितीय देन है, उसे यदि हम असत्य-भाषण में या अश्लील वर्णन में प्रयुक्त करें तो हम जैसा अभागा कौन होगा? अतः आओ, हम कवि बनें, सरस्वती के सच्चे उपासक बनें, क्रान्तदर्शी बनें, स्वान्तः-सुख तथा जन-सुख के लिए प्रभु-महिमा के काव्य रचें, वाणी से परमेश्वर की सत्ता और आस्तिकता का प्रचार करें तथा जो सत्य है, उसका निर्भय होकर प्रचार करें। साथ ही जो कुछ वाणी से बोलना है, उसका बोलने से पूर्व मन में सुविचार कर लें, क्योंकि सहसा अविचारित वाणी बोल देने से संसार में बड़े-बड़े अनर्थ होते रहे हैं और भविष्य में भी उनका होना अनिवार्य है। मन से भलीभाँति विचारकर वाणी से सत्य को प्रकट करने की मेधावियों की कला हम यदि सीख लें, तो हमारा महान् कल्याण हो सकता है।

२१४. मेरी यज्ञ-यात्रा निर्विघ्न हो

बृहस्पतिर्नयतु दुर्गहा तिरः[१२], पुनर्नेषदघशंसाय मन्म[११] ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्[११], अथा करद् यजमानाय शं योः[११] ॥

—ऋग् १०.१८२.१

ऋषिः **तपुर्मूर्धा**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **भुरिक् त्रिष्टुप्**।

(दुर्गहा[१]) दुर्गम बाधाओं को नष्ट करनेवाला **(बृहस्पतिः)** बृहस्पति प्रभु [मुझे बाधाओं के बीच से] **(तिरः नयतु)** चीरते हुए पार ले जाए। **(पुनः)** और **(अघशंसाय)** पाप का परामर्श देनेवाले के लिए **(मन्म[२])** ज्ञान और सुविचार को **(नेषत्[३])** पहुँचाए। [हमारी] **(अशस्तिं)** अप्रशस्ति और निन्दा को **(क्षिपत्[४])** फेंक दे, **(दुर्मतिं)** दुर्मति को **(अपहन्)** अपहत कर दे। **(अथ)** और **(यजमानाय)** [मुझ] यजमान के लिए **(शं योः[५])** प्राप्त विपत्तियों का शमन तथा अनागत विपत्तियों का आने से पूर्व ही निवारण **(करत्[६])** करे।

मैंने यज्ञयात्रा प्रारम्भ की है। मैं यजमान बना हूँ, महान् लक्ष्य अपने सम्मुख रखकर आगे बढ़ रहा हूँ। पर मार्ग में अनेक दुर्गम बाधाएँ आ रही हैं, पग-पग पर उनसे ठोकरें लगने का भय है। ऐसे समय में अपनी यात्रा का मार्गदर्शन बृहस्पति प्रभु को सौंप रहा हूँ। बृहस्पति बड़े-बड़े लोकों का अधिपति है, तो मुझ छोटे-से जीव का अधिपति क्यों न बनेगा? वह ज्ञान का अधिपति है, तो मुझे ज्ञान की ज्योति क्यों न देगा? वह 'दुर्गहा' है, दुर्गम-से-दुर्गम बाधाओं को नष्ट करनेवाला है। वह मेरे मार्ग में आनेवाली भीषण बाधाओं के बीच में से चीरते हुए मुझे पार ले जाएगा।

जीवन की इस यज्ञ-यात्रा में बहुत-से लोग ऐसे मिलते हैं, जो मेरे सामने पापकर्म करने के लिए प्रलोभन उपस्थित करते हैं। वे स्वयं तो पाप-पङ्क में लिप्त होते ही हैं, अन्यों को भी पाप के झूठे मोहक रूप दिखाकर उस ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिए बृहस्पति प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि वह उनके हृदयों में सत्य, ज्ञान और सुविचार को अंकुरित करे, जिससे न केवल वे अघ-शंसन का कार्य त्याग दें, अपितु स्वयं भी 'अघ' से नाता तोड़कर निष्पाप बन जाएँ।

यदि कोई अकार्य करने के कारण कभी मेरी अप्रशस्ति और निन्दा होने लगे तो बृहस्पति प्रभु मेरा उससे उद्धार करे। उससे उद्धार का उपाय यही है कि वह मुझसे ऐसे उत्तमोत्तम सत्कार्य करवाये कि लोग मेरी निन्दा को भूलकर मेरे गुणगान करने लगें। यदि कभी मैं दुर्मति से ग्रस्त हो जाऊँ तो वह उसे अपहत कर दे। वह मुझ यजमान-यात्री के जीवन में आनेवाली विपत्तियों का शमन करे और भविष्य में जिन विपत्तियों के आने की आशंका है, उनके भय को दूर करे। इस प्रकार मेरी यज्ञ-यात्रा को निर्विघ्न और सफल बनाकर मुझे पूर्णकाम होने का सौभाग्य प्रदान करे।

२१५. वह हमें द्वेष से पार करे

यो अस्य पारे रजसः८, शुक्रो अग्निरजायत८।
स नः पर्षदति द्विषः८॥ —ऋग् १०.१८७.५

ऋषिः **वत्सः आग्नेयः**। देवता **अग्नि**। छन्दः **गायत्री**।

(यः) जो **(अस्य)** इस **(रजसः)** रजोगुण से **(पारे)** परे **(शुक्रः)** शुद्ध **(अग्निः)** तेजस्वी परमात्मा **(अजायत)** प्रकट हुआ है, **(सः)** वह **(नः)** हमें **(द्विषः)** द्वेषवृत्तियों से **(अतिपर्षत्[१])** पार करे।

यह विश्व तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण का क्रीडास्थल है। मनुष्य का मानस भी इन गुणों से अछूता नहीं रहता। कभी उसके अन्दर तमोगुण प्रबल हो जाता है, जिससे उसके सोचने-विचारने और कार्य करने की पद्धति तामसिक एवं पाशविक हो जाती है। कभी रजोगुण की प्रबलता से वह प्रवृत्ति-प्रधान हो जाता है। कभी तमोगुण और रजोगुण मिलकर उसे तमः-क्रिया-प्रधान बना देते हैं। कभी सत्त्वगुण के प्राबल्य से उसका मानस ज्ञानमय एवं सात्त्विक प्रवृत्तियों से परिप्लुत हो जाता है।

तमोगुण एवं रजोगुण के मिश्रण की प्रधानता से मानव के अन्दर द्वेषवृत्तियाँ पनपती हैं। ये द्वेषवृत्तियाँ उसके विचार और आचरण दोनों में व्याप्त होकर भयङ्कर-से-भयङ्कर काण्ड उपस्थित कर सकती हैं। द्वेषवृत्तियों से घिरकर मनुष्य वैयक्तिक या सामूहिक हानि पहुँचाने में एवं हत्या कर डालने तक में प्रवृत्त हो जाता है। समाज या राष्ट्र में जितने अधिक व्यक्ति इन द्वेषवृत्तियों के शिकार होते हैं, उतना ही अधिक समाज एवं राष्ट्र अव्यवस्थित, अनियन्त्रित, विघ्नित, दुराचारों से पीड़ित तथा अविकसित हो जाता है। द्वेषवृत्तियाँ ऋजु को कुटिल बना देती हैं, न्याय के आराधक को अन्यायी बना देती हैं, समाज-सेवक को समाज-भञ्जक बना देती हैं, धर्मात्मा को अधर्म का पुजारी बना देती हैं, शान्ति के उपासक को अशान्ति में आनन्द लेनेवाला कर देती हैं। उन द्वेषवृत्तियों से बचने का एक उपाय है अग्नि प्रभु का चिन्तन। वह प्रभु किसी के प्रति द्वेष से प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करता। उसका दण्ड देना भी सात्त्विकवृत्ति तथा प्राणियों की हित-भावना से होता है। अतः हम अग्निस्वरूप परमेश्वर से यह प्रार्थना करते हैं कि वह हमें द्वेषवृत्तियों से पार करे।

आज मेरे मनोमन्दिर में तेजःस्वरूप परमेश्वर आविर्भूत हुआ है, जो तमोगुण एवं रजोगुण से परे शुक्र-शुद्ध सत्त्वगुण में विद्यमान होता हुआ मेरे मन में सात्त्विक गुण-कर्मों की धारा बहा रहा है। वह प्रभु सदा ही मुझे द्वेषवृत्तियों से पार करता रहे, जिससे मेरा व्यक्तित्व, मेरा समाज और मेरा राष्ट्र सर्वथा द्वेषरहित होकर चहुँमुख विकास को प्राप्त करते रहें। हे अग्निदेव! मेरी इस अभीप्सा को पूर्ण करो, पूर्ण करो।

यजुर्वेद

सूक्तियाँ

- **पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्** २.६
  यज्ञ की रक्षा कर, यज्ञपति की रक्षा कर।

- **पाप्मा हतो न सोमः** ६.३५
  पाप नष्ट हो, सौम्य-गुण नहीं।

- **वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः** ९.२३
  हम राष्ट्र में पुरोहित बनकर जागरूक रहें।

- **विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्** १६.४८
  इस ग्राम में सब पुष्ट और नीरोग रहें।

- **वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पताम्** १८.२८
  वाणी यज्ञ से समर्थ हो, मन यज्ञ से समर्थ हो।

- **अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः** १९.७७
  प्रजापति ने अनृत में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा नियत की है।

- **गोस्तु मात्रा न विद्यते** २३.४८
  गौ की कोई माप-जोख नहीं है, वह अमूल्य है।

- **ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यम्** ३०.५
  ज्ञान के लिए ब्राह्मण को और रक्षा के लिए क्षत्रिय को नियुक्त करो।

- **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** ३६.१८
  हम एक-दूसरे को मित्र की आँख से देखें।

- **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्** ४०.१७
  सुनहरे ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है।

२१६. कौन तुझे नियुक्त करता है ?

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति कर्मणे वां वेषाय वाम्[३०] ॥

—यजु० १.६

ऋषिः **परमेष्ठी प्रजापतिः** । देवता **प्रजापतिः** । छन्दः **आर्ची पङ्क्तिः** ।

[हे मनुष्य! **(कः)** कौन **(त्वा)** तुझे **(युनक्ति)** नियुक्त करता है ? **(सः)** वह [प्रसिद्ध परमेश्वर] **(त्वा)** तुझे **(युनक्ति)** नियुक्त करता है। **(कस्मै)** किसलिए **(त्वा)** तुझे **(युनक्ति)** नियुक्त करता है ? **(तस्मै)** उस [महान् कर्त्तव्य-पालन] के लिए **(त्वा)** तुझे **(युनक्ति)** नियुक्त करता है। [हे स्त्री-पुरुषो!] **(कर्मणे)** कर्म करने के लिए **(वाम्)** तुम दोनों को [नियुक्त किया गया है], **(वेषाय[१])** समस्त शुभ गुण, विद्या आदि में व्याप्ति के लिए **(वाम्)** तुम दोनों को [नियुक्त किया गया है]।

हे आत्मन्! तू शरीर-धारण करके तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि का साज सजाकर संसार में आया है और कार्य कर रहा है। क्या तू जानता है कि तुझे किसने नियुक्त किया है ? याद रख, उस जगत्प्रख्यात, अखिलगुणागार, लोकाधिपति, सच्चिदानन्दस्वरूप, महामहिम, राजराजेश्वर, परमपिता परमात्मा ने तुझे नियुक्त किया है। तू उसके नाम की लाज रखना। क्या तू जानता है कि परमात्मा ने तुझे किस कार्य के लिए नियुक्त किया है ? याद रख, उसने तुझे उस महान् कर्त्तव्य के पालनार्थ नियुक्त किया है, जो वेदादि शास्त्रों में वर्णित है। तुझे अपनी योग्यता और स्थिति के अनुसार ब्राह्मणादि वर्णों और ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के आदर्श धर्मों का पालन करना है। तू यह मत समझ बैठना कि तुझे इस जगत् में निरुद्देश्य जीवनयापन के लिए, खाने-पीने तथा आनन्द मनाने के लिए और दूसरो से ऋण ले-लेकर भोग भोगने के लिए भेजा गया है। तुझे तो जप-तप, यम-नियम, यज्ञ-अग्निहोत्र, श्रद्धा-भक्ति, ध्यान-समाधि, सत्य-न्याय, दान-दमन, दया-सेवा आदि के लिए और परोपकार-मय जीवन व्यतीत करने के लिए भेजा गया है, अतः तू वैसा ही कर।

हे स्त्री-पुरुषो! तुम्हें संसार में अकर्मण्य होकर जीने के लिए नहीं, प्रत्युत कर्म करने के लिए भेजा गया है। तुम्हें वेदोक्त तथा समय-समय पर विद्वान् सद्गुरुओं तथा महापुरुषों से उपदिष्ट कर्मों को करते हुए ही शत और शताधिक वर्षों तक जीवित रहना है। तुम्हें शुभ गुण और विद्या आदि की प्राप्ति और प्रचार के लिए भेजा गया है। गुणी बनो, विद्वान् बनो, धीमान् बनो, कर्त्तव्य-निष्ठ बनो, सत्य-साधक बनो, ज्ञान-प्रचारक बनो, यही तुम्हें तुम्हारे नियोक्ता की प्रेरणा है।

२१७. मैं अन्तरिक्ष में उड़ रहा हूँ

प्रत्युष्ट॰ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो,[१०]
निष्टप्त॰ रक्षो निष्टप्ता अरातयः[१२]।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि[८] ॥ —यजु० १.७

ऋषिः **परमेष्ठी प्रजापतिः**। देवता **यज्ञः**। छन्दः **प्राजापत्या जगती, अथवा त्रिपाद् उपरिष्टाज्ज्योतिः अनुष्टुप्।**

(रक्षः) राक्षस **(प्रति-उष्टं[१])** प्रतिदग्ध हुआ, **(अरातयः[२])** अदान-भाव **(प्रति-उष्टाः)** प्रतिदग्ध हुए। **(रक्षः)** राक्षस **(निःतप्तं)** निःशेषतया तप्त हुआ, **(अरातयः)** अदान-भाव **(निःतप्ताः)** निःशेषतया तप्त हुए। [अब मैं] **(उरु अन्तरिक्षम् अनु)** विस्तीर्ण आकाश की ओर **(एमि)** जा रहा हूँ।

मैंने एक दिन सोचा कि मैं आकाश में उड़ूँ। भूमि पर जन्म लेना, भूमि पर ही जीवन व्यतीत करना और अन्त में भूमि में ही मिल जाना, इसमें क्या आनन्द है ? मुझे तो अन्तरिक्ष में उड़ना चाहिए, फिर अन्तरिक्ष से द्यौ में और द्यौ से स्वर्लोक में पहुँचना चाहिए। यह विचारकर मैंने उड़ने के लिए अपने पंखों को फड़फड़ाया, पर मैंने देखा कि मैं इतना भारी हूँ कि उड़ नहीं सकता। मैं 'रक्षः' और 'अरातयः' के बोझ से दबा हुआ था। दम्भ, दर्प, अहङ्कार, क्रोध, क्रूरता, अज्ञान आदि आसुरी सम्पत्[३] तथा अन्य सब राक्षसी वृत्तियाँ ही 'रक्षः' है। अ-राति अ-दान, कृपणता या स्वार्थ की वृत्ति है। जब मैंने देखा कि इन 'रक्षः' और 'अरातयः' के व्यर्थ भार से आक्रान्त हुआ मैं उड़ नहीं सकता, तब मैंने इन्हें अपने ऊपर से उतार फेंका और इन्हें प्रतिदग्ध कर दिया। पर ये पूर्णतः दग्ध नहीं हो पाये। ये फिर जी उठे और पुनः आकर मुझसे चिपट गये। अन्ततः मैंने इन्हें पूर्णतः जला डालने का ही निश्चय किया। अब प्रसन्नता का विषय है कि ये निःशेषतया तप्त और भस्म हो गये हैं। अब तो मैं हल्का-फुल्का होकर उड़ने में सहायक अभय, सत्त्व-संशुद्धि, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि दैवी सम्पत् के गुब्बारों को अपनी छाती से बाँधे ज्ञान और निष्काम कर्म के पंखों से विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में उड़ान भर रहा हूँ। अब मैं मुक्ति के स्वर्गलोक में पहुँचनेवाला हूँ, जहाँ पहुँचकर सब दुःखों का विराम हो जाता है और जहाँ जगन्माता की प्यार-भरी गोद में आनन्द-ही-आनन्द है।

हे साधक! तू भी यदि अन्तरिक्ष की उड़ान भरना चाहता है, निम्न स्तर से उच्च, उच्चतर और उच्चतम शिखरों पर पहुँचना चाहता है, तो अध्यात्म उत्कर्ष में बाधक योग-मार्ग के विघ्नों को दग्ध करता हुआ आगे बढ़ और सफलता प्राप्त कर।

२१८. भयभीत और विचलित मत हो

मा भेर्मा संविक्था अतमेरुर्यज्ञो[१२],
ऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्[१२]।
त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा[१२] ॥ —यजु० १.२३

ऋषिः **परमेष्ठी प्रजापतिः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **बृहती**।

[हे आत्मन्!] **(मा)** मत **(भेः[१])** भयभीत हो, **(मा)** मत **(संविक्थाः[२])** विचलित हो। **(यज्ञः)** [तेरा] यज्ञ **(अतमेरुः[३])** ग्लानिरहित [हो], **(यजमानस्य)** [तुझ] यजमान की **(प्रजा)** प्रजा **(अतमेरुः)** ग्लानिरहित **(भूयात्)** हो। **(त्वा)** तुझे **(त्रिताय)** तीन के लिए [नियत करता हूँ], **(त्वा)** तुझे **(द्विताय)** दो के लिए [नियत करता हूँ], **(त्वा)** तुझे **(एकताय)** एक के लिए [नियत करता हूँ]।

हे आत्मन्! तू अग्नि है, अग्नि के समान तेजस्वी है। देवासुर-संग्राम की समर-स्थली में तू भयभीत मत हो, कर्त्तवन्य से विचलित मत हो। समर-स्थली को तुझे यज्ञ-स्थली बनाना है। तेरा जीवन-यज्ञ ग्लानि-रहित, अम्लान, धार्मिक, निष्कलङ्क, विशुद्ध, पवित्र, तेजोमय, तपोमय, स्फूर्तिमय, उत्साहमय, प्रेरणाप्रद, पाप-विध्वंसक एवं पावक होना चाहिए। इस शरीर में यजमान बनकर बैठा हुआ तू मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियरूप होताओं के साथ जो 'सप्तहोता' यज्ञ रचा रहा है, वह तेरा यज्ञ भी ग्लानिरहित होना चाहिए। तेरे शरीर और आचरण को तथा तेरे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को देखकर दर्शकों के मन में ग्लानि नहीं, प्रत्युत हर्ष, स्वागत और अभिनन्दन के भाव जागृत होने चाहिएँ। तेरा यज्ञ ग्लानि-रहित होगा तो उस यज्ञ से उत्पन्न तेरी प्रजा भी ग्लानिरहित होगी, तेरी भौतिक सन्तान और तेरी आध्यात्मिक सन्तान दोनों उज्ज्वल होंगी। तेरी पुत्र-पुत्रियाँ प्रशंसनीय होंगी, तेरी रचनाएँ यशोमयी होंगी और तेरी सद्गुण-रूप सन्तानें वन्दनीय होंगी।

हे आत्मन्! तुझे 'त्रित' के लिए नियुक्त करता हूँ। तू ज्ञान, कर्म, उपासना इस त्रिक को अपने जीवन में तथा तेरे सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों के जीवन में चरितार्थ कर। तुझे मैं 'द्वित' के लिए नियुक्त करता हूँ। तू इहलोक और परलोक दोनों को सुधार, श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग दोनों को क्रमशः जीवन का लक्ष्य बना, अपरा विद्या और परा विद्या दोनों का अनुभव प्राप्त कर तथा अन्यों को प्राप्त करा। तुझे मैं 'एकत' के लिए नियुक्त करता हूँ, एक परमेश्वर को मान, एक परमेश्वर का प्रचार कर, एक परमेश्वर का जगत् को दर्शन करा।

२१९. ओ३म् प्रतिष्ठ

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य[१०], बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनो[१०]-त्वरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु[११]। विश्वे देवास इह मादयन्ताम्[११], ओ३म् प्रतिष्ठ[४]॥

—यजु० २.१३

ऋषिः **परमेष्ठी प्रजापतिः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(**जूतिः**) वेगवान् (**मनः**) मन (**आज्यस्य**) घृत आदि यज्ञ-सामग्री को (**जुषतां**) प्राप्त करे। (**बृहस्पतिः**) आत्मा (**इमं**) इस (**यज्ञं**) यज्ञ को (**तनोतु**) फैलाये, (**इमं**) इस [यज्ञ] को (**अरिष्टं**) अहिंसित, अविघ्नित रूप में (**सं दधातु**) संधान करता रहे। (**विश्वे**) सब (**देवासः**) इन्द्रियाँ और विद्वज्जन (**इह**) इस यज्ञ में (**मादयन्ताम्**) तृप्त हों। (**ओ३म्**) हे परमात्मन्! [आप भी इस यज्ञ में] (**प्र-तिष्ठ**) प्रकृष्टरूप से स्थित हों।

हमने यज्ञ का आयोजन किया है। सब संभार एकत्र कर लिया है। घृत, हवन-सामग्री, समिधा, जल-पात्र, आचमनी आदि सब तैयार हैं। निमन्त्रित विद्वद्गण भी आ गये हैं। यजमान और ऋत्विज्-जन भी अपने-अपने आसनों पर विराजमान हैं। अब विलम्ब क्यों किया जाये? यज्ञारम्भ करना ही चाहिए। पर मन और आत्मा को समाहित किये बिना यज्ञ कैसे चल सकता है? अतः मन और आत्मा को तो सावधान एवं समाहित कर लिया जाये। मन घृत आदि सब यज्ञ-पदार्थों का निरीक्षण कर ले कि कोई वस्तु गली, सड़ी, घुनी, न्यून, अधिक आदि तो नहीं है और जबतक यज्ञ समाप्त न हो जाये, यज्ञ की ओर ही संलग्न रहे और यज्ञविषयक ही चिन्तन करता रहे। आत्मारूप बृहस्पति यज्ञ को फैलाये। जिन-जिन मन्त्रों का यज्ञ में उच्चारण किया जाये उन सबका मन द्वारा भी चिन्तन करता रहे और जो-जो विधि-विधान निष्पन्न किये जायें, उन सबका अभिप्राय समझता चले। तीन समिधाओं का आधान, घृताहुति, जलसेचन आदि विधियाँ क्यों की जा रही हैं, इसका तात्पर्य हृदयङ्गम करता चले। यज्ञ का जो भी विस्तार है वह सब आत्मबोध के साथ होना चाहिए। आत्मा-रूप बृहस्पति अहिंसित, अविघ्नितरूप में यज्ञ का सन्तान करता रहे, यज्ञ-तन्तु त्रुटित होने लगे तो उसे जोड़ता रहे। सब इन्द्रियरूप देव इस यज्ञ से तृप्त हों। चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ यज्ञ से तभी तृप्ति-लाभ कर सकती हैं, जब वे यज्ञ की ओर ही संलग्न रहें। आँख यज्ञ को ही देखे, कान यज्ञ-मन्त्रों का ही श्रवण करें, जिह्वा यज्ञ-मन्त्रों का ही उच्चारण करे, घ्राण यज्ञिय गन्ध को ही ग्रहण करे। देव शब्द से उपस्थित विद्वान् जन भी ग्राह्य हैं। वे भी यज्ञ में आकर तृप्ति-लाभ करें, ऐसा अनुभव न करें कि यह समय व्यर्थ गँवाया।

अन्तिम, किन्तु सर्वप्रमुख, वस्तु है 'ओ३म्', जिसे यज्ञ में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। यज्ञ में पठित होनेवाले प्रत्येक मन्त्र का आरम्भ तो हम 'ओ३म्' के साथ करते ही हैं, पर उतना ही पर्याप्त नहीं है, हमारे मन में यज्ञ करते समय प्रतिक्षण 'ओ३म्' पद के वाच्य ब्रह्म का ध्यान रहना चाहिए। हे 'ओ३म्'! तुम हमारे यज्ञ में प्रकृष्टरूप से स्थित हो जाओ।

२२०. सर्वाङ्ग-सुन्दर बनें

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिर्[११], अगन्महि मनसा सं शिवेन[११]।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायो[११], ऽनु मार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम्[१]॥

—यजु० २.२४

ऋषिः **वामदेवः**। देवता **त्वष्टा**। छन्दः विराट् त्रिष्टुप्।

[हम] (**वर्चसा**) ब्रह्मवर्चस से [और] (**पयसा**) दूध से, माधुर्य से (**सम् अगन्महि**) संयुक्त हों, (**तनूभिः**) शरीरों से (**सम्**) संयुक्त हों, (**शिवेन मनसा**) शिव मन से (**सम्**) संयुक्त हों। (**सुदत्रः**[१]) शुभ दानी (**त्वष्टा**[२]) जगद्-रचयिता परमेश्वर (**रायः**[३]) [धन, चक्रवर्ती राज्य, सुख, आरोग्य आदि] ऐश्वर्यों को (**वि-दधातु**) प्रदान करे, [और] (**यत्**) जो (**तन्वः**) शरीर का (**विलिष्टं**[४]) त्रुटिपूर्ण अङ्ग है, उसे (**अनु मार्ष्टु**[५]) परिमार्जित करे।

हम चाहते हैं कि हम संसार में सर्वांग-सुन्दर बनकर रहें, षोडशकल चन्द्र के समान परिपूर्ण बनकर निवास करें। हमारे अन्दर ब्रह्मवर्चस हो, आत्मिक तेज हो, जिसके सम्बन्ध में कभी ऋषि विश्वामित्र ने कहा था कि ब्रह्म-तेज ही सच्चा बल है, अन्य बल उसके सम्मुख निःसार है[६]। वह ब्रह्म-तेज का ही बल है, जिसके द्वारा शरीर से दुर्बल होते हुए भी अनेक मानव कोटि-कोटि जनों को अपने चरणो में झुकाते रहे हैं। साथ ही हमें 'पयः' भी प्राप्त हो। 'पयस्' शब्द दूध का वाचक होता हुआ भी रस, माधुर्य, शान्ति, निर्मलता, निश्छलता, सात्त्विकता आदि का भी द्योतक है। हमें पीने के लिए गो-रस और हृदय में बसाने के लिए उक्त माधुर्य आदि गुण प्राप्त हों। हम शरीरों से भी पुष्ट हों। हमारे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय रूपवाले पञ्च शरीरों का समुचित विकास हो। हमारा मन भी शिव हो, क्योंकि जबतक मन अशिवसङ्कल्पों से युक्त रहेगा, तबतक हमें किसी भी क्षेत्र में उत्कर्ष प्राप्त होना सम्भव नहीं है। मन को साधकर ही मनुष्य उन्नति की ओर अग्रसर होता है और मन की जीत पर ही उसकी जीत निर्भर है, मन के हारने पर उसका हारना अवश्यम्भावी है।

'त्वष्टा' परमेश्वर सारे जगत् का तरखान है, शिल्पी है, जिसका हस्त-कौशल सम्पूर्ण विश्व में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। वह 'सुदत्र' है, निरन्तर सबको शुभ वस्तुओं का दान करता रहता है। वह हमें भी शुभ ऐश्वर्यों का—धन, चक्रवर्ती राज्य, सुख, आरोग्य आदि का दान करे। वह हमें भौतिक एवं आध्यात्मिक समस्त शुभ सम्पत्तियों का अधीश्वर बनादे। हमारे शरीर का कोई अङ्ग यदि सदोष या त्रुटिपूर्ण हो गया है तो वह कुशल शिल्पी उसे परिमार्जित, सुसंस्कृत एवं परिशुद्ध कर दे। यदि हमारे नेत्रों की दृष्टि-शक्ति मन्द हो गई है अथवा दृष्टि-शक्ति तीव्र होते हुए भी हम उसका उपयोग अभद्र दृश्यों को देखने में करते हैं तो त्वष्टा प्रभु हमारी मन्द या अपवित्र नेत्र-शक्ति को शुद्ध कर दे। इसी प्रकार श्रोत्र, मुख, नासिका आदि अन्य अङ्गों को भी माँजकर तीव्र-शक्तिमय एवं पवित्र कर दे। हे कलाकार त्वष्टा प्रभु! तुम अपनी तूलिका से रङ्ग भरकर हमें सर्वांग-सुन्दर, सर्व-गुण-सम्पन्न और सर्व-शक्ति-समन्वित कर दो।

२२१. तू स्वयम्भू है

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्[९], वर्चोदा असि वर्चो मे देहि[१०]।
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते[९]॥ —यजु० २.२६

ऋषिः **वामदेवः**. देवता **ईश्वरः**। छन्दः **उष्णिक्**।

[हे परमेश्वर! तू] **(स्वयम्भूः)** स्वयम्भू **(असि)** है, **(श्रेष्ठः रश्मिः)** श्रेष्ठ रश्मि [है], **(वर्चोदाः)** ब्रह्मवर्चस का दाता **(असि)** है। **(मे)** मुझे **(वर्चः)** ब्रह्मवर्चस **(देहि)** प्रदान कर। [मैं] **(सूर्यस्य)** सूर्य के **(आवृतम् अनु)** चक्र-प्रवर्तन के अनुसार **(आवर्ते)** [जीवन का] चक्र-प्रवर्तन करूँ।

संसार में प्रत्येक कार्य-पदार्थ अपने-अपने कारण से उत्पन्न हुआ है, किन्तु हे परमेश्वर! तुम कार्य-पदार्थों की श्रेणी में न आने से किसी भी उपादान या निमित्तकारण से उत्पन्न नहीं होते, अतः तुम 'स्वयम्भू' हो। तुम इस कारण भी 'स्वयम्भू' हो, क्योंकि अपनी सत्ता तथा अपनी प्रत्येक गतिविधि के लिए पराश्रित न होकर पूर्णतः स्वतन्त्र हो, स्वयं पर निर्भर हो। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण 'स्वयम्भू' अकेले तुम्हीं हो, प्रकृति और जीवात्मा किसी के 'कार्य' न होते हुए भी अपने व्यापारों के लिए तुमपर आश्रित होने के कारण 'स्वयम्भू' नहीं हैं।

हे तेजः पुञ्ज! तुम श्रेष्ठ रश्मि हो, श्रेष्ठ ज्योति के मूर्तरूप हो। ज्योति तो पिशाचों के विध्वंसक-प्रलयङ्कर अस्त्रों में भी रहती है, पर वह पैशाचिक ज्योति होती है। ज्योति की श्रेष्ठता ही अन्य ज्योतिष्मानों से तुम्हें भिन्न करती है। अन्य ज्योतियाँ या तो केवल अश्रेयस्कर हैं या कभी श्रेयस्कर और कभी अश्रेयस्कर होती हैं, पर तुम विशुद्धरूप से श्रेयस्कर ही हो, श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ हो। साक्षात् तेज की रश्मि होने के कारण स्वभावतः तुम 'वर्चोदाः' हो, ब्रह्मवर्चस के दाता हो। मुझे भी ब्रह्मवर्चस प्रदान करो। ब्रह्मवर्चस आत्मा का वह दिव्य तेज होता है, जिसके सम्मुख बड़े-से-बड़े तेज या बल व्यर्थ हो जाते हैं।

हे तेजोमय! मेरे हृदय में ऐसी प्रेरणा करो कि मेरे जीवन का चक्र-प्रवर्तन सूर्य के चक्र-प्रवर्तन के अनुरूप हो जाये। जैसे सूर्य ग्रहोपग्रहों को अपने चारों ओर परिक्रमा कराता हुआ उन्हें प्रकाश देकर अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर-रूप चक्र का प्रवर्तन करता है तथा जड़-चेतन सबको प्राण प्रदान करता है, उसीके अनुरूप मैं अपने जीवन-चक्र को नियम-परायणता और परोपकारपूर्वक चलाऊँ। सूर्य जैसे प्रतिदिन तेजस्विता के साथ उदित होता है, ऐसे ही मेरा भी प्रत्येक प्रभात तेजस्विता के साथ आरम्भ हो। सूर्य जैसे अन्धकार और मालिन्य को हरता है, ऐसे ही मैं भी जगत् से अविद्या आदि के अन्धकार का तथा मनों की अपवित्रता का अपहरण करूँ। मैं साक्षात् सूर्य हो जाऊँ।

२२२. द्युति का दूध

अस्य प्रत्नामनु द्युतं[८], शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः[८]।
पयः सहस्त्रसामृषिम्[८] ॥ —यजु० ३.१६

ऋषिः **अवत्सारः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **गायत्री**।

(**अस्य**) इस यज्ञाग्नि अथवा परमात्माग्नि की (**प्रत्नां**) पुरातन, चिरन्तन (**द्युतम् अनु**) द्युति से (**अह्रयः**[१]) विद्वान् स्तोताजन (**शुक्रं**[२]) पवित्र, तेजोमय (**सहस्त्रसां**[३]) सहस्त्रों शक्तियों को देनेवाले (**ऋषिम्**[४]) दिव्य दृष्टि प्रदान करनेवाले (**पयः**) [सत्फलरूप] दूध को (**दुदुह्रे**[५]) दुह लेते हैं।

जब कोई यजमान यज्ञकुण्ड में यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करता है, या उपासक हृदय में परमात्माग्नि को प्रदीप्त करता है, तब उन दोनों अग्नियों की द्युति अत्यन्त चामत्कारिक, मनोहारिणी, प्रेरक और दर्शनीय होती है। उस द्युति पर बड़े-बड़े व्रतनिष्ठ कर्मकाण्डी जन और बड़े-बड़े अध्यात्म-साधक लोग मुग्ध हो उठते हैं और उसे अपनी यज्ञ-साधना की स्थायी द्युति बना लेने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। पवन की गति के साथ हिलोरें लेती हुई यज्ञाग्नि की तेजोमयी ज्वाला और हृदय में प्रकट हुई परमप्रभु की दिव्य-ज्योति उन आहिताग्नियों के लिए कामधेनु सिद्ध होती है।

विद्वान् स्तोताजन उस द्युतिरूप कामधेनु से जिस दूध को दुहते हैं वह अपूर्व गुणकारी होता है। अग्नि-द्युति का वह दूध 'शुक्र', अर्थात् पवित्र और तेजोमय होता है, जो बाह्ययज्ञ तथा अध्यात्म-यज्ञ के अनुष्ठाता के अङ्ग-अङ्ग में पवित्रता और तेजस्विता का सञ्चार कर देता है। अग्नि-द्युति का वह दूध 'सहस्त्रसा' होता है, शरीर प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा में सहस्त्रों शक्तियों का दान करता है। वह इन्द्रियों में स्फूर्तियुक्त बल, प्राणों में उद्वहन-सामर्थ्य, मन में सङ्कल्प-सिद्धि, बुद्धि में अध्यवसाय की स्थिरता और आत्मा में आत्म-बल एवं समस्त अणिमादि ऐश्वर्य उत्पन्न कर देता है। अग्नि-द्युति का वह दूध 'ऋषित्व' प्रदान करता है, यज्ञ-साधक को दिव्य-दृष्टि से युक्त कर देता है। वह 'अग्नि-द्युति' 'प्रत्न', अर्थात् पुरातन, चिरन्तन और सनातन है।

आओ, हम भी बाह्ययज्ञ तथा अध्यात्म-यज्ञ को रचायें। हम भी बाह्य यज्ञशाला तथा आन्तरिक यज्ञशाला में प्रज्वलित यज्ञाग्नि की द्युति से पवित्रता, तेज, शक्ति-सञ्चय और दिव्य-दृष्टि प्राप्त कर स्वयं को कृतार्थ करें। तभी हमारा यज्ञ सफल होगा, तभी हमारा अग्न्याधान, अग्निप्रदीपन और अग्निहोत्र हमारे अन्दर शक्तिपात करनेवाला सिद्ध होगा।

२२३. हमें त्र्यायुष प्राप्त हो

त्र्यायुषं जमदग्नेः[७], कश्यपस्य त्र्यायुषम्[७]।
यद् देवेषु त्र्यायुषं[७], तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्[७]॥

—यजु० ३.६२

ऋषिः **नारायणः**। देवता **रुद्रः**। छन्दः **चतुष्पाद् उष्णिक्**।

[हे रुद्र परमेश्वर!] **(जमदग्नेः[१])** प्रज्वलिताग्नि कर्मकाण्डी को और चक्षु इन्द्रिय को **(त्र्यायुषं[२])** त्रिगुणित आयु [प्राप्त हो]। **(कश्यपस्य[३])** द्रष्टा ज्ञानी को और शरीरस्थ प्राण को **(त्र्यायुषं)** त्रिगुणित आयु [प्राप्त हो]। **(यद्)** जो **(देवेषु)** विद्वानों में **(त्र्यायुषं)** त्रिगुणित आयु [होती है], **(तत्)** वह **(त्र्यायुषं)** त्रिगुणित आयु **(नः)** हमारी **(अस्तु)** हो।

हे परमेश्वर! तुम रुद्र हो; रोग, चिन्ता आदि को दूरकर शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले हो, जिससे दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। जैसे देवों, अर्थात् नियम-परायण विद्वज्जनों को तुम 'त्र्यायुष' प्रदान करते हो, वैसे ही हमें भी प्रदान करो। यह 'त्र्यायुष' क्या है? त्रिविध तापों से रहित, बाल्य-यौवन-वार्धक्य तीनों अवस्थाओं में सुखकर, इन्द्रिय-अन्तःकरण-प्राण तीनों की स्वास्थ्य-कर, ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों से अनुप्राणित, विद्या-शिक्षा-परोपकार तीनों से युक्त तीन सौ वर्ष की आयु 'त्र्यायुष' कहाती है। आज तो हम सामान्य सौ वर्ष की आयु भी नहीं जी पाते, विभिन्न देशों की औसत आयु सौ वर्ष से बहुत कम है। पर वेद का स्वप्न है कि मनुष्य तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त करे। भाष्यकार ने तो यहाँ तक कहा है कि मन्त्र में 'त्र्यायुष' शब्द की चार बार आवृत्ति चतुर्थ शतक की भी द्योतिका है, इस प्रकार चार सौ वर्ष की आयु अभीष्ट है[४]।

हमारे बीच में जो जमदग्नि ऋषि, अर्थात् अग्नि को गति देनेवाले प्रज्वलिताग्नि नर-नारी हैं, उन्हें 'त्र्यायुष' प्राप्त हो। जीवन में अग्नि का प्रज्वलन आयु-क्षय-कारी समस्त व्याधियों को दूर करता ही है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार चक्षु इन्द्रिय का नाम भी जमदग्नि है, जो यहाँ सभी इन्द्रियों का उपलक्षण है एवं हमारे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, त्वक्, रसना, मुख, पाणि, पाद आदि सभी अङ्गों को त्र्यायुष प्राप्त होना चाहिए। ऐसा न हो कि हम तीन सौ या चार सौ वर्ष जीवित तो रहें, पर विकलेन्द्रिय होकर। हमारे समाज के 'कश्यप' ऋषि, अर्थात् द्रष्टा मनीषियों को भी 'त्र्यायुष' प्राप्त हो, जिससे चिरकाल तक हमें अपने ज्ञानदर्शन का लाभ पहुँचाते रहें। 'कश्यप' ऋषि शरीर में प्राण का नाम है एवं हमारे प्राण को भी 'त्र्यायुष' प्राप्त हो। हम जबतक जीवित रहें, प्रशस्त प्राणों से युक्त रहें। हमारे प्राण, अपान आदि सम्यक् प्रकार से प्राणन, अपानन आदि क्रियाओं को करते रहें।

२२४. मुझे सच्चरित्र करो

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज[१८]।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु[१४]॥ —यजु० ४.१८

ऋषिः **वत्सः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **साम्नी बृहती साम्नी उष्णिक्**

(**अग्ने**) हे परमात्मन्! (**मा**) मुझे (**दुश्चरितात्**) दुश्चरित्र से (**परिबाधस्व**) दूर कर, (**मा**) मुझे (**सुचरिते**) सुचरित्र में (**आ भज**) स्थापित कर। [मैं] (**आयुषा**) आयु से (**उत्**) उन्नत होऊँ, (**सु-आयुषा**) उत्तम आयु से [उन्नत होऊँ], (**अमृतान्[१] अनु**) अमर-पद-प्राप्त सदेह-मुक्त एवं विदेह-मुक्त विद्वानों का अनुसरण करते हुए (**उत्-अस्थाम्**) [मोक्ष के लिए] उत्थित होऊँ।

किसी देश का वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय चरित्र कैसा है, यही उसके उत्कर्ष या अपकर्ष की कसौटी है। व्यक्ति के ही चरित्र से किसी राष्ट्र के चरित्र का निर्माण होता है, अतः मेरी कामना है कि मेरा वैयक्तिक चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल हो। हे अग्ने! हे पाप-ताप को भस्म करनेवाले परमपिता परमात्मन्! दुश्चरित्र से तुम मुझे सदा दूर रखो और सच्चरित्र में स्थापित करो। मैं ऐसा खरा सोना बन जाऊँ कि पूर्ण विश्वास के साथ कह सकूँ कि मेरे अन्दर मांस, मदिरा, व्यभिचार, द्यूत-क्रीड़ा, असत्य-भाषण, चोरी, हिंसा, दम्भ, पाखण्ड आदि कोई दुर्व्यसन नहीं है और इसके विपरीत श्रद्धा, ईश्वर-भक्ति, क्षमा-शीलता, जितेन्द्रियता, धर्मनिष्ठा, सत्य-सङ्कल्पता, सन्तोष-शालिता, कृतज्ञता, दानशीलता, परोपकार, मधुर-भाषण, सद्-व्यवहार आदि सच्चारित्र्य सब विद्यमान हैं। जब सच्चरित्र आत्माओं की गणना होने लगे तब सबसे पूर्व लोगों की अंगुलि मेरी ओर उठे। मेरे सुचरितों की कीर्ति दिग्-दिगन्त-व्यापिनी होकर मुझे अमर कर दे।

सच्चरित्र का प्रभाव मनुष्य की आयु पर भी पड़ता है एवं सच्चारित्र्य का विकास मेरे लिए दीर्घायुष्य-प्रदायक हो। साथ ही वह दीर्घायुष्य ऐसा न हो कि मैं रोगाक्रान्त, चिन्ताग्रस्त, कातर और दुःखी रहता हुआ चिरकाल तक जिऊँ, अपितु मैं जीवन से अनुप्राणित, प्रफुल्ल और सुखी रहता हुआ चिरजीवी बनूँ, परन्तु सुचरित, सुख-सम्पदा, लम्बी आयु, इतना ही मेरे लिए प्राप्तव्य नहीं है, अपितु मैं मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी उद्यमी होना चाहता हूँ। जो विद्वज्जन सदेह और विदेह-मुक्ति के अमर पद को प्राप्त कर चुके हैं, उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए मैं मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। हे तेजोमय अग्नि प्रभु! तुम मेरे प्रयास को फलवान् करो और मुझे अपनी सुखमयी गोद में आश्रय देकर असीम ब्रह्मानन्द का अधिकारी बनाओ।

२२५. वाणी का सिंही और सपत्नसाही रूप

सिंहृयसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिंहृयसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिंहृयसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व[४२] ॥ —यजु० ५.१०

ऋषिः **गोतमः** । देवता **वाक्** । छन्दः **ब्राह्मी उष्णिक्** ।

[हे वाणी! तू] (**सिंही**) सिंहनी के तुल्य पराक्रमशील [और] (**सपत्नसाही**) कामादि शत्रुओं को परास्त करनेवाली (**असि**) है। (**देवेभ्यः**) [वैयक्तिक] दिव्य गुणों के प्रसारार्थ (**कल्पस्व**[१]) समर्थ हो। [तू] (**सिंही**) सिंहनी के तुल्य विदारणशीला [और] (**सपत्न-साही**) सामाजिक दोषों को दूर करनेवाली (**असि**) है, (**देवेभ्यः**) [सामाजिक] दिव्य गुणों के प्रसारार्थ (**शुन्धस्व**[२]) शुद्ध हो। [तू] (**सिंही**) सिंहनी के समान उद्वेजक [और] (**सपत्न-साही**) [राष्ट्रिय] शत्रुओं को ध्वस्त करनेवाली (**असि**) है, (**देवेभ्यः**) [राष्ट्रिय] दिव्य गुणों के प्रसारार्थ (**शुम्भस्व**[३]) भासित एवं वअलंकृत हो।

वाणी के अन्दर बहुत बड़ी शक्ति निहित है। वाणी के दो रूप होते हैं—एक आन्तरिक वाणी, जो हमारे मन में सङ्कल्प और विचार के रूप में रहती है और दूसरी वह वाणी जिसका हम जिह्वा से उच्चारण करते हैं। वाणी से हम वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय सपत्नों को विध्वस्त करके दिव्य गुणों का प्रसार कर सकते हैं। हे मेरे मन की आन्तरिक वाणी! तू सिंही है, सिंहनी के समान पराक्रमशीला है। तू अपना पराक्रम दिखा। तू मन में उठनेवाले शत्रुरूप काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि के आसुरी विचारों से द्वन्द्व-युद्ध करके उन्हें परास्त कर सकनेवाली है, अतः उन्हें परास्त कर। उनकी पराजय के पश्चात् फिर तू मनोभूमि में ईश्वर-विश्वास, सत्य, न्याय आदि के सद्-विचारों को प्रसारित कर। इस प्रकार वैयक्तिक मनोराज्य को अकण्टक करके सद्गुणों की सुगन्ध से महका दे।

हे समाज के साधु-सन्तों की वाणी! हे समाज के सद्गुरुओं की वाणी! हे समाज-सुधारक परिव्राट् संन्यासियों की वाणी! तू भी सिंही है, सिंहनी के तुल्य विदारणशीला है। तू अपने तीक्ष्ण शब्दमय पञ्जों और दाँतों से समाज में फैली हुई कुरीतियों का विदारण कर। बालविवाह, बहुविवाह, विधवा-उत्पीडन, दहेज-प्रथा, मद्यपान, नशा-सेवन, छुआछूत, घूसखोरी, कम-तोल, मिलावट आदि सामाजिक बुराइयों पर तीव्र प्रहार करके उनका समूल उन्मूलन कर दे। इसके पश्चात् पवित्र वातावरण तैयार हो जानेपर तू समाज को गुणग्राहिता के चन्दन-लेप से और पारस्परिक प्रीति, वर्णाश्रम की मर्यादा के पालन, धर्मोत्थान आदि के सौरभ से सुगन्धित कर। पर हे वाणी! ऐसा तू तभी कर सकेगी, जब तू स्वयं को स्वार्थ आदि की अपवित्रता से शुद्ध कर लेगी।

हे राष्ट्र की वाणी! हे सम्राटों की वाणी! हे राज्याधिकारियों की वाणी! तू राज-नियमों, राजकीय घोषणाओं, राजकीय अधिनियमों आदि के रूप में प्रकट होती है। तू भी सिंही है, सिंहनी के समान उद्वेजक है। अपराधी तुझसे थर-थर काँपते हैं। तू राष्ट्रिय स्तर के अपराधियों को उद्वेजित कर। तस्कर-व्यापार आदि राष्ट्रिय दोष प्रजा में घर किये हुए हैं, उन्हें हे राष्ट्र-वाणी! तुझे विध्वस्त करना होगा। उन दोषों को विनष्ट करके फिर तू राष्ट्रवासियों को देश-भक्ति, बलिदान-भावना आदि सद्गुणों से ओत-प्रोत कर। स्वयं को इस महान् कार्य के लिए शक्ति से अलंकृत और भासित कर।

२२६. साँप मत बन

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि[१७]।
घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु[१४]॥

—यजु० ६.१२

ऋषिः **मेधातिथिः**। देवता **विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिक् प्राजापत्या अनुष्टुप् साम्नी उष्णिक्।**

(आतान[१]) हे [यश, सद्गुण आदि का] विस्तार करनेवाले विद्वन्! [तू] **(अहिः)** साँप **(मा भूः)** मत हो, **(मा पृदाकुः)** न अजगर। **(ते नमः)** तुझे नमस्कार प्राप्त हो, [तू] **(अनर्वा[२])** अहिंसक और अपराश्रित [होकर] **(प्रेहि)** आगे बढ़। **(घृतस्य[३])** घी और तेज की **(कुल्याः)** नहरों के **(उप)** समीप [पहुँच]। **(ऋतस्य)** सत्य की **(पथ्याः[४])** पथ-नीतियों का **(अनु)** अनुसरण कर।

हे विद्वन्! तू 'आतान' है, विस्तार करनेवाला है। तुझे संसार में अपने यश का विस्तार करना है; सद्गुणों का विस्तार करना है; धन, धर्म, यज्ञ, न्याय सुख, आरोग्य, ज्ञान, श्रेष्ठनीति आदि का विस्तार करना है, उत्कृष्ट चक्रवर्ती राज्य का विस्तार करना है। उसके लिए तू सत्य मार्ग का ही अनुसरण कर। कभी-कभी तुझे ऐसा प्रतीत होगा कि असत्य का अवलम्बन कर तू जल्दी विस्तार के लक्ष्य को पा सकता है, क्योंकि असत्य-पथ-गामियों ने भी संसार में बड़े-बड़े राज्य, वैभव आदि के विस्तार किये हैं। पर उस प्रलोभन में तू मत पड़। असत्य की कमाई कभी फलदायक नहीं होती। असत्य से विस्तार पाये हुए अनेक लोगों ने मृत्यु के समय पश्चात्ताप के आँसू बहाये हैं, अतः तू असत्य का आश्रय न लेकर सत्य मार्ग की जो नीतियाँ वेदादि शास्त्रों ने वर्णित की हैं, उन्हीं पर चल। सावधान रह, तू 'साँप' मत बन, सर्प की तरह टेढ़ी चाल मत चल, कुटिल आचरण मत कर, अपने अन्दर विष मत रख। 'अजगर' मत बन; अजगर जैसे मुँह फाड़कर अपने शिकार को निगल जाता है, वैसे तू अपनी चादर लम्बी करके पराई सम्पत्ति को मत हथिया, दूसरे के स्वत्वों को मत हड़प, परकीय सुराज्य पर दाँत मत गड़ा, सबकुछ अपने पास समेटं लेने की परिग्रहवृत्ति मत अपना। तू संसार में आगे बढ़, 'अनर्वा' होकर आगे बढ़। अपने-आपको आगे बढ़ाने के लिए दूसरों की हिंसा या हानि मत कर। अहिंसा-व्रती बनकर उत्कर्ष की सीढ़ी पर चढ़। साथ ही आगे बढ़ने के लिए पराश्रित भी मत हो। दूसरों का मुँह मत देख, अपने बूते पर आत्म-विश्वास का सम्बल लेकर आगे बढ़। तू 'घृत' की नहरों के समीप पहुँच। वैदिक घृत शब्द घी और तेज दोनों का वाची है। घी की नहरें भौतिक समृद्धि और ऐश्वर्यशालिता की प्रतीक हैं। तू विपुल भौतिक समृद्धि प्राप्त कर। 'तेज की नहरें' आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्रतीक हैं। तू आध्यात्मिक ऐश्वर्य की नहरों में भी स्नान कर। यदि इन सब प्रेरणाओं को ग्रहण कर इनके अनुसार अपने जीवन को चलायेगा, तो तुझे चारों ओर से 'नमः' प्राप्त होंगे, सब तुझे नमस्कार करेंगे, तेरे प्रति श्रद्धा और आदर प्रदर्शित करेंगे, चारों दिशाएँ तेरे आगे झुक जायेंगी।

२२७. विश्ववारा संस्कृति

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य[१३], रायस्पोषस्य ददितारः स्याम[११]।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा[११], स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः[११]॥

—यजु० ७.१४

ऋषिः **वत्सारः काश्यपः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **स्वराट् त्रिष्टुप्**।

(देव सोम) हे देव सोम! [हम] **(ते)** तेरे **(अच्छिन्नस्य)** अच्छिन्नरूप से हमारी ओर प्रवाहित होनेवाले **(सुवीर्यस्य)** उत्कट बल के [और] **(रायः पोषस्य)** ऐश्वर्य की समृद्धि के **(ददितारः)** दान करनेवाले **(स्याम)** हों। **सा)** वह **(विश्ववारा)** विश्व-वरणीय **(प्रथमा)** श्रेष्ठ **(संस्कृतिः)** संस्कृति [है]। **(सः)** वह **(वरुणः)** वरुण, **(मित्रः)** मित्र [और] **(अग्निः)** अग्नि **(प्रथमः)** [उस संस्कृति का] श्रेष्ठ आदर्श [है]।

आओ, हम सर्वश्रेष्ठ विश्व-वरणीय वैदिक संस्कृति को अपनायें। पर वह संस्कृति है क्या? उसकी प्रथम विशेषता है दान-भावना। 'सोम' प्रभु अनन्त ऐश्वर्यों के भण्डार हैं। उनके पास से हमारी ओर अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त सुवीर्य अच्छिन्नरूप से प्रवाहित हो रहे हैं। 'सोम' प्रभु ने जगत् की समस्त वस्तुएँ रचकर बिना मूल्य के ही हमें दान की हुई हैं। जो नानाविध सांसारिक धन-दौलत, सोना-चाँदी, हीरे-मोती, वस्त्र-अलङ्कार, गृह-हवेली आदि हमारे पास हैं, जिनके स्वामी होने का हम गर्व करते हैं, वे 'सोम' प्रभु के ही दिये हुए हैं। हमें जो भी शारीरिक, भौतिक या आत्मिक ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, वह सब उसी का दिया हुआ है। हमारे अन्दर जो बल, वीर्य और सामर्थ्य है, जो दैहिक बल है, जो शिव-सङ्कल्प का मनोबल है, जो बुद्धि का निश्चय-सामर्थ्यरूप बल है, जो आत्मा का ज्ञान आदि रूप बल है, वह सब भी 'सोम' प्रभु की ही देन है। वैदिक संस्कृति कहती है कि हम एक हाथ से इन सब ऐश्वर्यों और सुवीर्यों को प्रभु से ले रहे हैं, तो दूसरे हाथ से इनका औरों को दान भी करते रहें। धन और बल यदि एक स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं, तो वे अनर्थकारी परिणाम उत्पन्न करने लगते हैं, अतः 'सोम' प्रभु के समस्त अमृत-पुत्रों में उनका संविभाजन होते रहना आवश्यक है।

वैदिक संस्कृति की दूसरी विशेषता है 'वरुण', 'मित्र' और 'अग्नि' के आदर्शों को अपने सम्मुख रखना। हम वैदिक 'वरुण' प्रभु के समान पाप एवं अनृत आचरण को पाशों से जकड़नेवाले तथा सत्य का प्रसार करनेवाले बनें। हम 'मित्र' प्रभु के समान विश्व-बन्धुत्व की भावना को साकार करें। हम अन्यों को मत्र की आँख से देखें, अन्य लोग हमें मित्र की आँख से देखें। सब राष्ट्र एक-दूसरे के साथ मैत्री की शृंखला में बँधे हों। फिर हम 'अग्नि' प्रभु के समान तेजस्वी, तपस्वी और प्रकाश फैलानेवाले बनें। कहीं भी अविद्या आदि का अन्धकार व्याप्त हो, तो उसे हम सहन न करें।

इस प्रकार धन और बल के दान की भावना, पाप और असत्य के उन्मूलन की भावना, विश्व-मैत्री की भावना तथा प्रकाश-प्रसार की भावना वैदिक संस्कृति के प्रमुख अङ्ग हैं, जिनके कारण यह संस्कृति विश्व से वरण किये जाने योग्य है।

२२८. कौन देता है? किसे देता है?

कोऽदात् कस्मा अदात्[६], कामोऽदात् कामायादात्[७]।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता[११], कामैतत् ते[४]॥

—यजु० ७.४८

ऋषिः **आङ्गिरसः**। देवता **कामः (आत्मा)**। छन्दः **उष्णिक्**।

(कः) कौन **(अदात्)** देता है? **(कस्मै)** किसे **(अदात्)** देता है? **(कामः)** काम **(अदात्)** देता है, **(कामाय)** काम को **(अदात्)** देता है। **(कामः)** काम **(दाता)** दाता [है], **(कामः)** काम **(प्रतिग्रहीता)** ग्रहणकर्ता [है]। **(काम)** हे काम! **(एतत्)** यह **(ते)** तेरे लिए [है]।

संसार में सर्वत्र परस्पर आदान-प्रदान चल रहा है। कोई किसी को देता है, कोई किसी से लेता है। छोटे व्यक्ति से लेकर बड़े-बड़े राजे-महाराजे और ऋषि-महर्षि तक सभी जन कुछ अपने पास से देते हैं और कुछ दूसरे के पास से लेते हैं। क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि यह लेने-देनेवाला कौन है और वह किसे देता है या किससे लेता है? वस्तुतः 'काम' ही देता है, 'काम' ही लेता है, 'काम' ही दाता है, 'काम' ही प्रतिग्रहीता है। जब मैं किसी को कोई वस्तु देता हूँ, तब कामना के वश होकर देता हूँ और जब कोई किसी वस्तु को लेता है, तब वह भी कामना के वश होकर लेता है। मेरे पास कितनी ही भौतिक सम्पत्ति भरी पड़ी हो और मैं कितने ही ज्ञान-विज्ञान का धनी होऊँ, जबतक 'काम' की प्रवृत्ति नहीं होगी तबतक मेरे अन्दर किसी को देने की आन्तरिक अभिलाषा उत्पन्न नहीं हो सकती, परिणामतः तबतक मैं दाता नहीं बन सकता। इसी प्रकार कोई कितना ही निर्धन और अज्ञानी व्यक्ति हो, जबतक उसकी धन या ज्ञान को ग्रहण करने की कामना नहीं होगी, तबतक वह ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं होगा। इस प्रकार दाता और प्रतिग्रहीता कोई व्यक्ति-विशेष नहीं होते, अपितु 'काम' ही दाता और प्रतिग्रहीता दोनों होता है। इस 'काम' से प्रेरित होकर ही भिक्षुजन भिक्षापात्र लेकर भिक्षावृत्ति के लिए निकलते हैं और इस 'काम' से प्रेरित होकर ही दाता जन देय द्रव्य की ढेरी लगाकर दान लेनेवाले की प्रतीक्षा करते हैं। 'काम' के अधीन होकर ही शिष्य आचार्य के पास विद्याग्रहण के लिए जाता है और 'काम' के अधीन होकर ही आचार्य शिष्य को विद्या का दान करता है। इस 'काम' की पकड़ से कोई मुक्त नहीं हुआ है। एक अकिञ्चन मनुष्य भी 'काम' की डोर से बँधा हुआ है और एक चक्रवर्ती सम्राट् भी 'काम' से ग्रस्त है। 'काम' का इतना व्यापक प्रभाव है कि उसके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता[१]। परमात्मा भी 'काम' के वशीभूत होकर ही सृष्टि की रचना करते हैं[२]। इस काम को हम कामना, अभिलाषा, अभीप्सा, इच्छा-शक्ति, सङ्कल्प-शक्ति, महत्त्वाकांक्षा आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। हमारा सारा जीवन इस 'काम' के आधार पर ही चल रहा है। कामनाहीनता जड़ता है और कामना जीवन है। कोई योगी निष्काम कर्म भी तभी करता है, जब वैसी कामना उसके अन्दर होती है।

हे काम! क्योंकि तुम्हीं दाता हो और तुम्हीं प्रतिग्रहीता हो, अतः अपने दान या आदान को हम तुम्हें ही समर्पित करते हैं। तुम्हीं जैसा हमें चाहिए वैसा हमसे दान कराओ और प्रतिग्रहण कराओ।

२२९. राज्याभिषेक

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर् भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण। क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून् पाहि[४०] ॥ —यजु० १०.१७

ऋषिः **वरुणः**। देवता **क्षत्रपतिः**। छन्दः **विराड् ब्राह्मी उष्णिक्**।

[हे वीर!] (**त्वा**) तुझे (**सोमस्य**) चन्द्रमा के (**द्युम्नेन**) तेज और यश से, (**अग्नेः**) अग्नि के (**भ्राजसा**) भ्राज से, (**सूर्यस्य**) सूर्य के (**वर्चसा**) वर्चस् से, (**इन्द्रस्य**) इन्द्र के (**इन्द्रियेण**) इन्द्रत्व से (**अभिषिञ्चामि**) अभिषिक्त करता हूँ। [तू] (**क्षत्राणां**) क्षात्र-धर्मों का (**क्षत्रपतिः**) क्षत्रपति (**एधि**) हो, (**दिद्यून्[१] अति**) खण्डित करनेवाले बाणों को अतिक्रान्त करके (**पाहि**) रक्षा कर।

हे वीर! हे राजनीतिज्ञ! हे रिपुदलोच्छेदन-कुशल! हे प्रजापालन-दक्ष! तुझे प्रजा ने बहुमत से राजा के उत्तरदायित्वपूर्ण पद के लिए निर्वाचित किया है, अतः मैं पुरोहित आज तेरा राज-तिलक कर रहा हूँ, तुझे राज्याभिषिक्त कर रहा हूँ। मैं तेरे ऊपर पवित्र जल छिड़कता हूँ। इस प्रथम जल-सेचन द्वारा मैं तुझे 'सोम' के 'द्युम्न' से, चन्द्रमा की शीतल चाँदनी और रमणीय कीर्ति से अभिषिक्त करता हूँ। तू अपने शासनकाल में चन्द्रिका के समान शीतल, सौम्य, शान्तिमय, शान्तिदायक, पवित्र और कीर्ति से भासित रहना। द्वितीय जल-सेचन द्वारा मैं तुझे 'अग्नि' के 'भ्राज' से अभिषिक्त करता हूँ। तू अग्नि के भ्राज के समान तेजोमय, ऊर्ध्वारोही, मालिन्य का अपहर्ता और परिपक्वता लानेवाला बनना। तृतीय जलसेचन द्वारा मैं तुझे 'सूर्य' के 'वर्चस्' से अभिषिक्त करता हूँ। तू सूर्य-वर्चस् के समान वर्चस्वी, तेजस्वी, प्राणदायक, तामसिकता-विदारक, मोहनाशक तथा प्रकाश-प्रदायक बनना। चतुर्थ जल-सेचन द्वारा मैं तुझे इन्द्र के इन्द्रत्व से अभिषिक्त करता हूँ, परब्रह्म की महत्ता से भासित करता हूँ। परब्रह्म जैसे अपनी महिमा से और अपने नियुक्त किये हुए भूमि, सूर्य, चन्द्र, पर्जन्य, वायु, आकाश आदि के द्वारा ब्रह्माण्ड का राज्य चला रहे हैं, वैसे ही तू अपना राज्य-शासन कुशलता से और अपने नियुक्त किए हुए राज्याधिकारियों की सहायता से सञ्चालित करना। हे वीर! तू क्षत्रों का क्षत्रपति बन, क्षात्र-धर्मों का शिरोमणि और आदर्श परिपालक बन। यदि कभी शत्रुओं के आक्रमण तेरे राष्ट्र पर हों, रिपु-दल के शस्त्रास्त्र तेरी प्रजा पर बरसें, तो उन्हें विफल कर तू विजयी होना और सदा ही प्रजा का रक्षक बने रहना। मैं एक बार पुनः तेरे ऊपर जल छिड़कता हूँ, समस्त प्रजाओं की ओर से तेरा राज्याभिषेक करता हूँ।

हे मेरे आत्मन्! तू भी इस शरीर-नगरी का राजा बन। तेरा भी मैं अभिषेक करता हूँ। चन्द्रिका-सदृश, सौम्य, सुन्दर, स्नेहिल गुणों से तुझे अभिषिक्त करता हूँ। अग्नि-प्रभा-तुल्य दोष-दाहक, क्रियामय, वेगादि गुणों से तुझे अभिषिक्त करता हूँ। सूर्य-ज्योति-सम तेजोमय, प्राणमय, तमोनाशक गुणों से तुझे अभिषिक्त करता हूँ। अखिल ब्रह्माण्ड के महेन्द्र परमब्रह्म परमेश्वर के इन्द्रत्व और सामर्थ्य से तुझे अभिषिक्त करता हूँ। तू क्षत्रपति बन, देहरूप अयोध्यापुरी को शत्रु के आघातों से बचा। आन्तरिक देवासुर-संग्राम में असुरों की बाण-वर्षा को विच्छिन्न करके दिव्य-विचार-रूप प्रजा की रक्षा कर।

२३०. सविता देव की मैत्री

विश्वो देवस्य नेतुर्[७], मर्तो वुरीत सख्यम्[८] ।
विश्वो राय इषुध्यति[९], द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा[१०] ॥

—यजु० ११.६७

ऋषिः **आत्रेयः**। देवता **सविता**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(विश्वः) सब कोई **(मर्तः)** मानव **(नेतुः)** नायक **(देवस्य)** दिव्य-गुण-युक्त [सविता परमेश्वर] के **(सख्यम्)** सख्य को **(वुरीत[१])** वरण करे। **(विश्वः)** सब कोई **(राये)** धन के लिए **(इषुध्यति[२])** संघर्ष करता है, याचना करता है। वह **(पुष्यसे[३])** पुष्टि के लिए **(द्युम्नं)** तेज और यश को **(वृणीत)** वरण करे। **(स्वाहा[४])** सत्कर्म करे, त्याग करे।

अपने जीवन में हम अनेक मित्रों का वरण करते हैं। जिस मनुष्य के मित्र जितनी उच्चकोटि के होते हैं, उतना ही उच्च वह स्वयं बन सकता है। किसी ने सत्य कहा है कि किसी व्यक्ति का परिचय उसके मित्रों को देखकर मिल जाता है। संसारी मित्र तो कभी-कभी अपने स्वार्थवश अमित्र भी हो जाते हैं, किन्तु एक ऐसा मित्र है, जो कभी अमित्र नहीं होता, कभी अहित नहीं करता, वह है 'सविता' प्रभु। अतः मानव को चाहिए कि वह उस 'सविता' प्रभु के सख्य का स्वेच्छा से वरण करे। वह 'सविता' प्रभु नेता है, मार्गदर्शक है, दिशा दिखानेवाला प्रकाशस्तम्भ है, अतः अपने सखा को सही दिशा दर्शाता है। वह 'देव' है, दिव्यगुणों से युक्त है, अतः अपने सखा में दिव्य गुणों का ही आधान करता है। आओ, हम उस अद्भुत देव के साथ मैत्री स्थापित करें, जो अपने सखा को लोहे से कुन्दन बना देता है।

संसार में प्रत्येक मानव धन की साधना कर रहा है और धन-प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहा है, जहाँ-तहाँ से धन पाने के लिए याचना भी कर रहा है। वह धन-प्राप्ति की लालसा में जिन किन्हीं भी उपायों का अवलम्बन कर शीघ्र ही धनी हो जाना चाहता है। पर धन की पुष्टि प्राप्त करने के लिए वैदिक मार्ग है, द्युम्न का मार्ग। धन की समृद्धि पाने के लिए हम 'द्युम्न', अर्थात् तेज और यश का वरण करें। तेजस्वी होकर उत्साह और शोभा के साथ यशोमय साधु उपायों से धनार्जन करें, निस्तेज एवं निरुत्साहित मन से निन्दा और अपयश करानेवाले दूषित उपायों से धनार्जन न करें। सविता प्रभु के सखित्व के वरण और समृद्धि के लिए तेज तथा यश के वरण के अतिरिक्त मनुष्य को जीवन में 'स्वाहा' भी करना है। स्वाहा का एक अर्थ है सत्कर्म और दूसरा अर्थ है त्याग, आहुति, बलिदान। आओ, हम इन मन्त्रोक्त निर्देशों का पालन करते हुए संसार में सुखी जीवन जियें।

२३१. दिव्य शक्ति का अवतरण

परस्या अधि संवतो[८]**, अवराँ अभ्यातर**[७]**।**
यत्राहमस्मि ताँ अव[८] **॥** —यजु० ११.७१

ऋषिः **विरूपः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

[(**अग्ने**) हे अग्निस्वरूप परमात्मन्!] (**परस्याः**) परवर्ती, ऊर्ध्वस्थ (**संवतः अधि**) भूमिका से (**अवरान् अभि**) निम्न भूमिकाओं में स्थित लोगों के प्रति (**यत्र**) जहाँ (**अहं**) मैं (**अस्मि**) हूँ, (**आतर**) अवतीर्ण हो, [और] (**तान्**) उन्हें (**अव**) पालित, रक्षित कर।

संसार में विभिन्न भूमिकाओं और स्तरों के व्यक्ति विद्यमान हैं। इन्हें साधारणतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ लोगों की आत्मिक चेतना अत्यन्त उच्च होती है, वे लोग उच्च भूमिका या उच्च स्तर के व्यक्ति होते हैं। कुछ मध्यम आत्मिक चेतनावाले होने से मध्यम भूमिका या मध्यम स्तर के व्यक्ति कहलाते हैं। तीसरे अवर चेतनावाले व्यक्ति अवर भूमिका या अवर स्तर के कहलाते हैं। ये भूमिकाएँ एक प्रकार से संग्राम-भूमियाँ हैं, क्योंकि यहाँ भौतिक चेतना और दिव्य चेतना का परस्पर संघर्ष या युद्ध होता है। जगत् में दिव्यता और आध्यात्मिकता के प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि आत्मिक चेतना उच्च भूमिकाओं से मध्यम और अवर भूमिकाओं की ओर प्रवाहित हो। दिव्यता और आध्यात्मिकता की अन्तिम पराकाष्ठा 'अग्नि', अर्थात् तेजस्वी परमात्मा है। सांसारिक उपर्युक्त तीनों ही श्रेणी के लोग उसकी तुलना में अवर ही हैं, भले ही उनमें स्तर का अन्तर होता है।

हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन्! तुम दिव्यता की सर्वोच्च भूमिका पर विद्यमान हो। मैं और मेरे अन्य बहुत-से साथी निम्न भूमिकाओं में स्थित हैं। तुम अपनी ऊर्ध्वस्थ भूमिका से निम्न भूमिकाओं में स्थित हम लोगों के प्रति अवतीर्ण होकर हमें दिव्यता से अनुप्राणित कर दो। हममें से जो निम्नतम भूमिका पर खड़े हैं, उनमें अवतीर्ण होकर तुम उन्हें क्रमशः उच्च, उच्चतर स्थिति प्राप्त कराते हुए उच्चतम स्थिति प्राप्त करा दो। जो मध्यम भूकिा पर खड़े हैं, उन्हें और भी अधिक उच्चता की ओर ले जाओ।

दिव्य शक्ति का अवतरण मनुष्य का रूपान्तर कर उसे देव बनाने के लिए परम आवश्यक है। हमारे आत्मा में दिव्यता का अवतरण करके तुम हमारे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि को भी दिव्य बना दो। हमारे रोम-रोम को दिव्यता से पुलकित कर दो। निम्न स्तरों पर विद्यमान हम स्वयं को अरक्षित अनुभव कर रहे हैं। हममें अवतीर्ण होकर हे प्रभु! तुम हमें रक्षित, पालित और पोषित कर दो। दिव्यता के अवतरण से सारे संसार को देव बना दो।

२३२. महान् तेजों से भासित

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि[८], शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्[७]।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्[८], मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः[७]॥

—यजु० १२.३२

ऋषिः **तापसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(**अग्ने**) हे आत्मन्! (**ज्योतिष्मान्**) ज्योतिर्मय (**त्वं**) तू (**शिवेभिः**) शिव (**अर्चिभिः**) विद्यादीप्तियों से [और] (**बृहद्भिः**) महान् (**भानुभिः**[१]) तेजोमय गुण-कर्मों से (**भासन्**) भासित होता हुआ (**प्र याहि**) आगे बढ़। (**तन्वा**) देह से (**प्रजाः**) प्रजाओं की (**मा हिंसीः**) हिंसा मत कर।

हे आत्मन्! तू ज्योतिष्मान् है। जैसे अग्नि अपनी प्रकाशमयी ज्वालाओं से अन्धकार का निरास करती है, वैसे ही तू अपनी ज्योति से हृदय में व्याप्त तमोगुण को निरस्त कर सकनेवाला है। पर तू कोई भौतिक वस्तु नहीं है कि अग्नि के समान तुझमें से ज्वालाएँ निकलें। तेरी विद्या-दीप्तियाँ या ज्ञान की अर्चियाँ ही तेरी ज्वालाएँ हैं। अविद्या अन्धकार है और विद्या की किरणें अर्चि हैं। यद्यपि आत्मा स्वयं ज्योतिर्मय है, तो भी सूर्य जैसे मेघपटल से आच्छादित होकर अपने प्रकाश को पृथिवी पर नहीं पहुँचा पाता, वैसे ही आत्मा अविद्या से आवृत होकर अपने ज्ञान को हम तक नहीं पहुँचा पाता। जैसे मेघपटल हट जाने पर सूर्य पुनः अपने प्रकाश को विकीर्ण करने लगता है, वैसे ही अविद्यान्धकार का निवारण हो जाने पर आत्मा का विद्या-प्रकाश हमारी मनो-भूमि पर प्रसृत होने लगता है।

हे ज्योतिर्मय आत्मन्! तू उन विद्यादीप्तियों से भासित हो। पर अकेली विद्वत्ता, जिसके साथ तदनुकूल गुण और सत्कर्म न हों, भूषण के स्थान पर दूषण में ही गिनी जाती है। अनेक ऐसे विद्वान् पुरुष हुए हैं, जो विद्वत्ता के विपरीत आचरण के कारण अपकीर्ति के पात्र बने हैं, अतः तू तेजोमय गुण-कर्म-रूप भानुओं से भी भासमान हो। विद्या-दीप्तियों के साथ जब सद्गुण एवं सत्कर्मरूप भानु मिल जायेंगे तब तेरी अद्वितीय आभा होगी।

हे आत्मन्! तू अपनी देह से प्रजाओं की हिंसा मत कर। देह तुझे हिंसा, घातपात, उपद्रव आदि करने के लिए नहीं, अपितु अन्य व्यक्तियों के साथ परस्पर प्रेमपूर्वक रहने के लिए तथा आत्मोन्नति और समाज की उन्नति करने के लिए मिली है, अतः देह से वेदोक्त सत्कार्यों को ही कर। यदि तू हिंसा में लग जायेगा, तो तेरा प्रतिरोध करने के लिए अन्य लोग भी हिंसा करेंगे। शनैः-शनैः सारे विश्व में ऐसी उग्र हिंसा भड़क उठेगी कि उसका परिणाम प्रलयङ्कर विनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा, अतः तू हिंसा के स्थान पर प्रीति और शान्ति की लहरें बहा, विश्वप्रेम की भावना का प्रसार कर। इससे तेरा भी कल्याण होगा और विश्व का भी कल्याण होगा।

२३३. पुनर्जन्म

प्रसद्य भस्मना योनिम्[८], अपश्च पृथिवीमग्ने[८]।
सः सृज्य मातृभिष्ट्वं[७], ज्योतिष्मान् पुनरासदः[८]॥

—यजु० १२.३८

ऋषिः **विरूपः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्**।

(अग्ने) हे जीवात्मन्! **(भस्मना)** भस्म हुए शरीर से **(अपः पृथिवीं च)** जल, पृथिवी [आदि पञ्चतत्त्वरूप] **(योनिं)** कारण को **(प्रसद्य[१])** प्राप्त करके [पश्चात्] **(मातृभिः)** माताओं से **(संसृज्य)** संयुक्त होकर **(ज्योतिष्मान्)** ज्योतिष्मान् [तू] **(पुनः आसदः)** पुनर्जन्म प्राप्त कर।

हे जीवात्मन्! तू अमर है और तेरा यह शरीर मरणधर्मा है। यह शरीर पृथिवी, अप् तेज, वायु, आकाश, इन पञ्च-तत्त्वों से बना है। इसमें रहता हुआ तू कर्म करता है और कर्मफलों को भोगता है। समय आनेपर तू इस शरीर से बाहर निकल जाता है। तेरे बाहर निकलते ही शरीर मृत हो जाता है और सम्बन्धीजन उसे श्मशान-भूमि में ले-जाकर भस्म कर देते हैं। भस्मीभूत शरीर के पाँचों तत्त्व अपने-अपने कारणभूत पृथिव्यादि पञ्च-तत्त्वों में मिल जाते हैं। मन्त्र में अप् और पृथिवी इन दो ही तत्त्वों के नाम आये हैं। ये तेज, वायु और आकाश के भी उपलक्षण हैं। शरीर तो जिन तत्त्वों से उत्पन्न हुआ था, उन्हीं तत्त्वों में विलीन हो जाता है, पर हे आत्मन्! तुझे कर्मफल भोगने के लिए पुनः शरीर धारण करना है। उसके लिए तुझे मातृ-गर्भस्थ शरीर में प्रविष्ट होना होगा। विभिन्न जन्मों में विभिन्न माताओं से संयुक्त होकर तू पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करता रह। यह स्मरण रख कि तू ज्योतिष्मान् है। तुझ ज्योतिष्मान् से ही शरीर ज्योतिष्मान् एवं चेतनावान् बनता है। जबतक तू गर्भस्थ शरीर में जाकर संसृष्ट नहीं होता तबतक शरीर मांसादि का पिण्डमात्र होता है। तेरे प्रवेश से ही उसमें जीवन के चिह्न प्रकट होते हैं। जन्म के अनन्तर जबतक तू शरीर में रहता है तभी तक उसमें जीवन होता है। तेरे निकल जाने पर पुनः शरीर अस्थि-मांसादि का पिण्डमात्र रह जाता है। अतः हे आत्मन्! तू अपने महत्त्व को समझ और ऐसे कर्म कर कि तुझे पशु-पक्षी आदि की योनि प्राप्त न होकर बार-बार सर्वश्रेष्ठ मानव-योनि ही प्राप्त हो।

यह जीर्ण शरीर का त्याग और नवीन शरीर में पुनर्जन्म पुराने वस्त्रों को उतारकर नये वस्त्र धारण करने के समान है, अतः मृत्यु से कातर मत हो। साथ ही पुनर्जन्म को तू इस रूप में ले कि एक अवसर तुझे और मिला है कि तू तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्या ज्ञान को नष्ट कर साधना द्वारा मुक्ति पाने का प्रयास करे। हे जीवात्मन्! पुनर्जन्म प्राप्त कर, पुनः जन्म धारण करने पर हम तेरा अभिनन्दन करते हैं।

२३४. हे दम्पती!

समितꣳ सं कल्पेथाꣳ॰, संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ॰॰ ।
इषमूर्जमभिसंवसानौ॰॰ ॥ —यजु० १२.५७

ऋषिः **मधुच्छन्दाः** । देवता **अग्निः** । छन्दः **भुरिक् उष्णिक्** ।

[हे विवाहित स्त्री-पुरुषो! तुम दोनों] (**संप्रियौ**[१]) परस्पर प्रीतियुक्त, (**रोचिष्णू**[२]) देदीप्यमान, (**सुमनस्यमानौ**) शुभ मन वाले और (**इषं**[३]) बल, पराक्रम, प्राणशक्ति, रस आदि को (**अभि संवसानौ**) धारण करते हुए (**सम् इतम्**) मिलकर [गृहस्थाश्रम की अग्नि को] प्राप्त करो, (**सङ्कल्पेथां**) मिलकर सङ्कल्प करो।

पति-पत्नी एक गृहस्थाश्रमरूप रथ के दो चक्र हैं, यदि उनमें परस्पर सामञ्जस्य न हो तो वह रथ आगे नहीं चल सकता। रथ का एक पहिया पूर्व दिशा की ओर अग्रसर हो, दूसरा पश्चिम दिशा की ओर; एक उत्तर की ओर बल लगये, दूसरा दक्षिण की ओर; एक साबुत रहे, दूसरा टूट जाये, तो रथ की क्या गति होगी? इसी प्रकार यदि पति-पत्नी में से एक प्रीति दर्शाता है, दूसरा अप्रीति; एक शिक्षित है, दूसरा अशिक्षित; एक बलवान् है, दूसरा निर्बल; एक मधुर-स्वभाव है, दूसरा कटु-स्वभाव; एक सुसंस्कृत है, दूसरा असंस्कृत, तो उनका गृहस्थाश्रम चरमरा जायेगा, अतः वेद पति-पत्नी को सम्बोधित कर प्रेरणा कर रहा है।

हे दम्पती! तुम दोनों परस्पर प्रीतियुक्त रहो। एक-दूसरे को स्नेह से देखो, आपस में स्नेह से वार्तालाप करो, स्नेह का व्यवहार करो। तुम्हारी रात्रियाँ स्नेहिल हों, तुम्हारे दिन स्नेहिल हों, तुम्हारी प्रत्येक ऋतु स्नेह-से भरी हो, तुम्हारा प्रतिपल स्नेह से परिपूर्ण हो। तुम दोनों ही रोचिष्णु बनो, देदीप्यमान और तेजस्वी बनो। तुम्हारा आत्मा, तुम्हारा मन, तुम्हारा शरीर सब दीप्तिमय हों। तुम सदा 'सुमनस्यमान' रहो, तुम्हारे मन शुभ विचारवाले हों, तुम्हारे मन परस्पर मिले हों, तुम्हारे मन फूल[४] के समान प्रफुल्ल हों। तुम दोनों 'इष्' और 'ऊर्ज' को धारण करो। 'इष्' से अन्न, धन, विज्ञान, इच्छासिद्धि आदि तथा 'ऊर्ज्' से बल, पराक्रम, प्राणशक्ति, रस आदि गृहीत होते हैं। तुम दोनों अन्नवान्, धनवान्, विज्ञानवान्, सिद्धिमान्, बलवान्, पराक्रमवान् और रसवान् होकर जीवन व्यतीत करो। ऐसा करते हुए तुम परस्पर मिलकर गृहस्थाश्रम की अग्नि को प्रज्वलित करो, परस्पर मिलकर जीवनयात्रा में आगे बढ़ने का सङ्कल्प करो। इस प्रकार पारस्परिक सद्भाव, सौहार्द, माधुर्य एवं सामञ्जस्य के साथ जीवन के रसमय और ज्योतिर्मय क्षणों को व्यतीत करते हुए पवित्र गृहस्थाश्रम का वहन करो।

२३५. अग्नि-तत्त्व का ग्रहण

मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं[८], रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय[१४]।
मामु देवताः सचन्ताम्[८] ॥

—यजु० १३.१

ऋषिः **वत्सारः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **स्वराट् ककुब् उष्णिक्**, अथवा **आर्ची पङ्क्तिः**।

[मैं] (**मयि**) अपने अन्दर (**रायस्पोषाय**) ऐश्वर्य की पुष्टि के लिए (**सुप्रजास्त्वाय**) शुभ प्रजा की प्राप्ति के लिए, (**सुवीर्याय**) उत्कृष्ट वीर्य की प्राप्ति के लिए (**अग्रे**) सर्वप्रथम (**अग्निं**) अग्नि-तत्त्व को (**गृह्णामि**) ग्रहण करता हूँ। (**माम् उ**) मुझे (**देवताः**) दिव्यगुण (**सचन्ताम्**) प्राप्त हों।

जब मैं अपने स्वभाव पर दृष्टिपात करता हूँ तो पाता हूँ कि मैं नितान्त उदासीनता, निस्तेजस्कता, अकर्मण्यता, अप्रगतिशीलता और हतोत्साहता का जीवन जी रहा हूँ। न मेरे आत्मा में बल है, न मेरे चित्त में स्फूर्ति है, न मेरी इन्द्रियों में तत्परता है। जब कोई विपत्ति आती है, तब मैं उससे जूझने के स्थान पर स्वयं को भाग्य के सहारे छोड़ हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहता हूँ। जब संग्राम का बिगुल बजाने का समय आता है, तब मेरे शरीर से पसीना छूटने लगता है। जब समाज-हित या राष्ट्र के लिए आत्मोत्सर्ग करने की बारी आती है, तब मैं पीछे हट जाता हूँ। जहाँ उग्र होने की आवश्यकता होती है, वहाँ मैं कायर बन जाता हूँ। यह सब क्यों है ? स्वभाव की यह दुर्बलता इस कारण है, क्योंकि मुझमें अग्नि-तत्त्व की कमी है, अतः आज मैं सर्वप्रथम अपने अन्दर 'अग्नि' को धारण करता हूँ। धारण किया हुआ यह अग्नि-तत्त्व मेरी उदासीनवृत्ति को दूर कर मुझे सक्रिय बना देगा। उससे मुझे 'रायस्पोष' प्राप्त होगा, मेरी सम्पदा की वृद्धि होगी, जबकि आज मैं 'निरग्नि' होने के कारण निर्धन हो रहा हूँ। मेरे अन्दर अग्नि-तत्त्व के प्रज्वलित होते ही लोग मुझे अपना नेता चुनेंगे, मेरी प्रजा बनने में गौरव अनुभव करेंगे एवं मुझे शुभ प्रजा की प्राप्ति होगी। 'अग्नि' के प्रज्वलन से आग्नेय गुण आते ही मेरे अन्दर उत्कृष्ट वीर्य और पराक्रम उत्पन्न होगा। मैं कायरता को त्यागकर वीर-पुंगव और नर-केसरी बनकर शूरता का कीर्तिमान स्थापित कर सकूँगा।

मैंने 'अग्नि' को ग्रहण कर लिया है, अतः अब मैं देवताओं को निमन्त्रण देने योग्य हो गया हूँ। दिव्य गुण ही देवता हैं। हे देवताओ! हे दिव्य गुणो! तुम मुझ अहिताग्नि के अन्तःकरण में सम्पन्न होनेवाले सङ्कल्पानुष्ठान-यज्ञ में आओ, तुम मेरे जीवन में चलनेवाले ऊर्ध्वारोहण-यज्ञ में आओ। हे दिव्य गुणो! तुम मेरे जीवन का उत्थान करो, तुम मेरे जीवन को दिव्य बनाओ।

२३६. सारस्वत झरने तेरे अन्दर झरें

इषे राये रमस्व सहसे[१०], द्युम्न ऊर्जे अपत्याय[८]।
सम्राडसि स्वराडसि[८], सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम्[९]॥

—यजु० १३.३५

ऋषिः **गोतमः**। देवता **जातवेदाः**। छन्दः **निचृद् बृहती**।

[हे आत्मन्!] (**इषे**[१]) विज्ञान के लिए, (**राये**) लक्ष्मी के लिए, (**सहसे**) साहस के लिए, (**द्युम्ने**) यश के लिए, (**ऊर्जे**[२]) बल-पराक्रम और प्राणवत्ता के लिए, (**अपत्याय**) सन्तान के लिए (**रमस्व**[३]) क्रीडा कर। [तू] (**सम्राट्**[४] **असि**) सम्राट् है (**स्वराट्**[५] **असि**) स्वराट् है। (**सारस्वतौ उत्सौ**[६]) सरस्वती के दोनों झरने (**त्वा प्र-अवताम्**) तेरी प्रकृष्टतया रक्षा करें।

हे आत्मन्! तू संसार-स्थली में क्रीडा करने के लिए मानव-देह में आया है। वैसे तो तू स्वयं ही 'जातवेदाः' है, ज्ञानी है, फिर भी कभी-कभी तेरा ज्ञान अज्ञान से आवृत हो जाता है, अतः वेद तेरे मार्गदर्शन के लिए बता रहा है कि तुझे किन-किन क्षेत्रों में क्रीडा करनी है। पहला क्षेत्र 'इष्' या विज्ञान का क्षेत्र है। सकल ज्ञान-विज्ञान में तुझे पारङ्गत होना है। ब्रह्मचर्याश्रय में समित्पाणि होकर आचार्य से विद्याध्ययन करना है और उसके पश्चात् स्वयं स्वाध्याय करते हुए तथा इतर उपदेशक संन्यासी महात्माओं के सदुपदेश से ज्ञानार्जन करते रहना है। तू कितना भी ज्ञानी हो जायेगा, तो भी तेरा ज्ञान सागर में एक बूँद के समान रहेगा, क्योंकि ज्ञान असीम और अनन्त है। अतः ज्ञान-प्राप्ति में कभी सन्तोष मत कर। तेरी क्रीडा का दूसरा क्षेत्र है लक्ष्मी का क्षेत्र। उत्कृष्ट साधनों द्वारा तू यथेष्ट धनोपार्जन कर, तू सम्पत्तियों का राजा बन जा, पुण्य की कमाई से अपना घर भर ले। पर वेद की परिभाषा के अनुसार धन के उपार्जन में धन का दान स्वतः समाविष्ट है, अतः तू धन का दान भी कर। तेरी क्रीडा का तीसरा क्षेत्र है साहस। तू कदापि हिम्मत न हारता हुआ साहस के साथ जीवनयात्रा कर। यदि तेरे अन्दर साहस होगा तो तू भयङ्कर-से-भयङ्कर कार्यों में भी हाथ डालते घबरायेगा नहीं। तेरी क्रीडा का चतुर्थ क्षेत्र है 'द्युम्न', अर्थात् यश। ऐसे कार्य कर, जिनसे तेरा यश फैले, अपयश देनेवाले निषिद्ध कार्यों में रमण मत कर। अपनी क्रीडा के पञ्चम क्षेत्र के रूप में तू बल-पराक्रम और प्राणवत्ता की साधना कर, शरीर, मन और प्राण तीनों का बल सञ्चित कर, परन्तु उस बल का प्रयोग निरीह, धर्मात्मा जनों को क्लेश पहुँचाने में नहीं, अपितु पापों और पापियों के उन्मूलन में कर, लोकहित के कार्यों में कर। तेरी क्रीडा का छठा क्षेत्र अपत्य-प्राप्ति या प्रजातन्तु को अविच्छिन्न रखना है। तू राष्ट्र को वेदमार्गानुगामी, कर्मशूर पुत्र-पुत्रियाँ प्रदान कर। पर सन्तति केवल इसी तक सीमित नहीं है, तेरे द्वारा की जानेवाली प्रत्येक रचनात्मक सृष्टि तेरी सन्तान है, अतः राष्ट्र को तू अपनी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ प्रदान कर।

हे आत्मन्! तू सम्राट् है, सम्यक् राजमान है, शुभ गुणों से देदीप्यमान है। तू स्वराट् है, सूर्य के समान स्वयं चमकनेवाला है। मन-वाणी, ज्ञान-कर्म, ऋक्-साम के सारस्वत झरने तेरे अन्दर झरते रहें और तेरी शक्तियों को सरस एवं प्रफुल्लित करते हुए तेरी रक्षा करते रहें।

२३७. हिरण्यय वेतस

सम्यक् स्त्रवन्ति सरितो न धेना[११], अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः[११]।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि[११], हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः[११]॥

—यजु० १३.३८

ऋषिः **विरूपः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**अन्तर्हृदा**) हृदय के अन्दर प्रतिष्ठित (**मनसा**) मन से (**पूयमानाः**) पवित्र की जाती हुई (**धेनाः**[१]) वाणियाँ (**सरितः न**) सरिताओं के समान (**सम्यक्**) सम्यक् प्रकार (**स्त्रवन्ति**) प्रवाहित हो रही हैं। (**घृतस्य**) घी की (**धाराः**) धाराओं को (**अभिचाकशीमि**[२]) देख रहा हूँ। (**अग्नेः**) अग्नि के (**मध्ये**) मध्य में (**हिरण्ययः**) स्वर्णिम (**वेतसः**) बेंत [निहित है]।

मैं यज्ञ कर रहा हूँ। हवनकुण्ड में अग्नि को प्रज्वलित कर उसमें आहुतियाँ दे रहा हूँ। वाणी से वेदमन्त्रों की सरिता बहा रहा हूँ। अर्थचिन्तनपूर्वक छाननी से छानकर वाणियों को प्रवाहित कर रहा हूँ, क्योंकि अर्थज्ञान-विहीन वेदवाणी उस गाय के समान होती है, जो दूध नहीं देती। अर्थ को भलीभाँति हृदयङ्गम करता हुआ मैं वेदवाणीरूपिणी गाय का प्रचुर दूध प्राप्त कर रहा हूँ। वेदमन्त्रों में जीवन के उत्थान के लिए जो अद्भुत प्रेरणाएँ है, उन्हें ग्रहण कर रहा हूँ। साथ ही घृत की धाराओं को भी अग्नि की ओर बहा रहा हूँ। मेरी दृष्टि एकटक अग्नि में पड़ती हुई उन घृतधाराओं पर लगी हुई है। जब घृत-धारा अग्नि-ज्वालाओं पर गिरती है, तब वे चतुर्गुणित वेग से ऊपर उठती हैं। मन्द-मन्द हिलती हुई निष्क्रिय-सी विद्यमान अर्चिषों में जान आ जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि चतुर्दिगन्तों से उमड़कर वे आकाश को छू लेंगी। वे ज्वालाएँ मेरे अन्दर भी तेजस्विता और प्राणवत्ता का सञ्चार कर देती हैं। मैं यज्ञकुण्ड की अग्नि के अन्दर एक 'हिरण्यय वेतस' को, सुनहरे बेंत को, देख रहा हूँ। यह सुनहरा बेंत 'स्वर्णिम' ज्योतिवाला प्रभु ही है। स्थूल-दर्शियों को अग्नि प्राकृतिक आग मात्र दिखाई देती है, पर जो सूक्ष्म-दर्शी हैं वे उस अग्नि के अन्दर उस ज्योतिर्मय प्रभु की झाँकी पाते हैं, जिसकी ज्योति से अग्नि ज्योतिष्मान् कहलाता है।

हे अग्नि के मध्य में बैठे हुए 'हिरण्यय वेतस' रूप प्रभो! तुम मुझे सदा दृष्टिगत होते रहो। जब-जब मैं अग्निहोत्र करूँ, तब-तब मेरे नयनों के सम्मुख अग्नि-ज्वालाओं के ऊपर नृत्य करते हुए प्रत्यक्ष होते रहो।

उपनिषद् के गायक ने ठीक कहा है—"न उसकी ज्योति के सम्मुख सूर्य चमकता है, न चाँद-तारे चमकते हैं, न बिजलियाँ चमचमाती हैं, फिर पार्थिव अग्नि की तो बात ही क्या है उसी की आभा में से थोड़ी-सी प्रभा लेकर सृष्टि की सब ज्योतियाँ चमक दिखा रही हैं।"[३] इसलिए सर्वत्र उसी ब्रह्म के दर्शन करो।

२३८. हे विद्वन्

सहस्रस्य प्रमासि[७], सहस्रस्य प्रतिमासि[८]।
सहस्रस्योन्मासि[६], साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा[१]॥

—यजु० १५.६५

ऋषिः **मधुच्छन्दाः**। देवता **विद्वान्**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

हे विद्वन्! तू **(सहस्रस्य)** सहस्र पदार्थों का **(प्रमा[१])** प्रमन्ता, ज्ञाता **(असि)** है, **(सहस्रस्य)** सहस्र गुणों की **(प्रतिमा)** प्रतिमा **(असि)** है, **(सहस्रस्य)** सहस्र विवादों की **(उन्मा[२])** परख-तुला **(असि)** है, **(साहस्रः[३])** सहस्र कर्मों को करने योग्य **(असि)** है। **(सहस्राय[४])** सहस्र फलों की प्राप्ति के लिए **(त्वा)** तुझे [नियुक्त करता हूँ]।

कोई भी समाज और कोई भी राष्ट्र अपने अन्दर रहनेवाले विद्वानों से गौरवान्वित होता है। जिस समाज या राष्ट्र में तपोनिष्ठ विद्वानों का आदर नहीं होता, वह समाज या राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता। जो समाज अपने विद्वानों की उपेक्षा करता है, उसके विद्वानों से दूसरे सम्प्रदाय लाभ उठाते हैं, अतः हे हमारे प्रकाशस्तम्भरूप विद्वन्! हम तो तेरी योग्यता से लाभान्वित होने के लिए तुझे तेरी महत्ता और योग्यता के अनुरूप किसी विशिष्ट पद पर आसीन करते हैं। हे विद्वन्! तू जगत् के सहस्र पदार्थों का ज्ञाता है, सहस्र ज्ञान-विज्ञान से तेरा मस्तिष्क परिपूर्ण है। तूने वेद-वेदाङ्ग, उपाङ्ग, धर्मशास्त्र, राज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि विविध विषयों में पाण्डित्य प्राप्त किया हुआ है। साथ ही तेरा ज्ञान केवल पुस्तकी ज्ञान नहीं है, परन्तु तूने उसे अपने आचरण में भी ढाला हुआ है, अतः तू सहस्र गुणों की साक्षात् मूर्ति भी बना हुआ है। पण्डित होने के साथ-साथ तू निरभिमानिता, नम्रता, श्रद्धा, उपकार-भावना, कर्त्तव्य-परायणता आदि गुणों की निधि भी है। तुझमें यह सामर्थ्य भी है कि तू सहस्र विवादों का अपनी सत्यासत्य-विवेक की परख-तराजू से तोलकर न्याय कर सकता है। तू सहस्र कर्मों को करने की योग्यता रखता है। तू एक शिक्षक और आचार्य हो सकता है, तू उच्चकोटि का उपदेशक और प्रचारक हो सकता है, तू सफल ग्रन्थ-लेखक बन सकता है, तू विविध विद्याओं में से किसी विद्या का उच्च अनुसन्धाता हो सकता है। तू न्यायाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, शिक्षाध्यक्ष, निर्माणाध्यक्ष, वेधशालाध्यक्ष या किसी अन्य राजकीय विभाग का अध्यक्ष बन सकता है। तू शिक्षामन्त्री, वित्तमन्त्री, गृहमन्त्री, प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति भी बन सकता है।

हे विद्वन्! हम तेरा उचित सम्मान करते हैं और सहस्र फलों की प्राप्ति के लिए, सहस्र प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए, तेरी योग्यता के अनुरूप तुझे किसी उत्कृष्ट पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। जन-कल्याण की भावना से तू अपने कर्त्तव्य का पालन करता रह।

२३९. अग्नि हिम से आवेष्टित हो

हिमस्य त्वा जरायुणा[८], ऽग्ने परि व्ययामसि[७]।
पावको अस्मभ्यः[९] शिवो भव[१०]॥ —यजु० १७.५

ऋषिः **मेधातिथिः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **भुरिग् गायत्री**।

(अग्ने) हे अग्नि! [हम] **(त्वा)** तुझे **(हिमस्य)** हिम की **(जरायुणा)** जरायु से **(परि व्ययामसि[१])** परिवेष्टित करते हैं। **(पावकः)** पवित्रताकारक [तू] **(अस्मभ्यं)** हमारे लिए **(शिवः)** कल्याण-कर **(भव)** हो।

हे अग्नि! हम तुझे हिम की जरायु से परिवेष्टित करते हैं। दैनिक अग्निहोत्र की जल-सेचन-विधि में यज्ञकुण्ड में प्रज्वलित अग्नि के चारों ओर अञ्जलि से जल की धार छोड़ते हैं, यह मानो अग्नि को हिम की जरायु से परिवेष्टित करना है। पर जलधार से या अग्नि की जरायु से अग्नि का परिवेष्टन क्यों करते हैं ? इसमें हमारी यह भावना रहती है कि हम अपने अन्दर आग्नेय और सौम्य दोनों तत्त्वों को धारण करें।

यह सृष्टि अग्नि और अप् दोनों के योग से बनी है। हम जो सर्जन करते हैं, उसमें भी इन दोनों तत्त्वों का समन्वय रहता है। कुम्भकार घट का निर्माण करने के लिए मिट्टी को जल से सिक्त कर पहले कच्चा घड़ा तैयार करता है, फिर उसे अग्नि में पकाता है। आटे को हम पहले पानी में गूँधते हैं, फिर उसे चपाती बनाकर अग्नि में सेकते हैं। दाल-साग भी अकेले पानी या अकेली अग्नि से तैयार नहीं होता, उसमें भी दोनों का योग होता है। प्रकृति में ग्रीष्म से तपी हुई धरती पर वर्षा की फुहारें पड़ती हैं, तब वह सजीव हो उठती है, किन्तु वृष्टि यदि अधिक हो जाए तो वह व्याकुल हो जाती है और पुनः सूर्य के ताप को माँगती है। एवं सृष्टि में सौम्य और आग्नेय तत्त्व दोनों का सामञ्जस्य अभीष्ट है। इसी प्रकार हमारे आत्मा को भी तैजस गुण और सौम्य गुण दोनों की और दोनों के समन्वय की आवश्यकता है। तैजस गुण के उचित मात्रा से अधिक हो जानेपर हमारी प्रकृति में क्रोध, हिंसा, आदि बढ़ जायेंगे और सौम्य गुण अनुपात से अधिक होने पर हम ठण्डे और निष्क्रिय हो जायेंगे। हमारे जीवन में तैजस गुण तेजस्विता, वीरता, स्फूर्ति, सक्रियता, संघर्षशीलता आदि की भी आवश्यकता है और सौम्य गुण शान्ति, माधुर्य, प्रेम, भक्ति, श्रद्धा आदि की भी।

अतः हे मेरे आत्माग्नि! मैं तुझे हिम की जरायु से परिवेष्टित करता हूँ। हिम से आवेष्टित होकर दोनों तत्त्वों के सामञ्जस्य से तू 'पावक' बन, अपने शरीर-मन्दिर को पवित्र कर। जगत् में पारस्परिक द्वेष, कलह आदि 'तेज' और 'हिम' दोनों का उचित मिश्रण न होने के कारण ही हैं, अतः तुझे सम्पूर्ण मानव-जगत् की 'अग्नि' को हिम की जरायु से परिवेष्टित करना होगा। तभी विश्व-संहार रुकेगा, परस्पर स्नेह और माधुर्य की भावना उत्पन्न होगी और सामूहिकरूप से सबका 'शिव' होगा।

२४०. यज्ञ से मेरी सब सम्पदाएँ सिद्ध हों

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे[१०], मन्युश्च मे भामश्च मे[८],
ऽमश्च मे ऽम्भश्च मे[६], जेमा च मे महिमा च मे[१],
वरिमा च मे प्रतिमा च मे[१०], वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे[१०],
वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे[८], यज्ञेन कल्पन्ताम्[६] ॥

—यजु० १८.४

ऋषयः **देवाः**। देवता **प्रजापतिः**। छन्दः **निचृद् अत्यष्टिः**।

(ज्यैष्ठ्यं च मे) मेरी ज्येष्ठता **(आधिपत्यं च मे)** और मेरा आधिपत्य, **(मन्युः च मे)** और मेरा मन्यु, **(भामः च मे)** और मेरा आत्म-तेज, **(अमः[१] च मे)** और मेरा शारीरिक बल, **(अम्भः च मे)** और मेरी रसवत्ता, **(जेमा[२] च मे)** और मेरी विजयशीलता, **(महिमा च मे)** और मेरी महिमा **(वरमि[३] च मे)** और मेरी विशालता, **(प्रथिमा[४] च मे)** और मेरी विस्तीर्णता, **(वर्षिमा[५] च मे)** और मेरी वृद्धता, **(द्राघिमा[६] च मे)** और मेरी दीर्घता, **(वृद्धं च मे)** और मेरा संवृद्ध अन्न-धनादि, **(वृद्धिः च मे)** और मेरी वृद्धि **(यज्ञेन)** यज्ञ से **(कल्पन्तां)** सिद्ध हों।

मैंने अपने सम्मुख आदर्श जीवन का एक चित्र कल्पित किया है। मैं चाहता हूँ कि मैं उसकी प्रतिमूर्ति बन जाऊँ। मेरे अन्दर ज्येष्ठता हो, आयु में बहुतों से छोटा होता हुआ भी मैं ज्ञानवृद्ध और गुणवृद्ध होने के कारण ज्येष्ठ कहलाऊँ। मुझे आधिपत्य प्राप्त हो। मैं अन्दर अपनी मनोवृत्तियों पर आधिपत्य करूँ और बाहर समाज, सङ्गठन, राष्ट्र आदि पर आधिपत्य करूँ, सत्कर्मों के अभियान में अनेकों को अपना अनुयायी बनाऊँ। मेरे अन्दर मन्यु हो। कहीं भी किसी बुराई को देखकर मेरा वह मन्यु जाग उठे और मैं उस बुराई के उन्मूलन में जुट जाऊँ। मेरे अन्दर 'भाम' हो, आत्मबल हो। मेरे अन्दर 'अम' हो, शारीरिक बल हो। मेरे जीवन में 'अम्भः' हो, रस-माधुर्य हो, स्नेह हो। मुझे 'जेमा', अर्थात् विजय प्राप्त हो, मैं जीवन के आन्तरिक और बाह्य देवासुर-संग्रामों में विजयी बनूँ। मुझे 'महिमा', अर्थात् महान् होने का गौरव प्राप्त हो। मुझे 'वरिमा', अर्थात् शरीर और हृदय दोनों की विशालता प्राप्त हो। मैं 'प्रथिमा', अर्थात् विस्तार को प्राप्त करूँ, मेरी सम्पदा आदि का विस्तार हो, मेरे ज्ञान का विस्तार हो, मेरे धर्म का विस्तार हो, मेरे यश का विस्तार हो। मुझे 'महिमा', अर्थात् महान् होने का गौरव प्राप्त हो। मुझे 'वरिमा', अर्थात् शरीर और हृदय दोनों की विशालता प्राप्त हो। मुझे 'वर्षिमा', अर्थात् वृद्धता प्राप्त हो, मैं सुखी वार्द्धक्य और शतायुष्य प्राप्त करूँ। मुझे 'द्राघिमा' प्राप्त हो, मैं दीर्घदर्शी तथा दूरदर्शी बनूँ, मेरा प्रभाव-क्षेत्र भी दीर्घ हो। मुझे 'वृद्ध' प्राप्त हो, मेरे पास संवृद्ध मात्रा में धन-धान्य, विद्या आदि निवास करें। मुझे सर्वतोमुखी 'वृद्धि' प्राप्त हो।

प्रतिदिन यज्ञ करते हुए अग्नि की ऊर्ध्वमुख ज्वालाओं को देखता हुआ मैं इन प्रेरणाओं को ग्रहण करता हूँ। यज्ञ से मेरी समस्त सम्पत्तियाँ सिद्ध हों। मेरा ब्रह्मचर्य-यज्ञ, मेरा गृहस्थ-यज्ञ, मेरा वानप्रस्थ-यज्ञ, मेरा संन्यास-यज्ञ और मेरा धर्मानुष्ठान-यज्ञ मुझे उक्त सम्पदाओं का अधिकारी बनायें।

२४१. यज्ञ गन्धर्व है, दक्षिणा अप्सरा हैं

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य[१२], दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम[११]।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु[१०], तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा[९]॥

—यजु० १८.४२

ऋषयः **देवाः**। देवता **यज्ञः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्।**

(**भुज्युः**[१]) पालन करनेवाला (**सुपर्णः**) शुभ साधनरूप उत्कृष्ट पँखोंवाला (**यज्ञः**) यज्ञ (**गन्धर्वः**) गन्धर्व [है]। (**तस्य**) उसकी (**दक्षिणाः**) दक्षिणाएँ (**अप्सरसः**) अप्सरा [हैं], (**स्तावाः**[२] **नाम**) जिनका नाम स्तावा है, अर्थात् जो स्तुतियोग्य हैं। (**सः**) वह [यज्ञ] (**नः**) हमारे (**इदं**) इस (**ब्रह्म**) ब्रह्मबल की [तथा] (**क्षत्रं**) क्षात्र-बल की (**पातु**) रक्षा करे। (**तस्मै**) उस [यज्ञ] के लिए (**स्वाहा**) [हम] आहुति देते हैं, (**ताभ्यः**) उन [दक्षिणाओं] के लिए (**स्वाहा**) [हम] आहुति देते हैं। (**वाट्**[३]) [हमारी आहुति का] वहन हो।

गन्धर्व और अप्सराएँ देवयोनि-विशेष हैं, ऐसी लोकश्रुति है, किन्तु वेद कहता है कि अग्नि गन्धर्व है, ओषधियाँ उसकी अप्सरा हैं, सूर्य गन्धर्व है, मरीचियाँ उसकी अप्सरा हैं, चन्द्रमा गन्धर्व है, नक्षत्र उसकी अप्सरा हैं, वायु गन्धर्व हैं, आपः उसकी अप्सरा हैं, मन गन्धर्व है, ऋक्-साम उसकी अप्सरा हैं[४]। इसी प्रसङ्ग में प्रस्तुत मन्त्र में कहा है कि यज्ञ गन्धर्व है और दक्षिणाएँ उसकी अप्सरा हैं। गन्धर्व का यौगिक अर्थ है 'भूमि' को धारण करनेवाला[५] और 'अप्सरा' का अर्थ है कर्म में रमण करनेवाली[६] अथवा रूपवती[७]। 'यज्ञ गन्धर्व है' इसका अभिप्राय है कि यज्ञ भूमि को धारण करनेवाला है और 'दक्षिणाएँ उसकी अप्सरा हैं' का आशय यह है कि दक्षिणाएँ उसकी कर्ममयी, उज्ज्वल रूपवाली सहायिकाएँ हैं, जो भूमि-धारण में उसके साथ सहयोग करती हैं। अतएव वे 'स्तावा' हैं, स्तवनीय हैं। सचमुच हमारी भूमि यज्ञ के बल पर ही टिकी हुई है। यज्ञ 'भुज्यु' है, लोक का पालन करनेवाला है, क्योंकि लोक से यज्ञिय परोपकार-भावना यदि समाप्त हो जाए और सब स्वार्थपरायण हो जाएँ तो लोक-धारण नहीं हो सकता। यज्ञ 'सुपर्ण' है, शुभ पंखों, अर्थात् शुभ साधनों से ही चलता है, अशुभ से नहीं। यज्ञ बिना दक्षिणा के नहीं होता, दक्षिणा उसकी पत्नी है। प्रकृति में जो भी यज्ञ चल रहे हैं, उन सबके मूल में दक्षिणा या लोकहित की ही भावना कार्य कर रही है। अग्नि में हव्यों की आहुति देकर किए जानेवाले यज्ञ में भी दक्षिणा का प्रमुख भाग है।

हमारा राष्ट्र भी एक गन्धर्व-यज्ञ है, जिसमें राजा यजमान है, अप्सरा दक्षिणाएँ हैं, क्योंकि राष्ट्र-यज्ञ जनहित की भावना से ही चलता है। वह राष्ट्र-यज्ञ ब्रह्म और क्षत्र दोनों की रक्षा करे, जिससे हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण भी हों और शूर, धनुर्धर क्षत्रिय भी हों। इस राष्ट्र-यज्ञ के लिए हम अपनी आहुति का भाग स्वेच्छा से अर्पित करते हैं और तन-मन-धन जिसकी भी आवश्यकता हो राष्ट्र के लिए न्यौछावर करते हैं हमारी आहुति का वहन हो, हमारी आहुति सहस्रगुणित होकर राष्ट्रभूमि पर बरसे।

२४२. सुरा और सोम का मिश्रम

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियं[१२], सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय[१३]।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि[११], रसेनान्नं यजमानाय धेहि[११] ॥

—यजु० १९.५

ऋषिः **आभूतिः**। देवता **सोमः**। छन्दः **निचृद् जगती**।

(**सुरया**) सुरा के साथ (**सुतः**[१]) अभिषुत [और] (**आसुतः**) मिश्रित (**सोमः**) सोम (**ब्रह्म**) ब्राह्म-बल को (**क्षत्रं**) क्षात्र-बल को, (**तेजः**) तेज को, [और] (**इन्द्रियं**) इन्द्रिय-सामर्थ्य को (**पवते**) पवित्र करता है तथा (**मदाय**) आनन्द के लिए [होता है]। (**देव**) हे दिव्य गुणोंवाले सोम! [तू] (**शुक्रेण**) शुद्ध सामर्थ्य से (**देवताः**) देव-पुरुषों को या इन्द्रिय-देवों को (**पिपृग्धि**[२]) संयुक्त कर। (**रसेन**) रस से (**यजमानाय**) यजमान के लिए (**अन्नं**) भोजन (**धेहि**) प्रदान कर।

आओ, सुरा के साथ सोम को मिलाएँ। पर कहीं यह न समझ लेना कि मैं तुम्हें मदिरापान का निमन्त्रण दे रहा हूँ। जलों और ओषधियों के रस को सुरा कहते हैं[३] और सोमलता के रस को सोम। सौत्रमणी-यज्ञ में इन दोनों को मिलाकर देवों को अर्पित किया जाता है तथा स्वयं भी पान किया जाता है। सोमरस स्वयं में अति तीक्ष्ण होता है, उसके साथ उसकी तीक्ष्णता को कम करने के लिए जल, अन्य ओषधियों का रस, यव-रस या दूध मिश्रित किये जाने का विधान है। यह मिश्रण नशीला नहीं होता, प्रत्युत इसके पान से ब्राह्मबल, क्षात्रबल, तेज, इन्द्रिय-सामर्थ्य आदि की वृद्धि होती है तथा इनमें पवित्रता आती है और मन में शान्ति एवं पवित्रता आने से आत्मा को आनन्द की अनुभूति होती है।

इस बाह्य सुरा-सोम के मिश्रण के अतिरिक्त आन्तरिक सुरा और सोम का मिश्रण भी साधक को करना होता है। 'सुरा' बुद्धि या मस्तिष्क की शक्ति है और 'सोम' है हृदय की। बुद्धि तर्क-प्रधान है और हृदय भावना-प्रधान। दोनों के सामञ्जस्य से ही मनुष्य में ब्रह्म, क्षत्र, तेज और इन्द्रिय-सामर्थ्य या इन्द्रत्व (आत्मिक शक्ति) की पवित्रता आती है और उसे आनन्द की उपलब्धि होती है।

अधिदैवत दृष्टि से 'सुरा' रात्रि[४] है और 'सोम' चन्द्रमा है। 'सोम' यद्यपि दिन में भी आकाश में रहता है, पर उस समय कोई सृष्टि नहीं कर पाता। रात्रि के साथ मिलकर ही वह पवित्रता, विश्राम, शान्ति, आनन्द आदि प्रदान करता है।

हे सोम! तुम सुरा के साथ मिलकर देवपुरुषों को तथा शरीरस्थ इन्द्रिय-देवों को शुद्ध सामर्थ्य से संयुक्त करो, तुम अपने रस से यजमान को आत्मिक भोजन प्रदान करो।

२४३. बाह्य यज्ञ अध्यात्म-यज्ञ का प्रतीक है

वेद्या वेदिः समाप्यते, बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम् ।
यूपेन यूप आप्यते, प्रणीतो अग्निरग्निना ॥

—यजु० १९.१७

ऋषि **हैमवर्चिः**। देवता **यज्ञः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(वेद्या) यज्ञ-वेदि से **(वेदिः)** हृदय-वेदि **(समाप्यते)** व्याप्त की जाती है। **(बर्हिषा)** कुशा के आसन से **(इन्द्रियं बर्हिः)** इन्द्रियरूप कुश-आसन [व्याप्त किया जाता है]। **(यूपेन)** यज्ञ-स्तम्भ से **(यूपः)** शरीररूप यज्ञ-स्तम्भ **(आप्यते)** व्याप्त किया जाता है। **(अग्निना)** यज्ञाग्नि से **(अग्निः)** आत्माग्नि **(प्रणीतः)** प्रणीत होता है।

बाह्य यज्ञ में जो हम वेदि बनाते हैं, उसपर कुश का आसन बिछाते हैं, यज्ञ-प्रदेश में यूप गाड़ते हैं, अग्नि प्रज्वलित करते हैं तथा अन्य यज्ञिय विधि-विधान करते हैं, वे सब हमारे शरीर के अन्दर होनेवाले अध्यात्म-यज्ञ के प्रतीक है। हम त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण, गोलाकार, श्येनाकृति आदि विभिन्न प्रकार की वेदियाँ बनाते हैं, उनमें नियत संख्या की इष्टकाएँ चयन करते हैं, वेदि को लीपते हैं, सम्मार्जन, जल-प्रोक्षण आदि से संस्कृत करते हैं। इस बाह्य यज्ञ के वेदि-निर्माण तथा वेदि-संस्कार से हमें आन्तरिक यज्ञ में हृदयवेदि को संरचित तथा सुसंस्कृत करने की प्रेरणा लेनी होती है। हमारी हृदयवेदि कुसंस्कारों से दूषित, मलिन, अपवित्र एवं यज्ञ के अयोग्य नहीं रहनी चाहिए। बाह्य यज्ञ में यज्ञवेदि पर हम यजमान और ऋत्विजों के बैठने के लिए कुशा के पवित्र आसन बिछाते हैं। ये कुशाएँ आन्तरिक यज्ञ की इन्द्रियरूप कुशाओं की सूचक है। स्वभावतः हमारी इन्द्रियाँ कुश से समान धारदार, तीक्ष्ण और बहिर्मुख हैं, किन्तु जैसे कुशाओं को साधकर आसनरूप में परिणत कर लेने पर वे धारदार शस्त्र कार्य नहीं करती, वैसे ही इन्द्रियों को साधकर, अन्तर्मुख कर हृदय में समाहित कर लेने पर वे दिव्य गुणों के स्थिर होने में आसन का काम करती हैं।

आन्तरिक यज्ञ के साधक का अपने शरीर का ढाँचा ही बाह्य यज्ञ में गाड़े जानेवाले यज्ञ-स्तम्भ का स्थानापन्न है। जैसे यज्ञ-स्तम्भ से किसी स्थान के यज्ञ-स्थल होने की सूचना मिलती है, वैसे ही हमारा यह अस्थि-चर्म-मय शरीर का ढाँचा निरन्तर यह सूचना दे रहा है कि मानव-हृदय एक पवित्र यज्ञस्थली है। बाह्य यज्ञ में प्रज्वलित होनेवाली अग्नि अध्यात्म-यज्ञ में प्रज्वलित होनेवाली आत्माग्नि की प्रतीक है।

अतः आओ, हम बाह्य याज्ञिक कर्मकाण्ड में ही अपने कर्त्तव्य की परिसमाप्ति न समझ, आन्तरिक अध्यात्म-यज्ञ को भी रचाएँ।

२४४. अग्नि की अर्चियों में चमकनेवाला

यत्ते पवित्रमर्चिषि॑, अग्ने विततमन्तरा॑।
ब्रह्म तेन पुनातु मा॑ ॥

—यजु० १९.४१

ऋषिः **वैखानसः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **गायत्री**।

(अग्ने) हे अग्नि! **(यत्)** जो **(ते)** तेरी **(अर्चिषि अन्तरा)** ज्वाला के अन्दर **(पवित्रं)** पवित्र **(ब्रह्म)** ब्रह्म **(विततं)** विस्तीर्ण है, **(तेन)** उससे आप **(मा)** मुझे **(पुनातु)** पवित्र करें।

जब यज्ञकुण्ड में पवन से वेग पाकर अग्नि की ज्वालाएँ नृत्य करती हैं, तब क्या तुम्हें उनके मध्य कोई मुस्कराता हुआ मुख दिखाई देता है? जब दीपक की अर्चि मन्द-मन्द हिलोरें लेती है, तब क्या उसके तेज में कोई अन्य तेज झाँकता हुआ दृष्टिगोचर होता है? जब आकाशीय मेघों में विद्युत् चमचमाती है, तब उसकी चमक में क्या तुम्हें किसी अन्य की चमक अनुभव होती है? जब उषा की हिरण्मयी किरणें आकाश में भासित होती हैं, तब क्या उनकी आभा में तुम्हें किसी अन्य की आभा झलकती प्रतीत होती है? जब गगन में प्रकाश का पुञ्ज आदित्य-मण्डल उदित होता है, तब उसमें क्या कोई अन्य प्रकाश तुम्हें प्रकाशमान दृष्टिगत होता है?

यदि किसी अन्य की मूर्ति अग्नि के इन समस्त रूपों में तुम्हें दिखाई नहीं देती तथा ये सब अग्नियाँ तुम्हें भौतिक अग्निमात्र प्रतीत होती हैं, तो तुमने अग्नि के शरीरमात्र को देखा है, अग्नि की आत्मा को नहीं। यदि तुम ध्यान से देखोगे तो तुम्हें स्पष्टरूप से अग्नि के अन्दर पवित्र ब्रह्म बैठा हुआ दिखाई देगा, जो अग्नि में विद्यमान सब शक्तियों और गुणों का स्रोत है। अग्नि में जो ज्योति है, वह वस्तुतः उसी ब्रह्म की ज्योति है। अग्नि में जो दाहकता का गुण है, वह उसी ब्रह्म से प्रदत्त है। अग्नि में जो पवित्रता और पवित्र करने की शक्ति है, वह उसी ब्रह्म द्वारा निहित है। अग्नि में जो चमक, आभा और जगमगाहट है, वह भी उसी ब्रह्म की देन है। हे अग्नि! अपने अन्दर स्थित उस पवित्र ब्रह्म से तुम मुझे पवित्र कर दो। जब-जब मैं तुम्हारी अर्चि को देखूँ, तब-तब उसमें पवित्र ब्रह्म की झाँकी पाऊँ। तब मेरा हृदय निश्चय ही पवित्रता के स्रोत उस ब्रह्म से निष्कलङ्क और निर्मल होकर रहेगा, क्योंकि पवित्र वस्तु का सम्पर्क पवित्रताकारी होता ही है।

केवल अग्नि की अर्चि में ही नहीं, प्रकृति की प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु में अध्यात्म चिन्तकों को ब्रह्म की ही छवि दिखाई देती है। हिमधवल पर्वतों में, कलकलनिनादिनी नदियों में, जल के अथाह पारावार समुद्र में, बिजली की चकाचौंध करते हुए श्यामल बादलों में, रंग-बिरंगे प्रसूनों से सुसज्जित पेड़-पौधों, में भूगर्भ की गहराइयों में सर्वत्र उन्हें परब्रह्म की चेतना अनुभव होती है।

२४५. पवित्रता की पुकार

उभाभ्यां देव सवितः[८], पवित्रेण सवेन च[८]।
मां पुनीहि विश्वतः[७]॥ —यजु० १९.४३

ऋषिः **वैखानसः**। देवता **सविता**। छन्दः **निचृद् गायत्री**।

(देव) हे प्रकाशमान एवं प्रकाशक **(सवितः[१])** सूर्य एवं प्रेरक परमात्मन्! **(पवित्रेण[२])** [अपने] पवित्र रश्मि-पुंज से **(सवेन[३] च)** और वर्षा-जल, रस एवं प्रेरणा से **(उभाभ्यां)** इन दोनों से **(मां)** मुझे **(विश्वतः)** सर्वतः **(पुनीहि)** पवित्र कर।

पवित्रता अपवित्रता को पवित्र करे, इसके स्थान पर संसार में पवित्र वस्तुएँ अपवित्र वस्तुओं के साथ मिलकर अपवित्र हो रही हैं। मानव-मन के पवित्र विचार भी अपवित्र विचारों के साथ मिलकर अपवित्र हो रहे हैं। विश्व में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में अपवित्रता बढ़ रही है। मलिन पदार्थों का जमघट बढ़ जाने से भौतिक वातावरण अपवित्र हो रहा है। पवित्र विचारों और धर्मकर्मों की न्यूनता हो जाने से आध्यात्मिक वातावरण भी अपवित्र हो रहा है। ऐसे समय में पवित्रता की पुकार उठा रहा हूँ।

हे सविता देव! तुम मुझे सब ओर से पवित्र करो। सविता देव प्रकृति में सूर्य है, क्योंकि जगत् की अपवित्रता हरने के लिए वह अपनी किरणों को प्रेरित करता है। हे सूर्य! तुम अपने पवित्र रश्मि-पुञ्ज से भूतल को पवित्र करो। तुम 'सव', अर्थात् अपने बरसाये हुए वर्षा-जल से भी पवित्रता-सम्पादन करो। तुम्हारी किरणों के ताप से कर्दम सूख जाती है, मलिनता भस्म हो जाती है, रोग-कृमि दग्ध हो जाते हैं। तुम्हारा बरसाया हुआ वर्षा-जल भी मालिन्य को बहाकर और अपने अन्दर निहित अमृत को प्रदान कर पावनता देता है। यदि तुम ताप-ही-ताप बखेरते, तो अपवित्रता के साथ-साथ पवित्रता भी भस्म हो जाती, जीवन ही समाप्त हो जाता, अतः ताप के साथ तुम वृष्टिरूप में अमृत भी बरसाते हो, जो पवित्रता को पनपाता है। हे मरीचिमाली! किरण और वर्षा-जल, अपनी इन दोनों ही वस्तुओं से तुम सर्वत्र हमें पवित्र करते रहो।

हे परमात्मन्! हे देव! हे स्वतः-प्रकाशमान और प्रकाशक! तुम्हारा नाम भी 'सविता' है, यतः तुम सबके हृदयों में शुभ प्रेरणा करनेवाले हो। तुम अपने 'पवित्र' और 'सव' द्वारा हमें आध्यात्मिक पवित्रता प्रदान करो। तुम्हारे पास भी सूर्य के समान देदीप्त रश्मि-पुञ्ज है। तुम्हारे दिव्य प्रकाश की पवित्र किरणें जब मनुष्य के मानस-पटल पर पड़ती हैं, तब उसके सब कालुष्य जल जाते हैं। तुम्हारे पास 'सव' भी है। तुम्हारे दिव्यरसरूप 'सव' से बड़े-बड़े अपावन भी पवित्र हो जाते हैं, तुम्हारे दिव्य प्रेरणारूप 'सव' से प्रेरणाहीन भी प्रेरित हो जाते हैं। हे परम कृपालु प्रभु! तुम अपनी कृपा की दृष्टि हमपर डालकर हमें पवित्र कर दो, पावन बना दो। न केवल हम स्वयं पवित्र बनें, अपितु पवित्रता का अभियान चलाकर तुम्हारा पवित्रता का सन्देश सम्पूर्ण जगत् में मुखरित कर दें।

२४६. वृत्रहन्तम गान

बृहदिन्द्राय गायत॑, मरुतो वृत्रहन्तमम्॑ ।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो॑, देवं देवाय जागृवि॑ ॥

—यजु० २०.३०

ऋषी **नृमेध-पुरुषमेधौ**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **बृहती**।

(मरुतः) हे मनुष्यो! **(इन्द्राय)** परमैश्वर्यवान् राजा और परमात्मा के लिए **(वृत्रहन्तमं)** वृत्रहन्तम गान को **(बृहत्)** बहुत अधिक **(गायत)** गाओ, **(येन)** जिसके द्वारा **(ऋतावृधः)** सत्यवर्धक जन **(देवाय)** [अपने] राष्ट्र एवं आत्मा के लिए **(देवं)** प्रकाशक **(जागृवि)** जागरणशील **(ज्योतिः)** ज्योति को **(अजनयन्)** उत्पन्न करते हैं।

आओ, हे मित्रो! 'नृमेध' और 'पुरुषमेध' बनकर इन्द्र के लिए 'वृत्रहन्तम' गान गाओ। इन्द्र मानव-राजा और विराट्-राजा परमात्मा दोनों का वाचक है। राष्ट्र के नर-राजा का पूजक 'नृमेध' और परम-पुरुष परमात्मा का पूजक 'पुरुषमेध' कहलाता है। हे मनुष्यो! अपने राष्ट्र के राजा के लिए प्रचुर रूप से वृत्रहन्तम गान गाओ। वृत्र उन्नति में बाधक शत्रुओं का नाम है, जो दुर्गुण और दुर्व्यसन भी हो सकते हैं तथा मानवी शत्रु भी। जिस गाने से उन वृत्रों का अतिशय संहार हो सके वह वृत्रहन्तम गान है। राष्ट्र के अन्दर और बाहर व्याप्त समस्त बाधक शत्रुओं के पूर्ण उच्छेद के लिए राजा से पुनः-पुनः निवेदन करना और उस उच्छेद में स्वयं भी सम्मिलित हो जाना राजा-रूप इन्द्र के लिए वृत्रहन्तम गान का गायन है। जो 'ऋतावृध' होते हैं, जिन्हें राष्ट्र में सत्य को बढ़ाने की लगन लगी होती है, वे लोग इसी गान को गाते हैं और इसके द्वारा राष्ट्र में पूर्ण जागृति की ज्योति को उत्पन्न कर देते हैं, अतः राष्ट्रोन्नति के इच्छुक तुम लोग भी इस गान को गाओ।

इसके साथ ही आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति के हित परमैश्वर्यवान् परमात्मारूप इन्द्र के लिए वृत्रहन्तम गान का स्वर गुँजाओ। आध्यात्मिक उत्कर्ष के मार्ग पर चलते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अनेक बाधक वृत्रों से संग्राम करना पड़ता है। इन्द्र प्रभु इस संग्राम में हमारे सहायक हों और हम इन रिपुओं के समूलोन्मूलन में साफल्य-लाभ कर सकें। ये सब रिपु हमें असत्य के पथ पर चलाना चाहते हैं। पर हम तो 'ऋतावृध' बनना चाहते हैं, हमें तो अपने ज्ञान और आचार-व्यवहार में सत्य को प्रवृद्ध करने की अभिरुचि है, अतः हम प्रभु के प्रति वृत्रहन्तम गान के द्वारा अपने आत्मा के लिए सतत जागरणशील, प्रकाशप्रद दिव्य ज्योति को उत्पन्न कर लेना चाहते हैं। आओ, हे साथियो! हम-तुम मिलकर जन-जन की आत्मा में अध्यात्म-ज्योति का अलख जगाने के लिए यत्नशील हों और इन्द्र प्रभु के सम्मुख उपस्थित होकर लयबद्ध संगीत के साथ वृत्रहन्तम गान को गायें, जिससे प्रेरित होकर वे परमप्रभु समस्त कठिनाइयों पर हमें विजय दिलाकर हमारा मार्ग प्रशस्त करें।

२४७. प्राण, अपान आदि का रक्षक

प्राणपा मे अपानपाश्[८], चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे[८]।
वाचो मे विश्वभेषजो[८], मनसोऽसि विलायकः[८]॥

—यजु० २०.३४

ऋषिः **प्रजापतिः**। देवता **लिङ्गोक्ताः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

[हे परमेश्वर! तू] **(मे)** मेरा **(प्राणपाः)** प्राण का रक्षक, **(अपानपाः)** अपान का रक्षक, **(मे)** मेरा **(चक्षुष्पाः)** चक्षु का रक्षक, **(श्रोत्रपाः च)** और श्रोत्र का रक्षक, **(मे)** मेरी **(वाचः)** वाणी के **(विश्वभेषजः)** सब रोगों की चिकित्सा करनेवाला तथा **(मनसः)** मन को **(विलायकः[१])** इन्द्रियों के साथ जोड़नेवाला और आत्मा में लीन करानेवाला **(असि)** है।

हे परमेश्वर! जिस प्रकार तुम ब्रह्माण्ड का धारण-पालन-रक्षण करते हो, उसी प्रकार मेरी इस छोटी-सी शरीर-नगरी का भी पालन-पोषण और रक्षण तुम्हीं कर रहे हो। राज्य में राज्याधिकारियों के समान इस देहपुरी में तुमने यथास्थान विभिन्न कार्यकर्ताओं को नियुक्त किया हुआ है और प्रमादादि से बचाते हुए तुम इन्हें अपने-अपने कार्य में सन्नद्ध रखते हो। शरीर में प्राण, अपान आदि पञ्च-प्राणों का व्यापार कैसा अद्भुत है! शरीर के ऊर्ध्वभाग में रहता हुआ 'प्राण' कैसी निपुणता से ऊर्ध्व-अंगों के कार्य का सञ्चालन कर रहा है, अधोभाग में रहता हुआ 'अपान' कैसी तत्परता से शरीर की शुद्धि कर रहा है। सारे शरीर में चक्कर काटता हुआ 'व्यान' नस-नाड़ियों में रक्त-प्रवाह और ज्ञान-तन्तुओं में ज्ञान-प्रवाह का कैसी अद्भुतता के साथ नियन्त्रण कर रहा है। कण्ठदेश और पृष्ठवंश में रहता हुआ उदान कैसी दक्षता से इन अङ्गों को साधे हुए है। नाभिक्षेत्र में रहता हुआ 'समान' आमाशय में गये हुए भोजन को पचाकर रस-रक्त में परिणत कर कैसी कार्य-परायणता के साथ समस्त अङ्गों में पहुँचा रहा है। चक्षु और श्रोत्र की कलाकृतियों पर भी कौन मुग्ध न होगा! इनकी रचना और इनकी रक्षा-व्यवस्था कैसी विस्मयकारिणी है। आँख की पुतली को कैसी चतुरता के साथ आवश्यकतानुसार खुलने-बन्द होनेवाली डिबिया में सुरक्षित किया हुआ है और उसके भी द्वार पर रक्षा के लिए पलक-पङ्क्ति स्थिर की हुई है। कैसे बाह्य पदार्थ की किरणें आँख की पुतली पर पड़ती हैं और पुतली सम्बद्ध ज्ञानतन्तुओं के द्वारा पदार्थ के गृहीत स्वरूप को मस्तिष्क तक पहुँचा देती है। कर्णद्वार, कर्णनलिका, कान के परदे की रचना और शब्द का परदे पर प्रतिघात होकर उसका सुनाई देना यह शिल्प भी कैसा चातुर्यपूर्ण है।

वाणी के व्यापार पर भी दृष्टिपात करो। आत्मा द्वारा भाषण के लिए प्रेरित मन कायाग्नि को उकसाता है, वह अन्दर से वायु को प्रेरित करती है, वायु संकीर्ण या विवृत कण्ठमार्ग से निकलता हुआ जिह्वा को मुख के विभिन्न अवयवों तालु, दन्त आदि से स्पर्श कराता हुआ शब्द उत्पन्न करता है। इस सबकी व्यवस्था हे प्रभु! तुम्हीं कर रहे हो। कर्कश-भाषण, क्रूर-भाषण, असत्य-भाषण, अस्पष्ट-भाषण आदि वाणी के विविध रोगों की चिकित्सा भी है प्रभु! तुम स्वयं करते हो। तुम्हीं मन का विभिन्न इन्द्रियों के साथ सम्पर्क कराते हो, तभी इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण कराने में समर्थ होती हैं। तुम्हीं साधक के मन को विषयों से हटाकर, अन्तर्मुख कर आत्मा में लीन करते हो।

हे अनन्तशक्तिमय! तुम्हारा शतशः धन्यवाद है कि तुमने शरीरस्थ समस्त अङ्गों और शक्तियों के सञ्चालन तथा रक्षण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर हमें निश्चिन्त किया हुआ है।

२४८. आओ, अदिति माता को पुकारें

महीमू षु मातरꣳ सुव्रतानाम्[११], ऋतस्य पत्नीमवसे हुवेम[११]।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳ[११], सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम्[११]॥

—यजु० २१.५

ऋषिः **वामदेवः**। देवता **अदितिः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(महीं[१]) महती तथा पूज्या, **(सुव्रतानां)** सुव्रतों और सुव्रतियों की **(मातरं)** माता, **(ऋतस्य)** सत्य की **(पत्नीं)** पालयित्री, **(तुवि-क्षत्रां)** बहुत क्षात्र-शक्ति से युक्त, **(अजरन्तीं)** जराजीर्ण न होनेवाली, **(उरूचीं[२])** बहुत गतिवाली, कर्मण्य, **(सुशर्माणं)** उत्तम शरण और सुख देनेवाली, **(सुप्रणीतिं)** श्रेष्ठ नीतिवाली **(अदितिं[३])** जगन्माता को **(अवसे)** रक्षा के लिए **(सु)** शोभन प्रकार से **(हुवेम)** पुकारें।

सङ्कट की घड़ी में रक्षा के लिए हम इधर-उधर क्यों भटकते हैं, आओ, अपनी जगदम्बा को पुकारें। वह 'मही' है, महती है, महिमामयी है, अतएव सबकी पूजनीय है। जगत् में जो शुभ व्रत या शुभ कर्म दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सबका श्रीगणेश करनेवाली वही है। वह स्वयं शुभ व्रतों का निर्वाह करती है तथा हम सब शिशुओं को भी शुभ व्रत धारण करवाती है और जो सुव्रती हैं उनकी माता बनती है। वह सत्य की संरक्षिका है। प्रकृति में अविच्छिन्न रूप से चलनेवाले सत्य नियमों को वही चला रही है। हम भी जब कभी सत्य से च्युत होने लगते हैं, तब वह त्वरित गति से आकर हमें बोध और रक्षण प्रदान करती है। वह 'तुवि-क्षत्रा' है, आपदाओं से त्राण करने की शक्ति उसमें उद्भुत है। जब हमारा हृदय प्रहारों से छलनी हो चुका होता है, तब वह अपने प्यार का मरहम लगाकर हमारे घावों को भरती है। वह 'अजरन्ती' है, वह कभी बूढ़ी नहीं होती, जरा से जीर्ण नहीं होती, उसके चेहरे पर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं, वह सदा से युवति है और सदा युवति रहेगी। वह 'उरूची' है, बहुत गतिमयी है, कर्मण्य है। जहाँ कहीं भी उसके ताने-बाने का तार टूटने लगता है, झट वहाँ पहुँच उसे सँभाल लेती है। वह अकेली ब्रह्माण्ड के सब कार्यों को कर रही है। वह 'सुशर्मा' है, उत्तम शरण, उत्कृष्ट कल्याण और सुन्दर सुख प्रदान करनेवाली है। जिसे वह अपनी शरण में ले लेती है, उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। जिसका वह कल्याण करने पर तत्पर हो जाती है, उसका कोई अकल्याण नहीं कर सकता। जिसे वह अपनी सुख की छत्र-छाया में ले लेती है, उसे कोई सन्तप्त नहीं कर सकता। वह 'सुप्रणीति' है, श्रेष्ठ मार्गों और प्रकृष्ट नीतियों की शिक्षिका है। बाल-मति हम जीवन के चौराहे पर खड़े यह समझ ही नहीं पाते कि किस मार्ग से जाना श्रेयस्कर है, वह आकर किंकर्तव्यविमूढ़ हुए हमारे आत्मा को दिशा-निर्देश कर जाती है। आओ, उस माँ को प्रणाम करें, अपनी रक्षा का भार उसी पर छोड़ दें।

२४९. यज्ञ कर

होता यक्षत् त्वष्टारमिन्द्रं[१], देवं भिषजं सुयजं घृतश्रियम्[१२]।
पुरुरूपं सुरेतसं मघोनम्[११], इन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि[११]।
वेत्वाज्यस्य होतर्यज[८] ॥ —यजु० २८.९

ऋषिः **प्रजापतिः**। देवता **त्वष्टा**। छन्दः **निचृद् अतिजगती**।

(होता) हवनकर्ता मनुष्य **(इन्द्रं)** परमैश्वर्यवान्, **(देवं)** प्रकाशक, दानी **(भिषजं)** रोग-निवर्तक, **(सुयजं)** शुभ यज्ञ के साधक, **(घृतश्रियं)** घृत से शोभित होनेवाले, **(पुरुरूपं)** बहुत रूपोंवाले, **(सुरेतसं)** सुवीर्य को देनेवाले, **(मघोनं)** तेजोधन से युक्त **(त्वष्टारं)** अग्नि को **(यक्षत्[१])** यजन करे। **(त्वष्टा)** अग्नि **(इन्द्राय)** आत्मा के लिए **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियों को **(दधत्)** प्रदान करे, **(आज्यस्य)** घृत का **(वेतु[२])** भक्षण करे। **(होतः)** हे होमनिष्पादक! **(यज)** यज्ञ कर।

प्रयाज देवों में 'त्वष्टा'[३] अग्नि का नाम है। अग्नि को 'त्वष्टा' इस कारण कहते हैं, क्योंकि वह हुत हवि का विच्छेदन कर उसे लोकोपयोगी बना देता है[४]। हे मनुष्य! तू उस अग्नि में यज्ञ कर। वह अग्नि 'इन्द्र' है, परम ऐश्वर्यों की खान है। वह अग्नि 'देव'[५] है, प्रकाशमान है, प्रकाशक है और धन, बल, तेज, सन्तान आदि को देनेवाला है। वह अग्नि 'भिषग्' है, रोगों को हरनेवाला वैद्य है। वह 'सुयज' है, हमारे शुभ यज्ञ का साधक है। वह 'घृतश्रीः' है, घृत की आहुति पाकर उसकी श्री निखर उठती है। वह 'पुरुरूप' है, बहुत-से रूपोंवाला है, उसकी काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी, विश्वरुची नामक दिव्य लेलायमान सप्तविध ज्वालाएँ हैं[६]। वह 'सुरेताः' है, सुवीर्य को प्रदान करनेवाला है। वह 'मघवा' है, तेजोधन से युक्त है। उस अग्नि में तू हे होता! घृत एवं अन्य सुगन्धि, मिष्ट, पुष्ट, रोगनाशक हव्यों की आहुति दे। अग्नि तेरी आहुति को विश्लिष्ट कर वायुमण्डल में चारों ओर प्रसारित कर देगा, जिससे श्वास द्वारा वह कृमिहर हवि शरीर के रक्त में पहुँच रोगों का हरण करेगी।

रोगनिवारण के अतिरिक्त यज्ञाग्नि आत्मिक तेज एवं ब्रह्मवर्चस को भी प्रदान करता है। वह चक्षु, श्रोत्र आदि सब इन्द्रियों को तथा अन्तरिन्द्रिय मन को सजग, शक्ति-सम्पन्न, तेजस्वी एवं ऊर्ध्वगामी बनाता है। इस प्रकार अग्नि में यज्ञ करने के बाह्य तथा आध्यात्मिक उभयविध लाभ याज्ञिक को प्राप्त होते हैं, अतः हे होता! तू यज्ञ कर, यज्ञ कर।

२५०. त्वष्टा की पूजा कर

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान[११], त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः[११]।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान[११], बहोः कर्तारमिह यक्षि होतः[११]॥

—यजु० २९.९

ऋषिः **बृहदुक्थः वामदेव्यः**। देवता **त्वष्टा**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**त्वष्टा**) त्वष्टा प्रभु (**देवकामं**) देवत्व की कामनावाले एवं देवपूजक (**वीरं**) वीर को (**जजान**) जन्म देता है, (**त्वष्टुः**) त्वष्टा प्रभु से (**अर्वा**[१]) वेगवान् (**आशुः**) फुर्तीला (**अश्वः**) अश्व (**जायते**) उत्पन्न होता है। (**त्वष्टा**) त्वष्टा प्रभु ने (**इदं**) इस (**विश्वं**) समस्त (**भुवनं**) भुवन को (**जजान**) उत्पन्न किया है। (**होतः**[२]) हे स्तोता! (**बहोः**) बहुविध संसार के (**कर्तारं**) कर्ता [त्वष्टा प्रभु] की (**इह**) यहाँ (**यक्षि**[३]) पूजा कर।

हे मानव! क्या विश्व की विभिन्न आश्चर्यजनक कृतियों को देखकर विश्व-रचयिता के प्रति तेरे मन में कौतूहल उत्पन्न नहीं होता? विश्व का वह विलक्षण कारीगर 'त्वष्टा' परमेश्वर है। 'त्वष्टा' लोक में तरखान को कहते हैं, जो लकड़ी को गढ़-छीलकर उससे मेज, कुर्सी, अलमारी, चौखट, खेल-खिलौने आदि विविध सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ बनाता है। परमेश्वर भी उसी शिल्पी के समान संसार के सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वन, पर्वत, सुवर्ण, रजत आदि विभिन्न पदार्थों का निर्माण करता है और उसीने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को रचा है। यदि हम एक सामान्य मानव शिल्पी की उत्कृष्ट रचनाओं को देखकर उनपर मुग्ध हो सकते हैं और उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, तो सकल विश्व के सर्जनहार उस अनुपम शिल्पी की विरुदावलि का गान क्यों न करें?

देखो, त्वष्टा प्रभु ने केवल इस महिमा-मण्डित जड़ जगत् को ही उत्पन्न नहीं किया है, अपितु वह हमारे घर में और हमारे राष्ट्र में देवकाम 'वीर' को भी जन्म देता है, जिसे निरन्तर स्वयं को देव बनाने की कामना लगी रहती है और जो माता, पिता, आचार्य, विद्वज्जन, अतिथि, परमात्मा आदि देवों का पूजक होता है। ऐसे ही वीरों पर गृहपतियों को और राष्ट्रों को गर्व होता है। ऐसे ही वीर समाज के गौरव होते हैं, ऐसे ही वीर राष्ट्र की विभूति होते हैं। यदि तुम वन, पर्वत, नदी, सागर आदि के सुकृत का कीर्तिगान कर सकते हो, तो मन एवं बुद्धि से सोचने-विचारनेवाले और कर्त्तव्य का निश्चय करनेवाले, स्फूर्तिमान् 'वीर' को देखकर तो उसके स्रष्टा का यशोगान करते-करते आत्मविभोर हो जाना चाहिए।

और देखो, 'त्वष्टा' प्रभु वेगवान्, फुर्तीले अश्व को और तत्सदृश अन्य उपयोगी गाय, बैल, हाथी आदि प्राणियों को भी जन्म देता है। क्या कोई ऐसा लौकिक कारीगर तुमने देखा है, जो इस प्रकार पाञ्चभौतिक शरीरों की रचना करके उनमें जान डाल सके और विविध शक्तियों को निहित कर सके? यदि नहीं, तो आओ, हे स्तोताओ! उस त्वष्टा प्रभु की पूजा करो, जो बहुविध जड़-चेतन जगत् का स्रष्टा होता हुआ हमपर परम कृपालु हो रहा है। आओ, उस दिव्य कलाकार की आराधना करो और उसके प्रति नतमस्तक होकर उसकी कीर्ति का गान करो।

२५१. सहस्रों सिरोंवाला पुरुष

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा, ऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

—यजु० ३१.१

ऋषिः **नारायणः**। देवता **पुरुषः**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्**।

(पुरुषः) पुरुष परमेश्वर **(सहस्रशीर्षा**[१] **)** सहस्रों सिरोंवाला, **(सहस्राक्षः)** सहस्रों आँखोंवाला [और] **(सहस्रपात्)** सहस्रों पैरोंवाला [है]। **(सः)** वह **(भूमिं)** भूमि को **(सर्वतः)** सब ओर से **(स्पृत्वा**[२] **)** व्याप्त करके [स्थित है, फिर भी] **(दशाङ्गुलं**[३] **)** दसों इन्द्रियों से **(अति-अतिष्ठत्)** अतिक्रान्त है, अर्थात् उनसे ग्राह्य नहीं है।

भाइयो! एक पुरुष है, जिसके सहस्रों सिर हैं, सहस्रों नेत्र हैं, सहस्रों पैर हैं। वह इतना विशाल है कि भूमि को हर ओर से व्याप्त करके स्थित है, फिर भी दसों इन्द्रियों की पहुँच से परे है। क्या तुम इस विरोधाभास को समझे? इतना विशाल पुरुष है, फिर भी किसी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। यह पुरुष कौन है?

परमदेव परमेश्वर ही यह पुरुष है। पुरुष दोनों कहलाते हैं, जीवात्मा भी, परमात्मा भी। जहाँ भेद सूचित करना विवक्षित होता है, वहाँ जीव को अवर-पुरुष और परमेश्वर को परम-पुरुष कह देते हैं। परमेश्वर का नाम पुरुष[४] इस कारण है, क्योंकि उसने अपनी सत्ता से जगत् को परिपूर्ण कर रखा है, अथवा ब्रह्माण्डरूप या शरीररूप नगरी में शयन करता है। वह परम-पुरुष परमात्मा यद्यपि निराकार एवं निरवयव है तो भी उसे सहस्रशीर्षा कहा गया है, क्योंकि उसके सिर, अर्थात् मस्तिष्क की शक्ति हमारी अपेक्षा सहस्रोंगुणित है, अपार है। वह प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण करके यथार्थता को जान लेता है। वह सहस्राक्ष भी है, क्योंकि उसमें नेत्रों की शक्ति अनन्त है। वह सर्वद्रष्टा है, उसकी आँख से कुछ भी छिप नहीं सकता। विश्व के किसी कोने में कोई घटना घटित हो रही हो, उसे वह देख लेता है। वह सहस्रपात् है, उसने सर्वत्र अपने पैर रखे हुए हैं, अर्थात् सर्वव्यापी है।

उसके विषय में एक आश्चर्य की बात यह है कि वह चारों ओर से भूमि को घेरे हुए है, फिर भी दसों इन्द्रियों में से किसी का विषय नहीं बनता। न आँख उसे देख सकती है, न कान उसे बोलता सुन सकते हैं, न जिह्वा उसका स्वाद पहचान सकती है, न नासिका उसकी गन्ध सूँघ सकती है, न त्वचा उसका स्पर्श अनुभव कर सकती है, न हाथ उसे पकड़ सकते हैं, न पैर चलकर उसके पास पहुँच सकते हैं। इसीलिए ऋषियों ने **''न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः''**[५] आदि शब्दों से उसकी इन्द्रिय-गोचरता का निषेध किया है। वह इन्द्रियातीत सूक्ष्म होने के कारण है, इन्द्रियाँ भौतिक एवं स्थूल वस्तु को ही ग्रहण कर सकती हैं, दिव्य एवं सूक्ष्म को नहीं। ऐसे विलक्षण स्वरूपवाला वह 'पुरुष' सबसे वन्दना करने योग्य है, सबका पूजनीय है, सबका भजनीय है।

२५२. दिव्य कलाकार बन

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च[११], विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे[११]।
तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति[११], तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे[१२]॥

—यजु० ३१.१७

ऋषिः **उत्तरनारायणः**। देवता **आदित्यः**। छन्दः **भुरिक् त्रिष्टुप्।**

(अद्भ्यः) अप्-तत्त्व से **(पृथिव्यै[१])** पृथिवी तत्त्व से **(विश्वकर्मणः रसात् च)** और अग्नि के तत्त्व से **(संभृतः)** रचा हुआ [जो जगत्] **(अग्रे)** प्रारम्भ से **(समवर्तत)** उत्पन्न हुआ, **(तस्य)** उसके **(रूपं)** रूप को **(विदधत्)** रचता हुआ **(त्वष्टा)** शिल्पी आदित्य परमेश्वर **(एति)** क्रिया कर रहा है। **(तत्)** यही [रूप-रचना का कार्य] **(मर्त्यस्य)** मनुष्य का [भी] **(अग्रे)** सर्वश्रेष्ठ **(आजानं)** जन्मजात **(देवत्वं)** देवत्व है, दिव्य गुण है।

जिन तत्त्वों से जगत् की रचना हुई है, उनमें तीन तत्त्व प्रमुख हैं—अग्नि, अप् और पृथिवी। छान्दोग्य उपनिषद् में जिन तत्त्वों के जान लेने से समग्र विश्व का ज्ञान हो जाता है, वे तत्त्व श्वेतकेतु को उसके पिता ने ये ही तीन बताए हैं, जिनमें पृथिवी के स्थान पर 'अन्न' पठित है। इस प्रकार त्रिवृत्करण की प्रक्रिया से इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है। दार्शनिकों ने पञ्चतत्त्वों की पञ्चीकरण-प्रक्रिया से जो विश्व-सृष्टि की व्याख्या की है, उसका अन्तर्भाव भी इस त्रिवृत्-प्रक्रिया में ही मानकर उन्होंने तीन तत्त्वों और पाँच तत्त्वों के प्रतीयमान विरोध का परिहार कर लिया है, अर्थात् वेद या उपनिषद् के तीन तत्त्व पञ्च तत्त्वों के ही उपलक्षण हैं। पञ्च सूक्ष्मभूतों या पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चीकरण द्वारा पञ्च स्थूलभूतों की रचना होती है एवं आकाश, वायु, अग्नि, अप्, पृथिवी इन पाँच स्थूलभूतों में से प्रत्येक में प्रधान अपना-अपना भाग तथा शेष चारों के कुछ-कुछ अंश होते हैं।

इस प्रकार प्रारम्भ में पञ्च तत्त्वों के योग से जो जगत् रचा गया, उसमें सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक रङ्ग और कूँची लेकर परम-शिल्पी मूर्तिकार त्वष्टा-प्रभु रङ्ग भर रहे हैं और भविष्य में भी भरते रहेंगे। पृथिवी पर बिछे हुए हरियाले गलीचे में रङ्ग किसने भरा है? वृक्ष-वल्लियों में, रङ्ग-बिरङ्गे पुष्पों में, आकाश की नीलिमा में, सतरङ्गे इन्द्रधनुष में रङ्ग का अलङ्कार किसने किया है? बहुरङ्गी तितलियों में, रङ्गरूप से चित्त को मोहनेवाली चिड़ियों में, चितकबरे मृगों तथा अन्य सकल जीव-जन्तुओं में रूप की छटा किसने उत्पन्न की है? वही त्वष्टा प्रभु सबको यथायोग्य रङ्गरूप से सुसज्जित करनेवाला है। नीरङ्ग में रङ्ग भरना, नीरूप में रूप भरना, यही तो सच्ची कला है। मनुष्य भी यदि देव बनना चाहता है, तो उसे यह कला सीखनी होगी। वह अपनी सुन्दर कृतियाँ तैयार करे और उसमें रूप भरे। आज का मानव-समाज रूपहीन हो रहा है। उसमें वह सत्य, अहिंसा, त्याग आदि का रूप भरकर उसे सजीव बना दे, यही मानव का जन्मजात कर्त्तव्य है, जिसके पालन का व्रत लेकर वह दिव्य कलाकार कहला सकता है। हे मानव! तू कला को विकृत करनेवाला मत बन, दिव्य कलाकार बन।

२५३. प्रभु-दर्शन

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्[११], यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्[१०]।
तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं[११], स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु[११]॥

—यजु० ३२.८

ऋषिः **स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता **परमात्मा**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(वेनः[१]) मेधावी, इच्छुक, गतिमय, अर्चनाशील, श्रवण-चिन्तनशील मनुष्य **(तत्)** उस ब्रह्म को **(पश्यत्[२])** देख लेता है, [जो ब्रह्म] **(गुहा[३] निहितं सत्)** गुहा में निहित है, गुप्त है, **(यत्र)** जिसमें **(विश्वं)** विश्व **(एकनीडं)** एक घोंसलेवाला, एक आश्रयवाला **(भवति)** होता है। **(तस्मिन्)** उस [ब्रह्म] में **(इदं सर्वं)** यह सब [जगत्] **(सम् एति च)** समाविष्ट हो जाता है, **(वि एति च)** [उत्पत्तिकाल में] बाहर निकल आता है। **(सः)** वह **(विभूः)** व्यापक ब्रह्म **(प्रजासु)** प्रजाओं में **(ओतः प्रोतः च)** ओत और प्रोत है।

परमात्मा गुहा में निहित है, गुह्य है। जो मेधावान् है, जिसके अन्दर ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय हो गया है, जिसे प्रभुदर्शन की उत्कट लालसा लगी हुई है, जो कर्मण्य है, जो अर्चनाशील मन से उसे पाने के लिए प्रवृत्त होता है, जो श्रवणशील और चिन्तनशील है, वही उसके दर्शन कर पाता है। वह प्रभु सबका आवास-स्थान और आश्रय-स्थान है। हर मनुष्य, मनुष्य ही क्यों, जगत् का प्रत्येक जड़-चेतन उसपर मानो अपना-अपना घोंसला बनाकर बैठा हुआ है। वृक्ष पर घोंसले में बैठा पक्षी भले ही समझता रहे कि मेरा आश्रय तो घोंसला है, पर असल में उसका आश्रय वृक्ष होता है। इसी प्रकार हम लोग अपनी नासमझी के कारण चाहे इस भ्रम में पड़े रहें कि हमारे आश्रय मकान-महल, सखा-कुटुम्बी राजे-महाराजे आदि हैं, पर वस्तुतः तो वह प्रभु ही हमारा अन्तिम आश्रय-स्थान है। उसका हाथ, उसकी छत्रछाया, उसकी सहायता, उसका आश्वासन हट जानेपर हम एक पग भी नहीं चल सकते, एक साँस भी नहीं ले सकते। उसका आधार खिसकते ही हमारे आश्रय बने हुए ये भव्य भवन, ये ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ, ये मीनार-मन्दिर-गुम्बद, ये विद्युत्प्रदीपों से जगमगाते हुए शानदार नगर सब क्षण-भर में धराशायी हो जाएँ। उसका हाथ हट जाने पर धरती-आसमान भी रो उठें।

यह समस्त जगत्प्रपञ्च सृष्ट्युत्पत्ति के समय उसी ब्रह्म में से बाहर निकल आता है और प्रलयकाल में उसी के अन्दर समा जाता है। जैसे मकड़ी की आत्मा मकड़ी के शरीर से जाले को बाहर निकालती है और फिर जाले को शरीर में ही समेट लेती है, वैसे ही ब्रह्म अपने शरीर-भूत प्रकृति से जगत्-प्रपञ्च को सृजता है और फिर अपने प्रकृतिरूप शरीर में ही समेट लेता है। जैसे पृथिवी बीज में से ओषधियों को उत्पन्न करती है, वैसे ही ब्रह्म प्रकृतिरूप बीज से सृष्टि उत्पन्न करता है। जैसे मनुष्य का चेतन आत्मा शरीर में से केश और रोमों को प्रकट करता है, वैसे ही ब्रह्म अपने प्रकृतिरूप शरीर में से विश्व को प्रकट करता है। ब्रह्म अपनी रची हुई सब प्रजाओं के अन्दर ओत-प्रोत भी है। घट को रचनेवाला कुम्भकार घट के अन्दर ओत-प्रोत नहीं होता। पर प्रभु की लीला विचित्र है, वह अपनी रची हुई प्रजाओं को धारण करने के लिए उनके अन्दर ओत-प्रोत भी है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रपञ्च का ऐसा महान् उत्तरदायित्व जिसने अपने ऊपर लिया हुआ है, आओ, उस प्रभु के चरणों में नमस्कार करें और 'वेन' बनकर उसके दर्शनों से कृतकृत्य हों।

२५४. ब्रह्म-क्षत्र की श्री

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं[८], चोभे श्रियमश्नुताम्[७]।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां[१२], तस्यै ते स्वाहा[१]॥

—यजु० ३२.१६

ऋषिः **श्रीकामः**। देवता **देवाः (विद्वांसः राजानश्च)**। छन्दः **अनुष्टुप् (शङ्कुमती)**।

(मे) मेरा **(इदं)** यह **(ब्रह्म च क्षत्रं च)** ब्राह्मण-धर्म और क्षात्र-धर्म **(उभे)** दोनों **(श्रियं)** श्री को **(अश्नुतां)** प्राप्त हों। **(देवाः)** विद्वद्गण और राजा लोग **(मयि)** मेरे अन्दर **(उत्तमां श्रियं)** उत्तम श्री को **(दधतु)** स्थिर करें। **(तस्यै ते)** उस तुझ [श्री] के लिए **(स्वाहा[१])** स्वागत-वचन [है]।

प्रत्येक राष्ट्र में ब्रह्म और क्षत्र दोनों का होना आवश्यक है। कोई भी राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान के शिक्षक, आस्तिकता और सच्चरित्रता के प्रचारक, धर्म के उद्धारक ब्राह्मणों से धृत तथा राष्ट्र की रक्षा करनेवाले एवं अवसर आने पर राष्ट्र-हितार्थ अपना बलिदान तक कर देनेवाले वीर क्षत्रियों से रक्षित होता है। इन दोनों में से एक के भी अभाव में राष्ट्र का शरीर खड़ा रह सकना कठिन है। बड़े-बड़े बली और सैन्य-शक्ति में अग्रणी राष्ट्र ब्रह्म-बल के अभाव के कारण अपने शक्ति-प्रदर्शन की धुन में दूसरे राष्ट्रों के साथ युद्ध करके नष्ट-भ्रष्ट हो गये। इसके विपरीत अनेक शान्तिप्रिय और ज्ञान-विज्ञान के उपासक-राष्ट्र आत्मरक्षा के साधन पास न होने से दूसरे राष्ट्रों द्वारा कवलित कर लिये गये।

राष्ट्र के समान व्यक्ति में भी ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान-विज्ञान, ईश्वर-विश्वास, त्याग, अपरिग्रह आदि का गुण और क्षत्र, अर्थात् क्षत से बचने-बचाने का तथा आत्मरक्षा एवं पर-रक्षा का गुण, दोनों का होना अनिवार्य है। किसी एक के भी न होनेपर व्यक्ति में न्यूनता रहती है, जिसके कारण वह उन्नत नहीं हो सकता, अतः मैं भी चाहता हूँ कि मेरे ब्रह्म और क्षत्र दोनों श्री को, उत्कर्ष को, परम शोभा को प्राप्त करें। मेरे राष्ट्र में जो भी देव हैं, धर्मात्मा विद्वद्गण हैं, अध्यापक-उपदेशक हैं, राजा और राज्याधिकारी हैं, वे सदुपदेश, शिक्षा और अपने आदर्श चरित्र के उदाहरण से मेरे अन्दर ब्रह्म और क्षत्र की परम श्री को सुदृढ़ रूप से स्थापित करें। ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से उत्पन्न होनेवाली श्री मेरे लिए अतिशय स्पृहणीय है, जीवन के उत्कर्ष के लिए अनिवार्यरूप से वरणीय है। हे ब्रह्म-क्षत्र की श्री! तुम आओ, मेरे अन्तरात्मा में प्रवेश करो, तुम्हारा स्वागत है।

२५५. वह समुद्र के समान फैलता है

अयं सहस्त्रमृषिभिः सहस्कृतः[१२]**, समुद्र इव पप्रथे**[८]**।**
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो[१२]**, यज्ञेषु विप्रराज्ये**[७] **॥**

—यजु० ३३.८३

ऋषिः **मेधातिथिः**। देवता **इन्द्रः (विश्वे देवाः च)**। छन्दः **निचृत् सतोबृहती पङ्क्तिः**।

[हे विश्वे देवाः! हे समस्त विद्वानो!] (**अयं**) यह [इन्द्र परमेश्वर] (**ऋषिभिः**) ऋषियों द्वारा (**सहस्त्रं**) सहस्र बार (**सहस्कृतः**[१]) बलपूर्वक स्तुति किया हुआ (**समुद्रः इव**) सागर और मेघ के समान (**पप्रथे**) विस्तार पाता है। (**अस्य**) इसकी (**स महिमा**) वह महिमा (**सत्यः**) सत्य [है]। (**विप्र-राज्ये**) ज्ञानियों के राज्य में (**यज्ञेषु**) यज्ञों में (**शवः**[२]) [इसके] बल की (**गृणे**[३]) मैं स्तुति करता हूँ।

तत्त्वज्ञानी ऋषिजन जब इन्द्र प्रभु की सहस्र बार बलपूर्वक स्तुति करते हैं, तब वह समुद्र के समान विस्तीर्ण हो जाता है। जैसे सागर चन्द्रमा से बढ़ता है, वैसे ही वह ऋषियों के स्तोत्रों से वृद्धि को प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रमा द्वारा बढ़े हुए सागर का पानी तटों पर दूर तक फैल जाता है और अपने ज्वार के साथ शङ्ख, सीपी, रत्न आदि को भी ले-जाकर तटों पर बिखरा देता है, वैसे ही ऋषियों की स्तुतियों से जब इन्द्र प्रभु अन्य जनों की हृदय-स्थलियों में विस्तार पाते हैं, तब वे अपने प्रवाह के साथ सद्‌गुणों के अनेक रत्नों को भी वहाँ ले-जाते हैं। समुद्र का दूसरा अर्थ मेघ भी होता है। जैसे मेघ सूर्य-किरणों के वाष्पीकृत जल से बढ़ता है और बढ़कर भूमि पर अमृत बरसाता है, वैसे ही प्रभु ऋषियों की सबल स्तुतियों से प्रसार पाकर प्यासे हृदयों में आनन्द-रस की वृष्टि करते हैं। प्रभु की जिस महिमा का गान भक्तगण करते हैं, उसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है, न्यूनोक्ति भले ही हो। वह प्रभु की महिमा पूर्णतः सत्य है। मैं तो जब विप्रों के राज्य में पहुँचता हूँ, ज्ञानी भक्तों की संगति में बैठता हूँ, तब उनके द्वारा रचाये गये यज्ञों में, सत्सङ्ग-समारोहों में, इन्द्र प्रभु के बल का बारम्बार स्तवन करता हूँ, कीर्तन करता हूँ, यशोगान करता हूँ। मैं श्रोतृ-मण्डली को बताता हूँ कि मेरा प्रभु बलियों में बली है, शक्तिशालियों में शक्तिशाली है। उसके बल से ही द्यावापृथिवी धृत हैं, उसके बल से ही सूर्य, चाँद, सितारे धृत हैं, उसके बल से ही बिना किसी बाह्य सहायता के भक्तजन सङ्कटों से त्राण पा लेते हैं और उससे ही बल पाकर अकेले कोटि-कोटि जनों को अपने पीछे चलाने में समर्थ होते हैं। आओ, मेरे साथ तुम भी उसकी उज्ज्वल कीर्ति-गाथा का गान करो।

२५६. सरस्वती में गिरनेवाली पाँच नदियाँ

पञ्च नद्यः सरस्वतीम्, अपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा, सो देशेऽभवत् सरित्॥

—यजु० ३४.११

ऋषिः **गृत्समदः**। देवता **सरस्वती**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्**।

(**सस्रोतसः**) समान स्रोतवाली (**पञ्च**) पाँच (**नद्यः**) नदियाँ (**सरस्वतीम्**) सरस्वती को (**अपि यन्ति**) प्राप्त होती हैं, उसमें जा मिलती हैं। (**सा उ**) वह (**सरस्वती सरित् तु**) सरस्तवी नदी तो (**देशे**) सङ्गम-प्रदेश में [फिर] (**पञ्चधा अभवत्**) पाँच में विभक्त हो जाती है।

भाइयो? पाँच नदियाँ हैं, उनका मूलस्रोत या उद्गम-स्थल एक ही है। वे पाँचों सरस्वती नदी में जाकर मिल जाती हैं। पर उन पाँचों के मिलने से समृद्ध बनी वह सरस्वती फिर पाँच धाराओं में बँट जाती है। क्या तुम इस पहेली को समझे? भले ही प्राकृतिक भूगोल में तुमने ऐसी विलक्षण सरस्वती के दर्शन न किये हों, किन्तु मानव-शरीर के अन्दर वह सरस्वती आज भा विद्यमान है।

यह सरस्वती वाग्-धारा है। पाँच अन्य नदियाँ हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाली पाँच ज्ञान-धाराएँ—चक्षु की ज्ञानधारा, रसना की ज्ञानधारा, नासिका की ज्ञानधारा, श्रोत्र की ज्ञानधारा और त्वचा की ज्ञानधारा। ये पाँचों ज्ञान-धाराएँ मनरूप समान स्रोतवाली हैं, क्योंकि मनरूप माध्यम के बिना किसी भी ज्ञानेन्द्रिय की ज्ञानधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। नेत्र खुले रहने पर भी और उनका विषय से सम्पर्क होते रहने पर भी मन यदि उस ओर केन्द्रित न हो तो दृश्य विषय का ज्ञान नहीं होता। यही स्थिति अन्य सब ज्ञानेन्द्रियों की भी है, अतः सब ज्ञान-धाराओं का स्रोत या उद्गम मन है। यद्यपि ये चक्षु, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं, परन्तु अपने संगृहीत ज्ञान का स्वयं वर्णन करने में असमर्थ हैं। इसके लिए उन्हें वाणीरूपी सरस्वती नदी में जाकर मिलना पड़ता है। वह सरस्वती प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की ज्ञानधारा को पृथक्-पृथक् वर्णित करती हुई पाँच शाखाओं में बँट जाती है। एक शाखा से वह चक्षु द्वारा देखे हुए दृश्यों का वर्णन करती है, दूसरी शाखा से वह रसना द्वारा गृहीत रसों का वर्णन करती है, तीसरी शाखा से वह नासिका द्वारा सूँघी हुई गन्धों का वर्णन करती है, चौथी शाखा से वह श्रोत्र द्वारा सुने हुए पाठों या उपदेशों का वर्णन करती है, पाँचवीं शाखा द्वारा वह त्वचा द्वारा अनुभव किये हुए कठोर-कोमल आदि स्पर्शों का वर्णन करती है[१]।

आओ, हम भी अपने शरीर के अन्दर विद्यमान इस वाग्-रूपिणी सरस्वती नदी में अपनी विविध ज्ञान-धाराओं को मिलाये और उनसे सरस्वती को समृद्ध कर सञ्चित ज्ञान-विज्ञान को वाणी से धाराप्रवाह वर्णित करने का सामर्थ्य प्राप्त करें।

२५७. हिरण्य-धारण

आयुष्यं वर्चस्यꣳ[६], रायस्पोषमौद्भिदम्[७]।
इदꣳ हिरण्यं वर्चस्वज्[८], जैत्रायाविशतादु माम्[९] ॥

—यजु० ३४.५०

ऋषिः **दक्षः**। देवता **हिरण्यं तेजः**। छन्दः **भुरिग् उष्णिक्**।

(**आयुष्यं**[१]) आयु के लिए हितकर, (**वर्चस्यं**[२]) ब्रह्मवर्चस को प्राप्त करानेवाला, (**रायस्पोषं**) ऐश्वर्य का पोषक (**औद्भिदं**[३]) [शत्रुओं, विघ्न-बाधाओं एवं दुःखों को] उद्भिन्न कर देनेवाला (**इदं**) यह (**वर्चस्वत्**) आत्म-कान्ति से युक्त (**हिरण्यं**[४]) हिरण्मय तेज (**जैत्राय**) विजय के लिए (**मां**) मुझमें (**आविशतात् उ**) प्रविष्ट होवे।

संसार के युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओं, विघ्न-बाधाओं और दुःखों से संघर्ष करते हुए मुझे विजय प्राप्त करनी है। यदि मैंने विजय का उपाय न किया तो शत्रु मुझे निगल जायेंगे, बाधाएँ एक पग भी आगे न बढ़ने देंगी, दुःख निरन्तर कचोटते रहेंगे। इन सब पर विजय पाने के लिए आवश्यक है कि मैं 'हिरण्य' धारण करूँ। 'हिरण्य' सुवर्ण का नाम है। सुवर्ण तेजस्वी होता है, अतः ज्योति या तेज को भी 'हिरण्य' कहते हैं। मैं अपने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा में 'ज्योति' को धारण करूँगा। शरीर को स्वस्थ, सबल, तेजस्वी बनाऊँगा। मन को शिव सङ्कल्पवाला, अडिग, तेजोमय बनाऊँगा। बुद्धि को त्वरित गति से सही निश्चय पर पहुँचनेवाली, शक्तिशालिनी, भास्वती बनाऊँगा। आत्मा को बलवान्, विवेकशील, ज्योतिष्मान् एवं वर्चस्वी बनाऊँगा। अबतक मैं व्यर्थ ही सुवर्ण के आभूषण बनवाकर अंगुलि, कलाई, कान आदि शरीर के किसी अङ्ग में पहनकर यह मानता था कि मैंने 'हिरण्य' धारण कर लिया। पर आज मुझे ज्ञात हो गया है कि असली हिरण्य तो ज्योति या तेज है, जिसे अङ्ग-अङ्ग में धारण कर लेने से मनुष्य अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है। शरीर के एक बहुमूल्य तत्त्व 'वीर्य'[५] को भी शास्त्रकारों ने 'हिरण्य' कहा है। इस 'वीर्य' या 'रेतस्' को अनावश्यक रूप से प्रस्खलित न कर शरीर में धारण कर लेना एवं 'ऊर्ध्वरेताः' बन जाना ज्योति या तेज की प्राप्ति का एक सफल उपाय है। यह ज्योति, तेज और वीर्यरूप हिरण्य का धारण दीर्घ एवं उत्तम आयु को देनेवाला है, ब्रह्मवर्चस को प्राप्त करानेवाला है, भौतिक तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य की पुष्टि देनेवाला है। यह 'औद्भिद' है, बीज का अंकुर जैसे भूमि की परत को फाड़कर ऊपर आ जाता है, वैसे ही यह सब प्रकार की भौतिक और मानसिक रुकावटों को, विविध दु-खों और पीड़ाओं को एवं बाह्य और आन्तरिक रिपुओं को उद्भिन्न करके उत्कर्ष की ओर ले-जानेवाला है। यह 'वर्चस्वत्' है, आत्मिक कान्ति से जगमगानेवाला है। मुझे विजयी बनाने के लिए यह 'हिरण्य' मेरे अन्दर प्रवेश करे, प्रचुरता और तीव्रता के साथ प्रवेश करे।

२५८. देवत्व की कामना

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते॑, देवयन्तस्त्वेमहे॒ ।
उप प्रयन्तु मरुतः सुदानव॑, इन्द्र प्राशूर्भवा सचा॑ ॥

—यजु० ३४.५६

ऋषिः **कण्वः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः **निचृद् बृहती**।

(**ब्रह्मणस्पते**[1]) हे वेद, ब्रह्माण्ड व सकल ऐश्वर्य के स्वामी परमात्मन्! (**उत्तिष्ठ**) उठ। (**देवयन्तः**[2]) देवत्व की कामनावाले [हम] (**त्वा**) तुझसे (**ईमहे**[3]) याचना कर रहे हैं। (**इन्द्र**) हे जीवात्मन्! (**सु-दानवः**) उत्कृष्ट लाभ देनेवाले (**मरुतः**) प्राणगण (**उप प्र यन्तु**) तेरे समीप पहुँचें, (**सचा**) उनके साथ [तू] (**प्राशूः**) [देवत्व-प्राप्ति में] अतिशय आशुगामी (**भव**) हो।

आज का मनुष्य 'देव' तो क्या, 'मानव' भी नहीं रहा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, उपद्रव आदि अवगुणों और असत्कर्मों से आक्रान्त होकर वह असुरत्व के निकट पहुँचता जा रहा है। हम इस स्थिति से ऊब चुके हैं और देव बनना चाह रहे हैं। दिव्य गुणों से युक्त होने की और देव पुरुषों जैसा बनने की अभीप्सा हमारे अन्दर जाग गई है, अतः हे देवों के देव परमेश्वर! देव बनने के लिए हम तुम्हें पुकार रहे हैं। तुम ब्रह्मणस्पति हो, वेद, ब्रह्माण्ड और सकल ऐश्वर्यरूप ब्रह्म के स्वामी और रक्षक हो। इसलिए तुमसे याचना न करें तो किससे करें? हे घट-घट के वासी! तुम हमारे हृदयों के अन्दर पहले से ही विराजमान हो। तो फिर उठते क्यों नहीं? जागो, प्रसुप्ति को त्यागो और हमारा साथ दो, हमें देवत्व की ओर ले चलो।

तुमसे देवत्व-प्रदान की याचना करते हुए हम यह भी जानते हैं कि स्वयं हमारे अपने आत्मा को इसके लिए महान् प्रयास करना होगा। हमारा आत्मा प्रकृष्ट आशुगामिता, उत्कट क्रियाशीलता और तीव्र फुर्ती के साथ देवत्व की ओर अग्रसर हो, तभी सफलता अधिगत हो सकती है, अतः हे हमारे आत्मन्! तू कटिबद्ध होजा, प्राणरूप मरुतों की सेना को साथ ले-ले। ये प्राणगण 'सुदानु' हैं, शुभ देन देनेवाले हैं, उत्कृष्ट लाभ पहुँचानेवाले हैं। प्राणों के आरोह-अवरोह से, पूरण-कुम्भन-रेचन से देवत्व-प्राप्ति में विघ्नभूत इन्द्रिय-दोष दग्ध हो जाते हैं और दिव्य गुणों के आगमन की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्मणस्पति प्रभु की प्रेरणा से, प्राणों की सहायता से और आत्मा की तत्परता से निश्चय ही एक दिन हम देव बन सकेंगे। उस शुभ घड़ी की हम प्रतीक्षा कर रहे हैं।

२५९. यजमान का नूतन जन्म

अस्मात् त्वमधिजातोऽसि[८], त्वदयं जायतां पुनः[८]।
असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा[१०]॥ —यजु० ३५.२२

ऋषयः **आदित्याः देवाः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **स्वराड् गायत्री**।

[हे यज्ञाग्नि!] (**अस्मात्**) इस [यजमान] से (**त्वं**) तू (**अधिजातः असि**) उत्पन्न हुआ है, (**अयं पुनः**) और यह (**त्वत्**) तुझसे (**जायतां**) उत्पन्न हो, [जिससे] (**असौ**) यह (**स्वर्गाय[१] लोकाय**) मुक्तिलोक के लिए [अधिकारी हो जाए]। (**स्वाहा**) [एतदर्थ हम] आहुति देते हैं।

हे यज्ञाग्नि! तुझे दीप-शलाका की रगड़ से यजमान ने यज्ञ-वेदि में उत्पन्न किया है। जो समिधाएँ शुष्क, चेतनाहीन, आभाहीन-सी प्रतीत होती थीं, उनमें जान आ गई है, वे ज्योति से दमक उठी हैं। अपनी ज्वालाओं को सब दिशाओं में फैलाती हुई वे मानो दिग्-विजय का उत्साह दिखा रही हैं। घृत की आहुतियाँ ज्वालाओं को और भी अधिक प्राणवान् बना रही हैं। कुछ और आहुतियाँ देकर अन्त में पूर्णाहुति तो जायेगी, यज्ञ समाप्त हो जायेगा, परन्तु यज्ञ की परिसमाप्ति इतने तक ही नहीं है। हे अग्नि! जैसे तू यजमान से उत्पन्न हुआ है, वैसे ही जबतक यजमान तुझसे उत्पन्न न हो ले, तबतक यज्ञ सफल नहीं होता। यजमान का एक जन्म माता के गर्भ से होता है, दूसरा जन्म वह आचार्य के गर्भ से पाता है। अब तुझसे उसे नूतन जन्म प्राप्त करना है। यजमान को तुझ जैसा तेजस्वी, बृहत् ज्वालाओं वाला, ऊर्ध्वारोही, उद्यमी, प्रकाशमान और प्रकाशक बनना है। जैसे तू समिधा से समिद्ध होता है, ऐसे ही यजमान को आयु से, मेधा से, तेज से, ब्रह्मवर्चस से समिद्ध होना है। जैसे तेरी ज्वालाएँ ऊर्ध्वगामी होती हैं, ऐसे ही यजमान को उच्च-लक्ष्य का यात्री बनना है। जैसे तू मलिनता का अपहरण करता है, वैसे ही यजमान को अपने मानस की और जग की मलिनता को दूर करना है। जैसे तू दग्ध करता है, ऐसे ही यजमान को पाप और दोष दग्ध करने हैं। जैसे तू अन्धकार में प्रकाश देता है, वैसे ही यजमान को अविद्या, असत्य आदि के अन्धकार का निवारण कर विद्या, सत्य आदि का प्रकाश फैलाना है। जैसे तेरी ज्वालाओं से यज्ञमन्दिर आलोकित हो जाता है, ऐसे ही यजमान को अपने हृदय-मन्दिर को सत्सङ्कल्प के प्रकाश से आलोकित करना है। इस प्रकार यजमान यदि यज्ञ करने के पश्चात् अग्नि से नूतन जन्म पा लेता है, तो उसका अग्नि प्रज्वलित करना सार्थक है। यजमान नूतन जन्म पाकर समस्त गुणों से अलंकृत होकर स्वर्गलोक या मुक्तिलोक को पाने का अधिकारी हो जाये, इस भावना से हे अग्नि! तुझे हम स्वाहापूर्वक आहुति का उपहार देते हैं। हे यज्ञाग्नि! तेरी जय हो, तेरे यजमान की जय हो।

२६०. मनोबल, सत्य, यश, श्री

मनसः काममाकूतिं[८], वाचः सत्यमशीय[७] ।
पशूनांꣳ रूपमन्नस्य रसो[१०], यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा[१०] ॥

—यजु० ३९.४

ऋषिः **दीर्घतमाः**। देवता **श्रीः**। छन्दः **निचृद् बृहती**।

(**मनसः**) मन की (**कामं**) इच्छा-शक्ति को [और] (**वाचः**) वाणी के (**सत्यं**) सत्य को (**अशीय**) प्राप्त करूँ। (**पशूनां**) पशुओं का (**रूपं**) रूप, (**अन्नस्य**) अन्न का (**रसः**) रस, (**यशः**) कीर्ति [और] (**श्रीः**) श्री (**मयि**) मुझमें (**श्रयतां**) स्थित हो। (**स्वाहा**[१]) एतदर्थ आहुति देता हूँ, सत्क्रिया करता हूँ।

मैं चाहता हूँ कि मैं एक उत्कृष्ट मानव बनूँ, मेरे अन्दर विविध शक्तियाँ अपने पूर्णरूप में निवास करें। मरे मन के अन्दर प्रबल इच्छा-शक्ति (काम) और सङ्कल्प-शक्ति (आकूति) हो। मानव इच्छाएँ करता रहता है, परन्तु वे पूर्ण नहीं होतीं, यह इच्छा-शक्ति की दुर्बलता का चिह्न है। योगीजन बताते हैं कि इच्छा-शक्ति को बलवान् बना लेने पर मनुष्य जो इच्छा करता है वह पूर्ण होकर रहती है। वह इच्छा करता है कि अमुक पापी धर्मात्मा बन जाए, या अमुक रोगी का रोग दूर हो जाए, तो सचमुच वैसा ही हो जाता है। मन की दूसरी शक्ति सङ्कल्प-शक्ति है। सङ्कल्प की दृढ़ता होने पर मनुष्य अपने व्रत से च्युत नहीं होता। जो व्रत एक बार धारण कर लेता है, अन्त तक उसका निर्वाह करता है। यदि वह सङ्कल्प करता है कि मैं आज से धूम-पान करना छोड़ता हूँ, तो सचमुच उसका यह व्यसन छूट जाता है। इसके विपरीत जिनमें सङ्कल्प-शक्ति की दृढ़ता नहीं होती, वे नित्य नवीन-नवीन सङ्कल्प करते हैं और किसी-न-किसी बहाने उन्हें तोड़ते रहते हैं।

मेरी यह भी कामना है कि मेरी वाणी में सत्य हो। वाणी में सत्य तभी आ सकता है, यदि मन में भी सत्य हो। यदि मन में सत्य होगा, तो वह कर्म में भी आयेगा। इस प्रकार मनसा, वाचा, कर्मणा मैं सत्यमय हो जाऊँ, यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है। पतञ्जलि मुनि ने कहा है कि जिसके अन्दर सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है, उसे क्रिया-फलाश्रयत्व प्राप्त हो जाता है, उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। उसकी वाणी से दिये गये आशीर्वाद सत्य सिद्ध होते हैं[२]। मेरी वाणी में भी यह दिव्य-शक्ति आये।

मेरी यह भी अभिलाषा है कि मुझे गाय आदि दुधारू पशुओं का दूध यथेच्छ मात्रा में मिले, जिससे उसके सेवन से प्राप्त होनेवलाा सौन्दर्य मुझमें आये। मुझे सात्त्विक अन्नों से मिलनेवाला रस भी प्राप्त हो। मुझे धर्म और सत्कर्म से प्राप्त होनेवाली कीर्ति भी मिले और मेरी श्री, मेरी शोभा, दिग्दिगन्त में फैले । उक्त सब कामनाओं और आदर्शों की पूर्ति के लिए 'स्वाहा' हो, सत्क्रियाओं और सत्प्रयासों की निरन्तर आहुति पड़ती रहे।

२६१. आदित्य-पुरुष का दर्शन

हिरण्मयेन पात्रेण[८], सत्यस्यापिहितं मुखम्[८]।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्[१२]।
ओ३म् खं ब्रह्म[४]॥ —यजु० ४०.१७

ऋषिः **दीर्घतमाः**। देवता **आत्मा**। छन्दः **अनुष्टुप्, यद्वा उष्णिक् दैवी बृहती।**

(**हिरण्मयेन**) सुनहरे (**पात्रेण**) पात्र से (**सत्यस्य**) [मुझ] सत्यस्वरूप का (**मुखं**) मुख (**अपिहितं**) ढका हुआ है। (**यः**) जो (**असौ**) यह (**आदित्ये**) आदित्य में (**पुरुषः**) पुरुष [है] (**सः**) वह (**असौ**) यह (**अहम्**) मैं [हूँ]। मैं (**ओ३म्**) ओ३म् (**खं**) खं [और] (**ब्रह्म**) ब्रह्म [हूँ]।

सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। जगत् उस पात्र की आकर्षक चमक-दमक में ही रमा रहता है और सत्य तक पहुँचने का प्रयास ही नहीं करता, किन्तु जो सत्य के अन्वेषक हैं, वे उस पात्र को हटाकर देखते हैं, तो मुग्ध रह जाते हैं। सुनहरे पात्र से भी अधिक झिलमिल करती हुई सत्य की अनुपम ज्योति का उन्हें साक्षात्कार होता है। यही स्थिति 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में भी है। भाइयो! सुनो, ब्रह्म की वाणी सुनो। वह हमें निमन्त्रण दे रहा है कि 'आदित्य' की चमक के पीछे छिपे हुए उसके मुस्कराते मुख को हम देखें। हम आदित्य के गुणगान करते नहीं थकते। अपनी तेजोमय रश्मियों को बखेरता हुआ वह तेज का गोला सूर्य हमें अद्भुत प्रतीत होता है। प्राण और उष्णता का वह स्रोत, सब ग्रहोपग्रहों को अपनी परिक्रमा करवानेवाला दीप्ति का पुञ्ज वह देव, सचमुच विस्मयकारी है। पर क्या हमने उसके भी दर्शन किए हैं, जो इस सूर्य के अन्दर बैठा हुआ इसका सञ्चालन कर रहा है? सुनो, ब्रह्म स्वयं कह रहा है—"आदित्य के अन्दर झाँककर देखो, तुम्हें उसके अन्दर उसका नियन्त्रण करनेवाला एक पुरुष बैठा हुआ दिखाई देगा। वह 'पुरुष' मैं ही हूँ। मैं सत्यमय हूँ, पर मेरा स्वरूप सूर्यमण्डल के प्राकृतिक हिरण्मय पात्र से आच्छादित है। सूक्ष्म आँख से देखोगे तो तुम्हें सूर्य के मध्य में मेरे हँसते हुए मुख के दर्शन होंगे। मेरा सर्वश्रेष्ठ नाम 'ओ३म्'[१] है, क्योंकि मैं सबका रक्षक हूँ और रक्षक में सब गुण-कर्म स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं। अ-उ-म् इन तीन मात्राओं के इस नाम में मेरे अन्य सब नाम अन्तर्निहित है। 'अ' मात्रा से मैं विराट्, अग्नि, विश्व आदि हूँ, 'उ' मात्रा से मैं हिरण्यगर्भ, वायु, तैजस आदि हूँ, 'म्' मात्रा से मैं ईश्वर, आदित्य, प्राज्ञ आदि हूँ। मुझे 'ख'[२] भी कहते हैं, क्योंकि मैं आकाशवत् सर्वत्र व्यापक हूँ। मेरा नाम 'ब्रह्म'[३] है, क्योंकि मैं सबसे बड़ा हूँ।

आओ, हम न केवल आदित्य में, किन्तु सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में सत्यमय ब्रह्म के मञ्जुल मुख की झाँकी लें।

सामवेद

सूक्तियाँ

- **अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ** १५२
  मैंने पिता प्रभु से ऋतम्भरा मेधा को पा लिया है।

- **इन्द्रो मुनीनां सखा** २७५
  प्रभु मुनियों का सखा है।

- **भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्** ४२२
  हमें भद्र मन, भद्र बल और भद्र कर्म से अनुप्राणित कर।

- **पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र** ४४४
  प्रभो! हम पुष्कल ऐश्वर्य उपार्जित करें और तुझे समर्पित कर दें।

- **स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया** ४६८
  हे सोम! स्वादिष्ठ एवं मदिष्ठ धारा के साथ मेरे मानस में बहो।

- **अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम्** ५४५
  मित्रो! लम्बी जीभ वाले लोभरूप श्वान को शिथिल करो।

- **सखाय आ निषीदत पुनानाय प्र गायत** ५६८
  मित्रो! आओ, बैठो, पावक सोम प्रभु के गीत गाओ।

- **यशसा३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्** ५६८
  मैं इस संसद् का यशस्वी प्रवक्ता बनूँ।

- **योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे** ७४३
  प्रत्येक योग और प्रत्येक अन्तर्युद्ध में हम बलवत्तर प्रभु को पुकारें।

- **अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद् यशः** ७७३
  स्तोताओं को वीरतायुक्त यश प्रदान कर।

२६२. आत्मा का निराला साज

जातः परेण धर्मणा[८], यत् सवृद्धिः सहाभुवः[८]।
पिता यत् कश्यपस्याग्निः[८], श्रद्धा माता मनुः कविः[८]॥

—साम० ९०

ऋषिः **वामदेवः कश्यपो वा मारीचः मनुर्वा वैवस्वतः, उभौ वा।** देवता **अग्निः।** छन्दः **अनुष्टुप्।**

[हे जीवात्मन्! तू] (**परेण**) श्रेष्ठ (**धर्मणा**) धारक साज के साथ (**जातः**) उत्पन्न हुआ है, (**यत्**) क्योंकि (**सवृद्धिः**[१]) वर्तमान [मन, बुद्धि, प्राण व इन्द्रियों] सहित [तूने] (**आभुवः**) [शरीर में] जन्म लिया है [और] (**यत्**) क्योंकि (**कश्यपस्य**[२]) [तुझ] द्रष्टा का (**अग्निः**) तेजस्वी परमात्मा (**पिता**) पिता [है], (**श्रद्धा**) श्रद्धा (**माता**) माता [है], [और तू स्वयं] (**मनुः**) मननशील [है], (**कविः**[३]) क्रान्त-प्रज्ञ [है]।

हे जीवात्मन्! तुमने निराले साज के साथ इस देह में जन्म लिया है। तुम राजा बनकर देह-भवन में बैठे हो और मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ सेवक-कर्मचारियों के रूप में तुम्हारे साथ हैं, जो सदा तुम्हारी आज्ञा के पालन के लिए तत्पर हैं। तुम्हारा यह देहरूप प्रासाद बड़े-बड़े राजकीय प्रासादों से भी विलक्षण है। विश्व में कोई भी ऐसा घर, महल या प्रासाद नहीं है जो सचेतन होकर स्वयं चलना-फिरना, देखना-सुनना आदि क्रियाएँ करता हो, पर यह देह-प्रासाद तुम्हारे और तुम्हारे साथ रहनेवाले इतर कर्मचारियों के प्रवेश से चेतनामय हो गया है। जब तुम विचार करना चाहते हो तब मनरूप सेवक तुरन्त विचारधारा प्रवाहित करने लगता है। जब तुम बोध प्राप्त करना चाहते हो तब बुद्धि अपना व्यापार आरम्भ कर देती है। जब तुम बाह्य दृश्यों को देखना, बाह्य शब्दों को सुनना, बाह्य रसों का स्वाद लेना, बाह्य गन्धों को सूँघना या बाह्य पदार्थों का स्पर्श करना चाहते हो तब तत्क्षण तुम्हारी सेवा में चक्षु, श्रोत्र, रसना, घ्राण या त्वचा उपस्थित हो जाते हैं और तुम्हारे आदेशानुसार उस-उस लोक में विचरण कराने लगते हैं। ऐसे अनुपम प्रासाद में ऐसे आज्ञाकारी सेवकों के साथ तुम विराजमान हो।

हे आत्मन्! तुम 'कश्यप' हो, परिद्रष्टा हो। हम लोकव्यवहार में चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को द्रष्टा, श्रोता आदि कह देते हैं, पर वे तो दर्शन, श्रवण आदि में सहायक तुम्हारे सेवक-मात्र हैं। असली द्रष्टा, श्रोता, अनुभवकर्ता तो तुम्हीं हो और तुम्हारी महिमा इसीसे आंकी जा सकती है कि 'अग्नि' नामक तेजस्वी परमेश्वर तुम्हारे पिता हैं, श्रद्धा देवी तुम्हारी माता हैं। अपने इन दिव्य पिता-माता के संरक्षण में तुम लालित-पालित होते हो। जिन पिता-माता को पाने में कोई भी व्यक्ति स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर सकता है, वे तुम्हें अनायास मिले हुए हैं।

हे देह-पुरी के राजा! तुम स्वयं भी तो महान् हो। तुम 'मनु' हो, मननशील हो। तुम 'कवि' हो, क्रान्तप्रज्ञ हो। तुम अपने इस गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखो। तुम अपने पिता 'अग्नि' के अनुरूप तेजस्वी बनकर रहो, तुम अपनी माता 'श्रद्धा' के अनुरूप श्रद्धालु बनकर रहो। तुम सदा मन्ता और बोद्धा बने रहो।

२६३. ऊर्ध्वारोहण

इत एत उदारुहन्[८], दिवः पृष्ठान्यारुहन्[७]।
प्र भूर्जयो यथा पथो[८], द्यामङ्गिरसो ययुः[७]॥

—साम० ९२

ऋषिः **वामदेवः कश्यपः, असितो देवलो वा**। देवता **अङ्गिरसः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(एते) ये **(अङ्गिरसः[१])** तपस्वी, प्राणायाम के अभ्यासी योगीजन **(इतः)** यहाँ से **(उदारुहन्)** ऊपर चढ़े हैं, **(दिवः)** द्युलोक के **(पृष्ठानि)** [विभिन्न] स्तरों पर **(आरुहन्)** चढ़ गये हैं और [अन्ततः] **(द्यां)** द्युलोक में **(प्र ययुः)** पहुँच गये हैं, **(यथा)** जैसे **(भूर्जयः)** भू-विजेता लोग **(पथः)** मार्गों पर **(प्र यान्ति)** आगे बढ़ते जाते हैं।

देखो, इन तपस्वी, प्राणायामाभ्यासी योगीजनों ने ऊर्ध्व-यात्रा आरम्भ की है। ये पृथिवीलोक से उठकर, अन्तरिक्षलोक को पार करते हुए और द्युलोक के भी विभिन्न स्तरों को अतिक्रान्त करते हुए अन्त में द्युलोक के शिखर पर, अन्तरिक्ष और द्युलोक हमारे शरीर में ही हैं। पैरों से कटिप्रदेश तक का भाग पृथिवी पहुँचकर वहीं के वासी हो गये हैं। ये पृथिवी है, कटि से ग्रीवा तक का भाग अन्तरिक्ष है और ग्रीवा से ऊपर का शिरोभाग द्युलोक है। इन तीनों भागों में मिलाकर कुल आठ चक्र हैं। सुषुम्ना नाड़ी के निचले भाग में पायुप्रदेश के समीप मूलाधार चक्र है, उपस्थ में स्वाधिष्ठान चक्र है, नाभि में मणिपूर चक्र है, हृदय में अनाहत चक्र है, कण्ठ में विशुद्ध चक्र है, तालु में ललित चक्र है, भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र है तथा मस्तिष्क में सहस्रार चक्र है। ये चक्र चर्मचक्षुओं से ग्राह्य न होनेवाले सूक्ष्म चक्र हैं। प्राणों का चंक्रमण-स्थान होने के कारण ये चक्र कहाते हैं। साधारण मनुष्यों के प्राण निचले चक्रों में ही चंक्रमण करते रहते हैं, जिससे वे वैषयिक भोग-विलास में ही आनन्द लेते हैं, किन्तु तपस्वी योगीजन प्राणायाम का अभ्यास करते हुए ऊर्ध्वारोहण करते हैं। वे अपने प्राणों को क्रमशः निचले चक्र से उपरले-उपरले चक्र में ले-जाते हुए योग-साधना या प्राण-साधना करते रहते हैं। प्रथम दो चक्र शारीरिक पृथिवीलोक के चक्र हैं, मध्य के तीन चक्र शारीरिक अन्तरिक्षलोक के चक्र हैं और अन्त के तीन चक्र शारीरिक द्युलोक के चक्र हैं। योगी ऊर्ध्वारोहण करते समय क्रमशः इन्हें पार करता हुआ अन्त में प्राणों को सहस्रार चक्र में केन्द्रित कर लेता है। तब योगी को दिव्य ज्योतियों के दर्शन होने लगते हैं। उस समय वह पूर्णतः आध्यात्मिक पुरुष हो जाता है।

जैसे भू-विजयी राजा लोग मार्गों पर आगे-ही-आगे बढ़ते जाते हैं और अन्त में भूमि को पूर्णतः जीतकर अपना चक्रवर्ती राज्य स्थापित करते हैं, वैसे ही योगीजन ऊर्ध्वारोहण की यात्रा करते हुए द्युलोक के सर्वोपरि पृष्ठ सहस्रार-चक्र पर पहुँच आध्यात्मिक चक्रवर्ती राज्य को पा लेते हैं। आओ, भाइयो! हम भी इस ऊर्ध्व-यात्रा में रस लेने का प्रयास करें।

२६४. घनघोर रात्रि में सविता देव को पुकार

दोषो आगाद् बृहद् गाय, द्युमद् गामन्नाथर्वण।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥ —साम० ११७

ऋषिः **दध्यङ् आथर्वणः**। देवता **इन्द्रः (सविता)**। छन्दः **गायत्री**।

(दोषा उ[1]) रात्रि **(आगात्)** आ गई है, **(गामन्[2])** हे गायक! **(आथर्वण[3])** हे निश्चल, हे अथर्वा की सन्तान! **(द्युमत्)** देदीप्यमान **(बृहत्)** महागान को **(गाय)** गा। **(देवं)** दीप्तिमान् **(सवितारं)** प्रेरक सूर्य-सम इन्द्र प्रभु की **(स्तुहि)** स्तुति कर।

देखो, घनघोर रात्रि आ गई है। काली तामसिक निशा ने द्यावापृथिवी को पूर्णतः आच्छादित कर लिया है। कहीं प्रकाश की किरण दिखाई नहीं दे रही। आत्मा अन्धकारावृत हो गया है, मन और इन्द्रियाँ भी अन्धकार से आच्छन्न हो गई हैं। इस निविड तमस् में कर्त्तव्य-पथ को देख पाना बड़ा ही कठिन है। ग्रसने के लिए दुर्गुण और दुष्कर्मों ने इधर-उधर घूमना आरम्भ कर दिया है। मुझ अकेले के ही जीवन में निशा नहीं व्यापी है, प्रत्युत सम्पूर्ण राष्ट्र ही तमोमयी गहरी निशा से ग्रस्त हो गया है। सात्त्विकता मुँह छिपाकर भाग खड़ी हुई है, सर्वत्र तमोगुण छा गया है। अवसर देखकर हिंसा, असत्य, अन्याय, अत्याचार आदि के हिंस्रजन्तु अपने पैने दाँत दिखा रहे हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि राक्षस दल-बल सहित आक्रमण कर रहे हैं। कुटिलता के भयानक सर्प फन फैला रहे हैं। मानसिक पीड़ाओं के वृश्चिक डङ्क मार रहे हैं। क्रूरता के व्याघ्र दहाड़ रहे हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष आदि के भेड़िये फाड़ डालने को तैयार खड़े हैं। यह तमस्विनी और अधिक लम्बी हो गई तो विनाश निश्चित है। अब तो जैसे भी हो यह अन्धकार छँटना चाहिए और रश्मिमाली सविता देव को राष्ट्रगगन में उदित होना चाहिए, अतः हे गायक! तुम सूर्योदय का गान गाओ। ऐसी तान छेड़ो कि अदिव्यता का सम्पूर्ण तमोजाल लुप्त होकर दिव्यता के दमकते हुए आदित्य-मण्डल का आविर्भाव हो। हे गायक! तुम 'आथर्वण' हो, अथर्वा की सन्तान हो, उस अविचल प्रभु के पुत्र या उस स्थितप्रज्ञ योगी के शिष्य हो जो गहरी-से-गहरी निशा में अपने विवेक को नहीं खोता, अतः अविवेक और मूढ़ता को त्यागकर अपने व्यक्तिगत जीवन में तथा राष्ट्रगत जीवन में सात्त्विकता का सूर्य उदित करो। यह सात्त्विकता या दिव्यता का सूर्योदय तभी होगा जब अपनी सात्त्विक दिव्य रश्मियों से झिलमिल करते हुए दिव्य प्रेरणा की किरणों के अजस्र स्रोत देदीप्यमान सविता परमेश्वर हृदयान्तरिक्ष या राष्ट्रगगन के राज-सिंहासन पर आकर बैठेंगे, अतः हे स्तोता! हे साधक! हे गायक! तुम उस महागान की सरगम गाओ, उस सविता प्रभु के स्तुतिगीत की लय उठाओ, जो तामसिकता की इस चतुर्दिग्व्यापिनी घनघोर रात्रि में उथल-पुथल मचाकर सात्त्विकता और पवित्रता की ज्योति का आविर्भाव कर दे। हे गायक! हे कवि! गाओ, उज्ज्वल महागान गाओ।

२६५. तू तुझ जैसा ही है

अरं त इन्द्र श्रवसे[८], गमेम शूर त्वावतः[८]।
अरं शक्र परेमणि[८] ॥ —साम० २०९

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **गायत्री**।

(शूर इन्द्र) हे शूरवीर परमात्मन्! **(त्वावतः[१] ते)** त्वत्सदृश तेरे **(श्रवसे)** यशोगान के लिए **(अरं[२])** पर्याप्त संख्या में, शोभा के साथ **(गमेम[३])** [हम] एकत्र हों। **(शक्र)** हे शक्तिशालिन्! **(अरं)** यथाशक्ति, पर्याप्तरूप में, शोभा के साथ **(परेमणि[४])** परा विद्या में [**(गमेम)** प्रवृत्त हों]।

हे इन्द्र! हे परब्रह्म परमात्मन्! तुम 'तुम जैसे' ही हो। कवि को किसी वस्तु के विषय में यह व्यक्त करना अभिप्रेत होता है कि वह वस्तु ऐसी अद्वितीय है कि जगत् में कोई उसका उपमान नहीं मिल सकता तब वह अनन्वय अलङ्कार का आश्रय लेकर 'वह वस्तु अपने ही समान है' इस भाषा का प्रयोग करता है। जैसे महाकवि वाल्मीकि ने कहा है कि 'राम-रावण का युद्ध राम-रावण के युद्ध जैसा ही था'—'**रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव**'। इसी प्रकार हे परमात्मन्! हम तुम्हारे विषय में कहते हैं कि 'तुम त्वावान् हो', 'तुम तुम-जैसे ही हो', अन्य किसी सांसारिक वस्तु से तुम्हारी उपमा नहीं दी जा सकती, तुम अनुपम हो। साथ ही तुम ब्रह्माण्ड के सबसे अधिक 'शूर' भी हो। कोई बड़े-से-बड़ा भी सांसारिक शत्रु तुम्हें कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता, न ही तुम जिसके रक्षक हो जाते हो, उस तुम्हारे सखा को कोई हानि पहुँचा सकता है। जो वस्तु जितनी आश्चर्यमयी होती है, उसका उतना ही यशोगान हमारे हृदय से निकलना स्वाभाविक है। हे परमैश्वर्यशालिन्! तुम क्योंकि सबसे अद्‌भुत हो, सर्वातिशायी हो, इसलिए हम चाहते हैं कि हम यथाशक्ति पर्याप्त मात्रा में शोभा के साथ तुम्हारा यशोगान करने के लिए एकत्र हों। यद्यपि तुम्हारा यशोगान व्यक्तिगतरूप से अकेले बैठकर भी गाया जा सकता है, किन्तु सामूहिक गान हम इसलिए गाना चाहते हैं कि हमारे द्वारा गाये तुम्हारे यशोगीत सम्पूर्ण वातावरण में गूँजने लगें और सारा जनमानस तथा प्रकृति का एक-एक कण तुम्हारे यशोगान से उद्वेल्लित हो उठे।

हे देव! तुम 'शक्र' हो, परम-शक्तिशाली हो, अनन्त-सामर्थ्यवान् हो। तुमसे प्रेरणा पाकर हम यथाशक्ति, पर्याप्तरूप से, शोभा के साथ परा-विद्या में प्रवृत्त होना चाहते हैं। वेदों से लेकर समस्त इतर विद्या-उपविद्याओं तक का सैद्धान्तिक ज्ञान अपरा-विद्या का विषय है, किन्तु वह साधना जिससे अक्षर-ब्रह्म की अनुभूति होती है, परा-विद्या है। उस 'परेमा' में, परा-विद्या में हम निष्णात हो सकें ऐसी शक्ति, हे परमसमर्थ प्रभु! तुम हमें प्रदान करो। हे भगवन्! अपने यशोगायकों की इस प्रार्थना को पूर्ण करो।

२६६. तुम्हें हमारे सोमरस अर्पित हैं

इमे त इन्द्र सोमाः[७], सुतासो ये च सोत्वाः[७]।
तेषां मत्स्व प्रभूवसो[८] ॥ —साम० २१२

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराड् गायत्री**।

(प्रभूवसो) हे प्रभूत ऐश्वर्यवाले परमात्मन्! **(इमे)** ये **(ते)** तेरे लिए **(सोमाः)** सोम [हैं], **(ये)** जो **(सुतासः)** अभिषुत किये जा चुके हैं, **(सोत्वाः च)** और भविष्य में अभिषुत किये जाने हैं। [तू] **(तेषांः)** उनका **(मत्स्व[१])** स्वाद ले, आनन्द ले।

हे परमात्मन्! हम जानते हैं, तुम प्रभूत सम्पत्ति के स्वामी हो, अतएव 'प्रभूवसु' कहलाते हो। परन्तु सब सम्पत्तियाँ होते हुए भी एक सम्पत्ति तुम्हारे पास नहीं है, वह है भक्तिरूप सोमरस की सम्पत्ति। भक्ति का ऐश्वर्य केवल हमारे पास ही है, तुम उस ऐश्वर्य से शून्य हो। तुम भला किसकी भक्ति करोगे, क्योंकि भक्ति तो अपने से बड़े के प्रति की जाती है और तुमसे बड़ा सकल ब्रह्माण्ड में भी कोई नहीं है। पर यद्यपि तुम स्वयं किसी की भक्ति नहीं करते हो, पर अन्यों द्वारा की गई भक्ति की भेंट को सप्रेम स्वीकारते हो। शैशव-क्रीडा में बच्चे से दिया गया माटी का लड्डू भी माता-पिता प्रेम से गद्गद हो स्वीकार करते ही हैं। उस लड्डू से उनकी रसना तृप्त नहीं हो सकती है, पर जो तृप्ति माटी के उस लड्डू से उन्हें मिलती है, वह शत-शत मिष्टान्नों की तृप्ति से अधिक होती है। ऐसे ही हमारे अति तुच्छ भी भक्तिरस की भेंट पाकर तुम कृतकृत्य हो जाते हो।

हे विश्व के सम्राट् इन्द्र परमेश्वर! हमने तुम्हारे पान के लिए भक्ति के सोम को अभिषुत किया है। जैसे सोमलता को कूट-पीसकर उसे निचोड़कर रस निकाला जाता है, वैसे ही भक्ति जितनी अधिक निष्पीड़ित होती है, उतना ही अधिक उससे रस चूता है। हमने वर्तमान में तो भक्ति की सोमलता से तुम्हारे लिए रस प्रस्तुत कर ही लिया है, भविष्य के लिए भी भक्ति-लता अंकुरित और पल्लवित कर तैयार कर ली है, जिससे भविष्य में भी रस अभिषुत करते रहेंगे। हे हृदय-सम्राट्! तुमसे केवल इतनी ही प्रार्थना है कि तुम उस हमारे द्वारा अभिषुत भक्ति के सोमरस को प्रेम-विभोर हो ग्रहण करते रहो और उससे आनन्दित होते रहो। हम बच्चों की इस भक्ति-क्रीडा से रोमाञ्चित होकर हमें गले लगाते रहो, अपना प्यार देते रहो।

२६७. इन्द्र-वरुण, दोनों की वन्दना कर

यदा कदा च मीढुषे८, स्तोता जरेत मर्त्यः७ ।
आदिद् वन्देते वरुणं विपा गिरा१२, धर्तारं विव्रतानाम्७ ॥

—साम० २८८

ऋषिः **वामदेवः गौतमः** । देवता **इन्द्रः** । छन्दः **विराड् बृहती** ।

(यदा कदा च) जब कभी भी **(स्तोता मर्त्यः)** स्तोता मनुष्य **(मीढुषे[१])** ऐश्वर्यवर्षक [इन्द्र परमेश्वर] के लिए **(जरेत[२])** अर्चना करे, **(आत्)** उसके अनन्तर **(विव्रतानां[३])** व्रतभञ्जक, व्रतहीन तथा वेदविरुद्ध कर्म करनेवालों के **(धर्तारं)** निग्रहीता **(वरुणं)** वरुण प्रभु की **(इत्)** अवश्य **(विपा[४] गिरा)** मेधायुक्त वाणी द्वारा **(वन्देत)** वन्दना करे।

मनुष्य मर्त्य है, मरणधर्मा है, मृत्यु के बन्धन से बँधा हुआ ही वह उत्पन्न होता है। न जाने कब मृत्यु आ जाए, जितना जल्दी हो सके भजन-पूजन आदि कर लो, यह सोच उसे प्रभु की अर्चना में तत्पर होना है। एक कवि ने कहा है कि मृत्यु ने हमें केशों से पकड़ रखा है यह मानकर मानव को धर्म-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए, अतः मनुष्य इन्द्र प्रभु की अर्चना करता है। इन्द्र 'मीढ्वान्' है, कामवर्षी है, आराधक पर सुख-समृद्धि की वर्षा करनेवाला है। वह उपासक को अपने दिये हुए ऐश्वर्यों से निहाल कर देता है, अतः जो इन्द्र की स्तुति करेगा, उसके पांस अपार ऐश्वर्य का भण्डार भर जायेगा, परन्तु परमेश्वर का ऐश्वर्यवर्षक के अतिरिक्त दूसरा रूप भी है, वह है 'वरुण' का रूप। वेद कहता है कि जब भक्त कामवर्षी इन्द्र की स्तुति करे, उसके अनन्तर वह वरुण की भी वन्दना कर लिया करे। 'वरुण' पाशी है, उसके सैकड़ों पाश हैं, जिनसे वह अनृत आचरणवाले को बाँधता है। वह सबको समीप से देख रहा है। कोई भी कुकर्म करने पर मनुष्य वरुण की आँख से बच नहीं सकता। वह उसे अपने पाशों में जकड़ लेता है। कुकर्म का कुफल भोगने के अनन्तर ही मनुष्य उन पाशों से छूट सकता है। इसीलिए मन्त्र में कहा गया है कि वरुण 'विव्रतों' का धारण-निग्रहण करनेवाला है। 'विव्रत' वे हैं, जिन्होंने अपने जीवन में कोई उच्च व्रत धारण नहीं किया, या व्रत-ग्रहण करके प्रलोभन आने पर उसे भङ्ग कर दिया है अथवा जो वेद-विरुद्ध कर्म करनेवाले हैं। उन्हें वरुण अपने दण्ड के बन्धनों से बद्ध कर लेता है। उपासक परमेश्वर के इन्द्र-रूप चिन्तन के साथ उसके वरुण-रूप का भी चिन्तन कर लिया करेगा, तो वह ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त होकर दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं होगा।

हे इन्द्र! हे वरुण! हम तुम-दोनों का स्तवन करते हैं, तुम दोनों का वन्दन करते हैं।

२६८. व्रतहीन को पदच्युत करो

यदिन्द्र शासो अव्रतं[८], च्यावया सदसस्परि[८] ।
अस्माकमंशुं मघवन् पुरुस्पृहं[१२], वसव्ये अधिबर्हया[८] ॥

—साम० २९८

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **बृहती**।

(**इन्द्र**) हे परमात्मन्! (**यत्**) क्योंकि [तुम] (**शासः**) शासनकर्ता हो, [अतः] (**अव्रतं**) व्रत, यज्ञ, कर्म आदि से हीन मनुष्य को (**सदसः परि**) सभा से (**च्यावय**) च्युत कर दो। (**मघवन्**) हे ऐश्वर्यशालिन्! (**अस्माकं**) हमारे (**पुरुस्पृहं**) बहुत स्पृहणीय (**अंशुं**[१]) यज्ञिय भाग को (**वसव्ये**[२] **अधि**) धन ग्रहण करने योग्य सत्पात्र में (**बर्हय**[३]) फैला दो।

हे इन्द्र! हे परमात्मन्! तुम शासनकर्ता हो। सज्जन और असज्जन को अपनी सूक्ष्म, तीव्र दृष्टि से देखकर सज्जन को पुरस्कृत तथा असज्जन को दण्डित करते हो। जैसे बाह्यजगत् में तुम्हारी यह प्रक्रिया लागू हो रही है, वैसे ही अन्तर्जगत् में भी तुम सद्वृत्तियों को उत्साहित एवं पुरस्कृत तथा असद्वृत्तियों को धिक्कृत एवं प्रताड़ित करते हो, अतः तुमसे मेरी यह विनय है कि हमारे समाज या राष्ट्र में जो चरित्रहीन, यज्ञहीन और सत्कर्महीन व्यक्ति सभा-समितियों में ऊँचे पदों पर पहुँचकर भ्रष्टाचार फैला रहे हैं, उन सबको तुम पदच्युत कर दो, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के उच्च पदों पर पहुँचने का बड़ा ही भयङ्कर परिणाम होता है। तुमसे शक्ति पाकर हम स्वयं ही उन्हें पदच्युत कर देंगे, तुम तो बस हमारे अन्दर विवेक और अदम्य साहस भर दो। हमें ऐसा बल दो कि हम उनके अनर्थ-मूलक दुष्कर्मों को न सहकर उनके प्रति विद्रोह कर सकें। राज्याधिकारियों का भी कर्तव्य है कि वे भी पदों पर बैठे हुए अयोग्य व्यक्तियों को पदच्युत करके राष्ट्र के वातावरण को स्वच्छ करें। हे भगवन्! तुम सिंहासनारूढ़ के समान प्रबल बनी हुई हमारी आन्तरिक स्वार्थवृत्तियों और पापवृत्तियों को पदच्युत करके हमारे अन्तःराष्ट्र को भी पवित्र कर दो।

हे मघवन्! हे ऐश्वर्याधिपति! संसार का सब ऐश्वर्य तुम्हारा ही है और इस नाते तुम्हारे सब अमृतपुत्रों का उसपर समान रूप से अधिकार है। हम तो व्यर्थ ही उसे अपने पास संग्रह करके अपने दूसरे भाइयों को उसके भोग से वञ्चित करते हैं। तुम ऐसी कृपा करो कि हमारे पास जो भी स्पृहणीय ऐश्वर्य है, उसे हम यज्ञिय अंश समझकर दान द्वारा सत्पात्र जनों में फैला दें। इसी प्रकार हमारे पास जो सद्ज्ञान और सच्चारित्र्य का ऐश्वर्य है, उसे भी हम सत्पात्रों में बखेरें। हे प्रभु! हमारी इन प्रार्थनाओं को पूर्ण करो।

२६९. दिव्य वचन का रक्षा-कवच

त्वष्टा नो दैव्यं वचः[७], पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः[८]।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो[१२], दुष्टरं त्रामणं वचः[८]॥

—साम० २९९

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **लिङ्गोक्ताः त्वष्टा, पर्जन्यः, ब्रह्मणस्पतिः, अदितिः**।
छन्दः **निचृद् बृहती।**

(**त्वष्टा**) शिल्पी परमेश्वर, (**पर्जन्यः**[१]) सद्विचारवर्षक मन [और] (**ब्रह्मणस्पतिः**) ज्ञान का अधिपति आत्मा (**नः**) हमारे प्रति (**दैव्यं वचः**) दिव्य वचन [प्रेरित करे]। (**अदितिः**[२]) वाणी (**नु**) शीघ्र (**पुत्रैः**) पुत्रों सहित [और] (**भ्रातृभिः**) भ्राताओं सहित (**नः**) हमारी (**पातु**) [दिव्य वचन द्वारा] रक्षा करे। (**त्रामणं**[३]) रक्षक (**वचः**) [दिव्य] वचन (**दुष्टरं**) दुस्तर [कवच के समान होता है]।

दिव्य वचन द्वारा प्राप्त रक्षा सचमुच दुर्भेद्य कवच होती है। जब कोई महापुरुष निश्छल, सात्त्विक, दिव्य वचन बोलकर हमें सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं, तब हम अवश्य उनके वचनों से प्रभावित होते हैं। तो फिर हम अपने अन्दर से ही दिव्य वचनों को क्यों न सुनें? सर्वप्रथम हमारे हृदयों में बैठे हुए त्वष्टा प्रभु निरन्तर दिव्य वचन बोल रहे हैं, जो हमारा काया-पलट करने में समर्थ हैं। वे अनोखे शिल्पकार हैं। जैसे शिल्पी बेडौल लकड़ी को गढ़-छीलकर एक कलापूर्ण सुन्दर मञ्जूषा तैयार कर देता है, जो हमारे स्वर्णालङ्कार रखने के काम आती है, वैसे ही त्वष्टा प्रभु अपने वचनों के बसूलों से हमारे दुर्गुण, दुष्कर्म, दुष्ट स्वभाव आदि को काट-छीलकर हमें सुन्दर बना देते हैं और हमारे अन्दर सद्गुणों के हिरण्यालङ्कार निहित कर देते हैं। हम चाहते हैं कि उन त्वष्टा देव के दिव्य वचन हमें सुन्दर बनाने में सदा सक्रिय रहें। हमारे अन्दर अवस्थित दूसरा देव 'ब्रह्मणस्पति', अर्थात् ज्ञान का अधिपति आत्मा है, जो हमारे प्रति दिव्य वचनों को प्रवाहित करता रहता है। पर हम उसके दिव्य वचनों को अनसुना करके बाह्य वचनों को सुनने में ही लगे रहते हैं। आत्मा के दिव्य वचनों को ही सन्त लोगों ने अन्तरात्मा की आवाज नाम दिया है। यह अन्तरात्मा की आवाज या आत्मा के दिव्य वचन भी हमें सदा सुनाई देते रहें। हमारे अन्दर स्थित तीसरा देव पर्जन्य, अर्थात् मन है, वह भी हमें दिव्य वचन सुनाये। वह तो हमारे ऊपर दिव्य सन्देशों की झड़ी लगा सकता है। सात्त्विक मन में दिव्य सत्त्ववृत्तियाँ प्रेरित करने की अद्भुत शक्ति है। वह दिव्य विचार-सरणि के द्वारा हमें देव बना सकता है। चौथी हमारे अन्दर वाणीरूपिणी 'अदिति' देवी विराजमान है। वह भी दिव्य वचनों को ही बोले, जिससे समाज में दिव्यता का वातावरण बने। हमारी वाणी दिव्य होकर पुत्र, भ्राता आदि परिवार के सब सदस्यों सहित हमारी रक्षा करती रहे। अदिव्य वाणी परस्पर द्वेष उत्पन्न कर असुरक्षा प्रदान करती है और दिव्य वाणी फटे हृदयों को भी जोड़कर अभय और सुरक्षा का वरदान देती है, अतः आओ, अपने अन्दर विद्यमान इन चारों देवताओं के द्वारा हम दिव्य वचन के अभीष्ट वर प्राप्त कर पूर्ण सुरक्षित हो जाएँ।

२७०. सदा पवित्र, सदा निष्पाप

सदा गावः शुचयो विश्वधायसः[१२]।
सदा देवा अरेपसः[८]॥ —साम० ४४२

ऋषिः **त्रसदस्युः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **द्विपदा विराड् गायत्री।**

(सदा) सदा **(गावः)** गौएँ—धेनुएँ, वेदवाणियाँ, सूर्यकिरणें **(शुचयः)** पवित्र [और] **(विश्वधायसः[१])** विश्व को रसपान करानेवाली तथा सबका पालन-पोषण करनेवाली [होती हैं]। इसी प्रकार **(सदा)** सदा **(देवाः)** देवजन **(अरेपसः)** निष्पाप [रहें]।

गौएँ सदा पवित्र हैं, वे 'विश्वधाया:' हैं, सबको अपना अमृतोपम दूध पिलाकर पोषण देनेवाली हैं। गौओं का दूध, नवनीत, गोबर, मूत्र सबकुछ पवित्र माना जाता है। उनका दूध और नवनीत स्वादु, सुपच, स्वास्थ्यकर, पोषक होता है, उनके गोबर से घरों को लीपकर पवित्र किया जाता है, उनके मूत्र से अनेकों रोगों का निवारण होता है। दूसरी गौएँ वेदवाणियाँ हैं। वे भी सदा पवित्र हैं और अपने गायकों को भी सदा पवित्र करती हैं। वे अपने शुचि मन्त्रों से मानवजाति को हृदय और शरीर शुचि रखने की प्रेरणा कर रही हैं। वे भी 'विश्वधाया:' हैं, सबको अपने ज्ञानरस का पान कराकर परिपुष्ट कर रही हैं। तीसरी गौएँ सूर्यकिरणें हैं। वे भी 'विश्वधाया:' हैं, क्योंकि बादल बनाकर और वृष्टि करके सब प्राणियों एवं वनस्पतियों को रसपान कराकर तृप्त करती हैं। ये तीनों प्रकार की गौएँ हम मानवों को भी शुचि और विश्वधायस् होने का सन्देश दे रही हैं। इनके समान हम भी शुचि बनें, अपने आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं शरीर को पवित्र रखें। इनके समान हम भी विश्व को आनन्द एवं शान्ति का रस प्रदान करें।

आगे वेद कहता है कि जैसे उपर्युक्त गौएँ शुचि रहती हैं, वैसे ही शरीर में जो चक्षु, श्रोत्र, प्राण, मन, आत्मा आदि देव हैं, इन्हें भी सदा निर्दोष रहना चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता है। 'देव' सदा 'अरेपस्' रहें, वे निर्मल, निर्दोष, निश्छिद्र एवं निष्पाप हों। समाज के देव शुद्ध चरित्रवाले विद्वान् होते हैं, जो अपने निर्दोष जीवन से सामान्य जनों के सम्मुख आदर्श उपस्थित करें। माता, पिता, आचार्य, अतिथि, अध्यापक, उपदेशक आदि भी 'देव' कहाते हैं, वे भी निर्मल आचरण वाले हों। प्रकृति में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, ऋतु, संवत्सर आदि 'देव' हैं। ये भी सदा निर्दोष रहें, अन्यथा इनकी गति में यदि दोष आ जाये तो सृष्टिचक्र-प्रवर्तन ही समाप्त हो जाये। इन देवों के निर्दोषता एवं त्रुटिशून्यता के आदर्श को हम भी अपनाएँ और स्वयं को अधिक-से-अधिक त्रुटियों एवं छिद्रों से रहित और उज्ज्वल जीवनवाला बनायें।

२७१. सिन्धु की लहरों का झूला

परि प्रासिष्यदत् कविः॰, सिन्धोरूर्मावधि श्रितः॰।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्॰ ॥ —साम० ४८६

ऋषिः **असितः काश्यपो देवलो वा।** देवता **पवमानः सोमः।** छन्दः **गायत्री।**

(कविः) कवि सोम प्रभु **(पुरस्पृहं)** अति स्पृहणीय **(कारुं[1])** [मुझ] स्तोता को **(बिभ्रत्)** पकड़े हुए **(सिन्धोः)** समुद्र की **(ऊर्मौ अधि)** लहरों पर **(श्रितः)** स्थित हुआ **(परि प्रासिष्यद्[2])** बह रहा है, झूल रहा है।

आनन्द का अथाह सिन्धु लहरा रहा है। सच्चिदानन्दस्वरूप पवमान सोम प्रभु उसकी अनन्त लहरों पर झूल रहे हैं। वे प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कोई और भी आकर इस क्रीडा में उनका साथी बने। इधर मैं न जाने कब से उनके पास पहुँचने की आशा सँजोये बैठा हूँ। इच्छा होती है कि मैं भी झट दौड़कर उनके समीप पहुँच जाऊँ और उनके साथ लहरों पर झूलने लगूँ। पर जब एक ओर सोम प्रभु की महत्ता को और दूसरी ओर अपनी क्षुद्रता को देखता हूँ, तो पैर आगे बढ़ते ही नहीं। मेरी हालत वैसी ही हो रही है, जैसी उस निर्धन घर में जन्मे बालक की होती है, जो राजपुत्रों को गेंद खेलते देखकर स्वयं भी उनके खेल में सम्मिलित होना चाहता है, किन्तु अपनी स्थिति पर ध्यान देकर उनके पास जाने का साहस नहीं जुटा पाता और दूर खड़ा-खड़ा सोचता रहता है कि क्या ही अच्छा होता यदि ये मुझे भी अपने साथ खेलने के लिए बुला लेते। मैं भी मन में यह ललक लिये बैठा हूँ कि मेरी सब न्यूनताओं के साथ सोम प्रभु मुझे अपना साथी बना लें। पर क्या कभी मेरी यह तृष्णा पूरी हो सकेगी? क्या कभी मेरे और प्रभु के बीच की दूरी मिट सकेगी? चिरकाल से प्यास-भरी दृष्टि से सोम प्रभु की ओर निहारते हुए मुझे वे मानो कह रहे हैं कि चिन्ताकुल मत हो, हम दोनों का मिलाप असम्भव नहीं है, कुछ तू बढ़, कुछ मैं बढ़ूँ। मैं तुझे पकड़ने के लिए किनारे की ओर आता हूँ, तू स्वयं को मुझे समर्पित करके निर्भय होकर समुद्र की लहरों में फेंक दे। डुबेगा या उतरायेगा इसकी चिन्ता तू मत कर।

प्रभु की प्रेरणानुसार मैंने आज स्वयं को प्रभु के हाथों में सौंप दिया है। मैं उनका 'कारु', अर्थात् स्तुतिकर्ता बन गया हूँ, स्तोत्र रच-रचकर उन्हें समर्पित कर रहा हूँ। पवमान प्रभु स्वयं कवि हैं, अतः सत्काव्य का मूल्य आँकते हैं और प्रोत्साहन देते हैं। मैं देख रहा हूँ, प्रभु मुझे असीम प्यार दे रहे हैं, मुझे वे 'पुरुस्पृह', अर्थात् बहुत स्पृहणीय मित्र मान रहे हैं। मुझे ऐसा लग रहा है कि उनसे मिलने की जितनी तृषा मेरे अन्दर थी, उससे अधिक तृषा उनके अन्दर मुझसे मिलने की थी। वे तो मुझे पाकर सुख-विभोर हो गये हैं। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि उन्हें स्वयं को समर्पित कर देने पर मेरी सब त्रुटियाँ और मलिनताएँ उन्होंने हर ली हैं, मुझे अपने सदृश निर्मल और पावन बना दिया है। स्नेहपूर्वक मेरा हाथ पकड़कर वे मुझे आनन्द-सिन्धु की तरङ्गों में झुला रहे हैं। इस अनुपम झूले का सुख अवर्णनीय है, इस झूले पर मैं बलिहारी हूँ।

२७२. मैं अन्न हूँ, मैं अत्ता हूँ

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य११, पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम११।
यो मा ददाति स इदेव मावद्११, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि११॥

—साम० ५९४

ऋषिः **आत्मा**। देवता **अन्नम्**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(अहम्) मैं [परब्रह्म परमात्मा] **(ऋतस्य)** सत्य नियम का **(प्रथमजाः[१])** प्रथम जनक **(अस्मि)** हूँ। **(देवेभ्यः)** [पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, इन्द्रियाँ, प्राण, विद्वज्जन आदि] देवों से **(पूर्वम्)** पूर्व का हूँ। **(अमृतस्य)** [आनन्दरूप] अमृत का **(नाम[२])** केन्द्र हूँ, नाभि हूँ। **(यः)** जो **(मा)** मुझे **(ददाति)** [अन्यों को] देता है, अर्थात् अन्यों के लिए मेरा उपदेश करता है **(सः इत् इव)** सचमुच वही **(मा आवत्[३])** मेरी रक्षा करता है। **(अहम्)** मैं **(अन्नं)** अन्न [हूँ], भक्तों का भोजन हूँ, और **(अन्नम् अदन्तम्)** अन्न खानेवाले [प्रत्येक प्राणी] को **(अद्मि)** खाता हूँ, [इस प्रकार अत्ता भी हूँ]।

तुम मुझ परब्रह्म का परिचय पाना चाहते हो, तो सुनो, मैं 'ऋत' का प्रथम जनक हूँ। सृष्टि में जो संवत्सर-चक्र, उत्तरायण-दक्षिणायन, ऋतु, मास, शुक्ल-कृष्ण-पक्ष, सूर्योदय-सूर्यास्त, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, आदि के प्राकृतिक नियम दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबका प्रथम उत्पादक और व्यवस्थापक मैं ही हूँ। यह कहना कि ये सब सत्य नियम पृथिवी द्वारा सूर्य की परिक्रमा तथा पृथिवी के अपने अक्ष-परिभ्रमण के कारण होते हैं, आंशिक रूप में ही सत्य है, क्योंकि पृथिवी को सूर्य की परिक्रमा तथा अक्ष-परिभ्रमण भी तो मैं ही कराता हूँ। एवं जगत् में दृश्यमान सब सत्य नियमों का प्रथम कारण मैं हूँ, सूर्य, पृथिवी आदि बाद में कारण होते हैं। सृष्टि में जो सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत्, अग्नि आदि प्राकृतिक देव हैं, जो आत्मा, मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि शारीरिक देव हैं और जो ब्रह्मा, गौतम, कपिल, कणाद आदि विद्वद्देव उत्पन्न हो चुके हैं, उन सबमें मैं पहले का हूँ। शास्त्रों में जिस दिव्य ब्रह्मानन्दरूप अमृत का पदे-पदे गान किया गया है, उसका केन्द्र, उसकी नाभि, उसका स्रोत भी मैं ही हूँ, अतः आनन्दामृत पाना चाहते हो तो मेरी शरण में आओ, मेरे दर्शन करो, मेरी अनुभुति प्राप्त करो। साथ ही मेरी अनुभूति कर चुकने के बाद तुम्हारा कर्त्तव्य है कि अन्य साधकों को मेरे दर्शन का दान करो, साधना द्वारा अनुभव कराओ। जो ऐसा करता है, वह एक प्रकार से मेरी रक्षा करता है, क्योंकि यदि वह मेरी सत्ता की अनुभुति दूसरों को न कराये, तो संसार में नास्तिकता का बोलबाला हो जाए।

अन्त में मेरा एक परिचय यह है कि मैं 'अन्न' भी हूँ और 'अन्नाद' भी हूँ, भोज्य भी हूँ और भोक्ता भी हूँ। मैं अन्न हूँ, भक्तों का भोजन हूँ। जैसे प्राणधारी बिना अन्न के जीवित नहीं रह सकते, वैसे भक्तों का जीवन मेरा स्वाद पाये बिना दुर्भर हो जाता है। मैं 'अन्नाद' इस कारण हूँ, क्योंकि सब चराचर मेरा अन्न बनते हैं, मैं एक-न-एक दिन सबको अपने उदर में समा लेता हूँ—**अत्ता चराचरग्रहणात्[४]**। ऋषि ने मेरा परिचय ठीक ही दिया है—**अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादः[५]**।

२७३. रात्रि देवी का स्वागत

आ प्रागाद् भद्रा युवति॑रह्नः केतूं॑त्समीर्त्सति॑।
अभूद् भद्रा निवेशनी॑, विश्वस्य जगतो रात्री॑॥

—साम० ६०८

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **रात्रिः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**भद्रा**) श्रेष्ठ (**युवतिः**) युवति (**रात्रिः**) रात्रि (**आ प्रागात्**) आई है, (**अह्नः**) दिन के (**केतून्**) प्रकाशों और प्रज्ञानों को (**समीर्त्सति**[1]) समेट रही है। (**भद्रा**) भद्र [रात्रि] (**विश्वस्य**) सम्पूर्ण (**जगतः**) जगत् की (**निवेशनी**) विश्रामदायिनी (**अभूत्**) हो गई है।

देखो, चिर-युवति रात्रि आई है। दिन में चारों ओर फैली हुई सूर्यकिरणों को, सब प्रकार के ज्ञान-प्रज्ञानों को यह अपने अन्दर समेट रही है। देखते-ही-देखते सब प्राणी रात्रि की विश्रामदायिनी गोद को पाकर गाढ़ निद्रा में सो गये हैं। दिन के कर्कश कोलाहल, लड़ाई-झगड़े, राग-द्वेष, द्रोह-हिंसा आदि सबकुछ भूलकर इस समय स्त्री-पुरुष सब एक दिव्य आह्लाद का अनुभव कर रहे हैं। सुषुप्ति के मञ्जुल सुख को देनेवाली रात्रि माता की गोद को छोड़कर प्रभात में जब हम जागते हैं, तब चित्त में एक असीम प्रफुल्लता, शान्ति और संजीवन को अनुभव करते हैं, जो इस रात्रि की ही दिव्य देन है। रात्रि और उषा ये दोनों बहनें बारी-बारी से गगन-प्रांगण में अपनी क्रीडा दिखाने के लिए आती-जाती रहती हैं और मानव को अपने आँचल की सुमधुर छाया प्रदान करती रहती हैं।

यह तो प्राकृतिक बाह्य रात्रि की कथा है। पर इसके अतिरिक्त एक योगनिद्रा की दिव्य रात्रि भी है। जब मनुष्य अन्तर्मुख हो अपनी इन्द्रियों को बाह्य जगत् से निवृत्त कर लेता है तथा उसका चित्त पूर्णतः निर्विषय हो जाता है, वह समाधि की अवस्था ही योगनिद्रा या रात्रि है, जिसमें मनुष्य ब्रह्म-ज्योति के दर्शन करता है। इस समाधि-अवस्था में रात्रि में सूर्यकिरणों के समान बाह्य समस्त ज्ञान-प्रज्ञान विलीन हो जाते हैं। योग-क्षेत्र में रमण करनेवाले समस्त जगत् की यह परम विश्रामदायिनी दिव्यानन्दजननी माता है। यह जराजीर्ण वृद्धा माँ नहीं, अपितु चिर-युवति माँ है, जो न केवल स्वयं सदा सजग, अजर, अमर रहनेवाली है, अपितु अपने अङ्क में क्रीडा करनेवाले अपने योगी शिशुओं को भी संसार-बन्धन से मुक्त कर सजग, अमर, अजय बना देती है।

हे रात्रि! हे चिर-युवति माँ! आओ, तुम्हारा स्वागत है।

२७४. संसद् का यशस्वी प्रवक्ता बनूँ

यशो मा द्यावापृथिवी[८], यशो मेन्द्रबृहस्पती[८]।
यशो भगस्य विन्दतु[८], यशो मा प्रतिमुच्यताम्[८]।
यशसा ३स्याः सं सदो[७], ऽहं प्रवदिता स्याम्[६]॥

—साम० ६११

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **मन्त्रोक्ताः द्यावापृथिव्यादयः**। छन्दः **ककुम्मती महापंक्तिः जगती**।

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक **(मा)** मुझे **(यशः)** यश [प्राप्त कराएँ। मुझे] **(भगस्य)** ऐश्वर्य का **(यशः)** यश **(विन्दतु[१])** प्राप्त हो। मुझसे **(यशः)** यश **(मा)** मत **(प्रतिमुच्यताम्)** छूटे। **(यशसा)** यश से **(अहं)** मैं **(अस्याः)** इस **(संसदः)** संसद् का **(प्रवदिता)** प्रवक्ता **(स्याम्)** होऊँ।

मैं देख रहा हूँ कि मेरे चारों ओर प्रभु के रचे हुए यशस्वी पदार्थ यश से सिर उठाये खड़े हैं। ये द्युलोक अपने अनन्त विस्तार के साथ दिन में सूर्य की ज्योति से और रात्रि में तारावलियों की ज्योति से जगमगाता हुआ अपने यश का ही गान कर रहा है। जड़-चेतन को अपनी गोद में आश्रय देनेवाली विशाल हिरण्य-गर्भा पृथिवी अपने झर-झर बहते झरनों से, कल-कल-निनादिनी सरिताओं से, आकाश में मस्तक उठाए हिमाच्छादित धवल पर्वतों से, सुपुष्पित हरित वल्लरियों से, फल-भार से झुके मनोहर तरुओं से, उत्ताल तरङ्गोंवाले सागर से अपने यश का ही बखान कर रही है। मैं भी अपनी गुण-गरिमा से इन द्यावापृथिवी के समान यशस्वी बनूँ।

ये इन्द्र और बृहस्पति भी कैसे यशस्वी हैं! मन[२] इन्द्र है, चक्षु[३] बृहस्पति है, विद्युत्[४] इन्द्र है, वायु[५] बृहस्पति है। विद्युत् और वायु पर्जन्य को मथकर वृष्टि करने के यश से यशस्वी हैं। मन और चक्षु सङ्कल्प-विकल्प और चाक्षुष ज्ञान कराने के यश से यशस्वी हैं। मैं भी इनके समान यशस्वी बनूँ। यश मेरे जीवन में ऐसा समा जाये कि कभी मुझसे न छूटे। विविध गुणों के कारण अपने यश से मैं ऐसा प्रख्यात हो जाऊँ कि विभिन्न संसदों का और राष्ट्र की संसद् का यशस्वी प्रवक्ता बन सकूँ। मुझे 'भग' का यश प्राप्त हो, धन, धर्म, श्री, ज्ञान, विवेक, वैराग्यादि का यश प्राप्त हो। परमेश्वर भी 'भगवान्' कहलाते हैं। 'भग' द्वारा 'भग' का आह्वान करते हैं। एक वेदमन्त्र में प्रार्थना की गई है कि इस समय प्रातर्वेला में हमें 'भग' प्राप्त हो, पूर्वाह्न में भग प्राप्त हो, मध्याह्न में भग की प्राप्ति हो, सूर्यास्त के समय भी भग को प्राप्त कर हम गौरवान्वित हों।

२७५. सबकी रक्षा वही करता है

पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वेः[१०], पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य[१०]।
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः[११], पाति देवानामुपमादमृष्वः[११] ॥

—साम० ६१४

ऋषिः **विश्वामित्रः गाथिनः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(**विपः**[१]) मेधावी (**अग्निः**) अग्रणी परमेश्वर (**वेः**) पवनरूप पक्षी की (**अग्रं**) आगे बढ़ती हुई, श्रेष्ठ (**पदं**[२]) उड़ान की (**पाति**) रक्षा करता है। (**यह्वः**[३]) महान् परमेश्वर (**सूर्यस्य**) सूर्य के (**चरणं**) चरणन्यास की (**पाति**) रक्षा करता है। (**अग्निः**) अग्रणी परमेश्वर (**नाभा**[४]) केन्द्रभूत हृदय में (**सप्तशीर्षाणं**) सप्त शीर्षण्य प्राणों से युक्त आत्मा की (**पाति**) रक्षा करता है। (**ऋष्वः**[५]) महान् सर्वद्रष्टा परमेश्वर (**देवानां**) विद्वानों के (**उपमादं**) आनन्दप्रद यज्ञ की (**पाति**) रक्षा करता है।

परमेश्वर 'अग्नि' है, अग्रणी है, सबके कार्यों में अग्रणी होकर मार्गदर्शन करनेवाला है। देखो, यह पवनरूप पक्षी अपने पँखों को फैलाए हुए आकाश में उड़ रहा है। कभी मृदुल उड़ान लेता है, कभी तीव्र झँझावात बन जाता है। कौन है, जो इसका सखा बनकर साथ-साथ चलता हुआ इसके सञ्चार की रक्षा करता है? वह अग्नि प्रभु ही है। वह मेधावी है। उसी की मेधा से प्रेरणा लेकर यह जब-जब जैसी-जैसी उड़ान करनी उपयुक्त होती है तब-तब वैसी-वैसी उड़ान भरता है। देखो, यह सूर्य प्राची के प्रांगण में उदित हो अपना चरणन्यास करता हुआ शनैः-शनैः ऊपर की ओर बढ़ रहा है। फिर मध्याकाश में पहुँचकर यह प्रतीची की ओर नीचे अवतरण कर रहा है। अस्ताचल पर पहुँच यह इस गोलार्ध में अन्धकार करके दूसरे गोलार्ध को प्रकाशित करने के लिए प्रयाण कर गया है। कौन है, जो निराश्रय आकाश में आश्रय बनकर इसकी रक्षा करता है? वह महान् 'अग्नि' प्रभु ही है। देखो, शरीर के केन्द्र हृदय-प्रदेश में बैठा हुआ जीवात्मा, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि इन सप्तशीर्षण्य प्राणों से ज्ञान की ज्योति जगा रहा है। कौन है, जो इसे पथ-प्रदर्शन और रक्षण प्रदान करता है? वह अग्नि प्रभु ही है। और देखो, समाज के ये देवतुल्य विद्वान् जन यज्ञों का आयोजन कर रहे हैं, स्वार्थ को त्यागकर लोकहित के महान् कार्यों का अनुष्ठान कर रहे हैं। इनके यज्ञ 'उपमाद' हैं। ऐसे हैं जिनमें सम्मिलित होकर सब आनन्द और तृप्ति का लाभ करते हैं। कौन है जो इन देव-पुरुषों को यज्ञ-कार्यों में प्रेरित करता है और निरन्तर इनके यज्ञों की रक्षा में जुटा रहता है? वह महान्, सर्वद्रष्टा, दर्शनीय 'अग्नि' ही है।

पवन-पाक्षी को विहार करानेवाले, सूर्य को चरणन्यास करानेवाले, शरीरस्थ जीवात्मा को ज्ञान-कर्म में व्यापृत करनेवाले और देवपुरुषों के यज्ञ की रक्षा करनेवाले उस अग्नि प्रभु को हमारा नमस्कार है।

२७६. हे महान् इन्द्र

सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज[९], ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन्[१०]।
क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं[११], वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः[१२] ॥

—साम० ६२५

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **भुरिक् पङ्क्तिः**।

(**इन्द्र**) हे परमात्मन्! (**नः**) हमें (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**सहः**) साहस, सहनशक्ति [और] (**ओजः**) आत्मिक तेज (**दद्धि**[१]) प्रदान कीजिए, [जिससे आप] (**विरप्शिन्**[२]) हे महागुणविशिष्ट परमेश्वर! (**अस्य**) इस (**महतः**) महान् ब्रह्माण्ड के (**ईशे**) अधीश्वर बने हुए हैं। (**क्रतुं न**) क्रियाशक्ति, प्रज्ञा और सङ्कल्प के अनुरूप (**नृम्णं**[३]) उनके फलरूप ऐश्वर्य को (**च**) और (**स्थविरं**) संवृद्ध (**वाजं**) बल व ज्ञान-विज्ञान को (**नः**) हमारे लिए (**कृधि**) उत्पन्न कीजिए। (**वृत्रेषु**) अनार्यों के प्रति (**नः**) हमें (**सहना**[४]) पराभवकारी (**शत्रून्**) शत्रु (**कृधि**) बनाइये।

हे महागुणविशिष्ट परमात्मन्! आप जो इस महान् ब्रह्माण्ड के अधीश्वर बने हुए हैं, वह अपने साहस, सहनशक्ति और तेजस्विता आदि गुणों के बल पर ही बने हैं। आप साहसी हैं, हमें भी साहस प्रदान कीजिए। आपसे साहस पाकर ही हम बड़े-बड़े सङ्कटपूर्ण कार्यों को भी निर्भयता के साथ कर सकेंगे। आप सहनशील हैं, हमें भी सहनशक्ति प्रदान कीजिए। सहनशक्ति ही वह पैमाना है, जिससे यह मापा जा सकता है कि कोई व्यक्ति किसी कष्ट को कितना कष्ट मानता है। सहनशक्ति के बल पर ही कई सन्त उन शारीरिक एवं मानसिक कष्टों को जरा भी कष्ट नहीं गिनते, जिनसे सर्वसाधारण अधीर हो उठते हैं। आप ओजस्वी हैं, आत्मिक तेज से सम्पन्न हैं, हमें भी ओज या आत्मिक तेज का दान कीजिए। आत्मिक तेज न होनेपर शरीर से तेजस्वी व्यक्ति भी संसार में सफल नहीं हो सकता। इसके विपरीत जैसे आप शरीरधारी न होते हुए भी केवल आत्मिक तेज से ही सबको अपने वश में किये हुए हैं, वैसे ही आत्मतेज से युक्त व्यक्ति किन्हीं अंशों में काया से दुर्बल होता हुआ भी सहस्रों को अपने पीछे चला सकता है।

हे इन्द्र! हे परमैश्वर्य-सम्पन्न! आप हमें 'क्रतु', अर्थात् क्रियाशक्ति, व प्रज्ञा और दृढ़ सङ्कल्प प्रदान कीजिए। कर्म और प्रज्ञा दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वेद या उपनिषद् की भाषा में कहें तो वे लोग घोर अन्धकार में पड़ते हैं, जो अकेले कर्म की उपासना करते हैं और वे उससे भी अधिक घोर अन्धकार में गिरते हैं जो अकेली प्रज्ञा की उपासना करते हैं। कल्याण उसका होता है जो दोनों को समन्वयपूर्वक जीवन में अपनाता है। इसके साथ सङ्कल्प की दृढ़ता भी आवश्यक है, क्योंकि कोई भी शुभ कार्य दृढ़ सङ्कल्प के बिना आरम्भ और पूर्ण नहीं होता। पर क्रियाशक्ति, प्रज्ञा और दृढ़-सङ्कल्प अपने-आप में उद्देश्य नहीं हैं, अपितु उद्देश्य-प्राप्ति के साधन हैं। उद्देश्य है 'नृम्ण', अर्थात् ऐश्वर्य। यह नृम्ण या ऐश्वर्य विभिन्न प्रकार का है, हस्ती, अश्व, हिरण्य, रत्न, उत्कृष्ट राज्य, सुनियम, उत्तम पुरुष, प्रीति आदि[५]। इस 'नृम्ण' को भी आप हमें प्रदान कीजिए। इसके अतिरिक्त 'वाज', अर्थात् शारीरिक बल व ज्ञान-विज्ञान भी आप हमें दीजिए तथा आर्यों का मित्र और अनार्यों का पराभवकारी शत्रु बनाइये। अनार्यों के साथ हम पाप से कभी समझौता न करें, अपितु निश्चितरूप से उनपर विजय पायें। हे देव! हमारी इन कामनाओं को पूर्ण कीजिए।

२७७. दो ऊधसोंवाली इन्द्रियरूप गौएँ

सहर्षभाः सहवत्सा उदेत[११], विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर् द्व्यूध्नीः[११]।
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक[११], इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त[११]॥

—साम० ६२६

ऋषिः **वामदेवः गौतमः**। देवता **गावः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

[हे इन्द्रियरूपिणी गौओ!] **(विश्वा रूपाणि)** समस्त रूपों को **(बिभ्रतीः)** धारण करनेवाली, **(द्व्यूध्नीः)** ज्ञान-कर्म-रूप दो ऊधसोंवाली [तुम] **(सह-ऋषभाः)** [आत्मरूप] पतिसहित [और] **(सहवत्साः)** [मनरूप] बछड़ेसहित **(उत् एत)** उत्कृष्ट गति करो। **(वः)** तुम्हारे लिए **(अयं)** यह **(उरुः)** विशाल, **(पृथुः)** विस्तीर्ण **(लोकः)** लोक **(अस्तु)** हो। **(इमाः)** ये **(सुप्रपाणाः)** शुद्ध पेय **(आपः)** भोग्य रस [हैं], **(इह)** इनमें **(स्त)** रहो।

हे गौओ! तुम शुद्ध पेय जल को ही पिओ, मलिन जल को नहीं। श्वेत, काले, कपिल, चित्तीदार आदि विभिन्न रङ्गों तथा विविध आकार-प्रकारों को धारण करनेवाली, द्विधा-विभक्त पीन पयोधरोंवाली तुम गोपाल और बछड़ेसहित विस्तीर्ण चरागाहों में विचरो और हमें प्रचुर दूध से सींचती रहो।

बाह्य गौओं के इस प्रतीक के साथ वेद का कवि शरीर-स्थित इन्द्रियरूप गौओं को भी प्रेरित कर रहा है। इन्द्रियरूप गौओं का ऋषभ या गोपाल आत्मा है जो इन्हें उत्कृष्ट ग्राह्य विषयों के चरागाहों में चरने ले जाता है। इन गौओं का वत्स मन है, जो इनके द्वारा देखने, सुनने, चखने, सूँघने एवं छूने से सञ्चित ज्ञानदुग्ध को स्वयं पीकर फिर गोपाल आत्मा को पिलाता है। इन आंख, कान, जिह्वा, प्राण, त्वचारूप गौओं के बाह्य गोलक तो विभिन्न रूपोंवाले हैं ही, साथ ही इनके अन्दर रहनेवाले विभिन्न इन्द्रिय-तत्त्व भी दार्शनिक दृष्टि से विभिन्न रूपोंवाले हैं। रूपग्राहक नेत्र-इन्द्रिय तैजस है, जो काली पुतली के अग्रभाग में रहती है तथा रूपगुण से युक्त है। शब्दग्राहक रसनेन्द्रिय जलीय है, जो जिह्वा के अग्रभाग में रहती है तथा रस-गुण से युक्त है। गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, जो नासिका के अग्रभाग में रहती है तथा गन्धगुण से युक्त है। स्पर्शग्राहक त्वगिन्द्रिय वायवीय है, जो सर्वशरीरव्यापी है तथा स्पर्शगुण से युक्त है। हस्त, पाद आदि कर्मेन्द्रियाँ भी विभिन्न रूपोंवाली हैं। इन गौओं के दो ऊधस् हैं, एक में ज्ञान का दूध और दूसरे में कर्म का दूध भरा है।

हे इन्द्रियरूप गौओ! तुम्हारे लिए यह विशाल तथा विस्तीर्ण लोकरूपी चरागाह खुला हुआ है। पर तुम्हें सावधानी के साथ दृश्य, श्रव्य, रस्य, घ्रेय, स्पृश्य विषयों की घास को चरना तथा पेय को पीना होगा, क्योंकि इस चरागाह में विषैली और रसीली दोनों प्रकार की घासें उगी हुई हैं और विषैले तथा रसीले दोनों प्रकार के जल सरोवरों में भरे हुए हैं। विषैली घास के चरने और विषैले जल पीने से तुम ज्ञान और कर्म-संस्काररूप जिस दूध को अपने पयोधरों में सञ्चित करोगी वह भी विषैला होगा और उसे पीनेवाला वत्स मन और गोपाल आत्मा दोनों ही विषग्रस्त हो जायेंगे। इसके विपरीत यदि तुम पुण्यमयी हरी-भरी पुष्टिप्रद घास चरोगी तथा पुण्यमय शुद्ध सात्त्विक सलिल का पान करोगी और पुण्यकर्मों के नवशष्पांकुरों का भक्षण करोगी, तो तुम्हारे ज्ञान और कर्म-संस्कार का दूध शुद्ध, पवित्र एवं मधुर होगा, जिसके पान से वत्स मन और गोपति आत्मा उत्कृष्ट गति एवं उत्कृष्ट जन्म को पाने के अधिकारी होंगे।

हे इन्द्रियरूप कामधेनुओ! तुम सच्चे अर्थों में कामधेनु बनो और गोपति आत्मा एवं वत्स मनसहित उत्कृष्ट दिशा में विचरण करो।

२७८. हम समर्थ प्रभु को पुकारते हैं

ईशे हि शक्रस् तमूतये हवामहे[१३], जेतारमपराजितम्[८]।
स नः स्वर्षदति द्विषः[८], क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत्[८] ॥

—साम० ६४६

ऋषिः **प्रजापतिः**। देवता **इन्द्रः त्रैलोक्यात्मा**। छन्दः **भुरिग् बृहती**।

(शक्रः[१]) शक्तिशाली [त्रिलोकी का आत्मा इन्द्र परमेश्वर] **(हि)** निश्चय ही **(ईशे)** ईश्वर है, समर्थ है। **(जेतारं)** विजेता **(अपराजितं)** अपराजित **(तं)** उसको **(ऊतये)** रक्षा के लिए **(हवामहे)** [हम] पुकारते हैं। **(सः)** वह **(नः)** हमारे **(द्विषः)** द्वेषभावों को और द्वेषी शत्रुओं को **(अति सु अर्षत्[२])** सम्यक् प्रकार से अतिक्रान्त करे। [वह] **(क्रतुः)** प्रज्ञावान् और कर्मशील **(छन्दः[३])** आह्लादक, आच्छादक और अर्चनीय **(ऋतं)** सत्यस्वरूप [तथा] **(बृहत्)** महान् [है]।

सङ्कटापन्न व्यक्ति समर्थ को ही रक्षा के लिए पुकारता है। जो अपनी रक्षा करने तक में असमर्थ है, वह भला किसी दूसरे की रक्षा क्या करेगा? जब हम संसार में 'समर्थ' की खोज करने निकलते हैं तब देखते हैं कि जो बड़े-से-बड़े समर्थ कहलानेवाले राजे-महाराजे आदि भी हैं, वे भी किसी समय स्वयं को सर्वथा अशक्त और असमर्थ पाते हैं। वे भी सङ्कट की घड़ी में जिस सर्वशक्तिमान् को पुकारते हैं, हम भी उसे ही क्यों न पुकारें? वह है त्रिलोकी का आत्मा सम्राटों का सम्राट् इन्द्र प्रभु। वह 'ईश्वर' है। ईश्वर उसे कहते हैं, जो करने, न करने या अन्यथा करने में समर्थ हो, किसी अन्य के अधीन न हो। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह किन्हीं नियमों में बँधा नहीं होता। स्वयं के बनाये नियमों में वह भी बद्ध होता है। हम उसी राजाधिराज परमप्रभु इन्द्र को आत्मरक्षा के लिए पुकारते हैं। वह प्रभु 'जेता' है। प्रथम तो कोई उस अज्ञात-शत्रु से शत्रुता ठानता ही नहीं, पर यदि उससे या उसके सखा से कोई शत्रुता करे भी तो वह उसे क्षणभर में जीत लेता है। वह प्रभु 'अपराजित' है, किसी से आज तक हारा नहीं, न ही भविष्य में किसी से हार सकता है।

वह शक्तिशाली इन्द्र प्रभु हमें अपनी रक्षा में लेकर हमारे द्वेषभावों को तथा हमसे द्वेष करनेवाले मानव-शत्रुओं को पूर्णतः अतिक्रान्त कर दे तथा हमें भी अपने समान अजातशत्रु बना दे। वह इन्द्र परमेश्वर 'क्रतु' है, सुप्रज्ञ है तथा सुकर्मा है, पूर्ण ज्ञानवाला तथा पूर्ण कर्मोंवाला है। वह 'छन्दः' है, श्रेष्ठजनों को आह्लादित करनेवाला, उन्हें अपनी छत्रछाया से आच्छादित करनेवाला और सबका अर्चनीय है। वह 'ऋत' है, सत्यस्वरूप है। वह 'बृहत्' है, महान् है।

आओ, ऐसे अद्वितीय राजराजेश्वर परमप्रभु इन्द्र को हम भी अपना सखा बनाएँ और रक्षार्थ पुकारें।

२७९. हे विघ्नहन्ता प्रभो!

प्रभो जनस्य वृत्रहन्[८], समर्येषु ब्रवावहै[८]।
शूरो यो गोषु गच्छति[८], सखा सुशेवो अद्वयुः[८]॥

—साम० ६४९

ऋषिः **प्रजापतिः**। देवता **इन्द्रः त्रैलोक्यात्मा**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(प्रभो) हे प्रभो! **(जनस्य वृत्रहन्)** हे जनों के विघ्नहन्ता व पापहन्ता! [आइये, मैं और आप] **(समर्येषु[१])** देवासुर-संग्रामों में **(ब्रवावहै)** जयघोष करें, [आप] **(शूरः)** शूरवीर [हैं, जो] **(गोषु)** युद्धभूमियों में **(गच्छति)** पहुँचते हैं। [आप] **(सखा)** सखा, **(सुशेवः[२])** शुभ सुख देनेवाले, [और] **(अद्वयुः)** अद्वितीय तथा द्विविध आचरण से रहित [हैं]।

हे मेरे इन्द्र राजा! हे त्रिलोकी के कण-कण में आत्मा बनकर विराजमान परमात्मन्! आप 'प्रभु' हैं, समर्थ हैं, अपने रचे नियमों के अनुसार सबकुछ कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं। यह तो हम मानव ही हैं, जो पग-पग पर ठोकरे खाते हैं, करना कुछ चाहते हैं, कर कुछ जाते हैं, रचना कुछ चाहते हैं, रच कुछ जाते हैं, बनना कुछ चाहते हैं, बन कुछ जाते हैं। जब हम स्वयं को सब दृष्टियों से असमर्थ पाते हैं, तब आपका 'प्रभु'-रूप हमें और भी अधिक आकृष्ट करता है। हे प्रभो! आप 'वृत्रहा' हैं। जैसे सूर्य अवरोधक मेघरूप या अन्धकाररूप वृत्रका संहार कर देता है, वैसे ही आप साधक के मार्ग में आनेवाले व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन आदि चित्त-विक्षेपरूप विघ्नों को तथा उनके सहकारी दुःख, दौर्मनस्य[३] आदि को नष्ट करते हैं। आप ही सदाचारपथ के विघ्नभूत पापरूप वृत्रों का विध्वंस करते हैं।

हे इन्द्र! आप शूर हैं। आपसे शत्रुता करने और युद्ध करने का साहस तो किसी में है ही नहीं[४], पर आपके भक्त से भी यदि कोई शत्रुता ठानता है और युद्ध करता है तो अपने भक्त की सहायता करने आप तुरन्त युद्धभूमि में पहुँच जाते हैं और अपनी शूरता प्रकट करते हैं। हे मेरे प्रभु! जब-जब मैं असुरों से घिर जाऊँ तब-तब आप दौड़कर मेरे पास पहुँच जाएँ। मन के अन्दर छिड़े हुए तथा बाहर होनेवाले देवासुर-संग्रामों में आप मुझे विजय के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन देते रहें। मैं और आप मिलकर ऐसा विजयघोष करें कि शत्रु के दिल दहल जाएँ और वे मैदान छोड़कर भाग खड़े हों।

हे राजाधिराज! हे भक्तवत्सल! आप हमारे सच्चे 'सखा' हैं, जो हमारा साथ कभी नहीं छोड़ते। विपत्ति और सम्पत्ति दोनों अवस्थाओं में आप सखित्व का निर्वाह करते हैं। हे शरणागत-परिपालक! आप 'सुशेव' हैं, शुभ सुख के दाता हैं। सुख के दाता तो संसार में बहुत हैं, पर जिस सुख को वे देते हैं, वह हमारे लिए परिणाम में शुभ ही हो, यह आवश्यक नहीं है। पर आप स्वयं देख लेते हैं कि कौन-सा सुख शुभ है और कौन-सा अशुभ। शुभ सुख ही आप हमें देते हैं। हे भगवन्! आप 'अद्वयु' हैं, अद्वितीय हैं। आपके समकोटि का ही जगत् में कोई नहीं है, तो फिर आपसे उत्कृष्ट तो क्या ही होगा? साथ ही आप द्विविध आचरण से भी रहित हैं, अन्दर और बाहर एक-समान हैं। ऊपर से हितचिन्तक बनना और अन्दर कटुता रखना, यह आपका स्वभाव नहीं है। हे प्रभु! सखा बनकर हमारी बाँह पकड़िये और हमें कृतार्थ कीजिए।

२८०. संन्यासी के समान पापहन्ता

**इन्द्रस्तुराषाण् मित्रो न[८], जघान वृत्रं यतिर्न[८]।
विभेद वलं भृगुर्न[८], ससाहे शत्रून् मदे सोमस्य[१०]॥**

—साम० ९५४

ऋषिः **गृहपतियविष्ठौ सहसः पुत्रौ अन्यतरो वा।** देवता **इन्द्रः।** छन्दः **स्वराड् अनुष्टुप्।**

(**इन्द्रः**) परमात्मा (**मित्रः न**) सुहृत् या वायु के समान (**तुराषाट्**[१]) त्वरा एवं कर्मशीलता को सहनेवाला [है], (**यतिः न**) संन्यासी के समान (**वृत्रं**[२]) पापरूप वृत्रासुर को (**जघान**) नष्ट करता है, (**भृगुः**[३] **न**) परिपक्व विद्वान् के समान (**वलं**) अविद्यारूप वलासुर को (**विभेद**) छिन्न-भिन्न करता है, (**सोमस्य**) सोम के (**मदे**) मद में (**शत्रून्**) शत्रुओं को (**ससाहे**[४]) पराजित करता है।

क्या तुमने कभी किसी से सच्ची मित्रता की है? यदि की है, तो तुमने अपने मित्र के 'तुर' स्वभाव को, त्वराशीलता या कर्मशीलता को ही सराहा होगा, अलसता या अकर्मण्यता को कभी नहीं। जब-जब तुमने अपने मित्र को अकर्मण्य का दीर्घसूत्री देखा होगा तब-तब उसे कर्मशीलता और सत्वरता की ही प्रेरणा दी होगी। 'मित्र' वायु का भी नाम है, उसे भी कर्मण्यता ही प्रिय है। जैसे वह स्वयं कर्मण्य है, वैसे ही अन्यों को भी कर्मण्य बनानेवाला है। परमात्मा भी सुहृत् और वायु के समान त्वरामय और कर्ममय जीवन को ही प्रोत्साहन देते हैं। अकर्मण्य को वह बलात् भुजाएँ पकड़कर खड़ा कर देते हैं और कर्म-मार्ग पर अग्रसर करते हैं और यदि उनकी प्रेरणा को अनसुना करके कोई व्यक्ति उदासीन और अकर्मण्य जीवन को नहीं छोड़ता तो ठोकर लगाकर वह उसे चेता देते हैं। जैसे 'अग्नि' 'ऋताषाट्' है, ऋत को सहन करता है, अनृत को नहीं, वैसे ही 'इन्द्र' तुराषाट् हैं, त्वरा को सहन करते हैं, आलस्य को नहीं।

परमात्मा 'यति' या संन्यासी के समान वृत्रासुर का वध भी करते हैं। संन्यासी स्थान-स्थान पर परिभ्रमण करता हुआ अपने आदर्श चरित्र एवं सदुपदेश से समाज में व्यापे हुए पाप और कदाचार के वृत्रासुर का संहार करता है। परमात्मा सबसे बड़े संन्यासी हैं, जो स्वयं लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा आदि सब एषणाओं का परित्याग कर केवल लोकोपकार में संलग्न हैं। मेघ के समान व्यापकरूप से फैलकर पुण्य की पावन रश्मियों का प्रसार करते हैं।

परमात्मा परिपक्व विद्वान् के समान अविद्या का भेदन भी करते हैं। जैसे ज्ञान में परिपक्व गुरु शिष्यों की अज्ञान-राशि को विच्छिन्न करता है, वैसे ही परमात्मा भी जीवात्मा के हृत्पटल से अविद्या के पर्दे को चीरकर ज्ञान-ज्योति को प्रदीप्त करते हैं। परमात्मा जीव के द्वारा अर्पित प्रेम के सोमरस से मदविभोर हो उसके मार्ग में आनेवाले समस्त काम, क्रोध आदि शत्रुओं को परास्त कर उसे पूर्णतः निर्विघ्न कर देते हैं।

आओ, हम उस परम मित्र, सच्चे यति, परिपक्वप्रज्ञ परमात्मा को अपने भक्ति और प्रेम के सोमरस का उपहार दें।

२८१. सोम-रस आत्म-कलश में प्रवेश कर रहा है

उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु[१२], मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि[१२]।
पवमानः सन्तनिः सुन्वतामिव[१२], मधुमान् द्रप्सः परि वारमर्षति[१२]॥

—साम० १३७१

ऋषिः **हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता **पवमानः सोमः**। छन्दः **जगती**।

(मतिः) मननशक्ति **(उपो पृच्यते[१])** सम्पृक्त हो रही है, **(मधु)** मधु **(सिच्यते)** सिक्त हो रहा है, **(आसनि अन्तः)** मुख के अन्दर **(मन्द्राजनी[२])** आनन्ददायक शब्दों को प्रेरित करनेवाली जिह्वा **(चोदते)** प्रेरित हो रही है। **(इव)** जैसे **(सुन्वतां[३])** सोम ओषधि का रस अभिषुत करनेवालों का **(सन्तनिः[४])** फैलनेवाला, **(मधुमान्)** मधुर, **(द्रप्सः)** द्रवरूप **(पवमानः)** सोमरस **(वारं)** ऊन के बालों की छन्नी से युक्त कलश में **(परि अर्षति[५])** प्रवेश करता है, वैसे ही **(सन्तनिः)** विस्तीर्ण, **(मधुमान्)** मधुर, **(द्रप्सः)** द्रवरूप, **(पवमानः)** सोम-प्रभु से आत्मा की ओर बहनेवाला दिव्य रस **(वारं)** पवित्र मन की छन्नी से युक्त आत्मारूप कलश में **(परि अर्षति)** प्रवेश कर रहा है।

सोम ओषधियों को कूण्डी-सोटे से कूट-पीसकर उसके रस को कलश में पहुँचाने के लिए कलश के मुख पर लगी ऊन के बालों की छन्नी में डालते हैं और रस छन्नी में फैलकर छन-छनकर कलश में एकत्र हो जाता है। डण्ठलों के रेशे पृथक् करने के लिए सोमरस को छानने की आवश्यकता होती है। उस छने हुए सोमरस को पान करने पर मनन-शक्ति की वृद्धि होती है और मधुरता प्राप्त होती है। यह तो भौतिक सोम ओषधि की कथा है, पर इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक सोम है 'रसागार परमेश्वर', जिसके विषय में ऋषि की अनुभूति है कि—**रसो वै सः**। ध्यानरूप कूण्डी-सोटे से पीसने पर इसका रस निकलता है, जिसे दिव्यता का रस कहते हैं। पर इस रस के साथ भौतिक चेतना अपनी मलिनता भी मिला देती है, अतः पवित्र मन की छन्नी से छानकर ही इसे आत्मारूप कलश में पहुँचाना होता है।

आज अति हर्ष का विषय है कि यह दिव्यता का मधुर सोमरस मेरे आत्मा में प्रवेश कर रहा है। इसके आत्मा में प्रविष्ट होते ही मेरे अन्दर की सब शक्तियाँ उद्बुद्ध और नवीनता से अनुप्राणित हो गयी हैं। मनन-शक्ति मुझसे संयुक्त हो गई है। ऐसी अनुभूति हो रही है, जैसे अङ्ग-अङ्ग मधु से सिक्त हो गया है। मुख के अन्दर आनन्ददायक शब्दों का उच्चारण करनेवाली जिह्वा प्रेरित होकर प्रभु-गीतों का गान कर रही है। ऐसा समाँ बँधा है कि सबकुछ दिव्य होकर तरङ्गित और पुलकित हो रहा है। हे सोम प्रभु! तुम अपने दिव्य रस को मेरे आत्मा में सतत-रूप से बहाते रहो।

अथर्ववेद

सूक्तियाँ

- **सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि** १.१.४
  हम श्रुत वेदादि शास्त्र से परिपूर्ण रहें, रिक्त न हों।

- **शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि** २.११.५
  हे आत्मन्! तू शुद्ध है, भ्राजमान है, आनन्दमय है, ज्योतिर्मय है।

- **यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्** २.३०.४
  जो तेरे अन्दर हो, वही बाहर हो, जो बाहर हो, वही अन्दर हो।

- **प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह** ७.११०.१
  सब साथियों के साथ प्रेम का व्यवहार कर।

- **न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतो ऽन्नमश्नीयात्** ९.६.२४
  न द्वेष करता हुआ खाये, न द्वेषी का अन्न खाये।

- **देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति** १०.८.३२
  प्रभु के काव्य को देखो, न मरता है, न पुराना होता है।

- **प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे** ११.४.१
  प्राण को नमस्कार है, यह सब जिसके वश में है।

- **अजीतोऽहतो अक्षतो ऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्** १२.१.११
  मैं अपराजित, अहत, अक्षत होता हुआ पृथिवी का अधिष्ठाता बनूँ।

- **सोऽरज्यत ततो राजन्यो ऽजायत** १५.८.१
  राजा प्रजा का रञ्जन करता है, इसीलिए राजन्य कहाता है।

- **विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः** १७.१.२२
  विराट् प्रभु को नमस्कार, स्वराट् को नमस्कार, सम्राट् को नमस्कार।

२८२. सब जगत् का कल्याण हो

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु[११], स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः[११]।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु[१२], ज्योगेव दृशेम सूर्यम्[८]॥

—अथर्व० १.३१.४

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **आशापालः वास्तोष्पतिश्च**। छन्दः **परानुष्टुप् त्रिष्टुप्**।

(**नः**) हमारी (**मात्रे**) माता के लिए (**उत**) और (**नः**) हमारे (**पित्रे**) पिता के लिए (**स्वस्ति**) कल्याण (**अस्तु**) हो। (**गोभ्यः**) गौओं के लिए, (**जगते**) जगत् के लिए, (**पुरुषेभ्यः**) पुरुषों के लिए (**स्वस्ति**[१]) कल्याण [हो]। (**विश्वं**) सब (**सुभूतं**) शुभ ऐश्वर्य [तथा] (**सुविदत्रं**[२]) शुभ ज्ञान (**नः अस्तु**) हमें प्राप्त हो। (**ज्योक्**) चिरकाल तक (**एव**) ही [हम] (**सूर्यं**) सूर्य को (**दृशेम**) देखते रहें।

हमारी कामना है कि विश्व में सबको 'स्वस्ति' प्राप्त हो। स्वस्ति का मूल अर्थ है—उत्तम अस्तित्व। निरीह, अकिंचन, क्षुद्र होकर जीवित रहना कोई जीवन नहीं है। सुन्दर, प्रशस्त, यशोमय अस्तित्व ही जीवन है। इसीलिए स्वस्ति शब्द कल्याण एवं मङ्गल का वाचक हो गया है।

हमारी जन्मदात्री माँ को स्वस्ति प्राप्त हो, जो अपनी प्यार-भरी गोद में हमें दुलारती रही है और जिसने स्वयं कष्ट सह-सहकर भी हमें सुख दिया है। उसके सम्मुख हम आज भी नन्हें बच्चे हैं, उसके प्रति सदा अनुगृहीत होते हुए प्रभु से उसके लिए मङ्गल की याचना करते हैं। हमारे पूजनीय पिता को भी स्वस्ति प्राप्त हो, जिन्होंने हमें पाल-पोस कर और शिक्षित कर आज अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य किया है। हम आज भी अनुभव करते हैं कि वस्तुतः हम अपने पैरों पर नहीं, किन्तु उन्हीं के पैरों पर खड़े हैं। हम उनके चिर-ऋणी हैं और उनके लिए परमपिता परमेश्वर से अक्षय मङ्गल की याचना करते हैं। माता-पिता के उपलक्षण से हम उन सभी पूज्यजनों एवं प्रियजनों के लिए स्वस्ति की याचना करते हैं, जिनका हमारे जीवन-निर्माण में योगदान रहा है। केवल सम्बन्धीजनों के ही नहीं, सभी स्त्री-पुरुषों के स्वस्ति की हम कामना करते हैं। हमारी प्रार्थना है कि सब गौओं को भी स्वस्ति प्राप्त हो, जो जीवनपर्यन्त माँ बनकर हमें अपना स्तन्यपान कराती हैं और अपने अमृतमय दूध से सींच-सींचकर हमारे शरीर एवं मन को परिपुष्ट करती हैं। संक्षेप में कहें तो सम्पूर्ण जगत् को, समस्त विश्व को, स्वस्ति प्राप्त हो।

इस स्वस्ति की कामना के साथ-साथ हम यह भी चाहते हैं कि समस्त शुभ ऐश्वर्य से और समस्त शुभ ज्ञान से हम सदा लाभान्वित होते रहें। लोग कहते हैं कि वे मनुष्य बहुत भाग्यशाली हैं, जिनपर श्री और सरस्वती दोनों की कृपा रहती है। हम भी वैसे ही भाग्यशाली होना चाहते हैं। हमारी यह भी अभिलाषा है कि हम चिरकाल तक सूर्य का दर्शन करते रहें। यह वरदान माँगकर हम दीर्घजीवन और चक्षु आदि इन्द्रियों की चिर-स्थायिनी शक्ति दोनों की ही याचना कर रहे हैं। साथ ही हम उन्नति के सूर्य का भी चिरकाल तक दर्शन करते रहना चाहते हैं।

हे आशापाल! हे सब दिशाओं के पालक परमात्मन्! हमारी उक्त कामनाओं को तुम पूर्ण करो। हे वास्तोष्पति! हे गृह-रक्षक देव! हमारे गृहीजनों की रक्षा करते हुए तुम सदा उन्हें 'स्वस्ति' प्रदान करते रहो।

२८३. श्रेय-मार्ग का वरण

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे[११], शिवो अग्ने संवरणे भवा नः[११]।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव[१२], स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्[१]॥

—अथर्व० २.६.३

ऋषिः **शौनकः सम्पत्कामः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(अग्ने) हे आत्मन्! **(इमे ब्राह्मणाः)** ये ब्राह्मण **(त्वां वृणते)** तुझे वरण कर रहे हैं। **(अग्ने)** हे आत्मन्! **(संवरणे)** [इस] सम्यक् वरण में, तू **(नः)** हमारे लिए **(शिवः)** कल्याणकारी **(भव)** हो। **(अग्ने)** हे आत्मन्! तू **(सपत्नहा)** शत्रुओं का हनन करनेवाला और **(अभिमातिजित्)** अभिमान को जीतनेवाला **(भव)** हो, **(स्वे)** अपने **(गये[१])** सन्तान, धन और घर के प्रति **(अप्रयुच्छन्[२])** प्रमाद न करता हुआ **(जागृहि)** जाग।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति हैं, एक वे जो प्रेय मार्ग का अवलम्बन करते हैं और दूसरे वे जो श्रेय मार्ग के यात्री होते हैं। जैसे नचिकेता न यम द्वारा प्रलोभन दिये जानेपर भी पुत्र-पौत्र, हिरण्य, हस्ती, अश्व, भू-राज्य, यथेच्छ आयु, चिर-जीविका, रामा, रथ, गाजे-बाजे आदि सबको तिलाञ्जलि देकर श्रेयमार्ग को वरा था और आत्म-जिज्ञासा की थी, वैसे ही आज अध्यात्म-मार्ग के पथिक इन ब्रह्म-प्रेमी ब्राह्मणों ने सब सांसारिक ऐश्वर्यों को छोड़कर, हे आत्मन्! तुझे वरण किया है और इन ब्राह्मणों में हम भी सम्मिलित हैं। हमने समझ लिया है कि विषयभोग तो कल तक के हैं और ये इन्द्रियों के तेज को ही हरते हैं, भौतिक धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, अपितु उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है। ठीक ही है, जो धीर जन हैं वे श्रेय और प्रेय दोनों की सम्यक् परीक्षा कर श्रेय का ही वरण करते हैं, प्रेय मार्ग को केवल वे चुनते हैं, जिन्हें सांसारिक योग-क्षेम की लालसा होती है।

हे आत्मन्! तू इस संवरण में, स्वेच्छापूर्वक सम्यक् किये गये चुनाव में, हम ब्राह्मणों के लिए 'शिव' हो। हमें कल्याण और मङ्गल का उपहार सदा देता रह, जिससे कभी हमें यह भान न हो कि हमारा चुनाव सही नहीं था। तू अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है। तू हमारे उन आन्तरिक शत्रुओं का, जो सेना लेकर एक-साथ हमपर आ टूटते हैं, संहार कर। हे अभ्यास और वैराग्य का आश्रय लेनेवाले! हमारे मिथ्या ज्ञान को, हमारी तमोमयी निद्रा को, तू दूर कर। प्रणव-जप में परायण हम ब्राह्मणों के मार्ग में आनेवाले व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व नामक चित्तविक्षेपक अन्तरायों को निःशेष कर। तू हमारे चित्त से अभिमानरूप महान् रिपु को नष्ट कर, जो काम-क्रोधादि इतर पाँचों रिपुओं का भी प्रतिनिधित्व करता है।

हे आत्मन्! तू अपनी मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, ऐकाग्र्य, इन्द्रियजय, अणिमादि-सिद्धि प्रभृति सन्तानों की रक्षा के प्रति, अपने दिव्य धन की रक्षा के प्रति और शरीर एवं पञ्चकोशरूप अपने गृह की रक्षा के प्रति सदा जागरूक रह। हे आत्मन्! हम ब्राह्मणों की कामना को पूर्ण कर।

२८४. दुरित दूर करके ऐश्वर्य प्रदान कीजिए

अति निहो अति स्रुधो[८], अत्यचित्तीरति द्विषः[८] ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वम्[१०], अथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः[११] ॥

—अथर्व० २.६.५

ऋषिः **शौनकः सम्पत्कामः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **भुरिग् बृहती**।

(अग्ने) हे परमात्मन्! **(निहः[१])** निहन्तारूप विषयजन्य दोषों को अथवा निकृष्ट योनियों में गति को **(अति तर)** दूर कर, **(स्रुधः[२])** शोषक कामादि विकारों अथवा दैहिक रोगों को **(अति)** दूर कर, **(अचित्तीः[३])** अज्ञानवृत्तियों एवं अजागरूकताओं को **(अति)** दूर कर, **(द्विषः)** द्वेषवृत्तियों को **(अति)** दूर कर। **(त्वम्)** तू **(विश्वा)** समस्त **(दुरिता)** दुराचरणों एवं पापों को **(तर)** दूर कर। **(अथ)** और **(सहवीरं)** वीरों सहित **(अस्मभ्यं)** हमें **(रयिं)** ऐश्वर्य **(दाः)** प्रदान कर।

हे दुर्गुणों को दूर करनेवाले तेजस्वी परमात्मन्! हम आपकी शरण में आकर आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे अन्दर आई हुई समस्त बुराइयों को दूर कर हमें निर्मल कर दीजिए। हम विषयभोग-जन्य दोषों में फँस गये हैं, जो दोष हमें विनष्ट किए डाल रहे हैं। उनसे आप हमारा उद्धार कीजिए। हम असत्कर्मों में व्याप्त हो जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार फलभोग के लिए पशु-पक्षी आदि की निकृष्ट योनियों में हमारा जन्म लेना अनिवार्य हो जाता है। उन असत्कर्मों से हटा कर निकृष्ट योनियों में हमारी गति को दूर कीजिए। अनेक कामादि विकार और अनेक शारीरिक रोग हमारा शोषण कर रहे हैं, उनसे आप हमें छुटकारा दिलाइए। हम अज्ञानवृत्तियों और अजागरूकताओं के वश हो कर्त्तव्य-विमुख हुए जा रहे हैं। आप उनसे मुक्त कर हमें ज्ञानी, प्रचेता और जागरूक बनाइये।

हे भगवन्! द्वेषवृत्तियाँ भी हमारा पिण्ड नहीं छोड़ रही हैं। एक ही अमर परमात्मा के पुत्र होने के नाते परस्पर भाई-भाई होते हुए भी हम द्वेष-भावनाओं के शिकार हो आपस में लड़ रहे हैं, एक-दूसरे का संहार कर रहे हैं और इस प्रकार आपकी पवित्र सृष्टि को दूषित कर रहे हैं। हमें इन द्वेषवृत्तियों से पार कीजिए। संक्षेप में कहें तो जो भी दुरित आकर हमारे अन्दर प्रविष्ट हो गये हैं, पाप, दुष्कर्म, दुर्व्यसन आदि आ घुसे हैं, उन्हें आप हमारे अन्दर से निकालकर बाहर कर दीजिए और हमारे आचरणों को पवित्र बना दीजिए।

इस प्रकार हमारे अन्दर से सब दुरितों को दूर करने तथा जीवन को पवित्र करने के पश्चात् आप हमें ऐश्वर्य प्रदान कीजिए। अपवित्र आत्मा और अनिर्मल व्यक्तित्व ऐश्वर्यों को सम्भाल नहीं सकता। उसके पास आकर ऐश्वर्य भी अभिशाप बन जाते हैं, अतः दुरित-निवारण के पश्चात् ही हम आन्तरिक और बाह्य ऐश्वर्यों को पाना चाहते हैं। साथ ही हम अकेले ही ऐश्वर्यों के अधिकारी नहीं होना चाहते, अपितु परिवार एवं राष्ट्र के समस्त वीरों को भी उसमें सहभागी बनाना चाहते हैं। हे परमप्रभु! हमपर आप अपनी अनवरत कृपा बरसाते रहें।

२८५. ओ, मन के हिंसक!

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप[१०], यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि[११]।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं[११], यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति[११]॥

—अथर्व० २.१२.२

ऋषिः **भरद्वाजः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(सोमप इन्द्र) हे ज्ञान, कर्म और भक्तिरूप सोम का पान करनेवाले मेरे आत्मन्! **(इदं)** यह **(शृणुहि)** सुन, **(यत्)** जो **(शोचता हृदा)** देदीप्त हृदय से **(त्वा)** तुझे **(जोहवीमि[१])** पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ। **(कुलिशेन)** कुल्हाड़े से **(वृक्षम् इव)** जैसे वृक्ष को वैसे ही **(तम्)** उसे **(वृश्चामि)** काट देता हूँ **(यः)** जो **(अस्माकं)** हमारे **(इदं)** इस **(मनः)** मन को **(हिनस्ति[२])** हिंसित करता है।

मेरे मन में उच्च-से-उच्च महत्त्वाकांक्षाएँ हिलोरे ले रही हैं। मुझे वेद की प्रेरणा है कि तू दूषकों का दूषक है, वज्र का वज्र है, आक्रान्ताओं का आक्रान्ता है, विद्वान् है, वर्चस्वी है, पवित्र है, भ्राजमान है, आनन्दमय है, ज्योतिःस्वरूप है, समानों से आगे बढ़, श्रेष्ठों को प्राप्त कर[३]। इन प्रेरणाओं से उद्‌बोधन प्राप्त कर मैंने अपने स्वरूप को पहचान लिया है कि मैं क्या हूँ और मुझे क्या बनना है। मैंने सङ्कल्प कर लिया है कि प्रत्येक दिशा में मैं आगे बढ़ूँगा। अध्यात्म-क्षेत्र में मैं वीतराग, गतक्रोध, कल्मष-संहारक, अन्तश्चक्षु से सबकुछ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करनेवाले ब्रह्मद्रष्टा ऋषियों के तुल्य बनूँगा। सामाजिक क्षेत्र में जनता का नेतृत्व करनेवाला आदर्श पुरुष बनूँगा।

ज्ञानियों में ज्ञानी, मनीषियों में मनीषी, क्षत्रियों में क्षत्रिय, कर्मशूरों में कर्मशूर, धर्मात्माओं में धर्मधुरीण, सत्यशीलों में सत्यशील, आचार्यों में आचार्य, तपोनिष्ठों में तपोनिष्ठ बनूँगा। हे मेरे आत्मन्! तुमने ज्ञान, कर्म और भक्ति के सोमरस का पान किया हुआ है, अतः स्वतः मेरे जीवन में विद्या, क्रिया और भक्ति का त्रिवेणी-सङ्गम हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि मेरे महान् सङ्कल्प में, मेरी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में, कोई भी आन्तरिक या बाह्य शत्रु बाधक न बने। बाह्य शत्रु तबतक बाधक नहीं हो सकते जबतक आभ्यन्तर शत्रु प्रबल न हों, अतः बाह्य शत्रुओं की मुझे अधिक चिन्ता नहीं है, मैं तो पहले आभ्यन्तर शत्रुओं का ग्रीवा-कर्तन कर देना चाहता हूँ, जो मेरे मन को हिंसित करने के लिए मुझपर आक्रमण करते हैं। जैसे कुल्हाड़े से वृक्ष को काटकर धराशायी कर देते हैं, वैसे ही समस्त आभ्यन्तर शत्रुओं का मैं समूल उच्छेद कर दूँगा।[४] मैं देदीप्त हृदय के साथ यह भीष्म-प्रतिज्ञा कर रहा हूँ। हे मेरे आत्मन्! तुम इसे सुनो, इसकी पूर्ति में साक्षी और सहायक बनो, जिससे मैं अपनी उच्च जगत्-कल्याणकारिणी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण कर सकूँ।

२८६. तेरा शरीर पाषाण हो।

एह्यश्मानमातिष्ठा॰, ऽश्मा भवतु ते तनूः॰।
कृण्वन्तु विश्वे देवा॰, आयुष्टे शरदः शतम्॰॥

—अथर्व० २.१३.४

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**एहि**) आ, (**अश्मानं**) पत्थर पर (**आतिष्ठ**) खड़ा हो। (**ते तनूः**) तेरी देह (**अश्मा**) पत्थर, पत्थर के समान दृढ़ (**भवतु**) हो। (**विश्वे देवाः**) सब देव (**ते आयुः**) तेरी आयु (**शतं शरदः**) सौ वर्ष की (**कृण्वन्तु**) करें।

हे बालक! तू व्रतपालन और विद्याग्रहण के लिए गुरुकुल में आया है। मैं गुरुकुल का आचार्य तुझे उपनीत कर तेरा वेदारम्भ करता हूँ। आ, इस पत्थर पर खड़ा हो। देख, यह पत्थर कैसा सुदृढ़ और कठोर है। तेरा शरीर भी तपस्या से इस जैसा ही सुदृढ़ और कठोर बने। तुझे ब्रह्मचारी बनना है। तू यहाँ आराम का जीवन व्यतीत करने के लिए, मखमली गद्दों पर सोने के लिए, स्वादिष्ट पक्वान्न खाने के लिए नहीं, सुगन्धित तैल, अभ्यङ्ग आदि के प्रयोग के लिए नहीं, किन्तु तप करने के लिए आया है। तू शीत-आतप, क्षुधा-तृषा, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करता हुआ वन-पर्वतों से टक्कर ले, गङ्गा की लहरों से जूझ और अपने शरीर को पाषाण बना। अध्ययन द्वारा अपनी बौद्धिक शक्ति के विकास के साथ-साथ नैत्यिक व्यायाम आदि के द्वारा शरीर को भी सुगठित बना। समस्त देव, गुरुकुलवासी समस्त विद्वान् गुरुजन, तुझसे ऐसा यम-नियम आदि का पालन करवाएँ तथा सदाचार की ऐसी उत्तम शिक्षा दें कि तेरी आयु न्यूनतम शत वर्ष की अवश्य हो।

हे बहिन! आज तेरा पाणि-ग्रहण हो रहा है, इसके पश्चात् तू अपने पतिगृह जानेवाली है। विवाह-संस्कार में प्राचीन ऋषियों ने एक शिलारोहण-विधि निर्धारित की है। मैं तेरा भाई इस शिला पर तेरा पैर रखवाता हूँ। शिला पर आरोहण करती हुई तू अपने अन्दर वीर-भावना को जागृत कर। तेरी देहयष्टि में जहाँ लता के समान कोमलता और सुकुमारता हो, वहाँ इस शिला के समान सुदृढ़ता भी हो। तू स्वयं को अबला मत समझ। यदि कोई तेरे प्रति दुष्टता करना चाहे तो तू मूर्तिमती शिला होकर उसकी दुष्टता का प्रत्युत्तर दे। तेरे पतिगृह में सास, श्वसुर, पति, ज्येष्ठ, देवर आदि सब देवजन तेरे साथ ऐसा प्रिय व्यवहार करें कि तू वहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहती हुई शतवर्ष की आयु प्राप्त करे।

हे राजन्! तेरा आज राजतिलक हो रहा है। तू वीर क्षत्रिय की सन्तान है। तुजे राष्ट्र को धारण करना है। आ, इस पत्थर पर पैर रखकर मन में इस भावना को जागृत कर कि तू अपने बाह्य शरीर से और मानसिक शरीर से पत्थर के समान दृढ़ रहेगा। तभी तू राष्ट्र का पालन-पोषण और सङ्कट आने पर रक्षण कर सकता है। समस्त देव, सब दिव्य गुणोंवाले प्रजाजन, सब दिव्य प्रवृत्तिवाले राज्याधिकारीगण तुझसे सहयोग करते हुए तेरी आयु शत वर्ष की करें।

आओ, हे मित्रो! हम सभी पत्थर पर पैर रखें और पत्थर के समान शरीर, मन और आत्मा से सुदृढ़ रहने की प्रतिज्ञा करें। दृढ़ता ही हमें जीवन में सफलता प्राप्त करा सकती है, अतः दृढ़ होने का व्रत धारण करें। सब विद्वद्-देव, सब सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक देव और सब मन, प्राण आदि शारीरिक देव हमारे सहायक हों। शत वर्ष तक वे हमें अपना वरदान देते रहें।

२८७. क्रोधवृत्तियों का संहार

निःसालां धृष्णुं धिषणम्[८], एकवाद्यां जिघत्स्वम्[७]।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो[७], नाशयामः सदान्वाः[७]॥

—अथर्व० २.१४.१

ऋषिः **चातनः**। देवता **शालाग्निः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**निःसालां[१]**) गलहत्था देकर निकाल देने की वृत्ति को, (**धृष्णुम्[२]**) अपमान की प्रवृत्ति को, (**धिषणम्[३]**) हठवृत्ति को, (**एकवाद्याम्[४]**) एक भर्त्सना की ही वाणी बोलते जाने की वृत्ति को, (**जिघत्स्वं[५]**) खाने की वृत्ति को, [इस प्रकार की] (**सदान्वाः[६]**) सदा रुलानेवाली (**सर्वाः**) सभी (**चण्डस्य**) प्रचण्ड क्रोध की (**नप्त्य[७]ः**) सन्तानों को (**नाशयामः**) [हम] नष्ट कर देते हैं।

प्रचण्ड क्रोध में मनुष्य आपे से बाहर हो जाता है। क्रोध से वह संमोह, अर्थात् मूढ़ता की स्थिति में पहुँच जाता है और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने छोटे-बड़े और समानों के साथ अत्यन्त अवांछनीय और आपत्तिजनक व्यवहार करने लगता है, भले ही क्रोध शान्त होनेपर वह अपने आचरण पर स्वयं पश्चात्ताप करे। वह 'निःसाला' वृत्ति से अभिभूत होकर जिसे चाहे गलहत्था देकर बाहर निकाल देता है। 'धृष्णु' वृत्ति के वशीभूत हो जिसका चाहे धर्षण या अपमान कर बैठता है। 'धिषण'-स्वभाव या हठीवृत्ति से आक्रान्त होकर जो बात मन में ठान लेता है, वह दूसरों से करवाकर ही छोड़ता है। दैवी और राक्षसी दो प्रकार की वाणियों में से वह एक राक्षसी वाणी ही बोलता है। अकारण दूसरों की भर्त्सना करता है, अपशब्दों की बौछार उनपर करता रहता है। उसके अन्दर 'जिघत्सु'-वृत्ति, अर्थात् खाने की वृत्ति, रिश्वत लेने की वृत्ति या दूसरों की वस्तु को बलात् हड़प लेने की वृत्ति आ जाती है, क्योंकि क्रोध से अन्धा होकर वह सत्यनिष्ठा को छोड़ बैठता है। ये समस्त वृत्तियाँ, प्रचण्ड क्रोध की ये सब सन्तानें, मनुष्य को रुलानेवाली हैं। ये क्रोधकर्ता को भी रुलाती हैं और जिसपर क्रोध किया जाता है, उसे भी रुलाती हैं। फलतः परिवार और समाज में इनके कारण रोदन-क्रन्दन ही मचा रहता है। हमने समझ लिया है कि क्रोध मनुष्य का महान् वैरी है, अतः क्रोध को और क्रोधजन्य इन सब वृत्तियों को निर्मूल कर देने का सङ्कल्प कर लिया है। हमारी शरीररूप शाला का 'अग्नि' आत्मा और गृहरूप शाला का 'अग्नि' गार्हपत्याग्नि प्रचण्ड क्रोध को और प्रचण्ड क्रोधवृत्तियों को विनष्ट करने में हमारा सहायक हो।

२८८. राष्ट्र-वीरों का परिचय

तीक्ष्णीयांसः परशोः[७], अग्ने स्तीक्ष्णतरा उत[८]।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो[९], येषामस्मि पुरोहितः[८]॥

—अथर्व० ३.१९.४

ऋषिः **वसिष्ठः**। देवता **विश्वेदेवाः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

[मैं] (**येषां**) जिन [वीरों] का (**पुरोहितः**) पुरोहित, आगे स्थित होनेवाला सेनानी (**अस्मि**) हूँ, [वे मेरे वीर] (**परशोः**) परशु से (**तीक्ष्णीयांसः**) अधिक तीक्ष्ण [है], (**उत**) और (**अग्नेः**) अग्नि से (**तीक्ष्णतराः**) अधिक तीक्ष्ण [हैं], (**इन्द्रस्य**) इन्द्र के (**वज्रात्**) वज्र से (**तीक्ष्णीयांसः**) अधिक तीक्ष्ण [हैं]।

किसी राष्ट्र के कर्णधार उस राष्ट्र के वीर पुरुष ही होते हैं। वे उस राष्ट्र की शत्रुओं से रक्षा कर उसे उत्कर्ष से देदीप्यमान होने का अवसर प्रदान करते हैं। क्या तुम मेरे राष्ट्र-वीरों का परिचय जानना चाहते हो? मेरे राष्ट्र-वीर अत्यन्त तीक्ष्ण हैं। परशु की तेज धार का कभी तुमने परीक्षण किया होगा। चमकीली तीव्र धारवाला परशु ज्यों-ही शत्रुकण्ठ का आलिङ्गन करता है, तत्क्षण कण्ठ धरा पर पड़ा दिखाई देता है। पर मेरे राष्ट्र के वीर परशु की धार से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। परशु की धार तो फिर भी किसी कठोर वस्तु से टकराकर कुण्ठित हो सकती है, पर मेरे वीर कभी कुण्ठित नहीं होते। उनकी तीव्रता सदा अक्षुण्ण रहती है, उनका उत्साह सदा अदम्य रहता है। मेरे राष्ट्र-वीर अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। अग्नि का रण-कौशल क्या तुमने नहीं देखा है? उसकी एक छोटी चिंगारी बड़े-बड़े विस्तीर्ण वनों को दग्ध कर देती है, बड़े-बड़े नगरों को भस्म कर देती है। लपकती हुई अग्नि-ज्वालाएँ कैसी विभीषिका उत्पन्न करती हैं? पर मेरे राष्ट्र-वीर अग्नि-ज्वालाओं से भी अधिक तीक्ष्ण, भयङ्कर तथा विनाशकों के विनाशक हैं। उनके मन, वाणी, चेहरे अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण एवं तेजस्वी हैं। अग्नि की ज्वालाएँ तो फिर भी पानी की बौछार से बुझ जाती हैं, पर मेरे वीरों के हृदय में धधकती राष्ट्र-प्रेम की ज्वालाओं को कोई शक्ति नहीं बुझा सकती। मेरे राष्ट्र-वीर इन्द्र के वज्र से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। बादलों में गर्जने और चमकनेवाले इन्द्र के विद्युत्-वज्र की शक्ति क्या तुमने नहीं देखी? कड़कड़ाती बिजली जहाँ गिर जाती है, वहाँ प्रलयङ्कर दृश्य उत्पन्न हो जाता है। पर मेरे वीरों की तीव्रता, रण-चातुरी और रिपु-सैन्य को संत्रस्त एवं धराशायी करने की शक्ति विद्युद्-वज्र से भी अधिक है। विद्युद्-वज्र तो फिर भी पानी आदि में विफल हो जाता है, पर मेरे राष्ट्र-वीर कभी विफल नहीं होते। ऐसे राष्ट्र-वीरों का मैं पुरोहित हूँ, नायक हूँ, सेनापति हूँ। मुझे गर्व है अपने वीरों पर। राष्ट्र की प्रतिष्ठा के ये स्तम्भ हैं, राष्ट्र के ये अवलम्ब हैं, राष्ट्र की मान-मर्यादा के ये रक्षक हैं। जय हो इन राष्ट्रवीरों की! जय हो मेरे देश के राष्ट्रवीरों की!!

२८९. पयस्वती वस्तुओं का संग्रह

पयस्वतीरोषधयः[८], पयस्वन्मामकं वचः[८]।
अथो पयस्वतीनाम्[७], आभरेऽहं सहस्रशः[८]॥

—अथर्व० ३.२४.१

ऋषिः **भृगुः**। देवता **प्रजापतिः**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्**।

(**ओषधयः**) ओषधियाँ (**पयस्वतीः**) पयस्वती हैं, रस से भरी हुई [हैं], [वैसे ही] (**मामकं**) मेरा (**वचः**) वचन (**पयस्वत्**) पयस्वान्, रस से भरा हुआ [हो गया है]। (**अथो**) और (**अहं**) मैं (**पयस्वतीनां**) पयस्वती सम्पत्तियों में से (**सहस्रशः**) सहस्रों को (**आ भरे**) आहरण करता हूँ, संगृहीत करता हूँ।

पयस्वान् जीवन-ही-जीवन है, गरलवान् जीवन जीवन नहीं है। जिस वातावरण में मिश्री घुली हो, रस का व्यापार हो, अमृत टपकता हो, प्रेम का विस्तार हो, अभिनन्दन हो, स्वागत हो, वही वातावरण स्पृहणीय है। जिसमें कटुता हो, धिक्कार हो, तिरस्कार हो, अरुचि हो, द्वेष हो, छल-छद्म हो, वह वातावरण जीवन में विष घोलता है, जीवन को व्याकुल करता है, अतएव निन्दनीय है। जिन ओषधियों का मैं प्रयोग करता हूँ, वे कैसी पयस्वती हैं? उनमें मधुर रस भरा है, वे स्वास्थ्य-प्रदायिनी हैं, वे प्राण की स्रोत हैं, वे नवजीवनदायिनी हैं। उनकी पयस्वत्ता को, रसमयता को, मैंने अपने जीवन में उतारा है और अपने वचन को पयस्वान् बना लिया है। मैं मधुरभाषी हो गया हूँ, मेरी वाणी में रस और प्यार भर गया है, मेरी जिह्वा से फूल झड़ते हैं, मेरे स्नेहिल-सरस वचनों से उदास मन भी प्रफुल्ल हो जाता है। इस रसवत्ता को आंशिकरूप में ही अपने जीवन में लाकर मैंने इसका महान् फल चख लिया है और अब मैं चाहता हूँ कि अपने जीवन में सहस्रों पयस्वती वस्तुओं का संग्रह कर लूँ।

मैं पयस्वती पृथिवी को प्राप्त करूँ, जो नाना रसों की स्रोत है, जिसमें रसीले फल हैं, रसीले कन्द हैं, रसीले झरने हैं। मैं पयस्वती उषा को प्राप्त करूँ, जिसका प्रकाशरूप पयस् मृत मनों में भी प्राण का सञ्चार कर देता है। मैं पयस्वती विद्युत् को प्राप्त करूँ, जिसकी चमक अन्धकारित मनों को चमका देती है। मैं पयस्वती गौओं को प्राप्त करूँ, जिनका अमृतमय दूध चिर-स्वास्थ्य, पुष्टि, सात्त्विकता और क्रियाशीलता प्रदान करता है। मैं पयस्वती वेदवाणी को प्राप्त करूँ, जिसका दिव्य रस अज्ञानियों को ज्ञानी बना देता है। मैं पयस्वती बुद्धि को प्राप्त करूँ, जिसका तर्क-रूप दूध मनुष्य को विश्लेषणशील और विवेकी बना देता है। मैं पयस्वती पारमेश्वरी कृपा को प्राप्त करूँ, जो पार्थिव चेतना को दिव्य चेतना में परिवर्तित कर देती है।

मेरी कामना है कि संसार की सब पयस्वती सम्पत्तियाँ, सब पयस्वती शक्तियाँ, मुझे पयस्वान् बना दें। मेरे जीवन का अङ्ग-अङ्ग पयस्वान् हो जाये, मेरा रोम-रोम पयस्वान् हो जाये। हे प्रजापति देव! तुम मेरी इस कामना को पूर्ण करो।

२९०. द्यावा-पृथिवी का धारक अनड्वान्

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्[१२], अनड्वान् दाधारोर्वन्तरिक्षम्[१०]।
अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीः[१२], अनड्वान् विश्वं भुवनमाविवेश[१२]॥

—अथर्व० ४.११.१

ऋषिः **भृग्वङ्गिराः**। देवता **अनड्वान् इन्द्रः**। छन्दः **विराड् जगती**।

(अनड्वान्) अनड्वान् इन्द्र प्रभु ने **(पृथिवीं)** पृथिवी को **(उत)** और **(द्यां)** द्युलोक को **(दाधार[१])** धारण किया हुआ है। **(अनड्वान्)** अनड्वान् इन्द्र प्रभु ने **(उरु)** विस्तीर्ण **(अन्तरिक्षं)** अन्तरिक्षलोक को **(दाधार)** धारण किया हुआ है। **(अनड्वान्)** अनड्वान् इन्द्र प्रभु ने **(उर्वीः)** विस्तीर्ण **(षट् प्रदिशः)** छहों मुख्य दिशाओं को **(दाधार)** धारण किया हुआ है। **(अनड्वान्)** अनड्वान् इन्द्र प्रभु **(विश्वं)** समस्त **(भुवनं)** ब्रह्माण्ड में **(आ विवेश)** प्रविष्ट है, व्याप्त है।

लोकश्रुति है कि पृथिवी बैल के सींगों पर टिकी हुई है। इसका मूल सम्भवतः वेद ही है, क्योंकि वेद कहता है कि पृथिवी को 'अनड्वान्' ने धारण किया हुआ है। लौकिक संस्कृत में शकट (अनस्) के जुए को अपने कन्धे पर वहन करने के कारण बैल को अनड्वान्[२] कहते हैं, परन्तु प्रस्तुत मन्त्र का अनड्वान् साधारण बैल नहीं, प्रत्युत परमेश्वर है। परमेश्वर को भी इस कारण अनड्वान् कहते हैं, क्योंकि वह ब्रह्माण्डरूप शकट को वहन करता है। इसी सूक्त में अगले मन्त्र में 'अनड्वान्' इन्द्र है[३] यह कहकर पहेली को स्वयं ही सुलझा दिया है, किन्तु केवल वहन करने में ही परमेश्वर की बैल से समता नहीं है, अपितु बैल के समान वह चतुष्पात् भी है, जिसके चार पाद माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा अद्वैत हैं और छान्दोग्य[४] उपनिषद् जिसके पादों का वर्णन प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् और आयतनवान् नाम से करती हैं।

उस 'अनड्वान्' प्रभु की भार-वहन की शक्ति तो देखो! उसने सूर्य एवं समग्र तारा-मण्डल सहित विशाल द्युलोक को, नदी-पर्वत-समुद्र आदि सहित महिमामयी महती पृथिवी को, वायु-मेघ-चन्द्र आदि सहित विस्तृत अन्तरिक्ष को और प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा, ऊर्ध्वा इन छहों विस्तीर्ण प्रदिशाओं को अनायास तृण के समान धारण किया हुआ है। कल्पना तो करो, यदि इनके धारण का भार हम मनुष्यों पर होता, तो हम इन्हें कैसे सम्भाल पाते? हमारे वैज्ञानिक तो आज राकेटों द्वारा आकाश में छोड़े गये छोटे-छोटे भू-उपग्रहों पर ही पूर्ण नियन्त्रण रखने में अक्षम हो रहे हैं। वह 'अनड्वान्' प्रभु केवल हमारे आस-पास ही नहीं, किन्तु सकल ब्रह्माण्ड में व्यापक है, जिससे जहाँ भी कोई भार नीचे गिरने लगे वह झट अपना कन्धा आगे कर देता है और उसे सम्भाल लेता है। इस 'अनड्वान् इन्द्र' को हमारा कोटिशः धन्यवाद है कि वह बिना कोई शुल्क लिये हमारा इतना बड़ा उपकार कर रहा है।

२९१. वह हमें पापमुक्त करे

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा[१३], येनासुराणामयुवन्त माया:[११] ।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय[११], स नो मुञ्चत्वंहस:[७] ॥

—अथर्व० ४.२३.५

ऋषि: **मृगार:** । देवता **प्रचेता अग्नि:** । छन्द: **उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती विराट् त्रिष्टुप्।**

(**येन**) जिस (**युजा**) सहायक (**अग्निना**) परमात्मा के द्वारा (**ऋषय:**) ऋषिजन (**बलं**) बल को (**अद्योतयन्**) द्योतित करते हैं, (**येन**) जिसके द्वारा (**असुराणां**) असुरों की (**माया:**) मायाओं को (**अयुवन्त**[१]) [अपने से] पृथक् करते हैं, (**येन**) जिसके द्वारा (**इन्द्र:**) जीवात्मा (**पणीन्**) कृपणता की वृत्तियों को (**जिगाय**) जीत लेता है, (**स:**) वह (**न:**) हमें (**अंहस:**) पाप से (**मुञ्चतु**[२]) छुड़ाये।

महिमाशाली, तत्त्वदर्शी, आत्मवेत्ता ऋषिजन अपने अन्दर जो महान् आत्मबल द्योतित करते हैं, वह किस सहायक को पाकर? परमात्माग्निरूप परम सहायक को पाकर ही वे इस अन्तर्बल की ज्योति को अपने अन्दर भासमान कर पाते हैं। जिस सङ्कट के क्षण में हम सामान्य लोग निर्बलों की भाँति दीन-दु:खी और कातर हो जाते हैं, उन क्षणों में ऋषि-कोटि के व्यक्ति धैर्यवान् आत्मिक-मानसिक बल से युक्त और स्थितप्रज्ञ बने रहते हैं, यह प्रभु को सहायक बनाने का ही फल है। उसी की सहायता से वे असुरों को पराभूत करने में भी सफल होते हैं। यद्यपि ऋषि लोग पर्याप्त शक्तिशाली होते हैं, तो भी उनके प्रतिद्वन्द्वी असुर भी कम शक्तिशाली नहीं होते। आन्तरिक असुर काम-क्रोधादि तथा बाह्य असुर द्वेषी शत्रुजन उनके सम्मुख अपनी माया का जाल फैलाते हैं। इन्हें 'असुर' इस कारण कहते हैं, क्योंकि ये मनुष्य के समस्त सद्विचारों को उसके अन्दर से निकाल फेंकने की चेष्टा करते हैं[३] और ये देवत्व के विरोधी होते हैं[४]। ऋषियों के सम्मुख इनकी माया विफल ही रहती है।

इन्द्र जो पणियों पर विजय पाता है, यह विजय भी उसे उसी परमात्माग्नि की सहायता से प्राप्त होती है। इन्द्र है जीवात्मा और पणि हैं कृपणता की वृत्तियाँ। मनुष्य स्वभावत: स्वार्थवृत्तियों या कृपणता की वृत्तियों के वशीभूत रहता है। उनपर विजय दिलाकर उसे उदार, परहितचिन्तक, यज्ञपरायण, परोपकारशील बनानेवाला तेजस्वी परमेश्वर ही है।

हम चाहते हैं कि आज हम भी उसी सहायक की बाँह पकड़ें, उसी की शरण में जाएँ। तब वह हमारे अन्दर भी बल उत्पन्न करेगा, हमें भी असुरों की मायाओं से मुक्त करायेगा और हमें भी स्वार्थवृत्तिरूप पणियों पर विजय दिलायेगा। आओ, हे परमप्रभु! हम तुम्हारा अवलम्ब लेते हैं, तुम हमें सब प्रकार के पापों से मुक्त करके हमें निष्पाप, निर्मल और पवित्र कर दो।

२९२. मनुष्यों को पूर्णता की ओर ले-जानेवाला

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्[१०]**, यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्**[११]**।**
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठ[११]**, स नो मुञ्चत्वंहसः**[७] **॥**

—अथर्व० ४.२४.३

ऋषिः **मृगारः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराड्रूपा त्रिष्टुप्।**

(**यः**) जो (**चर्षणिप्रः**[१]) मनुष्यों को पूर्ण करनेवाला, (**वृषभः**) सुखों की वर्षा करनेवाला [और] (**स्वर्वित्**) ज्ञान-प्रकाश एवं मोक्ष प्राप्त करानेवाला [है], (**यस्मै**) जिसके लिए (**ग्रावाणः**[२]) विद्वान् स्तोताजन (**नृम्णं**[३]) बलपूर्ण स्तोत्र को (**प्रवदन्ति**) उच्चारते हैं, गाते हैं, (**यस्य**) जिसका (**सप्तहोता**) सात होताओं से चलनेवाला (**अध्वरः**) यज्ञ (**मदिष्ठः**[४]) अतिशय आनन्ददायक [है], (**सः**) वह [इन्द्र प्रभु] (**नः**) हमें (**अंहसः**) पाप से (**मुञ्चतु**) छुड़ाये।

जीवन में मनुष्य बहुधा पापकर्म में संलग्न रहता है, उससे अपना मनोरञ्जन करता है तथा उसमें आनन्द मानता है। पापाचरण से तिल-तिल करके होनेवाली हानि की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। हमारी भी स्थिति बहुत-कुछ ऐसी ही है, परन्तु आज हम सावधान हो गये हैं। हमने अनुभव कर लिया है कि ये पाप हमें जर्जर किये जा रहे हैं और यदि हम इसी तरह पापलिप्त रहे तो वह दिन दूर नहीं जब बलात् विनाश के मुख में धकेल दिये जायेंगे, अतः हम पवित्रता के स्रोत इन्द्र प्रभु से सतत प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें।

इन्द्र प्रभु 'चर्षणिप्र' हैं, मनुष्यों को पूर्णता की ओर ले-जानेवाले हैं। हमें भी वे अपूर्णता के कारणभूत पापों से मुक्त करके पूर्णता की ओर अग्रसर करें। इन्द्र परमेश्वर 'वृषभ' हैं, सुखों की वर्षा करनेवाले हैं, हमें भी पाप की मलिनता से मुक्त करके सुखों की वर्षा में स्नान करायें। इन्द्र परमेश्वर 'स्वर्वित्' हैं, ज्ञान का प्रकाश देनेवाले हैं एवं मोक्ष प्राप्त करानेवाले हैं। वे हमें भी ज्ञान का प्रकाश देकर हमारे अज्ञानमूलक पापों को दूर करें तथा पापों के कारण आवागमन-चक्र में पड़े हुए हमें पापों से मुक्त कर मोक्ष प्रदान करें। इन्द्र प्रभु के लिए विद्वान् स्तोतृजन तरङ्गित होकर बलपूर्ण स्तोत्रों का गान करते हैं, हम भी विद्वान् बनकर पापमुक्ति के अपने सबल स्तोत्रों को उन तक पहुँचाएँ। इन्द्रप्रभु 'सप्तहोता अध्वर' के यजमान हैं। वे आत्मा, मन और पञ्च महाभूत इन सात ऋत्विजों से चलनेवाले ब्रह्माण्ड-यज्ञ को सम्पन्न करते हैं। उनका यह यज्ञ हमारे लिए अतिशय आनन्ददायक है। हम भी यदि 'सप्तहोता अध्वर' को रचाएँ तो वह इन्द्र प्रभु के लिए आनन्ददायक होगा। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही हमारे जीवन-यज्ञ के सात ऋत्विज् हैं। इन्हें संयत, प्रशस्त एवं पवित्र तथा पाप से सर्वथा मुक्त रखते हुए यज्ञ-भावना से हम अपने जीवन को चलाएँ, तो प्रभु उससे प्रसन्न होंगे।

हे इन्द्र! हे पाप-विदारक! हे सद्वृत्त-प्रशिक्षक! हे दुर्वृत्त-विध्वंसक! हे सुखवर्षक! हे दुःख-प्रधर्षक! हे यज्ञ-प्रशंसक! हे अयज्ञ-विसर्जक! हम हृदय की पूर्ण निष्ठा के साथ तुमसे यह याचना करते हैं कि हमें पापों के बन्धन से छुड़ाओ, पाप के मोहमय पाश से मुक्त करो।

२९३. मानव-जन्म कर्म करने के लिए है

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे[११], यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम्[११]।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं[१०], स नो मुञ्चत्वंहसः[७]॥ —अथर्व० ४.२४.६

ऋषिः **मृगारः**। देवता **इन्द्रः**। छन्दः **विराड्रूपा त्रिष्टुप्**।

(यः प्रथमः) जो श्रेष्ठ [आत्मा] **(कर्मकृत्याय)** कर्म करने के लिए **(जज्ञे)** जन्म लेता है, शरीर धारण करता है, **(यस्य प्रथमस्य)** जिस श्रेष्ठ [आत्मा] का **(वीर्यम्)** बल **(अनुबुद्धम्)** सर्वविदित है, **(येन)** जिसके कारण **(उद्यतः)** उठाया हुआ **(वज्रः)** वज्र **(अहिम्)** पाप को **(अभ्यायत[१])** नष्ट कर देता है, **(सः)** वह [आत्मा] **(नः)** हमें **(अंहसः)** पाप से **(मुञ्चतु)** छुड़ाये।

पूर्वजन्मकृत किन्हीं शुभ कर्मों के कारण आत्मा मानव-शरीर में जन्म लेता है। मानव-शरीर भोग-योनि भी है और कर्म-योनि भी। इस योनि में आकर आत्मा पूर्वजन्म तथा इस जन्म में कृत कर्मों का भोग तो करता ही है, साथ ही परमेश्वर ने उसे यह सर्वोत्कृष्ट शरीर इस निमित्त भी दिया है कि वह अन्य नवीन कर्मों को भी करे। कर्म करने में यद्यपि जीवात्मा स्वतन्त्र है, तथापि वेद का उपदेश है कि परमेश्वर से प्रेरणा लेता हुआ वह कर्त्तव्य-कर्म ही करे[२] तथा निषिद्ध कर्मों से बचे। कर्त्तव्य-कर्म नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना के भेद से शास्त्रकारों ने चतुर्विध कहे हैं। सन्ध्या-वन्दन आदि अवश्य-कर्त्तव्य-कर्म नित्यकर्म हैं, किसी निमित्त-विशेष से किये जानेवाले शत्रुसंहार, विजयोत्सव आदि के कर्म नैमित्तिक कर्म हैं, कोई पापकर्म हो जानेपर भविष्य में उससे बचने के लिए स्वेच्छा से चान्द्रायण-व्रत आदि तप का अनुष्ठान प्रायश्चित्त-कर्म है और परमात्मा में अपने ध्यान को केन्द्रित करना उपासना-कर्म है। मार्गदर्शन के लिए वेदादि शास्त्रों ने प्रत्येक वर्ण और आश्रम के कर्त्तव्यों का विधान कर दिया है तथा नमूने के रूप में कतिपय निषिद्ध कर्मों का भी सङ्केत कर दिया है। उससे उद्बोधन प्राप्त कर आत्मा को श्रेष्ठ कर्म ही करने हैं।

आत्मा के अन्दर अपार बल है। संसार में बड़े-बड़े महापुरुष शरीर से सामान्य होते हुए भी आत्मा के बल से ही विशाल जनसमूह को अपने पीछे चलाने में समर्थ होते हैं। आत्मा का बल ही उन्हें बड़े-से-बड़े सङ्कटों में अडिग रखता है। आत्मा का ही बल प्रबल-से-प्रबल पाप-शत्रु पर वज्र-प्रहार कर विजयी होता है। हे आत्मन्! हमें भी पातक और महापातक अपना मोहक रूप धारण कर पग-पग पर प्रलोभित कर रहे हैं। तुम अपने वज्र की चोट से उन्हें क्षत-विक्षत कर दो और हमें पाप-पङ्क में लिप्त होने से बचा लो। तुम्हारा बल दुर्दमनीय है, तुम्हारा बल अपराजेय है।

२९४. जिस ओदन से अमृत चूता है

यस्मात् पक्वादमृतं संबभूव[११], यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव[११]।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्[११], तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्[११]॥

—अथर्व० ४.३५.६

ऋषिः **प्रजापतिः**। देवता **मृत्योरतिक्रमणम्**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(यस्मात् पक्वात्) जिस परिपक्व [ओदन] से **(अमृतं)** अमृत **(संबभूव)** उत्पन्न हुआ है, **(यः)** जो **(गायत्र्याः)** गायत्री का **(अधिपतिः)** अधिपति **(बभूव)** है, **(यस्मिन्)** जिसमें **(विश्वरूपाः वेदाः)** समस्त रूपोंवाले वेद **(निहिताः)** निहित हैं, **(तेन ओदनेन)** उस ओदन से, **(मृत्युम्)** मृत्यु को **(अतितराणि)** पार कर लूँ।

मैं चाहता हूँ कि मैं 'ओदन' खाकर मृत्यु को पार कर लूँ। पर यह 'ओदन' प्रतिदिन हमारे भोजनालय में रंधनेवाला भात नहीं है, यह दिव्य ओदन है। जैसे चावल का भात पकाने से एक विशेष प्रकार की सुगन्ध उठती है, वैसे इस दिव्य 'ओदन' को पकाने से 'अमृत' प्राप्त होता है। यह दिव्य ओदन परब्रह्म है। ओदन शब्द क्लेदनार्थक 'उन्दी' धातु से बना है[१], भक्त की हृदयभूमि को अपने रस से आर्द्र करने के कारण परब्रह्म परमेश्वर 'ओदन' कहलाता है। प्रभु सबके हृदयों में बैठा हुआ है, पर उससे प्राप्त होनेवाला 'अमृत' या दिव्य आनन्द साधक को तभी प्राप्त होता है, जब वह उसे परिपक्व करता है, अपनी आत्माग्नि में पकाता है। आराधक अपने प्रभु को जितना ही अधिक पकायेगा, उतना ही अधिक अमृत उसमें से चू-चूकर उसके हृदय को सिक्त करेगा।

इस 'ओदन' की दूसरी विशेषता यह है कि यह 'गायत्री' का अधिपति है। वैदिक छन्दों में गायत्री को सब छन्दों का मुख माना गया है[२], क्योंकि गायत्री में ही अक्षर-संख्या बढ़ाने से अन्य छन्द बनते हैं। गायत्री वेदों का गान करनेवाले परमेश्वर के मुख से निकली है[३]। जो गायत्री को गाता है, उसका वह त्राण करती है[४]। अन्य सब छन्दों की भी प्रतिनिधि होने के कारण यहाँ गायत्री से गायत्र्यादि सभी छन्द अभिप्रेत हैं। एवं परमेश्वर सब छन्दों का अधिपति तथा गान करनेवाला है।

इस 'ओदन' की तीसरी विशेषता है कि चारों वेद अपने सब रूपों के साथ इसके अन्दर निहित हैं। वेद भले ही संख्या में चार हैं, पर इनमें जो ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड के समस्त रहस्य छिपे हुए हैं, उसके कारण ये विश्वरूप हैं। भले ही वेद की पुस्तकें नष्ट हो जायें, भले ही इन पुस्तकों का अध्ययन-अध्यापन करनेवाले हम सब भी एक दिन काल-कवलित हो जायें, किन्तु ज्ञानात्मक वेद-राशि कभी विनष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि वह परमेश्वर के अन्दर निहित रहने के कारण नित्य है।

मैं तो इस दिव्य ओदन का स्वाद लूँगा, इसे परिपक्व करने से इसके अन्दर से जो अमृत टपकता है, उसका आस्वादन करके मृत्यु को अतिक्रान्त कर अमर हो जाऊँगा।

२९५. मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ पूर्ण हों

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टा[१०], ऽऽकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु[१०]।
एनो मा निगां कतमच्चनाहं[११], विश्वे देवा अभिरक्षन्तु मेह[११]॥

—अथर्व० ५.३.४

ऋषिः **बृहद्दिवः अथर्वा**। देवता **देवाः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्।**

(मम) मेरे **(यानि)** जो **(इष्टा[१])** अभीष्ट [हैं, वे] **(मह्यं यजन्तां[२])** मुझे प्राप्त हों। **(मे)** मेरे **(मनसः)** मन का **(आकूतिः)** दृढ़ सङ्कल्प **(सत्या)** सत्य **(अस्तु)** हो। **(अहं)** मैं **(कतमत् चन)** किसी भी **(एनः)** अपराध या पाप को **(मा निगां)** न प्राप्त करूँ। **(विश्वे देवाः)** समस्त देवगण **(इह)** यहाँ **(मा)** मुझे **(रक्षन्तु)** रक्षित करें।

मैंने जीवन में अपने बहुत-से अभीष्ट कल्पित किये हुए हैं कि मुझे अमुक-अमुक द्रव्य, अमुक-अमुक गुण और अमुक-अमुक कर्म प्राप्त हों। मैं नहीं जानता कि वे मेरे मनोरथ शेखचिल्ली के मनोरथ हैं या उनमें कुछ तत्त्व भी हैं। मैं तो अल्पज्ञ जीव हूँ, मुझे स्वयं ही विश्वास नहीं है कि मैं जिन वस्तुओं को पाने का मनोरथ बाँधता हूँ, वे सब वस्तुएँ मेरे लिए कल्याणप्रद ही होती हैं। यदि मेरे कोई मनोरथ आकर्षक होते हुए भी असल में मेरे लिए हानिकर हैं तो मैं उन्हें तिलाञ्जलि देने को तैयार हूँ, किन्तु जो मेरे मनोरथ सचमुच मेरे हित में हैं, वे अवश्य पूर्ण होने चाहिएँ। उनकी पूर्ति के लिए मैं प्राणपण से जुट जाता हूँ। मैंने कुछ सत्य व्रतों को धारण किया हुआ है, जिनके पालन का मेरे मन ने दृढ़ सङ्कल्प लिया है। मैं जानता हूँ कि किसी भी व्रत के निर्वाह में अनेक विघ्न आया करते हैं। मेरे मार्ग में भी विघ्न आते हों तो आयें, मैं उनका प्रतिरोध करूँगा, उनसे जूझूँगा और उनपर विजय पाऊँगा। मैं चाहता हूँ कि मेरे व्रत को, मेरे दृढ़ सङ्कल्प को संसार की कोई शक्ति भग्न न कर पाये। अपने जीवन में मैं यह भी चाहता हूँ कि मैं किसी भी अपराध या पाप के वशीभूत न होऊँ। यद्यपि अपने चारों ओर के अपराध और पाप के वातावरण से सर्वथा निर्लिप्त रह सकना बड़ा कठिन है, पर पुरुषार्थी तो वही है जो कठिन कार्य को करने का बीड़ा उठाये। प्रलोभनों को जीतकर अपने व्रत पर अटल रहूँ, ऐसी शक्ति मुझे प्राप्त हो।

मेरी उक्त महत्त्वाकांक्षाओं में सब देवगण मेरे सहायक हों, व्रतों के रक्षक हों। जगत् में व्याप्त ईश्वरीय देवों से, मेरे अन्दर विद्यमान दिव्य-विचाररूप देवों से और समाज में रहनेवाले मूर्धन्य विद्वद्गणरूप देवों से मेरा अनुरोध है कि उक्त सब मनोरथों, सङ्कल्पों और पाप-निरोधक भावनाओं की सफलता के मार्ग में यदि कभी मैं स्खलन को प्राप्त होने लगूँ तो वे मुझे अवलम्ब प्रदान करें, मेरी रक्षा करें, मुझे व्रतों पर अटल रहने का सामर्थ्य दें। मैं जो कुछ अपने लिए या दूसरों के लिए सोचूँ उसे पूर्ण करके दिखाऊँ, जिस आदर्श पर चलने का सङ्कल्प लूँ, उसपर चलकर दिखाऊँ और जिन दुर्व्यसनों से बचने का व्रत लूँ, उनसे बचकर दिखाऊँ। तभी मैं पौरुषवान्, अग्रणी और विजेता कहला सकूँगा। हे देवो! मेरे अभीष्टों को पूर्ण करने के लिए तुम मेरा हाथ पकड़ो, मुझे सम्बल प्रदान करो।

२९६. संशय होनेपर वेद प्रमाण हैं

अनाप्ता ये वः प्रथमा॑, यानि कर्माणि चक्रिरे॑।
वीरान् नो अत्र मा दभन्॑, तद् व एतत् पुरो दधे॑॥

—अथर्व० ५.६.२

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **कर्माणि**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(ये) जो **(वः)** तुम्हारे **(प्रथमाः)** पूर्ववर्ती **(अनाप्ताः)** अनाप्त जन **(यानि)** जिन **(कर्माणि)** कर्मों को **(चक्रिरे)** कर गये हैं, [वे जन और वे कर्म] **(अत्र)** यहाँ **(नः)** हमारे **(वीरान्)** वीरों को **(मा)** मत **(दभन्[1])** हानि पहुँचाएँ, **(तत्)** इसलिए **(वः पुरः)** तुम्हारे सम्मुख **(एतत्[2])** इस वेद-ज्ञान को **(दधे)** निहित करता हूँ।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्धार्थ प्रेरित करते हुए कहा है कि लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे युद्ध-कर्म से विरत होना उचित नहीं हैं, क्योंकि यदि तू क्षात्र-धर्म से विमुख होगा तो आगे आनेवाले लोग भी इसी प्रकार तुझे दृष्टान्त बनाकर अपने कर्त्तव्य-कर्म से विरत होते रहेंगे। यह लोक का स्वभाव है कि जैसा पूर्वज करते रहे हैं, उसका वह अनुकरण करता है।

हे मनुष्यो! तुम्हारे पूर्वजों में आप्त और अनाप्त दोनों प्रकार के नर-नारी रहे हैं। जहाँ आप्तजन वेदोक्त आदर्श कर्म करते रहे हैं, वहाँ अनाप्तजनों ने हीन, अकरणीय, अशोभनीय, अवैदिक कर्म भी किये हैं। समय-समय पर अनाप्तजन ब्रह्महत्या, पर-नारीहरण, असत्य-भाषण, द्यूत-क्रीडा, विश्वासघात, मित्रद्रोह, देशद्रोह आदि अधर्माचरण करते रहे हैं। उनमें से कई तो अपने समय के प्रख्यात व्यक्ति रहे हैं और इतर आप्त-जनोचित कर्मों के कारण आप्तजनों में उनकी गणना होती रही है। कहीं ऐसा न हो कि हमारी सन्ततियाँ, हमारे वीर, उन अनाप्तजनों को आप्त मानकर उनका और उनके अनाप्त कर्मों का अनुसरण करने लगें। इसके लिए आवश्यक है कि मार्गदर्शन के लिए तुम्हारे पास कोई ऐसा नीर-क्षीर-विवेकी ज्ञान हो, जो स्पष्टरूप से तुम्हारे पुत्र-पुत्रियों को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध कराता रहे, अतः मैं तुम्हारे सम्मुख इस 'वेद' ग्रन्थ को निहित करता हूँ। जब कभी किसी के मन में किसी पूर्वज के आचरण के विषय में संशय उत्पन्न हो, तब वह वेद को उठाकर देखे या वेदज्ञों से पूछे कि वेद इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं। यदि इस वेद-ग्रन्थ का आदर और इसका अध्ययन-अध्यापन तुम्हारी सन्तानें करेंगी तो निश्चय ही उनका जीवन उच्च होगा और किसी मानव के हीन-कर्म उनकी हानि नहीं कर सकेंगे।

२९७. दिव्य तलवार

चक्षुषो हेते मनसो हेते[१०], ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते[११]।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु[१२], येऽस्माँ अभ्यघायन्ति[७]॥

—अथर्व० ५.६.९

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **हेतिः**। छन्दः **विराड्रूपा निचृत् त्रिष्टुप्**।

(चक्षुषः हेते[१]) हे आँख की तलवार! **(मनसः हेते)** हे मन की तलवार! **(ब्रह्मणः हेते)** हे आत्मा की तलवार! **(च)** और **(तपसः हेते)** हे तप की तलवार! [तू] **(मेन्याः मेनिः[२])** तलवार की तलवार **(असि)** है। **(ते)** वे **(अमेनयः)** तलवार-रहित **(सन्तु)** हो जाएँ **(ये)** जो **(अस्मान्)** हमें **(अभि अघायन्ति)** चारों ओर से उमड़कर पापलिप्त करना चाहते हैं।

हमारे चारों ओर समाज में ऐसे लोग हैं, जो हमें अपने दल में सम्मिलित कर अपने समान चलाना चाहते हैं। उनमें कुछ लोग तो केवल पाप का परामर्श देने तक सीमित रहते हैं, पर दूसरे कुछ व्यक्ति इस गर्हित कार्य के लिए शस्त्र-बल तक का प्रयोग करने पर उतर आते हैं। वे अपनी चमचमाती तलवार हमारे सामने करके कहते हैं कि यदि तुम हमारा साथ नहीं देते हो तो इसका परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहो। तलवार दिखाकर वे हमें द्यूतालय में या मदिरालय में ले-जाना चाहते हैं। तलवार दिखाकर वे हमसे चोरी, डकैती, हत्याएँ करवाना चाहते हैं। हमारे बहुत-से साथी उनकी छुरी और तलवार के भय से उनके गुट में मिल चुके हैं, जो आज उन्हीं के समान कदाचार और भ्रष्टाचार में लिप्त हैं, किन्तु हम सजग है, हम उनके फन्दे में नहीं फँसेंगे। यदि वे शस्त्र से डराते हैं, तो उनके शस्त्र का भी शस्त्र, तलवार की भी तलवार, हमारे पास है। हमारे पास चक्षु की तलवार है, मन की तलवार है, आत्मा की तलवार है, तप की तलवार है, जिन तलवारों के सामने उनकी तलवार कुण्ठित हो जाएगी। हमारे नेत्रों में वह शक्ति है कि शत्रुओं की ओर तीव्र दृष्टि से देखते ही वे अपनी तलवार छोड़ भाग खड़े होंगे। हमारे मन में ऐसी प्रबल सङ्कल्प-शक्ति है कि वह बड़े-बड़े पापियों के इरादों को विफल कर देगी। हमारे आत्मा में वह ज्ञान-शक्ति है कि धूर्तों की अज्ञान-भरी, गुमराह करनेवाली सलाहों का कमल-पत्र पर पानी की बूँदों के समान हमपर कुछ प्रभाव नहीं होगा। हमारे अन्दर तप की ऐसी दिव्य योग-शक्ति है कि उसके सम्मुख बड़े-बड़े पिशाचों के मन काँप उठेंगे। हमारी इन दिव्य तलवारों के आगे पापियों की तलवारें कुण्ठित हो गिर पड़ेंगी।

हम आज घोषणा करके कहते हैं कि हमें कोई पापेच्छु पापलिप्त नहीं कर सकता, किसी की आँख हमारी ओर नहीं उठ सकती, किसी का शस्त्र हमपर वार नहीं कर सकता। हमने निष्पाप होने की ख्याति अर्जित की है और सदा ही निष्पाप रहेंगे।

२९८. मुझे श्रद्धालु दाता चाहिए

यं याचाम्यहं वाचा, सरस्वत्या मनोयुजा।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु, दत्ता सोमेन बभ्रुणा॥

—अथर्व० ५.७.५

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **सरस्वती**। छन्दः **निचृत् अनुष्टुप्**।

(अहं) मैं **(मनोयुजा)** मनःप्रयुक्त **(सरस्वत्या वाचा)** सरस्वती वाणी द्वारा **(यं)** जिससे **(याचामि)** भिक्षा माँगता हूँ, **(तं)** उसे **(अद्य)** आज **(बभ्रुणा[१])** सद्गुणों से भरनेवाले **(सोमेन)** सोम परमेश्वर से **(दत्ता)** दी हुई **(श्रद्धा)** श्रद्धा **(विन्दतु)** प्राप्त हो।

मैं आज झोली फैलाकर भिक्षा माँगने निकला हूँ। अपने लिए नहीं, किन्तु किसी महान् यज्ञ-कार्य के लिए भिक्षा माँग रहा हूँ। मैं गुरुकुल के बालकों को विद्या-दान के लिए भिक्षा माँगता हूँ। मैं देश में साक्षरता के अभियान के लिए भिक्षा माँगता हूँ। मैं वेद-प्रचार के लिए भिक्षा माँगता हूँ। मैं अनाथों को सनाथ करने के लिए भिक्षा माँगता हूँ। मैं बाढ़, भूकम्प, दुर्भिक्ष आदि विपत्ति से ग्रस्त असहायों की सहायता के लिए भिक्षा माँगता हूँ। मैं आतुरों और विकलांगों की सेवा के लिए भिक्षा माँगता हूँ। मैं महामारी और कुष्ठ आदि से सन्तप्तों का ताप हरने के लिए भिक्षा माँगता हूँ।

मेरी वाणी साधारण याचकों की वाणी नहीं है, किन्तु मन से सोच-समझकर बोली गई, ज्ञानमयी, रसमयी और माधुर्यमयी साक्षात् सरस्वती है। मैं भिक्षा के लिए गिड़गिड़ा नहीं रहा हूँ, अपितु आत्मसम्मान और दाता के सम्मान को सुरक्षित रखते हुए भिक्षा की याचना कर रहा हूँ। दाता के हृदय में दान-भावना का सञ्चार करनेवाली वेद की दान-स्तुति की सरस्वती मेरे मुख से निकल रही है। मैं किसी से अश्रद्धापूर्वक दिया गया दान नहीं लेना चाहता, क्योंकि उस दान से यज्ञ सफल नहीं होता। किसी स्वार्थसिद्धि की आशा के बिना दातव्य-बुद्धि से देश, काल और पात्र का विचार करके श्रद्धापूर्वक दिया गया सात्त्विक दान ही यज्ञ-पूर्ति में सहायक होता है, राजस या तामस दान नहीं। उपकार का बदला चुकाने के लिए या किसी फल-सिद्धि के उद्देश्य से, या मन में क्लेश मानते हुए अश्रद्धापूर्वक दिये गये राजस दान से तथा बिना सत्कार के, तिरस्कारपूर्वक अदेश, अकाल और अपात्र में दिये गये तामस दान से किसी का कल्याण नहीं होता। अतः सबको सत्प्रेरणा करनेवाले, सबके हृदय को शुभ गुणों से भरनेवाले 'बभ्रु' सोम प्रभु से दी हुई श्रद्धा प्रत्येक दाता को प्राप्त हो, यही मेरी कामना है। हे श्रद्धालु दाताओ! मेरी खाली झोली को भिक्षा से भर दो।

२९९. तृष्णा को दूर से नमस्कार

या महती महोन्माना[८], विश्वा आशा व्यानशे[७]।
तस्यै हिरण्यकेश्यै[७], निर्ऋत्या अकरं नमः[८]॥

—अथर्व० ५.७.९

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **अरातिः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(या) जिस **(महती)** बहुत लम्बी, **(महोन्माना)** विशाल परिमाणवाली ने **(विश्वाः)** सब **(आशाः)** दिशाओं को **(व्यानशे[१])** व्याप्त किया हुआ है, **(तस्यै)** उस **(हिरण्यकेश्यै)** सोने के बालोंवाली **(निर्ऋत्यै)** कृच्छ्रापत्तिरूप अराति या तृष्णा राक्षसी को **(नमः अकरम्)** [दूर से ही] नमस्कार करता हूँ।

मैं जानता हूँ कि वेद की दृष्टि में धन बुरी वस्तु नहीं है। वेद का स्तोता अपने प्रभु से प्रार्थना करता है कि तुम मुझे दोनों हाथों से भर-भरकर सम्पत्ति दो। पर सम्पत्ति का समाज में उचित वितरण होना चाहिए। यह वांछनीय नहीं है कि कुछ गिने-चुने लोग करोड़ों के पूँजीपति हों और दूसरे अधिकांश लोग भूखे मरते हों। दूसरों का भी हिस्सा मार-मारकर अपने पास पूँजी जमा करने की प्रवृत्ति तृष्णा की ही देन है। तृष्णा का कोई अन्त नहीं है।

यदि कवियों की भाषा में कहा जाये तो तृष्णा-राक्षसी इतनी लम्बी है कि आकाश को छूती है, इसका परिमाण इतना विशाल है कि यह सब दिशाओं में व्याप रही है। इसके अन्दर जितना डालो, सब समाता चलता है। जिस मनुष्य में तृष्णा घर कर लेती है, वह कितना ही धन पा ले, कभी उसे सन्तोष नहीं होता। उसकी यह अभिलाषा होती है कि सबका धन खिंचकर मेरी जेब में आ जाये। कृपणता या लोभ की वृत्ति से मारा हुआ वह अपने अर्धनग्न, क्षुधार्त, आश्रयहीन दूसरे भाइयों की निर्धनता को देखता हुआ भी अनदेखा कर देता है। तृष्णा राक्षसी 'हिरण्यकेशी' है, सोने के बालोंवाली है, उसे सुवर्ण का साज ही पसन्द है, वह हिरण्य से लदी रहना चाहती है। अपना एक सोने का केश तोड़कर या एक स्वर्णाभूषण उतारकर दूसरे गरीब भाई-बहिन को देना उसे रुचिकर नहीं है। इसीलिए वह 'अ-राति'[२] अर्थात् अदानशीला या कृपण कहलाती है। हम इसका लुभावना रूप ही देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। पर इस लुभावने रूप के पीछे इसका असली 'निर्ऋति' का रूप भी छिपा हुआ है। वह है समाज में आर्थिक विषमता लाकर 'कृच्छ्रापत्ति' या महान् कष्ट की विनाश-लीला उपस्थित कर देना, अतः आओ, हे भाइयो! आज इस तृष्णा को हम दूर से ही नमस्कार करें।

३००. वह राष्ट्र चू जाता है

तद् वै राष्ट्रमा स्त्रवति, नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति, तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥

—अथर्व० ५.१९.८

ऋषिः **मयोभुः**। देवता **ब्रह्मगवी**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(यत्र) जहाँ **(ब्रह्माणं)** ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण की **(हिंसन्ति)** हिंसा करते हैं **(तत्)** वह **(राष्ट्रं)** राष्ट्र **(वै)** निश्चय ही **(आ स्त्रवति)** चू जाता है, **(तत्)** उस **(राष्ट्रं)** राष्ट्र को **(दुच्छुना)** दुर्गति **(हन्ति)** नष्ट-भ्रष्ट कर देती है, **(इव)** जैसे **(भिन्नां)** फूटी हुई, छिद्रवाली **(नावं)** नौका को **(उदकं)** पानी [नष्ट-भ्रष्ट कर देता है]।

हे राजन्! क्या तुम सोचते हो कि ब्राह्मण की हिंसा कर लोगे, उसकी वाणी की उपेक्षा कर दोगे, उसके परामर्शों को ठुकरा दोगे? भले ही तुम ब्राह्मण को अपमानित कर लो, उसे कारागार में कैद कर दो, उसपर न बोलने के अध्यादेश जारी कर दो, उसपर कोड़ों की मार लगवा दो, पर उससे तुम्हें कुछ उपलब्धि होनेवाली नहीं है। याद रखो, जिस राष्ट्र में ब्राह्मण का अनादर होता है, वह राष्ट्र चू जाता है—उस राष्ट्र का वर्चस्व चू जाता है, उस राष्ट्र का वैभव चू जाता है, उस राष्ट्र का प्रताप और प्रभाव चू जाता है। बड़े-बड़े राष्ट्र, जिनकी विश्व में धाक थी, जिनकी बात को महत्त्व दिया जाता था, जो सर्वगुणी थे, वे विद्वान् ब्राह्मण का तिरस्कार करने मात्र से प्रभावहीन हो गये।

ब्राह्मण का तिरस्कार व्यक्ति का तिरस्कार नहीं, अपितु ज्ञान का, विवेक का, सुमति का, धर्म का, ब्रह्मवर्चस का, कर्तव्य का, दूरदर्शिता का तिरस्कार है। जैसे फूटी नौका को नदी का पानी नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, ऐसे ही जिस राष्ट्र में ब्राह्मण की हिंसा होती है, उस राष्ट्र को दुःख-दुर्गति नष्ट कर देती है। ब्राह्मण से मिलनेवाली सम्पदा राष्ट्र की दिव्य सम्पदा है, उससे राष्ट्र को यदि वञ्चित किया जायेगा, तो राष्ट्र खोखला हो जायेगा। अकेला क्षत्रियत्व का अभिमान, अकेला सैन्य-बल राष्ट्र का उत्थान नहीं कर सकेगा। क्षात्र-धर्म और ब्राह्मण-धर्म को एक-साथ मिलाकर ही राष्ट्र को उत्कर्ष की ओर ले-जाया जा सकता है। अतः ब्राह्मणत्व का सम्मान राष्ट्र में एक महती अनिवार्यता है। इसलिए हे राष्ट्र के कर्णधारो! ब्राह्मण जिसका प्रतिनिधित्व करता है, उस विद्या-वैभव की, धर्मनिष्ठा की, आध्यात्मिकता की, आस्तिकता की राष्ट्र में प्राण-प्रतिष्ठा करो, जो गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण हैं, उनके परामर्श का आदर करो, उन्हें ऊँचा पद दो, ऊँचा आसन दो। इससे राष्ट्र का कल्याण होगा, राष्ट्र का उत्थान होगा, राष्ट्र का गौरव बढ़ेगा।

३०१. यज्ञोपवीत के नौ तार

नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते[११], दीर्घायुत्वाय शतशारदाय[११]।
हरिते त्रीणि रजते त्रीणि[१०], अयसि त्रीणि तपसा विष्ठितानि[१२]॥

—अथर्व० ५.२८.१

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **त्रिवृत्**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

[यज्ञोपवीत का धारण-कर्ता] **(शतशारदाय)** सौ वर्षोंवाले **(दीर्घायुत्वाय)** दीर्घ-आयुष्य के लिए **(नवभिः)** [यज्ञोपवीत के] नौ [तारों] से **(नव प्राणान्)** नौ प्राणों को **(सं मिमीते)** संस्कृत करता है। [यज्ञोपवीत के] **(त्रीणि)** तीन तार **(हरिते)** हिरण्य-सूत्र में, **(त्रीणि)** तीन **(रजते)** रजत-सूत्र में और **(त्रीणि)** तीन **(अयसि)** लोह-सूत्र में **(तपसा)** तपःपूर्वक **(विष्ठितानि)** विशिष्ट रूप में स्थित हैं, आवेष्टित हैं।

यज्ञोपवीत में तीन तार होते हैं तथा ओ३म् की ग्रन्थि लगी होती है। एक तार हिरण्य का, दूसरा तार रजत का और तीसरा लोहे का प्रतिनिधित्व करता है, अतः इन्हें क्रमशः हिरण्य-सूत्र, रजत-सूत्र तथा अयः-सूत्र कह सकते हैं। यज्ञोपवीत में यद्यपि वस्तुतः सब तार सूत के ही होते हैं, तथापि यज्ञोपवीत-धारी को यह भावना करनी उचित है कि मैंने एक तार सुवर्ण का, एक रजत का और एक लोहे का पहना हुआ है। जैसे सुवर्ण तेजस्वी, आग्नेय, उष्णवीर्य तथा जंग न खानेवाला होता है, वैसे ही मैं भी आग्नेय तेज से युक्त तथा कुण्ठा से ग्रस्त न होनेवाला बनूँ। जैसे चाँदी, सौम्य, शीतवीर्य एवं कोमल होती है, वैसे ही मैं भी शीतल, सौम्य एवं नम्र बनूँ। जैसे लोहा दृढ़ होता है, वैसे ही मैं भी अपने मन और शरीर में दृढ़ता धारण करूँ। इस प्रकार यज्ञोपवीत-धारी प्रत्येक द्विज अपने अन्दर स्वर्ण, रजत एवं लोहे के गुणों को धारण करे। स्वर्ण, रजत और अयस् क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के भी उपलक्षक हैं। सत्त्व लघु और प्रकाशक, रजस् प्रयत्नकारक और चलनशील तथा तमस् गुरु और आवरणकारी होता है। हमारे जीवन में तीनों के यथायोग्य अनुपात में बने रहने पर सत्त्व से ऊर्ध्वगामिता और प्रकाश, रजस् से क्रियाशीलता तथा तमस् से स्थिरता एवं दृढ़ता आती है।

यज्ञोपवीत के हिरण्य-सूत्र, रजत-सूत्र और अयः-सूत्र के तीन तारों में से भी प्रत्येक में तीन-तीन तार तपपूर्वक आवेष्टित हैं। अतः कुल नौ तार हैं। यज्ञोपवीत को धारण करनेवाला मनुष्य इन नौ तारों से अपने शरीर के नव प्राणों को संस्कृत करता है। नव प्राण हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अहङ्कार-चतुष्टय, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार। इन नवों प्राणों को असंस्कृत एवं कल्मषयुक्त रखते हुए यज्ञोपवीत-धारण निष्फल है। अतः मैं तो आज से यज्ञोपवीत की भावना से भावित होकर सत्त्व, रजस्, तमस् के उचित समन्वय के साथ निष्ठापूर्वक इन अपने प्राणों को सुसंस्कृत, सुपवित्र, सुव्यवस्थित और सुदृढ़ करने में यत्नवान् होता हूँ। यज्ञोपवीत के त्रिवृत् तार मेरे अन्दर ज्ञान-कर्म-उपासना, यज्ञ-अध्ययन-दान, श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि के त्रिवृद्-भाव को लाने में सहायक हों।

३०२. उद्बोधन

अनुहूतः पुनरेहि, विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं, जीवतो जीवतोऽयनम् ॥

—अथर्व० ५.३०.७

ऋषिः **आयुष्कामः उन्मोचनः**। देवता **आयुः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

[हे निराश मनुष्य!] (**पथः**) जीवनमार्ग की (**उदयनं**) ऊर्ध्व-यात्रा को (**विद्वान्**) जानता हुआ [तू] (**अनुहूतः**) [हमसे] निमन्त्रित और उत्साहित [होकर] (**पुनः**) फिर (**एहि**) [उस मार्ग पर] चल। (**आरोहणं**) ऊपर चढ़ना [और] (**आक्रमणं**[१]) आगे पग बढ़ाना (**जीवतः जीवतः**) प्रत्येक जीवित मनुष्य का (**अयनं**[२]) कर्तव्य [है]।

हे मानव! तू निराशा के गर्त में मत गिर, आशावादी बन। क्या तू सोचता है कि तू इतना पिछड़ गया है कि अब तेरा आगे पहुँचना असम्भव है। संसार में असम्भव कुछ नहीं है, असम्भव शब्द को अपने शब्द-कोष से निकाल दे। ऊपर उठना और गिरना, आगे बढ़ना और पिछड़ना यह तो जीवन की यात्रा में होता ही है। ऐसी स्थिति किन्हीं विरलों को ही प्राप्त होती है कि वे ऊपर-ही-ऊपर उठते चलें, आगे-ही-आगे बढ़ते चलें, नीचे गिरने या पीछे हटने का नाम न लें। सामान्य मनुष्य तो गिरता-पड़ता ही मञ्जिल तक पहुँचता है। इसलिए यदि तू भी गिरता या पिछड़ता है, तो उसमें निराशा की बात नहीं है। गिरने पर पुनः उठकर आगे बढ़। यदि तेरे हृदय में निराशा के काले बादल घिर आये हैं, तो तू उनमें आशा की बिजली चमका। यदि तेरे मानस-गगन में निराशा की तमोमयी निशा छा गई है, तो तू आशा की ज्योतिर्मयी उषा से उसके आवरण को चीर दे। आशा, उत्साह और जागृति की उमङ्ग अपने अन्दर उत्पन्न कर।

यदि तू जीवन-मार्ग में बीच में ही रुक गया है, तो भी जीवनमार्ग की ऊर्ध्व-यात्रा को जानता हुआ तू हमसे अनुहूत होकर, साथ चलने के लिए निमन्त्रित और उत्साहित होकर, पुनः उस मार्ग पर चल पड़। पौरुष-हीन मत हो। संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। हीन-कोटि के लोग तो विघ्नों के भय से कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्य-श्रेणी के लोग कार्य को प्रारम्भ तो कर देते हैं, पर विघ्नों से व्याकुल हो उसे मध्य में ही छोड़ देते हैं। उत्तम जन वे हैं जो विघ्नों से पुनः-पुनः आहत होते रहने पर भी प्रारम्भ किये कार्य को छोड़ते नहीं हैं, अपितु पूर्ण करके ही रहते हैं। हे मानव! तेरे मार्ग में भी विघ्न आयेंगे, तू उनपर विजय पा। याद रख, ऊपर चढ़ना और आगे पग बढ़ाना प्रत्येक जीवित मनुष्य का कर्तव्य है।

३०३. ईर्ष्या-मोचन

अदो यत् ते हृदि श्रितं, मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि, निरूष्माणं दृतेरिव ॥

—अथर्व० ६.१८.३

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **ईर्ष्याविनाशनम्**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**अदः**) यह (**यत्**) जो (**ते**) तेरे (**हृदि**) हृदय में (**पतयिष्णुकं**) पतन की ओर ले-जानेवाला (**मनस्कं**) तुच्छ मन (**श्रितं**) स्थित है, (**ततः**) उसमें से (**ते**) तेरी (**ईर्ष्यां**) ईर्ष्या को (**निर् मुञ्चामि**) छुड़ा देता हूँ, (**इव**) जैसे (**दृतेः**) धौंकनी में से (**ऊष्माणं**) उष्ण वायु को [निकालते हैं]।

जो दिव्य प्रवृत्ति के व्यक्ति होते हैं वे दूसरे की समृद्धि को देखकर प्रसन्न होते हैं। जब उन्हें किसी मनुष्य में आध्यात्मिक सिद्धियों के दर्शन होते हैं, तब उनका हृदय आनन्द से बल्लियों उछलने लगता है कि अब धराधाम पर दिव्यता अवतीर्ण होगी। जब वे किसी को राजनीतिक, धार्मिक, व्यापारिक, शैक्षणिक आदि किसी क्षेत्र में उत्कर्ष पाता हुआ देखते हैं, तब उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता, क्योंकि वे सोचते हैं कि इनकी इन सफलताओं से इन-इन क्षेत्रों में समाज लाभान्वित होगा। जब वे किसी को किसी महती उपलब्धि के फलस्वरूप पुरस्कृत होता हुआ देखते हैं, तब उनके अन्दर हर्ष की लहर दौड़ने लगती है, क्योंकि वे विचार करते हैं कि इसके पुरस्कृत होने से अन्यों को प्रोत्साहन मिलेगा और वे भी अपनी प्रतिभा को जागृत करेंगे। पर जो आसुरी प्रवृत्ति के लोग होते हैं, उन्हें दूसरे की समृद्धि को देखकर ईर्ष्या होती है। ईर्ष्या का अर्थ है दूसरे की सफलता, उत्कर्ष, समृद्धि, विजय आदि के प्रति असहिष्णु होना। ईर्ष्यालु जन परकीय सम्पदा, उपलब्धि आदि को देखकर मन-ही-मन जलते और कुढ़ते हैं। ऐसा इस कारण होता है कि उनका मन उदार होने के स्थान पर तुच्छ होता है। तुच्छ मन मनुष्य को सदा पतन की ओर ले जाता है।

हे भाई! तेरे हृदय में जो यह पतन की ओर ले-जानेवाला तुच्छ मन स्थित है, उसमें से मैं ईर्ष्या की दुष्प्रवृत्ति को निकाल देता हूँ। यह ईर्ष्या की प्रवृत्ति धौंकनी के अन्दर भरी हुई उष्ण वायु के समान है। धौंकनी धौंकते समय जो उष्ण वायु धौंकनी में भर जाती है, वह यदि उसी में भरी रहे तो उसे जला देगी। अतः उस उष्ण वायु को उसमें से निकाल देना ही श्रेयस्कर होता है। ऐसे ही तेरे अन्दर विद्यमान ईर्ष्या की प्रवृत्ति भी तुझे जला-जलाकर तेरा ही विनाश करनेवाली है। जिसके उत्कर्ष से तू ईर्ष्या करता है, तेरी ईर्ष्या से उसका कुछ नहीं बिगड़ता, अपितु तेरी अपनी ही हानि होती है। इस सचाई को तू अच्छी तरह समझ ले और ईर्ष्या को तिलाञ्जलि देने के लिए तैयार हो जा।

३०४. कर्तव्य की कसौटी

देवस्य सवितुः सवे[८], कर्म कृण्वन्तु मानुषाः[८]।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः[११] ॥

—अथर्व० ६.२३.३

ऋषिः **शन्तातिः**। देवता **आपः (सविता, आपः, ओषधयः)**। छन्दः **निचृत् परा उष्णिक्**।

(देवस्य) प्रकाशक **(सवितुः)** प्रेरक परमेश्वर की **(सवे)** प्रेरणा में **(मानुषाः)** मानव **(कर्म)** कर्म **(कृण्वन्तु)** करें, [जिससे] **(अपः)** जल **(नः)** हमारे लिए **(शं)** कल्याणकारी **(भवन्तु)** हों, **(ओषधीः)** ओषधियाँ **(शिवाः)** कल्याणकारिणी [हों]।

हे मानव! तू अन्धाधुन्ध कर्म करता जा रहा है। क्या तूने कभी यह भी सोचा है कि कौन-से कर्म करणीय हैं और कौन-से अकरणीय? इस प्रकार बिना सोचे-समझे यदि तू कर्म करता चलेगा, तो न जाने तुझे क्या परिणाम भुगतना पड़ेगा, न जाने तू किस खाई में जा गिरेगा। अतः तेरे लिए कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान आवश्यक है। क्या तू जानता है कि उस ज्ञान का स्रोत कहाँ है? यद्यपि सांसारिक अनुभवी विद्वज्जन तेरे सम्मुख बहुत-कुछ कर्म-अकर्म की मीमांसा कर सकते हैं, जिससे तू बोध ले सकता है, पर वे अल्पज्ञ हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान सही ही हो यह आवश्यक नहीं है। अतः तू उनकी शिक्षा को ही अन्तिम मत समझ। उनसे भी परे कोई ज्ञानी है, जिसका ज्ञान निर्भ्रान्त है। उसकी तराजू पर तू उनकी शिक्षा को तोल ले। वह निर्भ्रान्त ज्ञानी 'सविता' प्रभु है। उसका नाम 'सविता' इसी कारण है, क्योंकि वह मानव-हृदय में कर्तव्य-कर्म की प्रेरणा करता रहता है। उसकी प्रेरणा को यदि तू सुनना चाहता है, तो थोड़ी देर के लिए तुझे चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के और चञ्चल मन के बाह्य कपाटों को बन्द करके अन्तर्मुख होना होगा, प्रभु के प्रति स्वयं को समर्पित करना होगा। तब स्पष्टरूप से 'सविता' देव की प्रेरणा तुझे सुनाई देगी। उस प्रेरणा के अनुसार तू कर्म करता चल।

इस प्रकार समाज में सब मानवों के कर्म यदि 'सविता' प्रभु की प्रेरणा के अनुसार अग्रसर होंगे तो समाज में सुख-शान्ति बढ़ेगी, परस्पर प्रीति का आदान-प्रदान होगा, कलह एवं विद्वेष की भावनाएँ समाप्त होंगी, सच्चारित्र्य का विकास होगा, मानव-साम्राज्य प्रभु का साम्राज्य बन सकेगा। इस स्थिति में जल, ओषधियाँ आदि प्राकृतिक पदार्थ भी हमारे लिए 'शिव' हो सकेंगे। जल हमें शान्ति का पाठ पढ़ायेंगे, ओषधियाँ हमें दुःखियों का सन्ताप हरने की प्रेरणा देंगी। नदियाँ हमारे चित्त को शीतलता प्रदान करेंगी, भूमि हमें सहनशीलता की शिक्षा देगी, समुद्र हमारे हृदय को अगाध बनायेंगे। सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियाँ हमें तेजस्विता का वरदान देंगी। सब पदार्थों से कल्याण प्राप्त करते हुए हम व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को सुख-शान्तिमय बना सकेंगे।

अतः वेद का आदेश है कि सब मनुष्य 'सविता' देव के अनुशासन में चलें, उसी से कर्तव्य की प्रेरणा लेते हुए कर्म करें।

३०५. दीर्घ दर्शन के लिए प्रयत्नशील

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं[११], सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम्[१२]।
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे[१२], हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये[१३]॥

—अथर्व० ६.३९.१

ऋषिः **अथर्वा वर्चस्कामः**। देवता **बृहस्पतिः**। छन्दः **जगती**।

(इन्द्रजूतं[१]) आत्मा से प्रेरित-प्रदत्त, **(सहस्रवीर्यं)** सहस्र वीर्यवाला, **(सुभृतं)** सुनिष्पादित, **(सहस्कृतं)** बल के साथ किया गया, **(यशः)** यशोमय **(हविः)** समर्पण **(वर्धताम्)** बढ़े। **(अनु)** तदनन्तर **(दीर्घाय चक्षसे[२])** दीर्घ दर्शन के लिए **(प्रसर्स्राणं[३])** तीव्रता से प्रयत्न करते हुए **(हविष्मन्तं)** आत्म-समर्पण की हवि से युक्त **(मा)** मुझे [हे बृहस्पति परमेश्वर!] **(ज्येष्ठतातये[४])** ज्येष्ठता के लिए **(वर्धय)** बढ़ा।

सांसारिक विषयों में इन्द्रियों को रमाकर मैंने 'लघु दर्शन' तो बहुत कर लिए, अब तो मैं 'दीर्घ दर्शन' करना चाहता हूँ। मैं वह 'धीर' बनना चाहता हूँ, जो बाह्य चक्षुओं को निमीलित कर अमृतत्व पाने की इच्छा से अन्तश्चक्षु द्वारा 'प्रत्यक् आत्मा' के दर्शन करता है। इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महान् आत्मा है, महान् आत्मा से परे अव्यक्त आत्मा है, अव्यक्त आत्मा से परे 'पुरुष' का प्रत्यक्ष करना दीर्घ-दर्शन है। जब मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ निश्चल हो जाती हैं और बुद्धि भी चलायमान नहीं होती, वह अवस्था 'परम गति' कहलाती है, इसी का नाम योग है। जब चित्त निर्विकल्पक समाधि के 'लय', 'विक्षेप', 'कषाय', 'रसास्वाद'-रूप विघ्नों को विध्वस्त कर निर्वात स्थान में दीपक की ज्योति के समान अचल हो जाता है, तभी वह आत्मा को ब्रह्म-ज्योति का 'दीर्घ-दर्शन' कराने में समर्थ होता है। सविकल्पक समाधि से अध्यात्म-प्रसाद को प्राप्त कर ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों से इतर संस्कारों का प्रतिबन्धन कर अन्त में चित्त को सर्वथा संस्कार-शून्य कर अन्य किसी ज्ञेय के न रहने से निर्विकल्पक समाधि में शुद्ध ब्रह्म के दर्शन होते हैं।

इस दिव्य दर्शन के लिए आत्मा को अपनी हवि देनी होती है, पूर्णतः आत्म-समर्पण करना आवश्यक होता है। जितना ही समर्पण-भाव बढ़ेगा, उतनी ही अधिक तीव्रता से ब्रह्म-ज्योति के दर्शन होंगे। अतः मेरी हार्दिक कामना है कि मेरा हविष्प्रदान, मेरा समर्पण, सहस्रवीर्य हो, सुनिष्पादित हो, पूरे बल के साथ सम्पन्न हो, यशोमय हो। हे बृहस्पति परमेश्वर! तुम ज्येष्ठ हो, बड़े-बड़े लोकों के अधिपति हो, मुझे भी अपनी 'दीर्घ ज्योति' के दर्शन कराकर ज्येष्ठ बना दो, दिव्य धन से समृद्ध कर दो।

३०६. मन की शक्तियों का आह्वान

मनसे चेतसे धिय[८], आकूतय उत चित्तये[१]।
मत्यै श्रुताय चक्षसे[८], विधेम हविषा वयम्[८]॥

—अथर्व० ६.४१.१

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **मत्यादयः लिङ्गोक्ताः, अथवा चन्द्रमाः**। छन्दः **भुरिग् अनुष्टुप्**।

[हे चन्द्र एवं चन्द्रवत् आह्लादक परमेश्वर!] (**मनसे**) मनःजन्य मनन के लिए, (**चेतसे**) चित्तजन्य ज्ञान के लिए, (**धिये**) धी-जन्य ध्यान-धारण के लिए, (**आकूतये**) सङ्कल्प के लिए, (**चित्तये**[१]) चेतना और स्मृति-शक्ति के लिए, (**मत्यै**) बुद्धि के लिए, (**श्रुताय**) श्रोत्रजन्य ज्ञान के लिए (**उत**) और (**चक्षसे**) चक्षुजन्य ज्ञान के लिए (**वयं**) हम (**हविषा**) हवि के साथ (**विधेम**[२]) गति करें, प्रयत्नशील हों।

मन की शक्तियाँ ही मनुष्य में विशिष्ट हैं, जिनके कारण वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा उत्कृष्ट माना जाता है। मन का चन्द्रमा से सम्बन्ध है, चन्द्रमा ही मन बनकर शरीर में प्रविष्ट हुआ है[३]। मन चन्द्रमा के समान सौम्य-गुण होता है। चन्द्रमा परमेश्वर का नाम भी है[४]। हे चन्द्रमा के समान मनःसमुद्र की शक्तियों को विकसित करनेवाले परमात्मन्! हम तुम्हें अपने मन की हवि देकर तुमसे मनःशक्तियों को विकसित करने की याचना करते हैं। प्रथम तुम हमारे अन्दर मन की मनन-शक्ति को विकसित करो। कोई शास्त्रीय वचन श्रवण करने या अध्ययन करने पर जबतक हम उसपर मनन नहीं कर लेते, तबतक उसकी गहराई और सूक्ष्मता पर नहीं पहुँच सकते। फिर तुम चित्त-जन्य ज्ञान-शक्ति को हममें समृद्ध करो, क्योंकि ज्ञान-रहित मनुष्य पशु-सम गिना जाता है। तदनन्तर धी-जन्य ध्यान और धारण की शक्ति को प्रखर करो। मन को केन्द्रित करके किसी वस्तु में जबतक हम चाहें ध्यान लगा सकें और किसी उपयोगी ज्ञान को चिरकाल तक हृदय में धारण भी कर सकें। जिनकी धारण-शक्ति प्रबल होती है वे किसी बात को एक बार सुन-पढ़कर ही ऐसा हृदयंगम कर लेते हैं कि वह सदा के लिए उनके मानस-पटल पर अंकित हो जाती है। ऐसी तीव्र धारणा-शक्ति हमें भी प्राप्त हो। इसके साथ हमें 'आकूति' या दृढ़ सङ्कल्प का बल भी प्रदान करो, क्योंकि दृढ़ सङ्कल्प के बिना मनुष्य किसी व्रत में दीक्षित होकर भी उसपर स्थिर नहीं रह सकता। हमें तुम 'चित्ति' अर्थात् चेतना, स्फुरणा और अतीत की स्मृति का बल प्रदान करो। हमें मति, व्यवसायात्मिका बुद्धि या किसी विषय पर सत्वर निर्णय ले लेने की शक्ति में भी पटु बनाओ। हमें श्रोत्र-जन्य ज्ञान और नेत्र-जन्य ज्ञान का भी उत्कर्ष प्राप्त कराओ। अनेक ऋषि-कोटि के व्यक्ति केवल वे श्रवण के आधार पर अनेक ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लेते हैं। वेदों को भी श्रुति इसी कारण कहा जाता है कि वे श्रवण-परम्परा के बल पर चलते रहे हैं। चाक्षुष ज्ञान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। आँख से प्रकृति का और मानवीय कला एवं विज्ञान का सूक्ष्म निरीक्षण करके जी ज्ञान प्राप्त होता है, वह सुस्पष्ट एवं चिरस्थायी होता है।

ये शक्तियाँ हमें तभी प्राप्त होंगी, जब इनकी प्राप्ति के लिए हम अपनी उत्कट अभिलाषा और प्रबल प्रयत्न की हवि का प्रयोग करेंगे। हे प्राकृतिक चन्द्र! तुम वृद्धि और परिपूर्णता के प्रतीक हो। तुमसे प्रेरणा लेकर हम अपनी मन और इन्द्रियों की शक्ति को समृद्ध करें। हे परब्रह्म-रूप चन्द्र! तुम स्वयं मनःशक्तियों में पूर्ण हो, हमें भी परिपूर्ण करो।

३०७. आ, फिर मैत्री कर लें

अव ज्यामिव धन्वनो॑, मन्युं तनोमि ते हृदः॑।
यथा संमनसौ भूत्वा॑, सखायाविव सचावहै॑॥

—अथर्व० ६.४२.१

ऋषिः **भृग्वङ्गिराः**। देवता **मन्युः**। छन्दः **भुरिक् अनुष्टुप्**।

(इव) जैसे **(धन्वनः)** धनुष से **(ज्यां)** प्रत्यञ्चा को [उतारते हैं], [वैसे ही हे भाई! मैं] **(ते)** तेरे **(हृदः)** हृदय से **(मन्युं)** क्रोध को **(अव तनोमि)** उतार देता हूँ, **(यथा)** जिससे [हम दोनों] **(संमनसौ)** प्रेमपूर्ण मनवाले **(भूत्वा)** होकर **(सखायौ इव)** मित्रों के समान **(सचावहै)** व्यवहार करें।

हे भाई! आ, आज हम दोनों फिर गले मिल लें। एक दिन मेरे और तेरे मध्य कलह हो गया था। तब से हम दोनों कट्टर शत्रु बन गये थे। तू मुझ देखे न सुहाता था और मैं तुझे देखे न सुहाता था। हम दोनों ही एक-दूसरे की समृद्धि को न देख सकते थे। किन्तु आज मुझे प्रत्यक्ष दीख रहा है कि वह सब हेम दोनों की कोरी मूर्खता थी। अहो, उस दिन साधारण-सी बात पर हम परस्पर रुष्ट हो गये थे और तब से आजतक एक-दूसरे से कितने अधिक दूर हो चुके हैं। आज मुझे उन पहले की बातों को स्मरण करके असीम पश्चात्ताप हो रहा है। इसलिए इतने अरसे बिछुड़े रहने के बाद आज मैं तेरे पास मैत्री का प्रस्ताव लेकर आया हूँ। आ, मेरे भाई! आज से हम दोनों एक-मन हो जाएँ।

तेरे साथ हुए मन-मुटाव से पूर्व की मित्रता भी आज मेरे स्मृति-पटल पर उभर रही है। हम कैसे परस्पर दो-तन, एक-हृदय बने हुए थे। उन दिनों की याद भी मन में कौतूहल उत्पन्न करती है। हम दोनों की आपस में ऐसी घनिष्ठता थी कि चोट मुझे लगती थी, दर्द तुझे होता था; ज्वर मुझे चढ़ता था, शरीर तेरा तप्त होता था; व्यापार में हानि मुझे होती थी, दिवाला तेरा निकलता था; खेती मेरी सूखती थी, गोदाम तेरा खाली होता था; शाबाशी मुझे मिलती थी, हृदय तेरा बल्लियों उछलता था; पुरस्कार मुझे मिलता था, सम्मानित तू होता था। क्या वे प्रीतियाँ फिर लौटकर नहीं आ सकतीं?

अरे, यह क्या? यद्यपि मेरा क्रोध शान्त हो गया है, तो भी तेरी कोप की कमान तनी ही हुई है। पर, आज तो मैं निश्चय करके आया हूँ कि तुझे अपना बनाकर ही छोड़ूँगा, क्योंकि मैंने स्पष्ट देख लिया है कि इस कलह के कारण हम दोनों का ही सर्वनाश हुआ जा रहा है। अभी भले ही तेरे हृदय की कमान क्रोध की प्रत्यञ्चा से तनी हुई है, किन्तु मुझे निश्चय है कि मैं अपने प्रेम के व्यवहार द्वारा तेरी क्रोध की डोरी को उतार दूँगा। तब तेरा हृदय स्वयमेव मेरे प्रति सरल हो जायेगा, जैसे धनुष की डोरी देने पर धनुर्दण्ड सरल (सीधा) हो जाता है। आ, मेरे भाई! हम दोनों प्रेमपूर्ण मन से दो मित्रों के समान परस्पर मिलें और इसका दृष्टान्त उपस्थित करें कि प्रेम निश्चय ही द्वेष पर विजय पाता है।

३०८. आओ, वेदाध्ययन करें

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं[११], शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः[११]।
इहेडया सधमादं मदन्तो[११], ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्[१०]॥

—अथर्व० ६.६२.३

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **वैश्वानरः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

[हे भाइयो! तुम] (**शुद्धाः**) शरीर से शुद्ध (**शुचयः**) मन से पवित्र तथा (**पावकाः**) पवित्रकर्ता (**भवन्तः**) होते हुए (**वर्चसे**) ज्ञान के तेज को पाने के लिए (**वैश्वानरीं**[१]) विश्वानर प्रभु से प्रोक्त वेदवाणी को (**आ रभध्वम्**) पढ़ना आरम्भ करो। [इस प्रकार हम सब] (**इह**) इस जगत् में (**इडया**[२]) वेदवाणी के द्वारा (**सधमादं मदन्तः**) एकसाथ आनन्द-लाभ करते हुए (**उच्चरन्तं सूर्यम्**) उदित होते हुए प्राकृतिक सूर्य को तथा अध्यात्म-सूर्य को (**ज्योक्**) चिरकाल तक (**पश्येम**) देखते रहें।

परम प्रभु 'विश्वानर' हैं, सब मनुष्यों का हित चाहने और करनेवाले हैं। उन्होंने सब मानवों के कल्याणार्थ वेदवाणी का उपदेश किया है। अतः उनकी उपदिष्ट वेदवाणी 'वैश्वानरी', 'वैश्वानरी सूनृता' या 'वैश्वानरी इडा' कहाती है। हे भाइयो! तुम आज से ही उस वेदवाणी का अध्ययन और मनन आरम्भ कर दो। पर वेद की पुस्तक हाथ में लेने से पूर्व तुम शारीरिक मलों को दूर करके शरीर से शुद्ध हो जाओ, काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि के कलुषित विचारों को त्यागकर मन से पवित्र हो जाओ, ऐसे श्रद्धालु बन जाओ कि तुम्हें देख अन्यों के चित्त में भी श्रद्धा और पवित्रता के भाव अंकुरित हों। सबसे पूर्व शुद्ध वेदपाठ का अभ्यास करो, परन्तु वेद का केवल पाठ पर्याप्त नहीं है, अर्थज्ञान भी आवश्यक है। जो वेदपाठ का ज्ञाता होकर भी अर्थज्ञ नहीं है, वह उस भारवाहक के समान है, जिसने चन्दन के भार को उठाया हुआ है, पर उस चन्दन के महत्त्व और उपयोग को नहीं जानता। अर्थबोध होने पर ही वेद-लता अपने सुरभित, सुमधुर पुष्प-फलों को और वेदवाणीरूपिणी कामधेनु अपने सुमधुर पोषक दूध को प्रदान करती है, अतः अर्थबोधपूर्वक वेदाध्ययन कर वेदज्ञान के सुगन्धित प्रसूनों से अपना शृंगार करो तथा स्वादिष्ट फलों से और अमृतमय दूध से तृप्ति-लाभ करो। वेद के अध्ययन से तुम्हें वर्चस् प्राप्त होगा, समग्र सत्य ज्ञान का अनुपम तेज और ब्रह्मज्ञान की दिव्य ज्योति उपलब्ध होगी।

आओ, हम सब साथ मिलकर वेद पढ़ें, वेद की शिक्षाओं को ग्रहण करें और उससे आनन्द-लाभ करते हुए सुदीर्घकाल तक सूर्योदय के स्वर्णिम दृश्यों को देख-देखकर अपने आत्मा के अन्दर भी वेदवर्णित, सूर्यों के सूर्य वैश्वानर प्रभु को उदित करते रहें।

३०९. पैतृक धन होम से संस्कृत हो

यन्मा हुतमहुतमाजगाम[११], दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः[१२]।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीति[१२], अग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु[११] ॥

—अथर्व० ६.७१.२

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **अग्निः**। छन्दः **जगती**।

(पितृभिः) माता-पिता आदि सगे-सम्बन्धियों से **(दत्तम्)** प्रदत्त और **(मनुष्यैः)** अन्य सम्बन्धी-जनों से **(अनुमतम्)** अनुमोदित **(यत्)** जो [धन] **(हुतम्)** होम से संस्कृत किया हुआ या **(अहुतम्)** होम से संस्कृत न किया हुआ **(मा आजगाम)** मुझे प्राप्त हुआ है, **(यस्मात्)** जिससे **(मे मनः)** मेरा मन **(उद् रारजीति इव)** हर्ष से उद्रञ्जित-सा हो रहा है, **(तत्)** उस [धन] को **(होता अग्निः)** होमार्थी [मेरा] आत्मा **(सुहुतं)** भलीभाँति होम से संस्कृत **(कृणोतु)** कर ले।

नागरिकों को अपने पितृजनों से पैतृक सम्पत्ति के रूप में कुछ धन प्राप्त होता है। कुछ धन उन्हें अपने श्वशुरालय से या अपने स्नेही मित्रों से उपहार के रूप में भी प्राप्त हो सकता है। यह धन यदि छूट की नियत मात्रा से अधिक है, तो उसपर नियमानुसार राजकीय शुल्क या कर लगता है। इसके अतिरिक्त वह धन क्योंकि प्रतिग्रहीता के अपने परिश्रम से कमाया हुआ नहीं होता, अतः उसका यह कर्तव्य भी हो जाता है कि वह उस धन में से कुछ अंश स्वेच्छा से किसी अन्य लोकोपयोगी कार्य में भी दान करे। इस प्रकार राजदेय एवं स्वेच्छा से देय अंश का यज्ञार्थ त्याग करके अवशिष्ट अंश को यज्ञशेष के रूप में अपने पास रखना ही वैदिक मर्यादा है। पर मानव अपने थोड़े-से स्वार्थ या दुर्बलता के वश हो जैसे-तैसे उस दान से बच जाने का प्रयत्न करता है।

आज मैंने भी कुछ पैतृक धन या अन्य उपहारों का धन पाया है, जिसका सब सम्बद्ध मनुष्यों ने अनुमोदन भी कर दिया है, किसी ने कोई आपत्ति नहीं उठाई है। अब सचमुच वह धन मेरा है। स्वभावतः आज मेरा मन उद्रंजित-सा हो रहा है, हर्ष के आवेश में उछल-सा रहा है। वह नवीन-नवीन कल्पनाओं की उड़ान ले रहा है, योजनाएँ बना रहा है कि इस धन से अमुक-अमुक सुख-साधन जुटाऊँगा। परन्तु हे मेरे मन! थोड़ी देर रुक जा। मैं यह तो देख लूँ कि यह धन 'हुत' है या 'अहुत', राजदेय अंश की आहुति देकर संस्कृत होचुका है या नहीं। यदि इसपर किसी अन्य ने राजदेय शुल्क देना है और नहीं दिया गया है तो पहले मैं उसके भुगतान का प्रबन्ध कर लूँ। और यदि वह राज-शुल्क मुझे देना है, तो इस धन का स्पर्श करने से पूर्व पहले मैं उसे चुका दूँ। इसके अतिरिक्त इस धन में से स्वेच्छा से भी मैं दशांश या अधिक किसी जनहित के कार्यार्थ दान दान कर दूँ। तभी मुझे सन्तोष होगा।

हे मेरे आत्मन्! आओ, तुम 'होता' हो, होम-निष्पादक हो, इस धन को 'सुहुत' करो, होम से संस्कृत करो। उसके पश्चात् ही मैं अपने आपको इसके भोग का अधिकारी मानूँगा।

३१०. ऋण चुकाकर भोग करें

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा[१०], दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि[११]।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना[११], शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्[१०]॥

—अथर्व० ६.७१.३

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **वैश्वानरः अग्निः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(**देवाः**) हे विद्वानो! (**यत् अन्नम्**) जिस [ऋण के] अन्न को, भोग्य पदार्थ को [मैं] (**अनृतेन**) असत्य व्यवहार के साथ (**अद्मि**) खाता हूँ, भोगता हूँ, (**उत**) और (**दास्यन्**) वापिस देना चाहता हुआ [या] (**अदास्यन्**) वापिस देना न चाहता हुआ (**संगृणामि**) झूठे आश्वासन के वचन कहता रहता हूँ, (**तत् अन्नम्**) वह अन्न, भोग्य पदार्थ (**महतः वैश्वानरस्य**) महान् वैश्वानर की (**महिम्ना**) महिमा से (**मह्यं**) मेरे लिए (**शिवं**) शिव और (**मधुमत्**) मधुर (**अस्तु**) होवे।

मैं ऋण का अन्न खाता रहा हूँ, दूसरों से कर्ज ले-लेकर खान-पान, लेखन-पठन, वस्त्राच्छादन, अलंकार आदि की वस्तुओं का उपयोग करता रहा हूँ। स्वयं तो उस ऋण को समय पर चुकाता ही नहीं, माँगने पर भी सच्चे-झूठे वायदे करके टाल देता हूँ। इस प्रकार असत्य व्यवहार से जीवन चला रहा हूं। परन्तु आज मैंने समझ लिया है कि यह अनृत का अन्न निश्चय ही मेरे लिए 'शिव' और 'मधुमत्' नहीं हो रहा है। आज मुझे अपने इस अनृताचरण पर पश्चात्ताप हो रहा है। मैं सोचता हूँ कि वे पुरुष कितने उदार हैं जो बिना ब्याज आदि प्रलोभन के आवश्यकता के समय मुझे ऋण देकर मुझपर उपकार करते हैं और मैं कितना अकृतज्ञ हूँ कि उनके ऋण को मारकर बैठ जाता हूँ। हे देवो! हे विद्वानो! हे श्रेष्ठ महापुरुषो! एक ओर जब मैं आपका परोपकारमय महान् चरित्र देखता हूँ और दूसरी ओर अपना विश्वासघात का क्षुद्र स्वार्थमय चरित्र, तो मुझे अपने प्रति ग्लानि होने लगती है। आज मैं आपके सम्मुख प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने असत्य व्यवहार को सर्वथा छोड़ दूँगा। जिसका मैंने जो ऋण लिया है, उसे सम्मान के साथ उसे लौटा दूँगा और भविष्य में सावधान रहूँगा कि मैं किसी से ऋण लूँ ही नहीं और यदि लेना ही पड़े तो सचाई के साथ उसे चुकता कर दूँ।

मैं महान् वैश्वानर अग्नि की महिमा को भी देख रहा हूँ। प्रकृति में 'वैश्वानर अग्नि' सूर्य है, जो भूमिष्ठ जलों को उधार लेता है, परन्तु सहस्रगुणित करके भूमि पर बरसा देता है। दूसरी ओर सबका हित-सम्पादक महान् परमेश्वर 'वैश्वानर अग्नि' है, जिसे भक्तजन अपना यज्ञ, ज्ञान, कर्म जितना भी समर्पित करते हैं, उससे सहस्रों गुणा उनका योग-क्षेम वह वहन कर देता है। 'महान् वैश्वानर' की इस महती महिमा को मैं भी अपने जीवन में ढालता हूँ। आज मैं पुराने 'अनृत' व्यवहार के लिए क्षमायाचनापूर्वक ऋणदाताओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ सबका ऋण चुका रहा हूँ। अब निश्चय ही मुझे भोग भोगने में आनन्द आयेगा, मेरा भोग 'शिव' और 'मधुर' होगा।

३११. वायु-वेग से चल, मनोवेग से चल

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान[१२], इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवा:[१२]।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस[१२], आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु[११]॥

—अथर्व० ६.९२.१

ऋषि: **अथर्वा**। देवता **वाजी**। छन्द: **निचृद् जगती**।

(वाजिन्) हे ज्ञान-बल से युक्त जीवात्मन्! **(युज्यमान:)** [कर्म-रथ में] नियुक्त होता हुआ [तू] **(वातरंहा:)** वायु के समान वेगवाला **(भव)** हो। **(मनोजवा:)** मन के तुल्य वेगवाला [होकर तू] **(इन्द्रस्य)** परमेश्वर के **(प्रसवे)** अनुशासन में **(याहि)** चल। **(विश्ववेदस:[१])** सकलविद्यावेत्ता **(मरुत:[२])** विद्वान् लोग **(त्वा)** तुझे **(युञ्जन्तु)** [सत्कर्मों में] नियुक्त करें। **(त्वष्टा)** जगत्स्रष्टा परमात्मा **(ते)** तेरे **(पत्सु)** पैरों में **(जवं)** वेग को **(आ दधातु)** स्थापित करे।

हे बली घोड़े! रथ में नियुक्त होकर तू वायुवेग से चल। यह बली घोड़ा ज्ञान-बल से युक्त जीवात्मा है। घोड़े की अन्योक्ति से वेद देहधारी आत्मा को प्रेरित कर रहा है। हे जीवात्मन्! तुझे प्रशस्त कर्मों को करने के लिए देह में नियुक्त किया गया है। यदि तू मन्द गति से कर्म करेगा तो देह की इस छोटी-सी आयु में भला कितने सत्कर्म कर पायेगा? अत: तू वायुवेग से शुभ कर्म कर। जो कुछ पुण्योपार्जन तुझे करना है, शीघ्र कर ले। पर देह की अनित्यता और क्षणभंगुरता को तथा समय की अल्पता को देखते हुए वायु का वेग भी तेरे लिए सम्भवत: कम रहेगा। मन का वेग वायु से अधिक होता है। मन क्षणभर में अनन्त दूरी को पार कर लेता है। अत: तू मनोवेग से चल। परन्तु केवल गति की तीव्रता पर्याप्त नहीं है, वह गति नियन्त्रित और अनुशासित भी होनी चाहिए। अत: तू इन्द्र के अनुशासन में चल। इन्द्र परमैश्वर्यवान् है, उसकी प्रेरणा के अनुसार यदि तू चलेगा, तो वह तुझे भी परमैश्वर्य-सम्पन्न कर देगा। इसके विपरीत यदि तू अपने शासन की डोर 'वृत्रासुर' के हाथों में सौंप देगा, तो वह तेरे सब धर्म-कर्म को समाप्त कर तुझे दुष्कर्मों के निविड अन्धकार से आच्छन्न कर देगा। अत: इन्द्र की ही प्रेरणा के अनुसार तू चल। इन्द्र से प्रेरणा पाये हुए सकल-विद्या-वेत्ता विद्वत्पुरुष भी तुझे विभिन्न सत्कर्मों में प्रवृत्त करेंगे। वे तुझे वेदादि शास्त्रों में वर्णित जीवन के श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश करेंगे। वे तेरे सम्मुख प्रेय-मार्ग और श्रेय-मार्ग दोनों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर तुझे श्रेय-मार्ग पर ही चलने का परामर्श देंगे। उनसे नियुक्त और अनुशासित होकर हे आत्मन्! तू कल्याण के मार्ग पर ही चल। जगत्स्रष्टा त्वष्टा प्रभु तेरे पैरों में वेग ला देवें। पैर सभी साधनों का उपलक्षण है। तेरे मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि सभी साधन सवेग होकर शीघ्र ही तुझे लक्ष्य पर पहुँचा दें। हे आत्मारूपी घोड़े! चल, वायुवेग से चल, मनोवेग से चल।

३१२. मन-इन्द्रियाँ पवित्र हों

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचा[११], उपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः[११]।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु[११]॥ —अथर्व० ६.९६.३

ऋषिः **भृग्वङ्गिराः**। देवता **सोमः**। छन्दः **त्रिपाद् अनुष्टुप्**[१]।

(यत्) जो कुछ **(चक्षुषा)** आँख से, **(मनसा)** मन से, **(यत् च)** और जो कुछ **(वाचा)** वाणी से **(जाग्रतः)** जागते हुए **(उपारिम[२])** हम करते हैं, **(यत् स्वपन्तः)** [और] जो कुछ सोते हुए [करते हैं] **(नः)** हमारे **(तानि)** उन [कर्मों] को **(सोमः)** सोम परमेश्वर **(पुनातु)** शुद्ध कर देवे।

जाग्रदवस्था में हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मन से अनेक व्यापार करते हैं। मन्त्र में 'चक्षु' ज्ञानेन्द्रियों का और 'वाक्' कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है। आँख से हम भद्र-अभद्र सब प्रकार के दृश्य देखते हैं। श्रोत्र से भद्र-अभद्र सब प्रकार के शब्द सुनते हैं। रसना से भद्र-अभद्र सब प्रकार के पदार्थ चखते हैं। नासिका से भद्र-अभद्र सब प्रकार की गन्धों को सूँघते हैं। वाणी से भद्र-अभद्र सब प्रकार के वचन बोलते हैं। त्वचा से भद्र-अभद्र सब प्रकार के स्पर्श ग्रहण करते हैं। हाथों से भद्र-अभद्र सब प्रकार के कार्य करते हैं। और यह मन तो और भी अधिक चञ्चल है, जो भद्र-अभद्र दोनों खेल खेलने में सबसे आगे हैं। वह सोचत है कि इन्द्रियों से किये गये पाप तो अन्यों को ज्ञात हो जाते हैं, मैं चुपचाप पाप कर लूँ, कोई जान भी नहीं पायेगा। स्वप्नावस्था में भले ही प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ सो जाती हैं, किन्तु वस्तुतः अस्तोन्मुख सूर्य में एकीभूत होती हुई रश्मियों के समान ये मन में एकीभूत होती हैं। उस समय देखने, सुनने, ग्रहण करने, चलने-फिरने आदि का व्यापार मन ही करता है। इस प्रकार जाग्रदवस्था के समान स्वप्नावस्था में भी हम पाप-पुण्य दोनों करते हैं। परन्तु भद्र-अभद्र या पाप-पुण्य में विवेक न करके एक-समान दोनों में रत रहने की स्थिति बड़ी ही संकटमयी और भयावह है। हम चाहते हैं कि जागते-सोते हुए मन और इन्द्रियों से वही कार्य करें, जिसका 'सोम' प्रभु अनुमोदन करते हों। 'सोम' प्रभु से अनुमोदित दृश्यों को ही आँख से देखें, 'सोम' प्रभु से अनुमोदित वचनों को ही वाणी से बोलें और 'सोम' प्रभु से अनुमोदित विषयों को ही मन से सोचें। 'सोम' प्रभु के पास स्वधा है, स्व को धारण कराने की ओषधि है। उस ओषधि से वे हमारे चक्षु, मन, वाक् आदि पापजनित घावों को भर देंगे। हे सोम प्रभु! तुम मन एवं इन्द्रियों द्वारा होनेवाले हमारे प्रत्येक व्यापार को शुद्ध कर दो, पवित्र कर दो।

३१३. आओ, राष्ट्र के लिए हवि दें

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निर्[१०], अभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः[१०]।
अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासा[११]न्येवा, विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः[१२] ॥

—अथर्व० ६.९७.१

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **देवाः यज्ञः अग्निः सोमः इन्द्रः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(यज्ञः) यज्ञ **(अभिभूः)** अभिभव करनेवाला है, **(अग्निः)** अग्नि **(अभिभूः)** अभिभव करनेवाली है, **(सोमः)** चन्द्रमा और सोमवल्ली **(अभिभूः)** अभिभव करनेवाले हैं, **(इन्द्रः)** सूर्य **(अभिभूः)** अभिभव करनेवाला है। **(अहं)** मैं [भी] **(यथा)** जैसे **(विश्वाः पृतनाः)** समस्त सेनाओं को **(अभि असानि)** अभिभव कर सकूँ **(एव)** इस प्रकार **(अग्निहोत्राः[१])** अग्निहोत्र करनेवाले [हम सब] **(इदं हविः)** इस हवि को **(विधेम[२])** करें।

यज्ञ क्या है? स्वार्थ-प्रधान शक्तियों के अभिभव का एक क्रियात्मक आन्दोलन है। लोक-हित के लिए किया जानेवाला प्रत्येक महान् कार्य यज्ञ है। अभिभव और विजय, संहार और सर्जन दोनों साथ-साथ चलते हैं। परन्तु अभिभव अनिवार्य है, क्योंकि विरोधी शक्तियों का अभिभव किये बिना यज्ञ कोई सर्जनात्मक कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार यज्ञ 'अभिभू' है। अग्नि, सोम और इन्द्र भी 'अभिभू' हैं, अभिभव करनेवाले हैं। अग्नि पृथिवी-लोक राजा है, जो अपनी मशाल से हमारे उद्वेजकों का, मार्ग के विघ्नों का अभिभव करता है। सोम (चन्द्र) अन्तरिक्षलोक का राजा है, जो अपनी शीतलता से श्रम और हमारी चिन्ता, उत्तेजना, व्याकुलता आदि का अभिभव करता है। इन्द्र (सूर्य) द्युलोक का राजा है, जो अपनी रश्मियों से अन्धकार, मालिन्य, रोग, प्रमाद, आलस्य, अकर्मण्यता, अस्फूर्ति, निस्तेजस्कता, अप्राणता, जड़ता आदि का अभिभव करता है। इन सबसे शिक्षा लेकर मैं भी 'अभिभू' क्यों न बनूँ? भाइयो! मैं तुम्हें भी 'अभिभू' बनने का निमन्त्रण देता हूँ। इस प्रकार हम सभी राष्ट्रवासी 'अभिभू' बन जाएँ। आओ, हम अग्निहोत्र करें, राष्ट्र की अग्नि में अपने-आपको हवि बनाकर उत्सर्ग करें। प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवालों के लिए यह राष्ट्राग्निहोत्र करना कुछ भी कठिन नहीं है। हमारी तो नस-नस में अग्निहोत्र की भावना भरी है। हम जैसे अग्निहोत्री सिपाही राष्ट्र के पास होंगे तो राष्ट्र की विजय निश्चित है। हम समस्त शत्रु-सेनाओं को अभिभूत कर देंगे। हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करने के लिए उमड़कर आती हुई शत्रुवाहिनियाँ हमसे टकराकर परास्त हो जायेंगी। न केवल बाहरी शत्रुओं को, अपितु राष्ट्र के अन्दर उपद्रव करनेवाले अन्तःशत्रुओं को भी चुन-चुनकर हम विध्वस्त करेंगे। इस प्रकार हमारी शुद्ध हवि से पूर्णतः निःसपत्न हुए राष्ट्र को अपनी आन्तरिक सर्वाङ्गीण उन्नति करने का अवसर प्राप्त होगा। राष्ट्र के उस सर्वाङ्गीण विकास में भी योगदान करने के लिए, उसके लिए भी अपनी हवि देने के लिए, हम उद्यत हैं। हे राष्ट्रनायक! हमारी हवि को स्वीकार करो।

३१४. सुकृत-लोक के वासी बनें

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां[११], यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा[१०]।
अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निर्[११], उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्[११] ॥

—अथर्व० ६.१२१.२

ऋषिः **कौशिकः**। देवता **गार्हपत्यः अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

[हे मनुष्य! तू] (**यत्**) जो (**दारुणि**) लकड़ी में अर्थात् काष्ठ-स्तम्भ, वृक्ष आदि में (**बध्यसे**) बाँधा जाता है, (**यत् च**) और जो (**रज्ज्वां**) रस्सी में [बाँधा जाता है]। (**यद्**) जो (**भूम्यां**) भूमि के अन्दर [काल-कोठरी में] (**बध्यसे**) बाँधा या कैद किया जाता है, (**यत् च**) और जो (**वाचा**) वाणी से [बाँधा जाता है] (**तस्मात्**) उससे (**अयं**) यह (**गार्हपत्यः[१] अग्निः**) गार्हपत्य अग्नि (**उत्**) उद्धार करके (**नः**) हमें (**सुकृतस्य लोकम्**) शुभ-कर्म के लोक में (**नयाति[२]**) ले जाए।

हमारे परिवार में से कोई-कोई सदस्य पथभ्रष्ट होकर पापकर्म या सामाजिक अपराध में लिप्त हो जाता है। तस्करी, हत्या, रिश्वत, व्यभिचार आदि कोई अपराध करने के कारण उसपर अभियोग चलता है और वह पञ्चायत, न्यायालय आदि के द्वारा दण्डनीय होता है। कई बार जिसके प्रति अपराध करता है, वह व्यक्ति न्यायालय में न जाकर स्वयं ही उसे दण्ड दे देता है। इन दण्डों के परिणामस्वरूप उसे काष्ठ-स्तम्भ, वृक्ष आदि के साथ बाँधा जाता है, मोटी रस्सी से हाथ-पैर बाँधकर छोड़ दिया जाता है, भूमि के अन्दर बने हुए तहखाने या कालकोठरी में कैद कर दिया जाता है या उसे वाणी से बाँध दिया जाता है, अर्थात् उसके किसी स्थान से बाहर जाने के विषय में राजकीय निषेधाज्ञा लागू हो जाती है। इससे हमारे परिवार का कितना बड़ा अपयश होता है। हम तो चाहते हैं कि हमारे परिवार का प्रत्येक सदस्य उज्ज्वल चरित्रवाला हो।

जब कोई मनुष्य विवाह करके गृहस्थाश्रम में आता है तब वह गार्हपत्य अग्नि का प्रणयन करता है। गृहपति से संयुक्त होने के कारण वह अग्नि गार्हपत्य कहलाती है। पुराने समय में गृहपति उस अग्नि को सुरक्षित रखता था तथा दैनिक अग्निहोत्र के लिए अग्नि उसी में से लेता था। आज उसे सुरक्षित रखने की प्रथा यद्यपि नहीं रही है, तो भी उसमें जो भावना निहित है, उसका अनुसरण हमें आज भी करना है। हम चाहते हैं कि हमारी गार्हपत्य अग्नि की भावना कभी बुझे नहीं। हम सब पारिवारिक-जन अग्नि के समान, दुर्गुणों और दुष्कर्मों को भस्म करनेवाले, ऊर्ध्वगामी, स्वयं पवित्र तथा समाज के वातावरण को पवित्र करनेवाले बनें। हमारा कोई सदस्य यदि किसी प्रकार का अनाचार या अपराध करता है, तो उसे इस व्यसन से मुक्त करके तथा सबको उच्च चरित्र की शिक्षा देकर गार्हपत्य अग्नि हमारे गृहस्थाश्रम को 'सुकृत' का लोक बना दे। आओ, हम सब अपने-आपको सुकृत-लोक का वासी बनाएँ।

३१५. यज्ञ में पशु बलि अवैदिक

मुग्धा देवा उत शुनायजन्त[११], उत गोरङ्गैः पुरुधाऽयजन्त[११]।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत[११], प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः[१०]॥

—अथर्व० ७.५.५

ऋषिः **अथर्वा ब्रह्मवर्चसकामः**। देवता **आत्मा**। छन्दः **त्रिष्टुप्।**

(देवाः) [वे] यजमान **(मुग्धाः)** मूढ़ हैं, जो **(उत शुना)** श्वान तक से **(अयजन्त)** यज्ञ कर लेते हैं, **(उत)** और **(गोः)** गाय के **(अङ्गैः)** अंगों से **(पुरुधा)** बहुधा **(अयजन्त)** यज्ञ करते हैं। **(नः)** हमें **(प्र वोचः)** [उस गुरु के विषय में] बताओ **(यः)** जो **(इमं यज्ञं)** इस यज्ञ को **(मनसा)** मन से **(चिकेत[२])** जानता है। [हे गुरु!] **(तम्)** उस [यज्ञ] को **(इह इह)** यहाँ अभी **(ब्रवः[३])** उपदिष्ट करो।

हे भाइयो! हे वेद के श्रद्धालुओ! यह तुम क्या कर रहे हो? गाय, घोड़े, बकरे आदि को काटकर उनके अंगों की यज्ञ में आहुति दे रहे हो और अपने इस जघन्य कार्य को वेदानुमोदित कह रहे हो। गाय जैसे परोपकारी और पवित्र पशु के होम को तुम पुण्य-कार्य मानते हो। तुम्हें अन्य कोई पशु नहीं मिलेगा तो एक दिन अभक्ष्य-भक्षी श्वान तक की यज्ञ में बलि देने में संकोच न करोगे। यह तुम्हारी बुद्धि को क्या हो गया है? देखो, वेद की घोषणा सुनो। वेद कहता है कि वे यजमान मूढ़ हैं जो श्वान से यज्ञ करते हैं या अनेक प्रकार से गाय के अंगों से यज्ञ करते हैं। अतः यज्ञों में प्राणिहिंसा की अपनी पोप-लीला को समाप्त करो। यज्ञ के असली स्वरूप को समझो और जिन हव्यों की आहुति यज्ञ में विहित है, उन्हीं की आहुति दो।

क्या तुम कहते हो कि हमें उस विद्वान् गुरु का पता बताओ, जो यज्ञ का पण्डित हो तथा हमारे सम्मुख यज्ञ की मीमांसा कर सके? देखो, खोज करने पर तुम्हें यज्ञ के मर्मज्ञ एक नहीं, अनेक गुरु प्राप्त हो सकेंगे, जिन्होंने वेद की वेदानुकूल व्याख्या की है और जिनकी वाणी तथा लेखनी तुम्हारा मार्गदर्शन कर सकती है। उन्हीं में से यज्ञ के पारदर्शी एक सद्गुरु के वचन हैं कि यज्ञ में हवि देने योग्य चार प्रकार के द्रव्य होते हैं—कस्तूरी केसर, अगर-तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि सुगन्धित द्रव्य; घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि पुष्टिकारक द्रव्य; शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि मिष्ट द्रव्य और सोमलता, गुग्गल आदि रोगनाशक द्रव्य। अतः यज्ञार्थ संस्कृत किये हुए इन्हीं द्रव्यों की तुम आहुति दो। और सबसे बड़ा गुरु तो परमात्मा है, जिसने अपनी वेद-वाणी से यज्ञ का पूर्ण स्वरूप हमारे सम्मुख स्पष्ट कर दिया है। आओ, उसकी वाणी को सुनें और श्रद्धायुक्त हृदय से उससे प्रार्थना करें कि हे भगवन्! हे गुरुओं के गुरु! अपने उपदेश से हमारे अन्तःकरण को प्रकाशित करो, जिससे हम यज्ञ के वास्तविक रूप को जानें और अवैदिक पशुबलि आदि के अपुण्यकर और अनर्थकर भ्रान्त स्वरूप के कुचक्र में न पड़ें।

३१६. अभयतम मार्ग

पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः[११], सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्[११]।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरो[१०], ऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्[११]॥

—अथर्व० ७.९.२

ऋषिः **उपरिबभ्रवः**। देवता **पूषा**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(पूषा) पोषक परमेश्वर **(इमाः)** इन **(सर्वाः)** सब **(आशाः)** दिशाओं को **(अनु वेद)** अनुक्रम से जानता है, **(सः)** वह **(अस्मान्)** हमें **(अभयतमेन)** सर्वाधिक निर्भय [मार्ग] से **(निषेत्[१])** ले जाए। **(स्वस्तिदा)** कल्याणप्रद **(आघृणिः[२])** दीप्तिमान् **(सर्ववीरः)** सर्वात्मा वीर [वह पूषा देव] **(अप्रयुच्छन्)** प्रमाद न करता हुआ **(प्रजानन्)** [मार्ग को] जानता हुआ **(पुरः)** आगे-आगे **(एतु)** चले।

हम लक्ष्य पर पहुँचना और पुष्टि पाना चाहते हैं। किस दिशा में चलें और किस दिशा में नहीं, यह हमें कौन बतायेगा ? क्योंकि यदि हम पथभ्रष्ट हो गये, तो लक्ष्य पर कैसे पहुँच सकते हैं ? 'पूषा' नामवाला पोषक परमात्मा ही हमारा पथ-प्रदर्शक बन सकता है, क्योंकि वह सब दिशाओं से परिचित है। किस समय किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किस दिशा में चलना श्रेयस्कर होगा, इस सबको वह अनुक्रम से जानता है। उसे इस बात का ज्ञान भी है कि कौन-सा मार्ग सर्वाधिक भयरहित है। यदि हम 'पूषा' प्रभु की शरण पकड़ लें, तो वह हमें निर्भयतम मार्ग से ले चलेगा।

वह 'स्वस्तिदा' है, उत्कृष्ट अस्तित्व का प्रदाता है, कल्याणकारी है, मंगलदायक है। वह 'आघृणि' है, जैसे सूर्य-मण्डल से चारों ओर किरणें निकलती हैं, वैसे ही वह अपने चारों ओर दीप्तियों से समन्वित है। भौतिक आदित्य की ही प्रभा को देखकर हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं, फिर वह तो सहस्रों आदित्यों की कान्तिवाला है। वह 'सर्ववीर' है, किसी एक क्षेत्र में नहीं, किन्तु सब क्षेत्रों में वीर है, सर्वात्मना वीर है। अतएव जो उसकी शरण में आता है, उसे वह 'सर्ववीर' बना देता है, सब दिशाओं में विजयी कर देता है। उसका हाथ पकड़नेवाला मनुष्य किसी विघ्न-बाधा से और किसी शत्रु से पादाक्रान्त नहीं होता।

हम चाहते हैं कि 'पूषा' प्रभु हमारा अग्रणी बन जाये। हमारा नेतृत्व करने में वह कभी प्रमाद न करे। ज्यों ही हम लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रयाण प्रारम्भ करें, वह हमारा नायक बन आगे-आगे चलने लगे, विविध मार्गों की भूलभूलैयों से बचाता हुआ हमें एक निश्चित मार्ग पर चलाकर त्वरित गति से सीधा लक्ष्य पर पहुँचा दे। भाइयो ! हम तो पूषा प्रभु को नेता बनाकर अभयतम मार्ग से चल पड़े हैं, आओ, हमारे साथ तुम भी उसी राह को पकड़ लो और हम सब मिलकर आगे बढ़ते हुए लक्ष्य पर पहुँचकर ही विराम लें।

३१७. दुःस्वप्न आदि दूर हों

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं[७], रक्षो अभ्वमराय्य:[७]।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्[८], ता अस्मन्नाशयामसि[८] ॥

—अथर्व० ७.२३.१

ऋषिः **यमः**। देवता **दुःष्वप्ननाशनम्**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(**दौष्वप्न्यं**) दुःस्वप्नजनित अनिष्ट, (**दौर्जीवित्यं**) बुरा जीवन जीना, (**अभ्यवं[१] रक्षः**) महा विकराल रोगादि राक्षस, (**अराय्यः[२]**) अदानशीलताएँ, (**दुर्णाम्नीः**) बुरा नाम देनेवाली अपकीर्तियाँ, (**दुर्वाचः**) बुरी वाणियाँ (**ताः सर्वाः**) उन सब बुराइयों को (**अस्मत्**) अपने पास से [हम] (**नाशयामसि**) नष्ट कर देते हैं।

हमने मानव-जीवन सदाचारपूर्वक सफलता के साथ जीने के लिए प्राप्त किया है। परन्तु दुर्वलतावश हम अनेक बुराइयों से घिर जाते हैं और जीवन में दयनीय स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। आज हमने यह सङ्कल्प कर लिया है कि हम अपने अन्दर घर की हुई समस्त बुराइयों को नष्ट करके ही दम लेंगे। वे बुराइयाँ कौन-सी हैं, जो हमें निरन्तर दुर्वल करती रहती हैं? कभी-कभी हम बुरे-बुरे स्वप्नों के फेर में पड़ जाते हैं। रात्रि को सोते हुए कुसंगति, कुमार्गगामिता, दूसरे के द्वारा की गई हमारी हत्या, अब्रह्मचर्य आदि के स्वप्न हमें तङ्ग करते हैं। इनसे हमारे मन पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्वप्नावस्था के अतिरिक्त जागते हुए भी हम मन द्वारा अनेक प्रकार के कुचिन्तन करते रहते हैं। ये जाग्रदवस्था के दुःस्वप्न कहलाते हैं। ये दोनों ही प्रकार के दुःस्वप्न अनेक अनिष्ट परिणामों को उत्पन्न करते रहते हैं। दूसरी बुराई जिसमें हम लिप्त हो जाते हैं, 'दौर्जीवित्य', अर्थात् बुरा जीवन जीना है। बुरा जीवन दुराचार का जीवन है। हम धूमपान, मद्यपान, हत्या, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों में पड़कर अपने जीवन को नष्ट करने पर तुले रहते हैं। तीसरी बुराई जिसके हम वशीभूत हो जाते हैं, 'राक्षसों का प्राबल्य' है। राक्षस आधि-व्याधियों का नाम है। मन को आक्रान्त करनेवाले दुर्विचार और शरीर को आक्रान्त करनेवाले विविध रोग, जब हमपर काबू पा लेते हैं, तब हम प्रगति, आत्मोन्नति और विजय के मार्ग से स्खलित हो जाते हैं। मनुष्य-जीवन को व्याप्त करनेवाली चौथी बुराई 'अरायी' अर्थात् अदानशीलता या कृपणता की वृत्ति है। सदा स्वार्थ को ही देखना, सदा अपनी ही उदरपूर्ति में संलग्न रहना, समीप ही कराह रहे बन्धु की कराह को अनसुनी कर देना, आवश्यकता के समय किसी की सहायता न करना आदि 'अरायी' वृत्ति के परिणाम होते हैं। हमारे जीवन में व्याप्त पाँचवीं बुराई 'दुर्णाम्नी' अर्थात् बुरा नाम करनेवाली अपकीर्ति है। घोर अपकीर्तियों के पात्र बनते हुए भी हम उन आचरणों को त्यागते नहीं, जो हमारी अपकीर्तियों का कारण बन रहे हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हमारा स्वभाव उन अभद्र आचरणों में आनन्द लेने का बन जाता है। इसी कारण अपयश होने पर भी हम चेतते नहीं। हमें आक्रान्त करनेवाली छठी बुराई बुरी वाणियाँ (दुर्वाचः) हैं। कटु राक्षसी वाणी से संसार में बड़े-बड़े अनिष्ट हुए हैं और इसके विपरीत मधुर सत्य, सूनृता वाणी वरदानों का घर है। इन सब बुराइयों को तथा इनके अतिरिक्त कोई अन्य बुराइयाँ भी हमारे अन्दर घर कर गई हैं तो उन्हें भी हम निश्चय ही आज समूल उन्मूलित करके रहेंगे और निष्कलुष जीवन के आनन्द का भोग करेंगे।

३१८. दोनों हाथों से भर-भरकर दे

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या[१०], महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्[१०]।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैः[११], आप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्[११]॥

—अथर्व० ७.२६.८

ऋषिः **मेधातिथिः**। देवता **विष्णुः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(विष्णो) हे सर्वव्यापक परमात्मन्! **(दिवः)** द्युलोक से **(उत वा)** और **(पृथिव्याः)** पृथिवीलोक से [तथा] **(विष्णो)** हे विश्वान्तर्यामिन्! यज्ञ के देव! **(महः)** महनीय **(उरोः)** विस्तीर्ण **(अन्तरिक्षात्)** अन्तरिक्षलोक से **(बहुभिः)** बहुत-से **(वसव्यैः[१])** ऐश्वर्य-समूहों से **(हस्तौ)** दोनों हाथों को **(पृणस्व[२])** भर ले। **(दक्षिणात्)** दाहिने [हाथ] से **(आ प्रयच्छ)** दान से **(उत)** और **(सव्यात्)** बाएँ से [भी] **(आ)** [प्रयच्छ] दान दे।

हे विष्णु! हे सर्वव्यापक! हे विश्वान्तर्यामिन्! हे विश्व-ब्रह्माण्ड के स्वामिन्! तुम अपूर्व धनाधीश हो। विश्व के द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक में जो धन बिखरा पड़ा है, वह सब तुम्हारा ही है। अतः तुम धन-कुबेर हो। एक ओर तुम धनपति हो और दूसरी ओर हम अकिंचन हैं। अतः हम चाहते हैं कि तुम अपने कोष में से दाहिने-बाएँ दोनों हाथों से भर-भरकर हमें दान दो। तुम्हारे रचे द्यु-लोक में प्रकाश का अनुपम पारावार भरा पड़ा है। वह प्रकाश तुम हमें भी प्रदान करो। तुम्हारे रचे विशाल अन्तरिक्षलोक में वायु और पर्जन्य का सागर उमड़ रहा है। उसमें से हमें भी प्राण-वायु और अमृतमय वृष्टि-जल प्रदान करो। तुम्हारे रचे पृथिवीलोक में सुवर्ण, रजत, ताम्र, अयस्, हीरे, मोती आदि ऐश्वर्यों की निधियाँ भरी हुई हैं। वे ऐश्वर्य तुम हमें भी प्रदान करो। अल्प मात्रा में नहीं, प्रचुर मात्रा में प्रदान करो, क्योंकि हम ऐश्वर्यमय जीवन जीने की ही साध लिये हुए हैं।

पर हे विश्वव्यापी देव! हम केवल इन भौतिक ऐश्वर्यों को ही पाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहते। हम शरीरस्थ द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के ऐश्वर्यों को भी पाने के लिए आतुर हो रहे हैं। हमारा अन्नमय कोष ही पृथिवीलोक है, जिसमें शरीर की त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त सब ढाँचा आ जाता है। इसका ऐश्वर्य है शारीरिक स्वास्थ्य और शारीरिक बल, जिसके बिना मनुष्य का जीवनयापन दुष्कर है। मध्य के प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष अन्तरिक्षलोक हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँचों से तथा कर्मेन्द्रियों से मिलकर प्राणमय कोष बनता है। इसका ऐश्वर्य है प्राणन, अपानन आदि क्रियाओं का समुचितरूप से होते रहना तथा हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों का कार्य-क्षम बने रहना। मन और ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर मनोमय कोष बनता है। इसका ऐश्वर्य है मन के माध्यम से ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होना तथा मन का सत्यसङ्कल्प करना। ज्ञानेन्द्रियों-सहित बुद्धि विज्ञानमय कोष कहलाता है। इसका ऐश्वर्य है ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान पर ऊहापोह करके निश्चयात्मक ज्ञान अर्जित करना। आनन्दमय कोष द्युलोक है, जहाँ हृदयपुरी में प्रतिष्ठित आत्मा के अन्दर ब्रह्म का वास है। इसका ऐश्वर्य है ब्रह्मानन्द की प्राप्ति। हे विष्णुदेव! तुम इन समस्त ऐश्वर्यों से भी हमें भरपूर करने की कृपा करते रहो।

हे जगत्पिता! तुम निरैश्वर्य की अवस्था से पार करके हमें अधिकाधिक ऐश्वर्य प्रदान कर कृतार्थ करते रहो।

३१९. राष्ट्र को पूर्णता प्रदान कर

प्रान्यान् त्सपत्नान् त्सहसा सहस्व[११], प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व[११]।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय[११], विश्व एनमनुमदन्तु देवाः[११]॥

—अथर्व० ७.३५.१

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **जातवेदाः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**जातवेदः**) हे ज्ञानी आत्मन्! [तू] (**सहसा**) [अपने] साहस और बल से (**अन्यान्**) अन्य-भाव रखनेवाले (**सपत्नान्**) आन्तरिक शत्रुओं को (**सहस्व**) परास्त कर और (**अजातान्**)अनुत्पन्नों को (**प्रतिनुदस्व**) पहले से ही दूर रख। (**इदं राष्ट्रं**) इस शरीररूप राष्ट्र को (**सौभगाय**) सौभाग्य के लिए (**पिपृहि**) पूर्ण कर। (**विश्वेदेवाः**) सब इन्द्रियदेव (**एनम् अनुमदन्तु**) [शत्रु-पराजय के कार्य में] इस आत्मा का अनुमोदन करें।

हमारा शरीर एक राष्ट्र है। जीवात्मा इसका राजा या प्रधानमन्त्री है, परमात्मा परामर्शदाता है, मन शिक्षा-मन्त्री है, मस्तिष्क सूचना एवं प्रसारण-मन्त्री है, जिसके अधीन चक्षु श्रोत्र आदि अधिकारी कार्य करते हैं। अपने इस राष्ट्र को हमें सपत्नों[१] से, अवसर देखकर आनेवाले शत्रुओं से, बचाना है। जब कभी हम थोड़ा-सा भी असावधान होते हैं, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, इन षट् रिपुओं की सेना हमपर आक्रमण कर देती है। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान की आसुरी सम्पत्[२] से हम घिर जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ जिन्हें नरक का द्वार[३] कहा गया है, हमारे मन को पूर्णतः आक्रान्त कर लेते हैं। ज्ञानी आत्मा का सब ज्ञान नित्य-वैरी 'काम'-रूप दुष्पूर अनल से आवृत हो जाता है, यह इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को अपना अधिष्ठान बनाकर हमारे ज्ञान को आच्छन्न कर धूमिल कर देता है[४]। यह रजोगुण के प्राबल्य से उत्पन्न होनेवाला काम और क्रोधरूप वैरी ही है, जो मनुष्य को बलात् पाप में प्रेरित करता है[५]।

हे मेरे आत्मन्! तुम सतर्क होकर छानबीन करके एक-एक शत्रु को अपने साहस और अदम्य बल से ऐसा दबा दो कि वह फिर कभी सिर उठाने का साहस न करे। तुम इस बात की भी चौकसी रखो कि यदि कोई शत्रु अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु उनके उत्पन्न होने की आशंका है, तो उन्हें पहले से ही अवरुद्ध कर दो। अपने शरीर-राष्ट्र और भूमि के वातावरण को ऐसा बना दो कि शत्रु उसमें अंकुरित ही न हो सके और यदि उसका अंकुरण हो भी जाए, तो वह पनप न सके। तुम सौभाग्य के लिए अपने राष्ट्र को पूर्णता की ओर ले चलो। यदि कोई छिद्र उसमें हो भी गया है, तो उसे भर दो। तुम्हारे राष्ट्र के जो भी अधिकारी बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ आदि हैं, वे सब शत्रु-पराजय और सपत्नध्वंस के इस कार्य में तुम्हारे सहायक हों। ऐसा न हो कि वे तुम्हारे साथ विद्रोह करके शत्रु-बल के साथ जा मिलें। तुम्हारी विजय होगी, तुम्हारा राष्ट्र सुभग बनेगा।

हे बाह्य राष्ट्रों के राजाओ और राज्याधिकारियो! तुम भी अपने राष्ट्र को सौभाग्यवान् बनाने के लिए सावधान हो जाओ, राष्ट्र के सजग प्रहरी बनो और शत्रुओं का उन्मूलन कर राष्ट्र को सुख-समृद्धि के शिखर पर पहुँचाओ।

३२०. हम तपस्वी, आयुष्मान् और सुमेधावी बनें

अग्ने तपस्तप्यामह॒, उप तप्यामहे तपः॒।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयम्॒, आयुष्मन्तः सुमेधसः॒॥

—अथर्व० ७.६१.२

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **अग्निः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**अग्ने**) हे तपस्वी विज्ञानवान् परमेश्वर तथा आचार्य! [हम] (**तपः**) तप (**तप्यामहे**) तपते हैं, (**उप**) आपके सान्निध्य में रहते हुए (**तपः**) तप (**तप्यामहे**) तपते हैं। (**वयम्**) हम (**श्रुतानि**) आपकी आज्ञाओं तथा वेदों को (**शृण्वन्तः**) सुनते हुए (**आयुष्मन्तः**) आयुष्मान् [और] (**सुमेधसः**) सुमेधावी [हों]।

हे परमेश्वर! तुममें जैसे अन्य गुणों की पराकाष्ठा है, वैसे ही तप की भी पराकाष्ठा है, तुम्हारे ही तप से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है और तुम्हारे ही तप से इसका सञ्चालन हो रहा है। जैसे नट अनेक कठपुतलियों का सूत्रधार बनकर सबकी ओर ध्यान लगाये उन्हें नचाता है, ऐसे ही तुम जगत् की प्रत्येक व्यवस्था के सूत्रधार हो और प्रत्येक पदार्थ के सूत्र को अपने हाथ में थामे हुए, दृष्टि को सबमें केन्द्रित किए हुए, हाथ को साधे हुए नटवर की लीला कर रहे हो। यह तुम्हारे तप की ही साधना है। हे आचार्यवर! तुम भी तपस्वी हो, तप में साक्षात् अग्नि हो, तप की ही महिमा से तुम सहस्रों छात्रों के कुल के कुलपति बने हुए हो।

परमेश्वर और आचार्य के आदर्श को सम्मुख रखते हुए हम भी तप करते हैं। तप के बहुत-से रूप लोगों ने आविष्कृत किए हुए हैं। सामान्यः शरीर को कष्ट देना ही तप माना जाता है। तदनुसार कोई एक पैर से खड़े होने का तप साधता है, कोई चिरकाल तक धूप या पानी में खड़े होने का तप करता है, कोई खड़े और दण्डवत् लेटने के क्रम को दोहराता हुआ कोसों की दूरी तय करता है, कोई अनाहार द्वारा शरीर को कृश करता है। परन्तु वस्तुतः ये तप तबतक एकांगी हैं, जबतक आत्म-साधना के लिए नहीं किए जाते। दिखावे के लिए या दर्शकों को प्रभावित करने के लिए सहन किया गया शरीर-कष्ट तप नहीं, प्रत्युत अभ्यास-कौशल कहलाता है। अतः हम तो आत्म-संस्कार के लिए ही तप करते हैं। हम हर्ष-शोक, मान-अपमान, सुख-दुःख, शीत-आतप आदि द्वन्द्वों में सम-चित्त रहने के अभ्यासरूप तप को, तथा मन और इन्द्रियों की एकाग्रतारूप तप को साधते हैं। हे परमेश! हे आचार्यवर! हम तुम्हारे सान्निध्य में तप का अनुष्ठान करते हैं, जिससे तप में होनेवाली त्रुटियों की ओर तुम हमारा ध्यान आकृष्ट करते रहो।

हे परमात्मन् तथा हे आचार्यवर! जैसे तुम तपस्वी हो, वैसे ही महाज्ञानी और परम मेधावी भी हो। हम भी तुम्हारे सन्देशों को तथा तुमसे प्रदत्त वेद-ज्ञान को सुनते हुए ज्ञानी और मेधावी बनें। तुम्हारे समान हम आयुष्मान् भी बनें। शरीर से तो आयुष्मान् या पूर्ण आयु जीनेवाले बनें ही, साथ ही यश से भी आयुष्मान् बनें। हम ऐसे यशस्वी बनें कि इस नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी हमें जनता स्मरण करती रहे तथा हमारे गुणों से शिक्षा लेती रहे।

हे ज्योतिर्मय, तपोनिष्ठ, विज्ञानवान्, आयुष्मान्, मेधावी परमात्मन् तथा आचार्यवर! तुम हमें सच्चा तपस्वी, सच्चा श्रोता, सच्चा आयुष्मान् और सच्चा मेधावी बनाओ।

३२१. बन्ध-मुक्ति

वि ते मुञ्चामि रशनां[८], वि योक्त्रं वि नियोजनम्[९]।
इहैव त्वमजस्त्र एध्यग्ने[१०] ॥ —अथर्व० ७.७८.१

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **अग्निः**। छन्दः **विराट् परा उष्णिक्**।

(अग्ने) हे आत्मन्! [मैं परमात्मा या मैं आचार्य] **(ते)** तेरी **(रशनां)** [अविद्या, अस्मिता आदि पञ्च क्लेशों की] बन्धन-रज्जु को **(वि मुञ्चामि)** खोल देता हूँ, **(योक्त्रं)** [जन्म-मरण के] बन्धन को **(वि)** खोल देता हूँ, **(त्वं)** तू **(अजस्त्रः)** अक्षत [होता हुआ] **(इह एव)** इस मुक्तावस्था में अपने शुद्ध रूप में ही **(एधि)** रह।

हे आत्मन्! क्या तू बन्धनों में ही बँधा पड़ा रहेगा? मैं तेरा हित-चिन्तक बनकर तेरे बन्धनों को खोलने आया हूँ। मैं तेरी 'रशना' को अर्थात् अविद्या, अस्मिता आदि पञ्चक्लेशों की बन्धन-रज्जु को तुझसे खोलता हूँ। अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा समझना ही अविद्या है। द्रष्टा आत्मा और दर्शन में साधनभूत बुद्धि, इन दोनों को एक समझकर आत्मा को बुद्धि के समान शान्त, घोर, मूढ़ मान बैठना 'अस्मिता' है। सुखप्रद वस्तु के साथ चित्त का अनुराग हो जाना 'राग' है। दुःखप्रद वस्तु के साथ चित्त की द्वेष-बुद्धि होना 'द्वेष' है। 'कहीं मैं मर न जाऊँ' यह मृत्यु-भय हो अभिनिवेश है। इन पञ्चक्लेशों के बन्धन से सदुपदेश द्वारा मैं तुझे मुक्त करता हूँ। ये क्लेश चाहे तेरे अन्दर 'प्रसुप्त' अवस्था में हैं, चाहे 'तनु' अवस्था में हैं, चाहे 'विच्छिन्न' अवस्था में हैं, चाहे 'उदार' अवस्था में हैं, इनकी वृत्तियों को तू ध्यान द्वारा अपने अन्दर से निकाल दे।

हे आत्मन्! मैं तेरे 'योक्र' को अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन को भी तुझसे खोलता हूँ। तूने दुःखों से मुक्त होकर ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष पाने के लिए मानव-जन्म पाया है, पर तू उधर ध्यान न देने के कारण जन्म-जन्मान्तरों से जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा घुट रहा है। मैं तुझे मोक्ष का उपाय बताकर और उसका आचरण करवाकर इस बन्धन से मुक्त करता हूँ। मैं तेरे 'नियोजन' अर्थात् कर्म-पाश को भी खोल देता हूँ। फलेच्छा से किए गए कर्म अवश्य फल को उत्पन्न करते हैं और फल-भोग के लिए जन्म-धारण अनिवार्य होता है। परिणामतः इन बन्धनों के कारण मोक्ष प्राप्त नहीं होता। भविष्य में निष्काम कर्म करवाकर तथा कृत कर्मों का भोग द्वारा क्षय कराकर मैं तुझे कर्म-बन्धन से भी मुक्त कर देता हूँ। इस प्रकार सब बन्धनों से छूटकर तू अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान हो और मुक्ति के सुख का अनुभव कर।

हे शरीरधारी जीवात्मन्! विद्वान् आचार्य और परम प्रभु परमात्मा तुझे बन्ध-मुक्ति का उद्बोधन और आश्वासन दे रहे हैं, इन सहायकों को पाकर सद्यः तू बन्धन-मुक्त हो जा।

३२२. दिव्य पूर्णमासी

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा परस्ताद्[११], उन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय[११]।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा[११], नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम[११]॥

—अथर्व० ७.८०.१

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **पौर्णमासी**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(पश्चात्) पश्चिम में **(पूर्णा)** पूर्ण, **(उत)** और **(पुरस्तात्)** पूर्व में [तथा] **(मध्यतः)** मध्य में **(पूर्णा)** पूर्ण **(पौर्णमासी)** पूर्णिमा **(उत् जिगाय[१])** उदित होकर विजयिनी हो रही है। **(तस्यां)** उसमें **(देवैः)** दिव्यगुणों से **(संवसन्तः)** सम्यक् स्थिति प्राप्त करते हुए **(महित्वा)** महिमापूर्वक **(इषा[२])** विज्ञान द्वारा **(नाकस्य[३] पृष्ठे)** मोक्षलोक के पृष्ठ पर **(सं मदेम)** सम्यक् आनन्द-लाभ करें।

देखो, पूर्णमासी उदित हुई है। चन्द्रदेव हँसते हुए गगन-प्राङ्गण में विराजमान हैं। पश्चिम, पूर्व, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, मध्य में सर्वत्र शीतल चाँदनी छिटक गई है। चारों ओर सौम्य प्रकाश का वातावरण उमड़ रहा है। अमृत बरस रहा है। कैसा मधुर, शान्त, आह्लादकर वातावरण है! दिव्य चन्द्र-किरणों के साथ निवास करना कितना सुखद है! यह पूर्णमासी हमें अपने साहचर्य से महिमान्वित और अपने रस से आनन्दित कर रही है।

पूर्णिमा के इस भव्य दृश्य को देखकर हमने अपने अध्यात्मलोक में भी पूर्णिमा को उदित करने का प्रयास किया है। हमारे अन्दर मन-रूप चारु-चन्द्र की सौम्य चन्द्रिका चारों ओर फैल गई है। मन की वृत्तियों एवं मन के सङ्कल्प-विकल्प की शीतल और मञ्जुल किरणों से हमारा अन्तस्तल भरपूर हो उठा है। हमारी इन्द्रियाँ उस प्रकाश से प्रकाशित हो सत्यपथ की पथिक हो गयी हैं। आज हमारे नेत्र भद्र दृश्यों को ही देखते हैं, हमारे श्रोत्र भद्र शब्दों को ही सुनते हैं, हमारी रसना भद्र स्वादों को ही चखती है, हमारी नासिका भद्र गन्धों को ही सूँघती है, हमारी त्वचा भद्र स्पर्शों को ही ग्रहण करती है। कर्मेन्द्रियाँ भी भद्र कर्मों को कर रही हैं। बुद्धि भी भद्र निश्चय ले रही है। आत्मा भी भद्र इच्छा, भद्र सुख और भद्र ज्ञानों को ग्रहण कर रहा है। मनश्चन्द्र की भद्र चन्द्रिका में सबकुछ भद्र हो गया है। भद्र दर्शन है, भद्र श्रवण है, भद्र मनन है, भद्र निदिध्यासन है, भद्र ही प्राणों का व्यापार है। सर्वत्र पूर्णमासी खिली है, अङ्ग-अङ्ग में पूर्णता दृष्टिगोचर हो रही है। सब छिद्र, सब त्रुटियाँ, सब न्यूनताएँ समाप्त हो गयी हैं। हम चाहते हैं कि यह हमारी आध्यात्मिक पूर्णमासी मास में एक बार ही न आये, किन्तु सदा हमारे अन्दर व्याप्त रहे। उसकी पूर्णता में हम अपने दिव्य गुणों से उत्कृष्ट स्थिति पाते हुए, महिमाशाली होते हुए, अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा मुक्तिलोक को प्राप्त कर ब्रह्मानन्द का लाभ करें।

३२३. हम किसी क्षत्रिय की बाट जोह रहे हैं

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या[१०], उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्[११]।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः[११], को देवेषु वनुते दीर्घमायुः[११]॥

—अथर्व० ७.१०३.१

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **आत्मा**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**कः**) कौन (**क्षत्रियः**) क्षत्रिय (**वस्यः**[१]) प्रशस्ततर स्थिति को (**इच्छन्**) चाहता हुआ (**अस्याः**) इस (**अवद्यवत्याः**) निन्दनीय रूपवाली (**द्रुहः**) द्रोह की स्थिति से (**नः**) हमें (**उन्नेष्यति**) उबारेगा? (**कः**) कौन (**यज्ञकामः**) यज्ञ का अभिलाषी [है], (**उ**) और (**कः**) कौन (**पूर्तिकामः**) पूर्ति का अभिलाषी [है]? (**कः**) कौन (**देवेषु**) देवजनों को (**दीर्घं**) दीर्घ (**आयुः**) आयु (**वनुते**[२]) प्रदान करना चाहता है?

द्रोह की स्थिति बड़ी भयंकर होती है। भ्रातृ-द्रोह, मातृ-द्रोह, पितृ-द्रोह, समाज-द्रोह, राष्ट्र-द्रोह, देव-द्रोह आदि के शिकार होकर बड़े-बड़े सुखी परिवार, सुखी समाज और सुखी राष्ट्र विनष्ट हो गये हैं। जब विश्व-प्रेम के वैदिक सन्देश को विस्मृत कर मानव, मानव से द्रोह करने लगता है, तब विनाश की जो अग्नि धधकती है, उसमें सबकुछ स्वाहा हो जाता है।

दुर्भाग्य से आज मेरे देश में द्रोह चरमसीमा पर पहुँच चुका है। मेरे देश में समाज-द्रोह हो रहा है। मेरे देश को आन्तरिक कलह ग्रस रहा है। मेरे देश में देश को अपना न समझनेवालों की संख्या बढ़ रही है। वे लोग मेरे देश के नागरिक बने हुए हैं, जो अपनी राजभक्ति दूसरे देशों के प्रति रखते हैं। मेरे देश में ऐसे कलङ्कित नामवाले लोग भी हैं जो अपने राष्ट्र का भेद दूसरे देशों को देते हैं। मेरे देश में तस्करी का व्यवसाय हो रहा है। मेरे देश में घूसखोरी सुरसा के वदन के समान बढ़ रही है। मेरे देश में लुटेरे लोग अपना जाल फैला रहे हैं। मेरे देश में जाली मुद्रा ढल रही है। मेरे देश में नकली माल असली के नाम से बिक रहा है। देश-द्रोह की आग मेरे देश तक ही सीमित नहीं है, सारे विश्व में अन्दर-ही-अन्दर द्वेष और द्रोह की अग्नि सुलग रही है। कई विश्व-युद्ध हो चुके हैं और आज हम फिर विश्व-युद्ध के कगार पर खड़े हैं। आज पड़ोसी राष्ट्र पड़ोसी राष्ट्र की गतिविधियों से चिन्तित हैं; न जाने कब आक्रमण हो जाए, इस भय से संत्रस्त हैं। आज वैज्ञानिक-उन्नति का उपयोग विध्वंस के लिए हो रहा है। मारक अस्त्र संहार-लीला की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सुरक्षा-सेनाएँ युद्ध-ताण्डव की बाट जोह रही हैं। कूटनीतिज्ञों की कूटनीति अपना पैंतरा बदल रही है। सब इस स्थिति से भयभीत हैं।

कौन क्षत्रिय इस निन्दास्पद स्थिति से विश्व का उद्धार करेगा? कौन मन में विश्व-कल्याण की कामना लेकर कर्म-क्षेत्र में उतरेगा? कौन विश्व को यज्ञस्थली बनाने का प्रयास करेगा? कौन मानव-द्वेष और मानव-द्रोह के प्रलयंकर ताण्डव से जनित भीषण क्षति की पूर्ति करेगा? कौन मानव को और विश्व को पूर्णता की ओर ले जायेगा? कौन विश्व में 'देवत्व' का सूत्रपात करेगा? कौन दिव्य चिन्तन तथा दिव्य कर्म वाले देवजनों के जीवन को दीर्घ करके समस्त राष्ट्रों में एवं सम्पूर्ण विश्व में दिव्यता की तरंगें प्रवाहित करेगा? हम उत्सुकता के साथ उस क्षत्रिय की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

३२४. सुखदायक तीन व्रत

देवान् यन्नाथितो हुवे[८], ब्रह्मचर्यं यदूषिम[८]।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे[८], ते नो मृडन्त्वीदृशे[७]॥

—अथर्व० ७.१०९.७

ऋषिः **बादरायणिः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्**।

(यत्) जो **(नाथितः[१])** पीड़ित हुआ [मैं] **(देवान् हुवे[२])** देवजनों को पुकारता हूँ, **(यत्)** जो **(ब्रह्मचर्यं)** ब्रह्मचर्यपूर्वक **(ऊषिम[३])** [हमने] निवास किया है, [और] **(यत्)** जो **(बभ्रून्[४])** [विषय-भोगों की ओर] हरण करनेवाली **(अक्षान्)** इन्द्रियों को **(आलभे[५])** मारता हूँ, नियन्त्रित करता हूँ, **(ते)** वे सब **(ईदृशे)** इस प्रकार के कर्म में **(नः)** हमें **(मृडन्तु)** सुखी करें।

जीवन में मैं अनेक बार कष्टों से पीड़ित होता हूँ। मुझे कष्टापन्न देखकर कई दुर्जन मुझसे सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं और सहायता का हाथ बढ़ाकर मेरे हृदय को जीतना चाहते हैं, जिससे मैं उनके ऋण से दबकर भविष्य में उनके गुट में सम्मिलित होने से इनकार न कर सकूँ। पर मैं उनकी सहानुभूति के लिए धन्यवाद देकर स्पष्ट शब्दों में उनसे कोई सहायता लेना मना कर देता हूँ। मैं तो जब पीड़ित होता हूँ तब देवजनों को ही—शुद्ध आचरणवाले, तेजस्वी, मार्गदर्शक विद्वानों को ही—अपनी सहायता के लिए पुकारता हूँ और उनकी सद्भावना, सहानुभूति तथा सहायता पाकर अपने को धन्य मानता हूँ, क्योंकि उनकी दी हुई सहायता से मुझे पथभ्रष्ट होने का भय नहीं रहता। मेरा दूसरा व्रत ब्रह्मचर्य-पालन का है। मैं अपने जीवन की प्रभातवेला में आचार्याधीन ब्रह्मचर्यवास करता हूँ, वेद और ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन का व्रत लेकर कठोर नियमों का पालन और तप की साधना करते हुए वीर्यरक्षा करता हूँ। ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् अन्य आश्रमों में भी ब्रह्मचर्य-व्रत को विलुप्त नहीं होने देता। मेरा तीसरा व्रत इन्द्रिय-निग्रह का है। मैं स्वभाव से विषय-भोगों की ओर ले जानेवाली अपनी इन्द्रियों को तथा अन्तरिन्द्रिय मन को मारता हूँ, नियन्त्रित करता हूँ, इस प्रकार पूर्ण जितेन्द्रिय बनता हूँ। बड़े-से-बड़े प्रलोभन और आकर्षण मेरे संयम को भंग नहीं कर पाते।

सबके अग्रणी तेजोमय अग्नि प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि यह देवों का आह्वान, यह ब्रह्मचर्यवास और यह जितेन्द्रियता मेरे जीवन के अंग बन जायें और सदा ही मुझे सुखी, संतृप्त, आनन्दित करते रहें।

३२५. आशावादी बन

मैतं पन्थामनुगा भीम एष[११], येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि[११]।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था[११], भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्[११] ॥

—अथर्व० ८.१.

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **आयुः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(पुरुष) हे पुरुष! **(एतं पन्थां)** इस [निराशा के] मार्ग को **(मा अनुगाः)** अनुसरण मत कर, **(एषः)** यह **(भीमः)** भयंकर [है]। **(येन)** जिस [मार्ग] से **(पूर्वं)** पहले **(न इयथ)** [तू] नहीं चला है, **(तम्)** उस [आशा के] मार्ग को **(ब्रवीमि)** बतलाता हूँ। **(एतत् तमः)** इस [निराशा के] अन्धकार को **(मा प्र प्रत्थाः)** मत प्राप्त कर। **(ते)** तेरा **(भयं)** भय **(परस्तात्)** दूर [हो], **(अभयं)** निर्भयता **(अर्वाक्)** सम्मुख [आए]।

हे पुरुष! तू सोच रहा है कि रोगों से तू ऐसा आक्रान्त हो गया है कि अब मृत्यु का पञ्जा तेरे ऊपर पड़ने ही वाला है और तेरी आयु की डोर विच्छिन्न होने में अब कुछ ही क्षण शेष हैं। पर ऐसा मत सोच, तेरा रोग असाध्य नहीं है। तू मृतों के विषय में क्यों चिन्तन कर रहा है? तू सोचता है कि जैसे अमुक-अमुक लोग मृत्यु के ग्रास हो गये, वैसे ही मैं भी हो जाऊँगा। इस निराशा के मार्ग का अवलम्बन मत कर। यह बड़ा ही भयंकर है। इस मार्ग के पथिक होकर अच्छे-भले लोग मृत्यु के वशीभूत हो जाते हैं। आज मैं तुझे उस मार्ग का उपदेश करने लगा हूँ, जिसपर तू आज तक कभी नहीं चला है। वह है आशावाद का मार्ग। मत सोच कि तेरा कोई नहीं है, तू अकेला है, तुझे कोई नहीं बचा सकता। ये द्यावापृथिवी, ये सूर्य, ये विद्युत्, अग्नि, मेघ, नदियाँ, समुद्र, पर्वत, ओषधियाँ सब तेरे सहायक हैं। सब लोग जो तेरे सामने खड़े हैं अपना रक्तदान करके भी तुझे बचाने को उद्यत हैं। बस, तुझे निराशा के अन्धकार को भेदकर अपने मन में आशा का सञ्चार करना होगा। आशा का दीप जलते ही तेरी सब व्यथा और कराहट दूर हो जायेगी। तू मृत्यु की विभीषिका को त्याग दे, मनोबल को जागृत कर, निर्भय हो जा, तू दीर्घायु प्राप्त करेगा।

यदि तुझे मृत्यु का भय नहीं है, कोई अन्य प्रकार की निराशा तेरे मन में घर किए हुए हैं, जिसके कारण तेरे मन में यह मिथ्या धारणा बद्धमूल हो गई है कि तू संसार-समर में विजयी नहीं हो सकता, तो भी इस निराशा के काले तमस् को छिन्न-भिन्न कर दे। आशा की ज्योति तेरी ओर बढ़ रही है, उसका स्वागत कर। जो कोई भी भय तेरे अन्तःकरण में व्याप्त हो गया है, उसे तिलाञ्जलि दे दे। निर्भय हो, आशावान् हो, सफलता तेरे कदम चूमेगी।

३२६. तेरे सच्चे रक्षक

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षताम्[१२], अस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्[१३]।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्[१२]॥ —अथर्व० ८.१.१३

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **आयुः**। छन्दः **त्रिपदा भुरिक् महाबृहती**।

हे मनुष्य! (**बोधः च**) ज्ञान (**प्रतीबोधः च**) और प्रतिभा (**त्वा**) तुझे (**रक्षताम्**) रक्षित करें। (**अस्वप्नः च**) अप्रमाद (**अनवद्राणः[१] च**) और कुत्सित आचरण न करना (**त्वा**) तुझे (**रक्षताम्**) रक्षित करें। (**गोपायन् च**) आत्मरक्षा का गुण (**जागृविः च**) और जागरूकता का गुण (**त्वा**) तुझे (**रक्षताम्**) रक्षित करें।

हे मनुष्य! तू अपने को असहाय मत समझ। क्यों निराशा के गर्त में गिरा हुआ तू अपने को दीन, हीन, निष्प्राण और मृतकल्प समझ रहा है? भले ही कोई मानवी रक्षा तुझे समय पर प्राप्त न हो, तेरे अपने गुण ही तेरी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं। तू अपनी बुद्धि के उपयोग से और सद्-गुरुओं से प्राप्त शिक्षा-दीक्षा से 'बोध' या ज्ञान को अर्जित कर। जब तू आवश्यक बोध प्राप्त कर लेगा तब 'प्रतिबोध' अर्थात् प्रतिभा या प्रतिस्फुरणा की शक्ति भी तुझे प्राप्त हो सकती है। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा या प्रतिस्फुरणा कहते हैं। तू उसके बल से अज्ञात को भी जान सकेगा, अपरिचित का भी परिचय पा सकेगा। अदृष्ट, अश्रुत, अस्पृष्ट आदि को भी अनुभव कर सकेगा। फिर तेरे अन्दर 'अस्वप्न' और 'अनवद्राणत्व' भी उत्पन्न होना चाहिए। स्वप्न, आलस्य या प्रमाद मनुष्य के महान् शत्रु हैं और 'अवद्राणता' या कुत्सित चाल-चलन मनुष्य की समग्र सञ्चित यशःसम्पत्ति को विनष्ट कर देता है, अतः तू वेदादि शास्त्रों से, शास्त्र-ज्ञाताओं के उपदेश से और अनुभवी सत्पुरुषों के अनुभव से अपने कर्तव्य-अकर्तव्य को पहचानकर उसके अनुसार ही अपना आचार-व्यवहार बना। साथ ही तुझे आत्मरक्षा और जागरूकता की भावना भी अपने अन्दर बद्धमूल करनी होगी। जो अपना रक्षक स्वयं है, उसकी रक्षा करने के लिए अन्य लोग भी दौड़े चले आते हैं और जो परमुखापेक्षी हैं, उनकी रक्षा करने के लिए पुकार मचाने पर भी कोई नहीं आता। तुझे सदा जागरूक, चौकन्ना और सावधान भी रहना होगा, अन्यथा संसार की इस समर-स्थली में अनेक आधि-व्याधियाँ तुझे अपना ग्रास बनाने के लिए उद्यत हैं। यदि इन उपर्युक्त गुणों को तू अपने अन्दर धारण कर लेगा, तो तुझे किसी से संत्रस्त होने की आवश्यकता नहीं है, तेरी रक्षा स्वयं होगी, कोई तेरा बाल बाँका न कर सकेगा। तू पूर्णायु होगा, पूर्ण-काम होगा।

३२७. मधु जनूँ, मधु मांगूँ

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय[१२] ।
पयस्वानग्न आ गमं[८], तं मा संसृज वर्चसा[८] ॥

—अथर्व० ९.१.१४

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **मधुकशा (अग्निः)**। छन्दः **पुर उष्णिक्।**

[मैं] **(मधु)** मधु **(जनिषीय)** पैदा करूँ, [अन्यों से भी] **(मधु)** मधु की **(वंशिषीय[१])** याचना करूँ। **(अग्ने)** हे तेजोमय परमेश्वर! **(पयस्वान्)** रसवान् [होकर मैं] **(आगमं)** आया हूँ, **(तं मा)** उस मुझको **(वर्चसा)** तेज से **(संसृज)** संयुक्त कर।

आज विश्व में कटुता बढ़ती जा रही है, माधुर्य समाप्त होता जा रहा है। पर यदि हम विश्व को ईश्वरीय साम्राज्य बनाना चाहते हैं, तो इसे हमें मधुमय बनाना होगा। प्रकृति में सर्वत्र मधु बरस रहा है, क्या वहाँ से हम मधु सञ्चित नहीं कर सकते? प्राची में थिरकती प्रकाशवती उषाएँ मधु बरसा रही हैं। क्षितिज से झाँकता हुआ सूर्य मधु बरसा रहा है। शान्त चन्द्रिका के साथ गगन में मुस्कराता हुआ चाँद मधु बरसा रहा है। रात्रि में आकाश में छिटकती हुई तारिकाएँ मधु बरसा रही हैं। हरित पत्रावलि का शाल ओढ़े फूलों-फलों से लदी वनस्पतियाँ मधु बरसा रही हैं। हिमालय के हिम-धवल शिखर मधु बरसा रहे हैं। झर-झर बहती हुई निर्झरिणियाँ और पवन-स्पर्श से तरंगित होती हुई सरिताएँ मधु बरसा रही हैं। अन्तरिक्षस्थ मेघों से रिमझिम बरसती वर्षाएँ मधु बरसा रही हैं। भूमि पर व्याप्त मनोमोहक हरियाली मधु बरसा रही है। मैं चाहता हूँ कि यह मधु बिखरने न पाये, यत्न से इसे अपने हृदय की प्याली में सञ्चित कर लूँ।

मेरी उत्कट अभिलाषा है कि स्वयं मधु ही जनूँ तथा अन्यों से भी मधु ही की याचना करूँ। इकतरफा प्रयास से जगत् में मधु का प्रवाह नहीं बह सकता। यदि मैं यह व्रत धारण कर लूँ, दृढ़ सङ्कल्प कर लूँ कि मैं आज से मधु ही उत्पन्न करूँगा, अन्यों के प्रति मधु ही बरसाऊँगा, तभी मैं अन्यों से भी यह आशा कर सकता हूँ कि वे भी मेरे प्रति मधु का ही स्रोत बहायेंगे। अतः मैं आज से यह प्रण लेता हूँ कि मैं अपने मन, वाणी और कर्म से मधु को ही क्षरित करूँगा। भाइयो! इस मधुक्षरण में मैं तुम्हें भी निमन्त्रित करता हूँ। हम-तुम मिलकर यदि मधु क्षरित करें और मध्य में आनेवाली कटुता को दूर हटाते चलें तो एक दिन यह विश्व मधु से पूर्णतः भर जायेगा।

हे अग्निदेव! हे तेजोमय परमात्मन्! मैं मधुमय होकर तुम्हारे समीप आया हूँ। तुम मुझे वर्चस् से संयुक्त कर दो, क्योंकि वर्चस्विता-विहीन 'मधु' सच्चा मधु नहीं है। बादल के मधु में विद्युत् रूप मधुकशा चमकती है, मन के मधु में आन्तरिक वाणीरूप मधुकशा स्फुरित होती है। हे भगवन्! तुम्हारे आनन्द-मधु में भी तेजस्विता-रूप मधुकशा प्रज्वलित हो रही है। वह तेजस्विता की मधुकशा तुम मुझे भी प्रदान करो। मधु और वर्चस् दोनों की गंगा-जमुनी धारा मेरे अन्तःकरण को पवित्र करे, विश्व के समष्टिरूप अन्तःकरण को भी पवित्र करे। हे देव! मेरी इस कामना को पूर्ण करो।

३२८. मधु-मक्षिकाओं का दृष्टान्त

यथा मधु मधुकृतः[८], संभरन्ति मधावधि[८]।
एवा मे अश्विना वर्च[८], आत्मनि ध्रियताम्[६]॥

—अथर्व० ९.१.१६

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **अश्विनौ**। छन्दः **ककुम्मती अनुष्टुप्**।

(**यथा**) जैसे (**मधुकृतः**) मधुमक्षिकाएँ (**मधौ अधि**) मधु-कोश में (**मधु**) मधु (**संभरन्ति**) संगृहीत करती हैं, (**एव**) इसी प्रकार (**अश्विना**) हे [सूर्य-चन्द्र एवं प्राण-अपान रूप] अश्वी देवो! [तुम्हारे द्वारा] (**मे**) मेरे (**आत्मनि**) आत्मा में (**वर्चः**) वर्चस् (**ध्रियताम्**) धृत हो, संगृहीत हो।

मधु-मक्षिकाएँ उपवन के एक-एक पुष्प पर बैठकर उसका रसपान करती हैं और उस रस को ले-जाकर मधु-कोश में सञ्चित कर लेती हैं। शनैः-शनैः मधु-कोष में इतना मधु एकत्र हो जाता है कि वह मधु बहुतों की रसना को मधुर कर सकता है। आओ, संग्रह की यह कला मधु-मक्षिकाओं से हम भी सीखें। हम भी अपने जीवन के मधुकोष में मधु सञ्चित करें। प्रकृति की जिस वस्तु में भी मधु का कोई कण है, जिस मानव के भी व्यवहार में माधुर्य है, वहाँ से कण-कण लेकर हम भी स्वयं को मधु-कोष बनायें। जैसे मधु-मक्षिकाएँ मधुर रस को ही गृहीत करती हैं, कटु रस को नहीं, वैसे ही हम भी माधुर्य का ही ग्रहण करें, कटुता का नहीं। यह माधुर्य का वर्चस् हमें सतत-रूप से प्राप्त होता रहे।

पर इस माधुर्य के वर्चस् के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का वर्चस् भी है। वह तेजस्विता का वर्चस् है। हे अश्वी देवो! जैसे मधु-मक्षिकाएँ मधु-कोष में मधु सञ्चित करती हैं, वैसे ही मेरी आत्मा में तेजस्विता का वर्चस् संगृहीत हो। ये अश्वी-युगल कौन हैं? ये हैं प्रकृति में तेजस्विता के प्रतिनिधि सूर्य-चन्द्र और शरीर में तेजस्विता के प्रतिनिधि प्राण-अपान। सूर्य-चन्द्र भी तो मधु-मक्षिकाओं के गोलाकार छत्ते जैसे ही दिखाई पड़ते हैं, जिनमें तेज का मधु भरा हुआ है। एक में तैजस मधु है और दूसरे में सौम्य मधु है। ये मेरे आत्मा को भी तैजस एवं सौम्य वर्चस्विता से परिपूर्ण करें। प्राण-अपान में जीवनप्रदायक वर्चस् है, अतः ये मेरे आत्मा में भी जीवनशक्तिरूप वर्चस्विता प्रदान करें। इस प्रकार मेरा आत्मा मधु-कोष बन जाये, जिसमें विविध प्रकार के वर्चस् और विविध गुण आकर संगृहीत हो गये हों। जैसे मधु के छत्ते से मधु चूता है, वैसे मेरे आत्मा से माधुर्य, प्रेम, शान्ति, तेजस्विता आदि का मधु प्रस्यन्दित होता रहे।

३२९. आओ, 'अज' को पकाएँ

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति[११],
पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः[११]।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम[११] ॥ —अथर्व० ९.५.१८

ऋषिः **भृगुः**। देवता **पञ्चौदनः अजः**। छन्दः **त्रिपदा अनुष्टुप्।**

(पक्वः) पकाया हुआ **(पञ्चौदनः अजः)** पाँच ओदनोंवाला 'अज' आत्मा **(निर्ऋतिं बाधमानः)** [अविद्या, विपत्ति, विघ्न-शृंखला आदि] कृच्छ्रापत्ति को बाधित करता हुआ **(स्वर्गे लोके)** मोक्षलोक में **(दधाति)** पहुँचा देता है। [अतः] **(तेन)** उसके द्वारा, [हम] **(सूर्यवतः लोकान्)** सूर्यवाले लोकों को, अर्थात् ज्योतिष्मती अवस्थाओं को **(जयेम)** जीत लेवें।

क्या तुम जानते हो कि 'अज' को पकाने से स्वर्ग मिलता है ? पर कहीं 'अज' का अर्थ बकरा लेकर अनर्थ मत कर देना। शास्त्रकार बताते हैं कि तीन 'अज' हैं, जो अजन्मा या अनादि होने से 'अज' कहाते हैं—ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति। यहाँ जिस 'अज' को पकाने की बात कही गई है, वह 'अज'[१] हम सबका आत्मा है। उसके साथ पाँच प्रकार के ओदन भी हैं। ये पाँच ओदन हैं पाँच ग्राह्य विषय—रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श। इन्हें ग्रहण करने के कारण विषय-विषयिभाव-सम्बन्ध से पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी ओदन कहाती हैं। हमें अपने आत्मा को भी परिपक्व करना है और विषयग्राहक पाँचों इन्द्रियों को भी।

आत्मा अपने-आप में शुद्ध, पवित्र, ज्योतिष्मान् एवं आनन्दमय है[२]। शरीर धारण कर संसार में आकर वह विषयों में लिप्त हो अशुद्ध, अपवित्र, तमोमय और शोकग्रस्त हो जाता है। इन्द्रियाँ भी जो उसे लक्ष्य-प्राप्ति के साधन-रूप में मिली हैं, उसे भटकाने में निमित्त बन जाती हैं। यह सब आत्मा और इन्द्रियों की अपरिपक्वता का परिणाम है। अतः आओ, हम इन्द्रियों सहित अपने आत्मा को पकायें, तप और ज्ञान की अग्नि से परिपक्व करें। परिपक्व आत्मा परिपक्व इन्द्रियों को वैसे ही सन्मार्ग पर चला सकेगा, जैसे उत्तम सारथि सधे हुए घोड़ों को चलाता है। परिपक्व हुए आत्मा में मार्ग की समस्त विघ्न-बाधाओं को, विपत्तियों को सम्भावित असफलताओं को विध्वस्त करने की क्षमता उत्पन्न हो जाएगी और वह उन्नति के सोपानों पर आरोहण करता हुआ एक दिन अपने 'मोक्ष'-रूप लक्ष्य को उपलब्ध कर सकेगा। हम स्वर्गलोक को, मुक्तिधाम को, दिव्य सूर्य से जगमगाते लोकों को, मोक्ष की ज्योतिष्मती अवस्थाओं को जीत सकेंगे।

३३०. ब्रह्म की आँधी

यथा वातश्च्यावयति[८], भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्[१०]।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं[८], ब्रह्मनुत्तमपायति[८]॥ —अथर्व० १०.१.१३

ऋषिः **प्रत्यङ्गिरसः**। देवता **कृत्यादूषणम्**। छन्दः **विराड् उरोबृहती**।

(यथा) जिस प्रकार **(वातः)** वायु **(भूम्याः)** भूमि से **(रेणुम्)** धूल को **(च्यावयति)** च्युत कर देता है, उड़ा ले जाता है **(अन्तरिक्षात् च)** और आकाश से **(अभ्रम्)** मेघ को **(च्यावयति)** च्युत कर देता है, झकझोर गिरा देता है, **(एव)** उसी प्रकार **(मत्)** मेरे अन्दर से **(सर्वं)** सब **(दुर्भूतं)** दुर्भाव या पाप **(ब्रह्मनुत्तम्[१])** महान् परमेश्वर और वेद से उड़ाया जाकर **(अपायति[२])** दूर हो जाए।

जब मैं ईश्वरीय नियमों के अनुसार घटित होनेवाले प्रकृति के घटनाचक्र पर दृष्टिपात करता हूँ तब कभी-कभी मेरा मानस किसी-किसी घटना से ऐसा तरंगित हो उठता है कि मैं सोचने लगता हूँ कि यह घटना मेरे अन्दर भी क्यों नहीं घटित होती? आज मेरा ध्यान 'वायु' की ओर गया है। अभी प्रबल झंझावात आया था, सामने की धूल को उड़ा ले गया और अब यह भू-प्रदेश नितान्त स्वच्छ हो गया है। इस वायु की एक और करामात देखो, आँधी के बाद वृष्टि होने लगी है। आकाश में जो मेघ-घटाएँ छायी हुई थीं, उन्हें झकझोर कर वायु ने नीचे बरसा दिया है, जिससे स्नात होकर भूमि और भी अधिक निखर उठी है।

मैं चाहता हूँ कि मेरे अन्दर भी झंझावात उठे, ब्रह्म की आँधी आये, ईश्वरीय भावों और वैदिक भावनाओं का सायँ-सायँ करता हुआ अंधड़ उठे। मेरे हृत्पटल पर और मस्तिष्क-भूमि में जो दुर्भावों, पापों और वासनाओं की बहुत-सी धूल एकत्र हो गई है, उसे वह उड़ा ले जाये तथा मेरे अन्तःकरण और मस्तिष्क को निर्मल कर दे। जैसे कभी-कभी आकाश में जल-भरे बादल छाये रहने पर भी बरसते नहीं वैसे ही मेरे आत्मा में भी सद्भावों और सद्गुणों के बादल छाये हुए हैं, पर बरस नहीं रहे। 'ब्रह्म'-रूप पवन, ईश्वर और वेद का प्रबल प्रभञ्जन, उन सद्भावों और सद्गुणों को झकझोर कर हृदय और मस्तिष्क की भूमि पर बरसा दे। दुर्भावों के उड़ चुकने से निर्मल हुआ हृदय और मस्तिष्क उन सद्भावों और सद्गुणों को आत्मसात् कर लेने के लिए योग्य भूमि सिद्ध होगा। आओ, साधना द्वारा हम अपने अन्दर 'ब्रह्म' की आँधी उठायें और समस्त 'दुर्भूत' को उस आँधी के झोंके से उड़ाकर मन और मस्तिष्क की भूमियों को पवित्र कर लेवें।

३३१. निर्दोष की हत्या बड़ी भयंकर है

अनागोहत्या वै भीमा॑, कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः॑ ।
यत्र यत्रासि निहिता॑, ततस्त्वोत्थापयामसि॑ पर्णाल्लघीयसी भव॑ ॥

—अथर्व० १०.१.२९

ऋषिः **प्रत्यङ्गिरसः**। देवता **कृत्यादूषणम्**। छन्दः **मध्येज्योतिष्मती जगती।**

(अनागोहत्या) निरपराध की हत्या **(वै)** निश्चय ही **(भीमा)** भयंकर [है]। **(कृत्ये)** हे हिंसा-पिशाचिनी! **(नः)** हमारे **(गां)** गाय, **(अश्वं)** घोड़े और **(पुरुषं)** पुरुष को **(मा वधीः)** मत मार। **(यत्र यत्र)** जहाँ-जहाँ **(निहिता असि)** [तू] निहित है, **(ततः)** वहाँ से **(त्वा)** तुझे **(उत्थापयामसि)** [हम] उठा देते हैं। [तू] **(पर्णात्)** पत्ते से भी **(लघीयसी)** अधिक हल्की **(भव)** हो जा।

आज विश्व में हिंसा का ताण्डव-नृत्य हो रहा है। भाले, तलवार, हथगोले, बन्दूक की तो बात ही क्या, ऐसे-ऐसे परमाणु-गोले तैयार हो गये हैं, जो कोसों की दूरी से किसी समूचे राष्ट्र को क्षणभर में विध्वस्त कर सकते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने के मनसूबे बाँध रहा है, निराधार कलह हो रहे हैं, संग्राम छिड़ रहे हैं। राष्ट्रों की अपनी आन्तरिक स्थिति भी पारस्परिक तनाव, विद्वेष और हिंसा से परिपूर्ण है। परिणामतः हत्याएँ हो रही हैं, निरपराध तथा निर्दोष व्यक्ति मारे जा रहे हैं और उनकी लाशों पर खड़े होकर हम 'शान्ति' का नारा उठाने का दिखावा कर रहे हैं। यह स्थिति कब तक चलेगी? याद रखो, बेकसूर की हत्या बड़ी भयंकर है। उसकी आह से बड़े-से-बड़े आततायी, अत्याचारी और भीषण-से-भीषण हत्याकाण्ड के सूत्रधार एक-न-एक दिन धूल में मिल जाते हैं। अतः इस घोर हत्याकाण्ड को बन्द करो, विश्व के कोने-कोने में शान्ति, प्रेम और मित्रता के वैदिक सन्देश को ले जाओ।

हे हिंसा-पिशाचिनी! देख, तू उन निर्दोष गौओं को मार रही है जो अपने दूध से सबको तृप्त करती हैं; उन निर्दोष घोड़ों को मार रही है जो बड़े-बड़े बल के कार्यों में काम आते हैं; उन निर्दोष स्त्री-पुरुषों को मार रही है जो बेबस हो चिकित्सालयों में रोगी-शय्या पर पड़े हैं; उन निर्दोष श्रमिकों की हत्या कर रही है जो कारखानों में या अन्यत्र निर्माण-कार्यों में लगे हैं; उन निर्दोष शिशुओं, कुमारों और वयस्कों का प्राण हर रही है जो शिक्षणालयों में अध्ययन-रत रहते हुए अपना ज्ञानवर्धन कर रहे हैं; उन निरपराध राहगीरों की जान ले रही है जो घर से किसी सत्कार्य को पूर्ण करने निकले हैं। तू इस हत्याकाण्ड को बन्द कर दे। जहाँ-जहाँ भी तू निहित है वहाँ-वहाँ से हम तुझे उठा देते हैं। तूने कैसी ही दृढ़ता से अपनी जड़ें जमाई हुई हों, हम खींचकर तेरी जड़ों को हिला देते हैं और तुझे उठा फेंकते हैं। तू कितनी भी भारी हो, हमारे उद्यम के सम्मुख पत्ते से भी हल्की हो जा।

३३२. शरीर की नदियों को बहानेवाला कौन ?

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः[१२], पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः[११]।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा[१२], ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः[११]॥

—अथर्व० १०.२.११

ऋषिः **नारायणः**। देवता **पुरुषः (ब्रह्मप्रकाशनम्)** छन्दः **विराड् जगती।**

(कः) किसने **(अस्मिन् पुरुषे)** इस पुरुष में **(आपः)** रक्त-जल की नदियों को, रक्त-वाहिनियों को **(व्यदधात्)** रचा है, [जो] **(विषूवृतः)** विभिन्न रूपों में वर्तमान, **(पुरूवृतः)** बहुत मात्रा में विद्यमान, **(सिन्धुसृत्याय जाताः)** हृदय-सिन्धु में से तथा हृदय-सिन्धु की ओर बहने के लिए उत्पन्न, **(तीव्राः)** तीव्र गतिवाली, **(अरुणाः)** हल्के लाल रंग की, **(लोहिनीः)** गहरे लाल रंग की, **(ताम्रधूम्राः)** तांबे के धूम के समान नीली, **(ऊर्ध्वाः)** ऊपर जानेवाली, **(अवाचीः)** नीचे जानेवाली [और] **(तिरश्चीः)** तिरछे जानेवाली [हैं]।

यह मानव-शरीर बड़ा ही विलक्षण है। इसकी एक-एक कारीगरी पर मनोमुग्ध हो जाना पड़ता है। इसके अन्दर रचे हुए मस्तिष्क, चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका, ग्रीवा, वक्ष, उदर आदि तो विस्मयकारी हैं ही, पर इसमें जो हृदय-सिंधु से रक्त-जल की नदियाँ निकलती हैं और फिर शरीर की सब मलिनता को अपने अन्दर लेकर शुद्ध होने के लिए पुनः हृदय-सिंधु में आ जाती हैं, यह व्यवस्था तो और भी अधिक मन को चमत्कृत करनेवाली है। जो व्यवस्था बाह्य जगत् में चल रही है, वही इस लघु शरीर में भी है। बाहर भी समुद्र का अशुद्ध जल शुद्ध वाष्प में परिणत हो आकाश में जाता है और बादल बन भूमि पर बरसता है, जिससे अनेक नदियाँ प्रवाहित होती हैं, जो भूमि की मलिनता से मलिन हो वाष्पीकरण द्वारा शुद्ध होने के लिए पुनः समुद्र में जा मिलती हैं। ठीक-ठीक कहा जाए तो शरीर की व्यवस्था बाह्य व्यवस्था से भी अधिक सुन्दर है। इसमें शुद्ध और अशुद्ध रक्त की नदियाँ पृथक्-पृथक् हैं। हृदय-सिंधु के दो भाग हैं, वाम भाग में शुद्ध रक्त रहता है, वह महा-धमनि में पहुँच, वहाँ से छोटी धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में विभक्त हो जाता है। शरीर के अंगों की मलिनता से नीला होकर शिराओं द्वारा हृदय के दक्षिण भाग में पहुँच जाता है, जहाँ से शुद्ध होने के लिए वह फुफ्फुसों में भेजा जाकर शुद्ध हो पुनः हृदय के वाम प्रकोष्ठ में चला जाता है। वहाँ से फिर पूर्ववत् महा-धमनि द्वारा समस्त शरीर में संविभक्त हो जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

अहो, मानव-देह में किसने इन रक्त-जल की नदियों को रचकर स्थापित किया है, जो विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं और बहुत परिमाण में विद्यमाऩ हैं, जो हृदय-सिंधु से प्रवाहित होती हैं तथा शरीर में चक्कर काटकर बहते-बहते पुनः उसी सिंधु में आ जाती हैं, जिनकी गति बड़ी तीव्र है, जो धमनियों के रूप में हल्की लाल या गहरी लाल हैं और शिराओं के रूप में ताम्र-धूम वर्ण की हैं, जो शरीर में ऊपर, नीचे, तिरछे सर्वत्र दौड़ रही हैं। यह उस परम-पुरुष ब्रह्म की ही महिमा है, उसी की कला का कौशल है, उसी का चमत्कार है।

३३३. मूर्धा और हृदय का मेल

मूर्धानमस्य संसीव्या॑, ऽथर्वा हृदयं च यत्॑।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्॑, पवमानोऽधि शीर्षतः॑॥

—अथर्व० १०.२.२६

ऋषिः **नारायणः**। देवता **पुरुषः (ब्रह्मप्रकाशनम्)**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(पवमानः[१] **)** पवित्रता-दायक **(ऊर्ध्वः)** सजग **(अथर्वा**[२] **)** स्थितप्रज्ञ परमात्मा **(अस्य)** इस पुरुष के **(मूर्धानं)** मूर्धा को **(यत् च)** और जो **(हृदयं)** हृदय है, उसको **(संसीव्य**[३] **)** सम्यक् से सीकर **(शीर्षतः अधि)** सिर में विद्यमान **(मस्तिष्कात्)** मस्तिष्क से **(प्रैरयत्)** प्रेरणाएँ देता है।

मानव-शरीर में परमात्मा ने मस्तिष्क और हृदय ये दो विलक्षण वस्तुएँ स्थापित की हैं। मस्तिष्क की ज्ञानवाहिनी नाड़ियाँ सब इन्द्रियों तथा सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं, जो मस्तिष्क को तार-यन्त्र के समान सब खबरें देती रहती हैं। जो कुछ हम आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, जिह्वा से स्वाद लेते हैं, नासिका से गन्ध का अनुभव करते हैं, त्वचा से कोमल-कोठर आदि स्पर्श की अनुभूति प्राप्त करते हैं, वह सब मस्तिष्क की इन ज्ञानवाहिनी नाड़ियों द्वारा ही सम्भव होता है। मस्तिष्क ज्ञान का प्रधान साधन है, बुद्धि-तत्त्व भी इसी से सम्बद्ध है। मस्तिष्क एवं बुद्धि द्वारा मनुष्य पापात्मक या पुण्यात्मक, सहानुभूतिपूर्ण या संहारक, दोनों प्रकार के ही निश्चय कर सकता है। यदि मानव के पास केवल मस्तिष्क और बुद्धि ही होते तो वह किसी नियामक के न होने पर उक्त दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार के निश्चय करने में स्वतन्त्र होता।

परन्तु मानव-शरीर की रचना करने में प्रभु बड़े ही सजग हैं। उन्होंने मस्तिष्क और बुद्धि के साथ मानव-शरीर में हृदय को भी उत्पन्न किया है। मस्तिष्क ज्ञान-प्रधान है, तो हृदय भावना-प्रधान है। भावुकता, दया एवं कल्याणमयी भावनाओं का स्रोत हृदय ही है। परमेश्वर क्योंकि पवित्रतादायक (पवमान) और स्वयं स्थितप्रज्ञ (अथर्वा) हैं, अतः वे मानव को पवित्र और स्थितप्रज्ञ ही बनाना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय को सी दिया है, उनमें उचित सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यदि दोनों में सामञ्जस्य स्थापित रहता है तो उसका यह परिणाम होता है कि न तो मस्तिष्क हृदय पर हावी होता है, न हृदय मस्तिष्क पर। मस्तिष्क एवं बुद्धि हृदय के परामर्श से कल्याणमय ही निश्चय करते हैं। आज जो विश्व संहार की ओर जा रहा है, उसका कारण यही है कि उसके नेताओं ने बुद्धि के साथ हृदय का सन्तुलन नहीं रखा है, अन्यथा वैज्ञानिकों द्वारा किये गये बड़े-बड़े आविष्कार संहारक न होकर लोकहितकारक होने चाहिए थे।

परमेश्वर की व्यवस्था यह है कि मस्तिष्क और हृदय के सामञ्जस्य से हम निश्चय करें और उस निश्चय को क्रियारूप में परिणत करने के लिए मस्तिष्क अपनी प्रेरणावाहिनी नाड़ियों द्वारा अंगों को प्रेरणा देता रहे। आओ, हम परमेश्वर की इस व्यवस्था का पालन करें।

३३४. वह सबका केन्द्र है

इदं सवितर् विजानीहि[१], षड् यमा एक एकजः[८]।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते[८], य एषामेक एकजः[८]॥

—अथर्व० १०.८.५

ऋषिः **कुत्सः**। देवता **आत्मा**। छन्दः **भुरिग् अनुष्टुप्**।

(सवितः) हे आत्मन्! **(इदं)** इसको **(विजानीहि)** जानो **(षड्)** छह **(यमाः)** सहजात भाई [हैं], **(एकः)** एक **(एकजः)** अकेला उत्पन्न [है]। **(यः)** जो **(एषां)** इनमें **(एकः)** एक **(एकजः)** अकेला उत्पन्न [है], **(तस्मिन् ह)** उसमें ही [सहजात भाई] **(आपित्वं)** सम्बन्ध को **(इच्छन्ते)** चाहते हैं।

छह सहजात सन्तानें हैं और एक अकेला उत्पन्न पुत्र है। जो एक अकेला पुत्र है, उसी के साथ छहों सहजात सन्तानें जुड़ी हुई हैं। क्या तुम इस पहेली को समझे? छह सहजात सन्तानें हैं छह ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त। ये छहों ऋतुएँ एक अकेले पुत्र संवत्सर-चक्र में अर्पित हैं। अधियज्ञ में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, यजमान-पत्नी, यजमान छह सहजात सन्तानें हैं, जो एकाकी यज्ञ के साथ सम्बद्ध हैं। शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन छह सहजात हैं, जो एक आत्मा में केन्द्रित हैं। शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयरूप पञ्चकोष और आत्मा, ये छहों भी एक परमात्मा में केन्द्रित हैं। इसी प्रकार पृथिवीलोक और अग्नि, अन्तरिक्षलोक और वायु, द्युलोक और सूर्य ये भी छह सहजात हैं, जो एक परमात्मा में केन्द्रित हैं। पञ्चभूत और जीवात्मा, ये छहों भी एक परमात्मा के आश्रय में हैं।

महत्त्व उसका होता है जो अपने में अन्यों को केन्द्रित करता है, क्योंकि उसके अभाव में केन्द्रित होनेवाली वस्तुएँ इधर-उधर बिखर जायें। इस दृष्टि से उपर्युक्त एकज संवत्सर, यज्ञ, आत्मा और परमात्मा ही प्रमुख ठहरते हैं। किन्तु संवत्सर, यज्ञ और आत्मा भी एकाकी परमात्मा में आश्रित हैं। अतः अनन्तः परमात्मा ही माला के मणकों को सूत्र के समान सबको अपने में ग्रथित किये हुए है। परमात्मा सूत्रों का सूत्र है, सबका अन्तर्यामी है। सब ऋतुओं में, सब ऋत्विजों में, सब इन्द्रियों में, शरीर के सब कोषों में, सब भूतों में सूत्र के समान व्याप्त होता हुआ वह उन्हें धारण कर रहा है। वह अक्षर-ब्रह्म है, जो सब क्षर पदार्थों को, रथ-चक्र के अरों को नाभि के समान अपने में केन्द्रित किए हुए है। अतः वही एक पूजनीय है, सबका आराध्य है, प्राप्तव्य है, अन्तिम गति है।

३३५. दो अरणियाँ

यो वै ते विद्यादरणी, याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत, स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥

—अथर्व० १०.८.२०

ऋषिः **कुत्सः**। देवता **आत्मा**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(यः) जो **(वै)** निश्चय से **(ते अरणी)** उन अरणियों को **(विद्यात्)** जान ले, **(याभ्यां)** जिनसे **(वसु)** ब्रह्मानन्दरूप ऐश्वर्य **(निर्मथ्यते)** मथकर निकाला जाता है, **(स विद्वान्)** वह विद्वान् **(ज्येष्ठं)** ज्येष्ठ ब्रह्म को **(मन्येत)** जान सकेगा, **(सः)** वही **(महत्)** महान् **(ब्राह्मणं[१])** ब्रह्म-प्रोक्त वेद को **(विद्यात्)** जान सकेगा।

यज्ञों में उत्तरारणि और अधरारणि इन दो अरणियों को तीव्रता से रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती है। इसे अरणि-मन्थन या अग्नि-मन्थन कहते हैं। पर आज तो हम भौतिक अग्नि के मन्थन की नहीं, प्रत्युत 'दिव्य वसु' के मन्थन की बात कर रहे हैं। क्या तुम उन अरणियों को जानते हो जिनके मन्थन से ब्रह्मानन्दरूप दिव्य वसु प्राप्त होता है। प्राचीन ऋषि अपने अनुभव से हमें बताते हैं कि आत्मा का अपना देह, अर्थात् आत्मा स्वयं नीचे की अरणि है और प्रणव (ओंकार) ऊपर की अरणि है। आत्मा द्वारा मन एवं बुद्धि से ओंकार का ध्यान करना ही मन्थन कहाता है और उस अरणि-मन्थन से परमदेव परमेश्वर के दर्शन होते हैं[१]। जैसे तिलों में तेल, दही में घृत, सोतों में जल और अरणियों में अग्नि छिपा रहता है, वह क्रमशः कोल्हू द्वारा पेरने, मथानी द्वारा मथने, अवरोधक चट्टान को हटाने और अरणियों को रगड़ने से प्रकट होता है, वैसे ही परमात्मा जीवात्मा के अन्दर ही छिपा बैठा है, जब आत्मारूप अरणि में प्रणवरूप उत्तरारणि का मन्थन होता है तब वह आविर्भूत हो जाता है[२]। उसके आविर्भाव से 'वसु' या ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है।

मन्त्र कह रहा है कि जो 'वसु' प्राप्त करानेवाली अरणियों को जानता है वही 'ज्येष्ठ' को जानता है। यह 'ज्येष्ठ' वह सबसे बड़ा देव है, जिसका स्तुति-गान वेद में इस प्रकार किया गया है कि जो 'भूत का, भव्य का तथा वर्तमान सब वस्तुओं का अधिष्ठाता है और जिसका स्वरूप केवल प्रकाशमय या आनन्दमय है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को मेरा नमस्कार है'[३]। पूर्वोक्त अरणियों का ज्ञाता ही 'ब्राह्मण' को अर्थात् ब्रह्म-प्रोक्त वेद को जानता है, क्योंकि वेद के अनुसार ही वेद के शब्दार्थ मात्र का ज्ञाता वस्तुतः वेद का ज्ञाता नहीं है, अपितु जो ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों को जानकर ब्रह्म का अनुभव करता है वही सच्चा वेदज्ञ है[४]। आओ, हम भी 'वसु'-मन्थन की साधनभूत अरणियों को जानकर और उन्हें रगड़कर ज्येष्ठ ब्रह्म के दर्शन पाकर ब्रह्मानन्दरूप वसु को प्राप्त करें और वेदज्ञ कहलाने के अधिकारी हों।

३३६. सबको ओत-प्रोत करनेवाला सूत्र

यो विद्यात् सूत्रं विततं[८], यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः[८]।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्[८], स विद्याद् ब्राह्मणं महत्[८]॥

—अथर्व० १०.८.३७

ऋषिः **कुत्सः**। देवता **आत्मा**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(यः) जो **(विततं)** फैले हुए **(सूत्रं)** [उस] सूत्र को **(विद्यात्[१])** जान ले **(यस्मिन्)** जिसमें **(इमाः प्रजाः)** ये प्रजाएँ **(ओताः)** ओत-प्रोत हैं, [और] **(यः)** जो **(सूत्रस्य सूत्रं)** सूत्र के सूत्र को **(विद्यात्)** जान ले, **(सः)** वह **(महत् ब्राह्मणं[२])** महान् ब्राह्मण को वेदवर्णित परमेश्वर को **(विद्यात्)** जान लेगा।

एक सूत्र है, जिसमें सब प्रजाएँ अर्थात् उत्पन्न सब जड़-चेतन पदार्थ ऐसे ही ओत-प्रोत हैं, जैसे माला के मणके माला के सूत्र में ओत-प्रोत होते हैं। पर वह सूत्र भी अन्तिम नहीं है, वह भी किसी में ओत-प्रोत है। उस सूत्र को जिसने जान लिया है, वही सच्चा ब्रह्मवेत्ता है।

यही सूत्र-विषयक प्रश्न बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी वाचक्नवी महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछती है। जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो द्यावापृथिवी के मध्य में है, जो भूत, वर्तमान या भविष्य है, वह सब किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य का उत्तर है कि वह सब 'आकाश' में ओत-प्रोत है। पुनः गार्गी पूछती है—आकाश किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि आकाश उस 'अक्षर ब्रह्म' में ओत-प्रोत है जो न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न लाल है, न चिकना है, जो अ-संग है, अ-रस है, अ-गंध है, अ-चक्षु है, अ-श्रोत्र है, अ-वाक् है, अ-मन है, अ-तेज है, अ-प्राण है, अ-मुख है, अ-मात्र है। इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य-चन्द्रमा स्थित हैं, इसी अक्षर के प्रशासन में द्यावापृथिवी स्थित हैं, इसी अक्षर के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर स्थित हैं। यह 'अक्षर ब्रह्म' सबका द्रष्टा है, सबका श्रोता है, सबका मन्ता है, सबका विज्ञाता है; इससे बढ़कर कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है। यही वह सूत्र है, जिसमें आकाश ओत-प्रोत है, यही सूत्र का सूत्र है। याज्ञवल्क्य के इस उत्तर से गार्गी को अपने प्रश्न का समाधान मिल गया है।

इसी शृंखला को आगे बढ़ायें तो प्राणरूप सूत्र में सब वस्तुएँ ओत-प्रोत हैं और प्राण परब्रह्म में ओत-प्रोत है, अतः परब्रह्म सूत्र का सूत्र है। सब प्रजाएँ राष्ट्र में ओत-प्रोत हैं और राष्ट्र परब्रह्म में ओत-प्रोत है, अतः परब्रह्म सूत्र-का-सूत्र है। सब शारीरिक प्रजायें, अर्थात् इन्द्रियाँ, मन आदि आत्मा में ओत-प्रोत हैं और आत्मा परब्रह्म में ओत-प्रोत है, अतः परब्रह्म सूत्र का सूत्र है। सब मानवीय प्रजाएँ यज्ञ में ओत-प्रोत हैं और यज्ञ परब्रह्म में ओत-प्रोत है, अतः परब्रह्म सूत्र का सूत्र है। सब ग्रह-उपग्रह-रूप प्रजाएँ सूर्य में ओत-प्रोत हैं और सूर्य परब्रह्म में ओत-प्रोत है, अतः परब्रह्म सूत्र का सूत्र है।

आओ, हम भी सूत्रों के सूत्र उस परब्रह्म में अपने जीवनरूप मणके को पिरोकर स्वयं को गौरवान्वित करें।

३३७. मेरा सब धन ब्राह्मणों पर न्यौछावर है

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं११, पक्वं क्षेत्रात् कामदुधा म एषा११।
इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु११, कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः१०॥

—अथर्व० ११.१.२८

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **ओदनः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**

(**इदं**) यह (**मे**) मेरा (**हिरण्यं**) सुवर्ण है, [जोकि] (**ज्योतिः**) ज्योति-रूप[1], और (**अमृतं**) अमृत-रूप[2] [है]। [यह] (**क्षेत्रात्**) खेत से [आया हुआ] (**पक्वं**) परिपक्व अन्न [है]। (**एषा**) यह (**मे**) मेरी (**कामदुघा**) कामधेनु [है]। (**इदं धनम्**) इस धन को (**ब्राह्मणेषु**) ब्राह्मणों में (**निदधे**) रख देता हूँ, दान कर देता हूँ। (**पितृषु**) पितृजनों के प्रति (**पन्थां कृण्वे**) [उस] मार्ग का अवलम्बन करता हूँ (**यः**) जो (**स्वर्ग्यः**[3]) [उन्हें] सुख देनेवाला [हो]।

मेरे राष्ट्र में अनेक ज्ञानी सेवाव्रती ब्राह्मण हैं। कई निस्स्वार्थ, निष्ठावान्, तपःपूत आचार्यजन गुरुकुलों में आसन जमाकर बैठे हुए हैं, जिनके पास सैकड़ों शिष्य विद्या और सदाचरण की साधना में तल्लीन हैं। कई ब्रह्मवित् योगाश्रम खोलकर साधकों को योग का प्रशिक्षण दे रहे हैं। बहुत-सी सभा-संस्थाएँ सच्चरित्र विद्वान् उपदेशकों को ग्राम-ग्राम, नगर-नगर भेजकर ज्ञान-पिपासुओं के लिए उपदेश की अमृतवर्षा करा रही हैं। अनेक ब्राह्मण-वृत्तिवाले भिषगाचार्य धर्मार्थ चिकित्सालय खोलकर आतुरों की सेवा कर रहे हैं। ब्राह्मणों द्वारा चलाये जा रहे ऐसे सब सेवा-कार्यों के लिए धन कहाँ से आयेगा? इन्हें तो बिना माँगे धन मिलना चाहिए। मैं तो आज अपना धन ऐसे ही ब्राह्मणों के चरणों में रख रहा हूँ। मेरे पास 'हिरण्य' है, जो निर्धनता और निराशा के अन्धकार में ज्योति का काम करता है, जो विपद्ग्रस्त मरणासन्न असहायों का 'अमृत' होता है। मेरे पास खेत से पककर आया हुआ अन्न खलिहानों में भरा है। मेरे पास दुधारू कामधेनुएँ हैं, जो अपने दुग्ध, नवनीत, घृत, दधि, तक्र आदि से अनेकों का मनोरथ पूर्ण कर सकती हैं। अपना यह सब धन मैं ब्राह्मण-संस्थाओं को और ब्राह्मण व्यक्तियों को दान कर रहा हूँ। अपने पास केवल उतना ही रख रहा हूँ, जितना मेरे निर्वाह के लिए आवश्यक है। फिर कमाऊँगा, फिर दान करूँगा, क्योंकि ब्राह्मणों के कार्यों का अविच्छिन्न गति से चलते रहना मुझ जैसे दानियों पर ही निर्भर करता है।

इसके अतिरिक्त पितृजनों के प्रति, अर्थात् परिवार और समाज के जीवित पितरों के प्रति भी मेरा कुछ कर्तव्य है, जो अब वृद्ध हो जाने के कारण स्वयं जीवन-निर्वाह में असमर्थ हैं। उनके प्रति भी मैं ऐसे मार्ग का अवलम्बन करता हूँ, जिससे वे सुखी हों तथा उनका आशीर्वाद मुझे प्राप्त होता रहे।

३३८. पशुपति को नमस्कार

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय[१], दशकृत्वः पशुपते नमस्ते[१]।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता[१], गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः[१] ॥

—अथर्व० ११.२.९

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **भवः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(पशुपते) हे पशुपति परमात्मन्! **(भवाय[१] ते)** तुझ सृष्टिकर्ता सर्वव्यापक को, **(चतुः)** चार बार **(नमः)** नमस्कार, **(अष्टकृत्वः)** आठ बार [और] **(दशकृत्वः)** दस बार **(नमः)** नमस्कार। **(गावः)** गौएँ, **(अश्वाः)** घोड़े, **(पुरुषाः)** पुरुष [और] **(अजावयः)** बकरियाँ व भेड़ें, **(इमे)** ये **(तव)** तेरे **(पञ्च पशवः[२])** पाँच प्राणी **(विभक्ताः)** [विभिन्न क्षेत्रों में] विभक्त हैं।

हे परमेश्वर! तुम पशुपति हो। यह जो नन्दी बैल पर सवारी करने तथा उसका स्वामी होने के कारण महादेव के पशुपतिरूप की कल्पना की गई है, वह वेदों के बाद की कल्पना है। प्रस्तुत मन्त्र में पशु शब्द सामान्यतः प्राणी-अर्थ में प्रयुक्त है, अतः तुम्हें पशुपति कहने का आशय है कि तुम समस्त प्राणधारियों के स्वामी और रक्षक हो। तुम्हारा नाम 'भव' भी है, क्योंकि तुम सृष्टि के कर्त्ता हो तथा सृष्टि में सर्वत्र व्यापक हो। यद्यपि तुम सम्पूर्ण सृष्टि के ही स्रष्टा हो, जिसमें चराचर सब जगत् आ जाता है, तो भी उस सृष्टि के उल्लेखनीय सात्त्विक प्राणी पाँच हैं—गाय, घोड़े, पुरुष, बकरियाँ और भेड़ें। गाय अपने दूध, दही, नवनीत, तक्र, गोमय, चर्म, शृङ्ग आदि से हमारा उपकार करती है और बछड़े-बछड़ियाँ देकर उस उपकार-सन्तति को अविच्छिन्न बनाये रखती है। घोड़े रथ-वाहन आदि बल के कार्यों में साधन बनते हैं। 'पुरुष' से यहाँ मनुष्य-जाति गृहीत है, जिसमें नर-नारी दोनों समाविष्ट हैं। मनुष्य तुम्हारी एक अद्‌भुत कृति है, जो मन और बुद्धि की विशेषता के कारण चेतन जगत् का सिरमौर बना हुआ है तथा अपने मनन सङ्कल्प, एवं अध्यवसाय से नवीन-नवीन लोकोपयोगी आविष्कार कर सकता है। भेड़ें अपने शरीर से ऊन देकर हमारा हित-साधन करती हैं। बकरियाँ अपने स्वास्थ्य-प्रद दूध आदि से हमें लाभ पहुँचाती हैं। हे परमात्मन्! तुम इन पाँचों प्राणियों के स्वामी और रक्षक हो। वेद ने तो तुम्हें इन पशुओं का स्वामी और रक्षक होने के कारण 'पशुपति' कहा है, पर यह अनर्थ की पराकाष्ठा है कि कुछ अविवेकी लोगों ने तुम्हें इनका भक्षक बना दिया है और तुम्हारे नाम पर वे इनकी बलि देने लगे। वस्तुतः क्योंकि तुम इनके रक्षक हो, अतः गोमेध, अश्वमेध, पुरुषमेध, अजमेध और अविमेध यज्ञों में गौ, अश्व आदि की बलि नहीं प्रत्युत इनका उत्तम संग्रह होना चाहिए। हे प्रभु! हम तो तुम्हारे सच्चे 'पशुपति' और 'भव' रूपों पर मस्तक नवाते हैं। 'भव' के साथ हमारे सम्मुख तुम्हारा 'शर्व', अर्थात् प्रलयंकर-रूप भी उपस्थित हो जाता है, क्योंकि 'भव' बनकर जिस जगत् को तुम उत्पन्न करते हो, कार्य-वस्तु होने से उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। हे पशुपति! हे भव! हे शर्व! हे रुद्र! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। प्रातः-सायं दो बार संध्या-वन्दन के समय तो नमस्कार करते ही हैं, इसके अतिरिक्त जब भी हमें तुम्हारा ध्यान आता है, हम तुम्हारे प्रति प्रणत हो जाते हैं। तुम्हें चार बार, आठ बार, दस बार नमस्कार करते हैं।

३३९. जागरूक प्राण

उध्र्वः सुप्तेषु जागार, ननु तिर्यङ् निपद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥

—अथर्व० ११.४.२५

ऋषिः **भार्गवो वैदर्भिः**। देवता **प्राणः**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्।**

[प्राण] **(सुप्तेषु)** [इन्द्रियों के] सो जाने पर [भी] **(ऊर्ध्वः)** उत्थित होकर **(जागार)** जागता रहता है, **(ननु)** क्या कभी [वह] **(तिर्यक्)** तिरछे **(नि पद्यते)** लेटता है? **(सुप्तेषु)** सोते हुए प्राणियों में **(अस्य)** इसके **(सुप्तं)** सोने को **(कश्चन)** किसी ने **(न)** नहीं **(अनु-शुश्राव)** परम्परा से सुना है।

क्या तुमने कभी देखा है कि मनुष्य के सो जाने पर उसका प्राण भी सो जाता हो? नहीं, प्राणापान की गति उस समय भी होती रहती है। उसके समाप्त होने पर तो मनुष्य मृत ही हो जाए। प्रश्नोपनिषद् के ऋषि ने कहा है कि जब मनुष्य सोता है तब उसकी इन्द्रियाँ भी मन में लीन होकर सो जाती हैं। इन्द्रियों के सो जाने के कारण ही स्वप्नावस्था में मनुष्य न आँख से दृश्यों को देखता है, न कानों से शब्द सुनता है, न वाणी से बोलता है, न जिह्वा से स्वाद लेता है, न घ्राण से सूँघता है, न त्वचा से स्पर्श की अनुभूति करता है। किन्तु प्राणाग्नियाँ उस समय भी देह-पुरी में जागती रहती हैं। यदि प्राण यह सोचे कि इन्द्रियाँ तो सो गईं, मैं भी थोड़ी देर के लिए विश्राम कर लूँ, तो देह-नगरी उजड़ जाए। प्राण का सोजाना तो दूर रहा, वह तो लेटता भी नहीं, जागरूक रहकर देह-पुरी की चौकसी करता रहता है।

शरीर में कुछ धारकदेव हैं और कुछ प्रकाशक। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशरूप पञ्च तत्त्व धारक देव कहलाते हैं, क्योंकि इन्हीं से शरीर की रचना हुई है, इनके बिना शरीर धृत नहीं रह सकता। वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि इन्द्रियाँ शरीर के प्रकाशक देव कहलाते हैं, क्योंकि इनसे ही वह बोलता, देखता, सुनता, सङ्कल्प-विकल्प आदि करता है। प्राण धारक देव भी है और प्रकाशक देव भी तथा अन्य सब धारक एवं प्रकाशक देवों में वरिष्ठ है। जैसे शहद के छत्ते में से रानी मधुमक्खी के उड़ जाने पर अन्य सब मधु-मक्खियाँ उड़ जाती हैं, रानी मधुमक्खी के छत्ते में प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रतिष्ठित हो जाती हैं, वैसे ही प्राण यदि शरीर से निकल जाए, तो अन्य सब धारक-प्रकाशक देव भी निकल जाते हैं; प्राण के प्रतिष्ठित होने पर ही वे प्रतिष्ठित हो सकते हैं।

अतएव शरीर में महाप्राण अतिशय शक्ति-सम्पन्न वस्तु है। वह स्वयं को प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँच रूपों में विभक्त करके शरीर के विभिन्न अंगों में स्थापित किए हुए हैं, जैसे किसी राज्य का सम्राट् अपने विंभिन्न अधिकारियों को राज्य के विभिन्न प्रदेशों में रक्षा एवं व्यवस्था के लिए नियुक्त कर देता है। इस प्रकार प्राण शरीर-पुरी का राजा है। आओ, अन्य शारीरिक शक्तियों के सो जाने पर भी कभी न सोनेवाले, सदा जागरूक प्राण के महत्त्व को हम समझें और उसे बलवान् बनाये रखने का यत्न करते रहें।

३४०. चारों आश्रमों का आधार ब्रह्मचर्य

आचार्यो ब्रह्मचारी[७], ब्रह्मचारी प्रजापतिः[८]।
प्रजापतिर्विराजति[८], विराडिन्द्रोऽभवद् वशी[८] ॥

—अथर्व० ११.५.१६

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **ब्रह्मचारी**। छन्दः **निचृद् अनुष्टुप्**।

(आचार्यः) आचार्य **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी [होता है], **(प्रजापतिः)** प्रजापालक गृहस्थ **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी [होता है]। **(प्रजापतिः)** प्रजापालक गृहस्थ **(विराजति[१])** ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी वानप्रस्थ बनता है, **(विराट्[२])** ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी वानप्रस्थ **(वशी इन्द्रः)** ब्रह्मचर्य के वशित्व से युक्त संन्यासी **(अभवत्)** बनता है।

वैदिक संस्कृति के अनुसार मानव-जीवन के चार सोपान हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इन सभी का मूलाधार ब्रह्मचर्य है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्य-रक्षा तक ही सीमित समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ बहुत व्यापक है। ब्रह्मचर्य का ठीक अर्थ है व्रताचरण या व्रताभ्यास। प्रत्येक आश्रम में कुछ व्रत ग्रहण करने होते हैं, उनका पूर्ण निष्ठा के साथ पालन ही ब्रह्मचर्य है। उन व्रतों में एक प्रमुख व्रत वीर्य-रक्षा है, जो अन्य सब व्रतों का केन्द्रभूत है।

आचार्य, कुलपति के दुस्तर महान् कार्य को करने का सामर्थ्य कहाँ से पाता है? ब्रह्मचर्य ही उस सामर्थ्य का मूल स्रोत है। ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान से, व्रतों के पालन से, तप से, वीर्य को शरीर में खपाने से, ऊर्ध्वरेता बनने से आचार्य में आचार्यत्व की शक्ति आती है। जो आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता है, वही अपने विद्यार्थियों को ब्रह्मचारी बना सकता है। ब्रह्मचर्य से अगला आश्रम गृहस्थाश्रम है। यह भी ब्रह्मचर्य पर आधारित है। गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को राष्ट्र को उत्कृष्ट सन्तान देने के धर्म का निर्वाह करते हुए भी वीर्यरक्षा तथा अन्य व्रत-पालन दोनों ही दृष्टियों से ब्रह्मचर्य को महत्त्व देना होता है। तभी वे प्रजापति बनते हैं, सच्चे गृहपत्नी एवं गृहपति बनने में समर्थ होते हैं। प्रजापति बनकर श्रेष्ठ प्रजा का सर्जन और निर्माण विलासी नहीं, अपितु ब्रह्मचारी गृहस्थ ही कर सकता है। गृहस्थाश्रम को पार कर व्यक्ति तृतीय आश्रम में प्रवेश करता है, वानप्रस्थ बनता है। वानप्रस्थ भी ब्रह्मचारी होता है, अतएव वह विराट्, अर्थात् ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी कहलाता है। ब्रह्मचर्यपूर्वक ही वह वन में तपःसाधना करता हुआ अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाता है और यथाशक्ति जन-सेवा भी करता है। चतुर्थ आश्रम संन्यासाश्रम है, जिसका अधिकार केवल उसे ही है जो गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण हो। संन्यासी भी ब्रह्मचर्य के वशित्व से वशी होता है, तभी वह परिव्राजक बनकर सर्वत्र भ्रमण करता हुआ अपने उपदेशामृत की वर्षा से और अपने आदर्श आचरण से सबको परितृप्त करने में समर्थ होता है। उसका इतना तपस्वी और व्रत-परायण होना कि स्थान-स्थान में यात्रा करके जनता को उपदेशामृत पान कराना और लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा आदि सब एषणाओं का परित्याग कर देना ब्रह्मचर्य-साधना से ही सम्भव होता है। ब्रह्मचर्य में असीम बल है, ब्रह्मचर्य में असीम तेज है, ब्रह्मचर्य में असीम यश है।

३४१. सब गुणों का स्रोत उच्छिष्ट ब्रह्म

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं, श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे, वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥

—अथर्व० ११.७.१७

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **उच्छिष्टः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**ऋतं**) सत्य आचरण, (**सत्यं**) सत्य ज्ञान, (**तपः**) तप, (**राष्ट्रं**) राष्ट्र, (**श्रमः**) श्रम, (**धर्मः**) धर्म, (**कर्म**) कर्म, (**भूतं**) अतीत, (**भविष्यत्**) भविष्य, (**वीर्यं**) पराक्रम, (**लक्ष्मीः**) सम्पत्ति, (**बलं च**) और बल [ये सब] (**बले**) बलवान् (**उच्छिष्टे**) उच्छिष्ट परमेश्वर के आश्रय में [रहते हैं]।

परमेश्वर के अनेक नामों में से एक नाम 'उच्छिष्ट' भी है। जगत्-संहार के अनन्तर भी अवशिष्ट रहने के कारण वह 'उच्छिष्ट'[1] कहाता है। यद्यपि उस समय अवशिष्ट तो प्रकृति और जीवात्मा भी रहते हैं, तथापि उनमें प्रधान होने के कारण परमेश्वर का ही नाम 'उच्छिष्ट' पड़ा है। 'उच्छिष्ट' परमेश्वर ही समस्त शुभ गुणों और शुभ कर्मों का आश्रय, आदर्श मूर्तरूप तथा मूलस्रोत है। मनुष्य का आत्मा उन गुण-कर्मों को उसी से प्राप्त करता है। निर्भ्रान्त आचरण को 'ऋत'[2] कहते हैं और निर्भ्रान्त ज्ञान को 'सत्य'[3]। शीत-आतप, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करना तथा स्वेच्छा से शरीर को कोई कष्ट देकर उसमें आनन्द मानना तप है। किसी भू-खण्ड में स्थित व्यक्तियों की समष्टि में जब एकता और बलिदान की भावना आ जाती है, तब वह 'राष्ट्र' कहाता है। किसी उपयोगी रचनात्मक या विध्वंसात्मक कार्य के लिए परिश्रम करना 'श्रम' है। जिससे व्यक्ति और समाज का धारण हो वह 'धर्म' है, इसीलिए वेद कहता है कि पृथिवी 'धर्म से धृत'[4] है। 'कर्म' किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यत्नवान् होने को कहते हैं, जिसमें मन और शरीर दोनों सक्रिय होते हैं। उज्ज्वल अतीत को 'भूत' तथा उज्ज्वल आगामी को 'भविष्यत्' कहते हैं। 'वीर्य' आत्मबल या पराक्रम है, जो दुर्बल शरीर में भी रह सकता है। किसी व्यक्ति या समष्टि को इतर व्यक्तियों या समष्टियों से भिन्न करनेवाली उसकी अपनी विशेषता उसकी 'लक्ष्मी' है। लक्ष्मी का शब्दार्थ है, वह 'चिह्न' जो दूसरों से भेद करता हो। बाद में यह शब्द सम्पत्ति का पर्यायवाची हो गया, क्योंकि सम्पत्ति भी भेदक चिह्न होती है। 'बल' से शारीरिक, ऐन्द्रिय और प्राणिक शक्ति अभिप्रेत है। प्रलयकाल में समस्त गुण, धर्म और विशेषताओं को बलवान् 'उच्छिष्ट' परमेश्वर ही धारण करता है। नवीन सृष्टि का निर्माण होने पर मनुष्य इन्हें उसी 'उच्छिष्ट' परमेश्वर-रूप स्रोत से ग्रहण करता है।

३४२. सृष्टि-रचना में तप और कर्म का महत्त्व

तपश्चैवास्तां कर्म[७], चाऽन्तर् महत्यणवे[७]।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्[८], तत् ते ज्येष्ठमुपासत[८] ॥

—अथर्व० ११.८.६

ऋषिः **कौरुपथिः**। देवता **अध्यात्मं, मन्युः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(**महति अर्णवे अन्तः**) महान् अर्णव के अन्दर (**तपः चैव कर्म च**) तप और कर्म (**आस्ताम्**) विद्यमान थे। (**तपः ह**) तप निश्चय ही (**कर्मणः जज्ञे**) कर्म से उत्पन्न हुआ, [इस कारण] (**तत्**) उस कर्म को (**ते**) वे [सृष्टिवेत्ता] (**ज्येष्ठम्**) ज्येष्ठ (**उपासत**) मानते हैं।

जब हम इस कार्य-सृष्टि पर दृष्टिपात करते हैं, तब स्वभावतः हमारे मन में इसके कारणों को जानने की जिज्ञासा होती है। ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों तत्त्व अनादि और नित्य हैं, जो सृष्टि की उत्पत्ति में किसी-न-किसी रूप में कारण बनते हैं। प्रलयकाल में विद्यमान इन तीनों की समष्टि ही 'अर्णव' है। प्रलयकाल में सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्थारूप सूक्ष्म प्रकृति, अनेक जीवात्माएँ तथा मन्यु नामक मननशील परमेश्वर ये तीनों विद्यमान थे। परमेश्वर ने सृष्टि-उत्पत्ति करने के लिए तप किया। अशरीर भी परमेश्वर के तप का वर्णन करते हुए ऋषि कहता है—'उसने श्रम किया, अत्यधिक तप किया, तप से वह इतना श्रान्त हो गया कि उसके सब रोम-गर्तों से स्वेद-धाराएं बहने लगीं'[१]। उसके तप की उग्रता बताने के लिए यह आलङ्कारिक वर्णन है। वस्तुतः उसका तप ज्ञानमय है[२]। उसने स्रष्टव्य-पर्यालोचनात्मक ज्ञान-रूप तप किया। पर उसे तप करने की आवश्यकता क्यों हुई? इस कारण क्योंकि जीवात्माओं के साथ पूर्व-सृष्टि में कृत शुभाशुभ कर्मों के संस्कार या 'अदृष्ट' विद्यमान थे। जीवात्माओं को उन कर्मों का फल देने के लिए सृष्टि की रचना करना अनिवार्य था। ईश्वरीय तप और जीवात्मा के कर्म इन दोनों में सृष्टि-रहस्य-वेत्ता विद्वान् कर्म ही को 'ज्येष्ठ' मानते हैं, क्योंकि तप का आरम्भ कर्मों के कारण ही हुआ। अन्यथा ईश्वर द्वारा सृष्टि को उत्पन्न करने में ईश्वर का अपना स्वार्थ आदि अन्य कोई कारण न था। देखो, मनुष्य द्वारा कृतकर्मों का कितना महत्त्व है, जो अपना फल-भोग कराने के लिए परमात्मा को भी सक्रिय कर देते हैं और उसके द्वारा इतनी भव्य विशाल सृष्टि को उत्पन्न करा देते हैं। आओ, हम भी कर्म की महत्ता को समझें, हम यह भली-भाँति हृदयङ्गम कर लें कि जैसे हमारे कर्म होंगे, वैसा ही फल हमें भोगना होगा और यह समझकर शुभ कर्मों में ही संलग्न हों।

३४३. कर्मफलों का भोग

प्रथमेन प्रमारेण॑, त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति॑।
अद एकेन गच्छति॑, अद एकेन गच्छति॑,
इहैकेन निषेवते॑॥ —अथर्व० ११.८.३३

ऋषिः **कौरुपथिः**। देवता **अध्यात्मम्**। छन्दः **पङ्क्तिः**।

(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम मृत्यु से, अर्थात् स्थूल शरीर से छूटकर **(विष्वङ्[1])** विविध गति करनेवाला जीवात्मा **(त्रेधा)** तीन प्रकार से **(वि गच्छति)** विभिन्न गति पाता है। **(एकेन)** एक [निष्काम पुण्य कर्म] से **(अदः)** उस [मुक्तिलोक] को **(गच्छति)** जाता है, **(एकेन)** एक [पाप-कर्म] से **(अदः)** इस [पाप-योनि] को **(गच्छति)** जाता है, **(एकेन)** एक [पुण्य-पाप-मिश्रित कर्म] से **(इह)** इस [मनुष्य-योनि] में **(निषेवते)** [भोगों का] सेवन करता है[2]।

आत्मा अजर-अमर है। न इसे शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि दग्ध कर सकती है, न जल गला सकता है, न पवन शुष्क कर सकता है। यह अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है। तो भी जब यह स्थूल शरीर से पृथक् होता है, तब वह इसकी प्रथम मृत्यु कहलाती है। द्वितीय मृत्यु प्रलयकाल में होती है, जब सूक्ष्म शरीर भी इससे छिन जाता है। यह कर्मानुसार विविध शरीरों में जन्म लेता है और जैसे जीर्ण वस्त्रों को छोड़कर मनुष्य नवीन वस्त्र पहनता है, वैसे ही पुराने-पुराने शरीरों को छोड़कर नये-नये शरीर धारण किया करता है। देहधारी जीवात्मा द्वारा किये जानेवाले कर्म तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं—पुण्य कर्म, पाप कर्म और मिश्रित कर्म। प्रथम श्रेणी में निष्कामभाव से किये जानेवाले वे पुण्य कर्म आते हैं, जिन्हें मनुष्य फलेच्छा से नहीं, किन्तु ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है। वह जो कुछ क्रिया करता है, खाता है, होम करता है, दान देता है, तपस्या करता है, सबमें उसका प्रभु-अर्पण-भाव अक्षुण्ण रहता है। वह जीवन्मुक्त हो शरीर छूटने के अनन्तर मोक्ष पा लेता है। दूसरी श्रेणी के कर्म वे पाप कर्म हैं, जिन्हें शास्त्रकारों ने पातक और महापातक कहा है, जिनमें हिंसा, स्तेय, वञ्चन, पर-पीड़न, सुरा-पान, अभक्ष्य-भक्षण, कन्या-विक्रय, उत्कोच-ग्रहण, व्यभिचार आदि आते हैं। इन पापकर्मों के फलस्वरूप जीवात्मा पशु-पक्षी, जलचर, कीट-पतङ्ग आदि की भोग-योनियों में जन्म लेता है। तीसरी श्रेणी पुण्यापुण्य-मिश्रित कर्मों की है। पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म करने पर यह मनुष्य-योनि प्राप्त होती है, जो भोग-योनि और कर्म-योनि दोनों है। इसमें आकर आत्मा पूर्वकृत पुण्य कर्मों का सत्फल तथा अपुण्य कर्मों का असत्फल भोगता है। इस योनि में वह जो कर्म करता है, उनमें से भी कुछ का फल उसे इसी जीवन में प्राप्त हो जाता है और कुछ कर्म आगामी जन्म में फल-भोग के लिए सुरक्षित हो जाते हैं। कभी-कभी पुण्यकर्ता लोग भी घोर कष्ट पाते दृष्टिगोचर होते हैं, इसका कारण यही है कि वे कष्ट पूर्वजन्म के कर्मों के फल हैं। इस जन्म में जो पुण्य कर्म वे कर रहे होते हैं, उनका फल उन्हें भविष्य में, इसी जन्म में अथवा आगामी जन्म में मिलना होता है।

आओ, उक्त कर्मों में से हम निष्काम और सकाम पुण्य कर्म ही करें, जिससे मोक्ष-प्राप्ति के अधिकारी हों अथवा मनुष्य-योनि पाकर शुभ फलों को भोगें।

३४४. एक पहेली

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु[८], शरीरमन्तरा हितम्[८]।
तस्मिंछवो ऽध्यन्तरा[७], तस्माच्छवो ऽध्युच्यते[७]॥

—अथर्व० ११.८.३४

ऋषिः **कौरुपथिः**। देवता **अध्यात्मम्**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(**स्तीमासु**[१]) आर्द्र करनेवाली(**वृद्धासु**) बढ़ी हुई (**अप्सु**) जल-राशियों के (**अन्तरा**) मध्य में (**शरीरं**) शरीर (**हितम्**) रखा हुआ है। (**तस्मिन् अधि**) उस [शरीर] के अन्दर (**अन्तरा**) मध्य में (**शवः**) शव [निहित है]। (**तस्मात्**) उस शरीर से (**शवः**) शव (**आधि**) उत्कृष्टतर (**उच्यते**) कहा जाता है।

आर्द्र करनेवाली, 'आपः' की बाढ़ के मध्य में 'शरीर' रखा हुआ है, उस 'शरीर' के अन्दर मध्य में 'शव' निहित है और वह 'शव' उस शरीर से उत्कृष्टतर है। क्या तुम इस रहस्य को समझे? 'आपः' प्रकृति-तत्त्व का नाम है, उसी के गर्भ में से यह कार्यरूप ब्रह्माण्ड-शरीर, जो सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार सूक्ष्म रूप में उसके अन्दर पहले ही विद्यमान था, बाहर निकला है। इस ब्रह्माण्ड-शरीर में प्रकृति-तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, अतः प्रकृति-तत्त्व के अन्दर यह 'शरीर' रखा हुआ है। इस ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्दर रहनेवाला 'शव' बलवान् ब्रह्म है, जो उसकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है, क्योंकि ब्रह्माण्ड-शरीर तो नाशवान् है और सबल ब्रह्म अजर, अमर, अभय, अनादि, अनन्त है।

आर्द्र करनेवाले 'आपः' विषय-भोग भी हो सकते हैं, जिनके मध्य में मानव का शरीर निहित है। उस शरीर के अन्दर रहनेवाला 'शव' सबल आत्म-तत्त्व है, जो शरीर की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। इसीलिए उपनिषद् के ऋषि का उद्बोधन है कि 'जो आत्मा अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अक्षुधित, अपिपासु, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है, उसी का अन्वेषण करो, उसी को जानो। वह सब लोकों को जीत लेता है, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, जो उसे खोजकर पा लेता है।[२]'

हे मनुष्य! प्रकृति अपने लुभावने रूप से तुझे आर्द्र या प्रभावित करना चाहती है, तू ब्रह्म को उससे श्रेष्ठ मानकर पाने के लिए प्रवृत्त हो। विषय-भोग तुझे आर्द्र या आकृष्ट करना चाहते हैं, तू उनमें लिप्त न होकर 'आत्मा' के प्रति उन्मुख हो। तू नचिकेता बनकर आत्मा की जिज्ञासा कर।

३४५. वन्दे मातरम्

शिला भूमिरश्मा पांसुः, सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे, पृथिव्या अकरं नमः॥

—अथर्व० १२.१.२६

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **भूमिः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(शिला) शिला, **(अश्मा)** पत्थर, **(पांसुः)** धूलि [ही] **(भूमिः)** भूमि [है]। **(सा भूमिः)** वह भूमि **(संधृता)** सम्यक् प्रकार धारण की जाकर **(धृता)** [राष्ट्र के रूप में] धृत हो जाती है। **(तस्यै)** उस **(हिरण्यवक्षसे)** हिरण्यवक्षा, सुवर्णगर्भा **(पृथिव्यै)** भूमि के लिए **(नमः अकरं)** नमस्कार करता हूँ।

जिस राष्ट्र-भूमि पर हम अपना तन-मन-धन बलिदान करने को तैयार रहते हैं, जिसके गौरव-गीत गाते हम नहीं थकते, जिसकी निन्दा सुन हमारा चेहरा तमतमा उठता है और जिसकी प्रशंसा सुन हम आनन्द-विभोर हो जाते हैं, उसका विश्लेषण करके देखें तो वह शिला, पत्थर, धूलि आदि का निर्जीव समूह-मात्र है। वह क्या वस्तु है जो उस निर्जीव पृथिवी को एक सजीव राष्ट्र के रूप में परिणत कर देती है ? वह वस्तु है, उसके निवासियों का परस्पर सङ्गठित होकर, सबको एक इकाई मानकर, अपने अभ्युदय के लिए उसे संधृत करना। संधृत करने में भूमि के वन, पर्वत, खेत, बाग-बगीचे, मैदान, खनिज की खानें, नदियाँ, समुद्र, सबको सजाना-सँवारना, अधिकाधिक उपयोगी बनाना, उद्योग-धन्धों, कल-कारखानों आदि को प्रतिष्ठित एवं विकसित करके उत्पादन बढ़ाना, प्रजा की शिक्षा-दीक्षा, चिकित्सा, सामाजिक उन्नति आदि की व्यवस्था करना सब सम्मिलित है। ऐसा करने पर वह शिला, पत्थर, धूल-मिट्टी का ढेर मात्र निष्प्राण पृथिवी सप्राण राष्ट्र-भूमि के रूप में आदृत होने लगती है। तब उसके सम्मान को हम अपना सम्मान और उसके अपमान को अपना अपमान समझने लगते हैं। उसकी एक-एक इंच भूमि की रक्षा को, उसकी चतुर्मुखीन उन्नति को, उसकी कीर्ति-प्रतिष्ठा को, अन्य राष्ट्रों में उसे उच्च स्थान दिलाने को हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

भूमि 'हिरण्यवक्षाः' तो पहले से ही है क्योंकि उसके गर्भ में कहीं सुवर्ण-रजत की खाने भरी हैं, कहीं हीरे, मोती, रत्न, मणियाँ बिछी हैं, कहीं मूल्यवान् तैल-कूप भरे हैं, कहीं अन्य विविध खनिज द्रव्य विद्यमान हैं, किन्तु अब राष्ट्र-भूमि का रूप धारण करने के पश्चात् तो वह सच्चे अर्थों में हमारे लिए 'हिरण्यवक्षाः' हो गई है, क्योंकि हमारे राष्ट्र द्वारा 'कहाँ कौन-सी सम्पत्ति भू-गर्भ में छिपी पड़ी है' इसका अनुसंधान करके राष्ट्रिय-स्तर पर उसमें से हिरण्यादि सम्पत्ति को प्रजा के हितार्थ निकाला जाने लगा है।

हे अपने वक्षःस्थल पर हिरण्यहार से अलंकृत, मणिमुक्तारत्नालङ्कारधारिणी, सुजला, सुफला, मलयज-शीतला, सस्य-श्यामला, गौरव-मण्डिता, यशस्विनी, मनोमोहिनी, समृद्धिमयी मातृभूमि ! तुझे हमारा नमस्कार है, शतशः नमस्कार है।

३४६. क्रव्यात् अग्नि दूर हो

यत् कृषते यद् वनुते[ᐟ], यच्च वस्नेन विन्दते[ᐟ]।
सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति[ᐟ], क्रव्याच्चेदनिराहितः[ᐟ]॥

—अथर्व० १२.२.३६

ऋषिः **भृगुः**। देवता **अग्निः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**यत्**) जो (**कृषते**) खेती-बाड़ी से प्राप्त करता है, (**यत्**) जो (**वनुते**[१]) [भिक्षावृत्ति से या पितृ-धन आदि के रूप में] माँगकर प्राप्त करता है, (**यत् च**) और जो (**वस्नेन**) मूल्य से (**विन्दते**[२]) प्राप्त करता है, (**मर्त्यस्य**) मनुष्य का (**तत् सर्वं**) वह सब (**नास्ति**) नहीं रहता, (**चेत्**) यदि (**क्रव्यात्**[३]) मांसभक्षी चिताग्नि (**अनिराहितः**[४]) निष्कासित नहीं किया जाता।

मनुष्य खेती-बाड़ी करता है। भूमि सस्य-श्यामला हो जाती है। फसल पकती है, कटती है, अन्नागारों में भरी जाती है। कृषक को ऐश्वर्यवान् कर देती है। अनेक साधनों में से यह कृषि ऐश्वर्यशाली बनने का एक साधन है। इसके अतिरिक्त माँगने से, भिक्षावृत्ति से भी, ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता है, आचार्य भिक्षावृत्ति से शिक्षणालय चलाता है, संन्यासी भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करता है। संस्थाएं भिक्षावृत्ति से चलती हैं। लोकोपयोगी सेवाकार्य भिक्षावृत्ति से चलते हैं। मनुष्य को पितृ-धन आदि के रूप में भी भिक्षा मिलती है। इस प्रकार माँगना भी ऐश्वर्य-प्राप्ति का एक साधन है। जो मनुष्य धनी होते हैं, जिनके पास उपभोग के लिए पर्याप्त द्रव्य होता है, वे मूल्य से क्रय करके भी ऐश्वर्य उपार्जित करते हैं, साज-सामान से सुसज्जित बड़ी-बड़ी कोठियाँ खड़ी कर लेते हैं, रथ-बग्घी, बाग-बगीचे, कल-कारखाने खड़े कर लेते हैं।

चाहे कृषि से प्राप्त ऐश्वर्य हो, चाहे भिक्षावृत्ति से प्राप्त ऐश्वर्य हो, चाहे मूल्य से खरीदा हुआ ऐश्वर्य हो, चाहे अन्य किसी साधन से प्रयत्नपूर्वक जुटाया गया ऐश्वर्य हो, सब एक क्षण में समाप्त हो जाता है, यदि अकाल मृत्यु आकर मनुष्य को कवलित कर लेती है, अतः राष्ट्र से अकाल मृत्यु दूर होनी चाहिए। ये जो श्मशान में शिशुओं की, कुमारों की, नवयुवकों की, पूर्ण आयु से पूर्व ही मृत हो गये अन्य नर-नारियों की शवभक्षी चिताग्नि के क्रन्दनकारी दृश्य दिखाई देते हैं, वे समाप्त होने चाहिएँ। देश का प्रत्येक मनुष्य चिरजीवी हो, स्वस्थ रहता हुआ शत वर्ष या शत वर्ष से भी अधिक आयु को प्राप्त करे, इसका प्रयास होना चाहिए। यह प्रयास वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय तीनों स्तरों पर हो तो पर्याप्त अंशों में हम 'क्रव्यात् अग्नि', अर्थात् मांसभक्षी चिताग्नि को देश से निष्कासित कर सकते हैं। वैयक्तिकरूप से हम स्वास्थ्य के नियमों का पालन करें, उचित आहार-विहार रखें, सामाजिक और राष्ट्रिय रूप में चिकित्सा-साधनों एवं चिकित्सा-शिक्षा आदि को सुलभ करायें।

आओ, हम सब मिलकर 'क्रव्यात् अग्नि' को निराहित करें, गलहत्था देकर राष्ट्र-भूमि से निष्कासित करें तथा विविध साधनों से उपार्जित ऐश्वर्यों का चिरकाल तक संयमपूर्वक वेदविहित रीति से उपभोग करते रहें।

३४७. दम्पती का कर्त्तव्य

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथाम्[११], एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते[११]।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ[१०], तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम्[१२]॥

—अथर्व० १२.३.७

ऋषिः **यमः**। देवता **स्वर्गः, ओदनः, अग्निः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(दंपती) हे पति-पत्नी! [तुम दोनों] **(प्राचीं प्राचीं प्रदिशं)** अगली-अगली प्रकृष्ट दिशा को **(आरभेथां)** ग्रहण करो। **(एतं लोकं)** इस गृहस्थ आश्रम को **(श्रद्दधानाः)** श्रद्धावान् लोग **(सचन्ते)** प्राप्त करते हैं। **(वां)** तुम दोनों की **(यत्)** जो [वस्तु] **(अग्नौ)** अग्नि में **(परिविष्टं)** डाली जाकर **(पक्वं)** परिपक्व हो गई है **(तस्य)** उसके **(गुप्तये)** रक्षण के लिए **(संश्रयेथाम्)** एक-दूसरे का आश्रय लो।

हे वर-वधू! तुम परस्पर विवाह-सूत्र में परिणद्ध हुए हो। पर क्या तुम गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य भी जानते हो? यह आश्रम श्रद्धावानों का आश्रम है, पति और पत्नी की आपस में एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा और दोनों की मिलकर भगवान् में श्रद्धा जब होती है तब इस आश्रम का प्रसाद फलीभूत होता है। श्रद्धा में समर्पण का भाव जुड़ा हुआ है। पति-पत्नी एक-दूसरे को आत्म-समर्पण करते हैं और दोनों मिलकर परमप्रभु को आत्म-समर्पण करते हैं। श्रद्धा और समर्पण कितने पवित्र शब्द हैं! गृहस्थ दम्पती यदि इन शब्दों का मर्म समझकर आचरण करें, तो उनका गृहस्थाश्रम सौरभ बखेरने लगता है।

हे दम्पती! तुम दोनों आगे-आगे की प्रकृष्ट दिशा की ओर बढ़ते चले जाओ। तुम ब्रह्मचर्याश्रम की साधना कर चुके हो। इस बात को मत भूलो कि यह गृहस्थाश्रम भी साधना का ही आश्रम है। साधना करनेवाले ही आगे बढ़ते हैं और वस्तुतः आगे पग बढ़ाना भी एक साधना ही है। निरुद्देश्य विलासमय गृहस्थ जीवन साधना-हीनों का होता है। यदि तुम गृहाश्रम में विलास और साधना को एकाकार कर सकोगे, तो निश्चय ही तुम्हारा गृहाश्रम विकास का सोपान बन सकेगा।

गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी अग्नि प्रज्वलित करते हैं, आहिताग्नि बनते हैं। अपना सबकुछ उन्हें उस अग्नि में परिपक्व करना होता है। अपना तन, अपना मन, अपना धन, अपना आत्मा, अपने कार्य, सबको परिपक्व करना होता है। जो परिपक्व हो गया है, उसकी सुरक्षा करनी है और जो परिपक्व नहीं हुआ है, उसे परिपक्व करने में तीव्रता से तत्पर होना है। यह परिपक्वता ही गृहस्थाश्रम की देन है। पर यह परिपक्वता भी अकेले-अकेले नहीं होती, पति-पत्नी मिलकर ही परिपक्वता सम्पादित करते हैं और मिलकर ही परिपक्व की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

हे गृहस्थ-जनो! स्मरण रखो, गृहस्थाश्रम श्रद्धा का, आगे-आगे बढ़ने का और परिपक्व होने का आश्रम है, अतः इस आश्रम की नींव में और इस आश्रम पर बने भवन में इन तीनों को सदा सिंचित करते रहो। तुम्हारा मङ्गल होगा।

३४८. चतुर्मुखी उन्नति कर

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह[११], राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह[११]।
प्रजां च रोहामृतं च रोह[१०], रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व[१०]॥

—अथर्व० १३.१.३४

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **रोहितः (अध्यात्मम्)**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्।**

[हे मनुष्य! तू] **(दिवं च रोह)** आध्यात्मिक उन्नति भी कर, **(पृथिवीं च रोह)** भौतिक व शारीरिक उन्नति भी कर, **(राष्ट्रं च रोह)** राष्ट्रिय उन्नति भी कर, **(द्रविणं च रोह)** आर्थिक उन्नति भी कर, **(प्रजां च रोह)** प्रजा की उन्नति भी कर, **(अमृतं च रोह)** मोक्ष-प्राप्ति की उन्नति भी कर। **(रोहितेन)** परमात्म-सूर्य के साथ **(तन्वं)** अपने आत्मा को **(संस्पृशस्व)** स्पर्श करा ले।

हे मनुष्य! तू उन्नत हो, उन्नत हो, इतना उन्नत हो कि 'रोहित' को छूले। सूर्य, जो रात्रि के अन्तिम प्रहर में भूमि के ही एक कोने में मुख छिपाये खड़ा होता है, उन्नति करते-करते दिन के मध्याकाश में जा पहुँचता है और इस ऊर्ध्वारोहण के कारण ही वह 'रोहित' कहलाता है। उस रोहित का तू भी अनुसरण कर। तू किसी एक ही क्षेत्र में नहीं, किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति कर। सर्वप्रथम तू अध्यात्म के द्युलोक में अध्यात्म-क्षेत्र का पथिक बन। ऐसा मत समझ कि अध्यात्म-सम्पत्ति तो वृद्धावस्था की वस्तु है, वह भी सबके लिए नहीं, किन्तु विरले ही लोगों के लिए प्राप्त होती है। असल में अध्यात्म-सम्पत् सबसे बड़ी सम्पत् है और वह अन्य सम्पदाओं को भी चमकाती है। अध्यात्महीन व्यक्ति के लिए रत्नागारों से भरी यह सम्पूर्ण पृथिवी भी व्यर्थ है। अध्यात्म-दिशा में आगे बढ़ने के साथ-साथ तू पार्थिव, अर्थात् भौतिक एवं शारीरिक उन्नति भी कर। परमेश्वर ने तुझे मन-बुद्धि-रूप ज्योतियाँ दी हैं। उनके प्रकाश में तू स्व-कल्याण तथा जन-कल्याण के लिए सब प्रकार के सुख-साधनों का आविष्कार कर। शरीर को नीरोग, सबल तथा चिरायु रखने के साधनों को भी आविष्कृत एवं सञ्चित कर। फिर तू राष्ट्रिय उन्नति में भी संलघ्न हो, अपने राष्ट्र के लिए निष्ठावान् बनकर राष्ट्रिय विकास में पूर्ण सहयोग दे। तू राष्ट्र के लिए 'बलिहृत्' बन, तन-मन-धन से राष्ट्र की सम्पत्ति एवं सम्पदा बढ़ाने में प्रयत्नशील हो। तू आर्थिक उन्नति भी कर, 'द्रविण' को बढ़ा। अर्थहीन रहते हुए विपद्ग्रस्त जीवन जीना कोई स्पृहणीय वस्तु नहीं है। तू पुण्य से धनोपार्जन कर और सुखी-समृद्ध जीवन व्यतीत कर। तू 'प्रजा' की दृष्टि से भी उन्नत हो, तेरी सन्तान गुणवान् होकर अपनी तथा तेरी कीर्ति को फैलानेवाली हो। तू अमृतत्व को भी प्राप्त कर, मोक्ष-मार्ग का राही बनकर ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार कर। 'रोहित' परमात्मा के साथ अपने आत्मा का स्पर्श कराकर तू जीवन्मुक्त की स्थिति को प्राप्त कर ले और अन्त में शरीरपात के अनन्तर जन्म-मरण के बन्ध से मुक्त हो जा। इस चतुर्मुखी उन्नति का वेद तेरे लिए उपदेश कर रहा है। उठ, हे मानव! उन्नति में संलग्न हो।

३४९. एक के अनेक नाम

सोऽर्यमा स वरुणः[७], स रुद्रः स महादेवः[८]।
रश्मिभिर्नभ आभृतं[८], महेन्द्र एत्यावृतः[७]॥

—अथर्व० १३.४.४

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **अध्यात्मम्, रोहितः आदित्यः**। छन्दः **विराड् अनुष्टुप्**।

(सः) वह [आदित्य और परमात्मा] **(अर्यमा)** अर्यमा [है], **(सः)** वह **(वरुणः)** वरुण [है], **(सः)** वह **(रुद्रः)** रुद्र [है], **(सः)** वह **(महादेवः)** महादेव [है]। [उसकी] **(रश्मिभिः)** रश्मियों से **(नभः)** आकाश **(आभृतं)** भर गया है, **(आवृतः)** [रश्मियों से] आवृत **(महेन्द्रः)** महेन्द्र **(एति)** आ रहा है।

देखो, गगन में विलक्षण तेजःपुञ्ज से आवृत महेन्द्र उदित हो रहा है। उसकी रश्मियों से आकाश भर गया है। प्राची में अपूर्व लालिमा के साथ उदित होनेवाला, शनैः-शनैः ऊर्ध्वारोहण करके मध्याकाश में पहुँच उद्दाम प्रचण्डता के साथ देदीप्त होनेवाला और फिर क्रमशः प्रतीची के अंक में पहुँच पुनः लोहित हो उठनेवाला यह आदित्य-मण्डल ही महेन्द्र नाम से स्मरण किया जाता है, क्योंकि यह महान् इन्द्र है; अग्नि, विद्युत् आदि छोटे इन्द्रों की अपेक्षा परम महनीय है। इस सूर्य के अन्य भी अनेक नाम हैं। यह 'अर्यमा'[१] कहलाता है, क्योंकि अन्धकार, मालिन्य, रोगकृमि आदि अरियों का नियमन करता है। इसका नाम 'वरुण'[२] भी है, क्योंकि यह प्रकाश-प्रदानार्थ तथा धारणार्थ ग्रहोपग्रहों का वरण करता है। इसे 'रुद्र'[३] भी कहते हैं, क्योंकि यह रोग आदियों को रुलाता है। यह 'महादेव' नाम से भी स्मरण किया जाता है, क्योंकि हमारे सौर जगत् के देवों में महान् देव, अर्थात् प्रकाशकों में महान् प्रकाशक है। आओ, ज्योति एवं प्राणों के स्रोत इस आदित्यरूप महेन्द्र से हम निरन्तर ज्योति एवं प्राण प्राप्त करते रहें।

और देखो, यह विशाल तेजोराशि से आवृत अति परमैश्वर्यशाली परमात्मारूप दूसरा महेन्द्र हमारे अन्तःकरण में उदित हुआ है, जिसकी रश्मियों से हृदयान्तरिक्ष आलोकित हो उठा है। यह महेन्द्र यद्यपि अखिल ब्रह्माण्ड में एक ही है, तो भी इसके नाम अनेक हैं, जो इसके विभिन्न गुण-कर्मों को सूचित करते हैं। यह श्रेष्ठजनों (अर्यों) को जानने और उनका यथायोग्य मान करनेवाला होने से 'अर्यमा'[४] कहलाता है। शिष्ट, मुमुक्षु-धर्मात्माजनों को वरने या उनसे वरा जाने के कारण 'वरुण'[५] संज्ञा को पाता है। आधिव्याधियों का द्रावण एवं सत्योपदेशों का प्रदान करने तथा अन्यायी जनों को रुलाने के कारण 'रुद्र'[६] नाम से व्यपदिष्ट होता है। जो प्रकृति में सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि; शरीर में आत्मा, मन, प्राण आदि; समाज में माता, पिता, गुरु आदि और राष्ट्र में राजा, अमात्य आदि प्रसिद्ध देव हैं, उन सबकी अपेक्षा महान् देव होने के कारण वह 'महादेव' नाम से स्मरण किया जाता है। इसी प्रकार उस एक परमात्मा के अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, विष्णु, ब्रह्म, प्रजापति आदि अन्य भी अनेक नाम हैं। आओ, उस महासम्राट् महामहिम महेन्द्र की दिव्य रश्मियों के अलौकिक प्रकाश से हम स्वयं को पवित्र और परितृप्त करें।

३५०. क्रीडा करते हुए दो शिशु

पूर्वापरं चरतो माययैतौ[११], शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्[११]।
विश्वान्यो भुवना वि चष्टे[९], ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे पुनः[१२]॥

—अथर्व० १४.१.२३

ऋषिः **सूर्या सावित्री**। देवता **सोमार्कौ**। छन्दः **बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्**।

(एतौ) ये दो [सूर्य-चन्द्ररूप] **(शिशू)** शिशु **(मायया)** ईश्वरी माया से **(पूर्वापरं)** एक-दूसरे के बाद अथवा पूर्व से पश्चिम की ओर **(चरतः)** विचरण करते हैं, **(क्रीडन्तौ)** क्रीडा करते हुए **(अर्णवं)** आकाश-समुद्र में **(परि यातः)** परिभ्रमण करते हैं। **(अन्यः)** एक [सूर्यरूप शिशु] **(विश्वा भुवना)** सब भुवनों को **(विचष्टे)** प्रकाशित करता है, **(अन्यः)** दूसरा [तू चन्द्ररूप शिशु] **(ऋतून्)** ऋतुओं को **(विदधत्)** निर्मित करता हुआ **(पुनः जायसे)** पुनः [नवीन] जन्म पाता है।

देखो, गगन-प्राङ्गण में सूर्य-चन्द्र-रूप सुन्दर-सलाने दो शिशु परमात्मा की माया से एक-दूसरे के बाद विचरण करते हुए क्रीडा कर रहे हैं। चेहरे की अपूर्व रक्तिम छवि धारण किए हुए सूर्यरूप शिशु प्राची में झाँकता दिखाई देता है! फिर शनैः-शनैः अपना रूप बदलता हुआ और ऊपर-ऊपर चढ़ता हुआ गगन के मध्य में जा पहुँचता है तथा पूर्ण तेजोमण्डल के साथ विराजने लगता है। तत्पश्चात् नीचे उतरता-उतरता बाल-सुलभ क्रीडा करता हुआ पुनः रक्तिम चेहरे में परिणत हो प्रतीची में भासित होने लगता है। अपनी क्रीडा को विराम दे जब वह रंगमंच से निकल जाता है, तब चन्द्र-रूप शिशु का आगमन होता है, जो अपनी स्नेहिल सौम्य चन्द्रिका से मुस्कराता हुआ, शीतल कान्ति बखेरता हुआ आकाश में पूर्व से पश्चिम की ओर क्रीडा करता है। इन दोनों शिशुओं की अपनी-अपनी विशेषता है। इनमें से एक शिशु सब भुवनों को आँख खोलकर देख रहा है। यह सूर्यनामक शिशु है, जिसके नेत्रोन्मेष करते ही सब भुवन, अर्थात् पृथिवी, मङ्गल, बुध आदि ग्रह प्रकाशित हो उठते हैं[१]। दूसरा शिशु चन्द्र चान्द्र तिथियों से चैत्र-वैशाख आदि मासों के निर्माण द्वारा वसन्त आदि ऋतुओं की रचना करता है।

हमारे शरीर के अन्दर भी ये सूर्य और सोम दोनों शिशु हृदयार्णव में क्रीडा कर रहे हैं। सूर्य आत्मा[२] है, सोम मन[३] है। आत्मा सब भुवनों, अर्थात् पञ्चभूतात्मक पदार्थों एवं प्राणियों का ज्ञान प्राप्त करता है और मन मानव-स्वभाव की विभिन्न ऋतुओं, अर्थात् अवस्थाओं का निर्माण करता है। मन के कारण ही कभी स्वभाव में शीतलता आती है, जो शरद्, हेमन्त और शिशिर ऋतुएँ हैं; कभी उष्णता आती है, जो ग्रीष्म ऋतु है; कभी दानशीलता या दया आदि की आर्द्रता आती है, जो वर्षा ऋतु है; कभी समता रहती है, जो वसन्त ऋतु है।

आज वर-वधू-रूप दो शिशु गृहाश्रम के अर्णव में क्रीडा करने जा रहे हैं। पति द्यौ है, पत्नी पृथिवी है; पति साम है, पत्नी ऋचा है[४], पति इन्द्र है, पत्नी शची है। ये दोनों गृहाश्रम में परस्पर तथा अन्यों के साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए जीवन की खेलें खेलेंगे। पति-रूप शिशु बाह्य क्षेत्रों (भुवनों) में क्रीडा करेगा, पत्नीरूप शिशु से गृहाश्रम की ऋतुचर्या चलेगी। प्रभु करे इन दोनों की यह क्रीडा सूर्य-चन्द्र तथा आत्मा-मन की क्रीडा के समान पवित्र और ऊँचा उठानेवाली हो, जिससे गृहाश्रम देव-मन्दिर बन सके।

३५१. हमें क्या-क्या प्राप्त हो ?

जितमस्माकम् उद्भिन्नमस्माकम् ऋतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्[४७] ॥

—अथर्व० १६.८.१

ऋषिः **यमः**। देवता **दुःस्वप्ननाशनम्**। छन्दः **एकपदा निचृद् ब्राह्मी अनुष्टुप्**।

(अस्माकं) हमें **(जितं)** विजय, **(अस्माकं)** हमें **(उद्भिन्नं)** अभ्युदय, **(अस्माकं)** हमें **(ऋतं)** सत्य, **(अस्माकं)** हमें **(तेजः)** तेज, **(अस्माकं)** हमें **(ब्रह्म)** ब्रह्म, **(अस्माकं)** हमें **(स्वः)** सुख या मोक्ष, **(अस्माकं)** हमें **(यज्ञः)** यज्ञ, **(अस्माकं)** हमें **(पशवः)** पशु, **(अस्माकं)** हमें **(प्रजाः)** प्रजाएँ, **(अस्माकं)** हमें **(वीराः)** वीर [प्राप्त हों]।

उत्कृष्ट मानव-जन्म पाकर हमें जिन-जिन वस्तुओं को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिए, उन-उन वस्तुओं को प्राप्त करने का सङ्कल्प हम अपने मन में जागृत कर रहे हैं। हमारी विजय हो। यह जीवन एक संग्राम है, जिसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ, अनेक दैवी और मानुषी विपत्तियाँ और अनेक आन्तरिक तथा बाह्य शत्रु हमपर प्रहार करने के लिए तैयार खड़े हैं। उनपर हमें विजय पानी है। हमारा अभ्युदय हो। जैसे बीज मिट्टी, पानी, ताप आदि से शक्ति पाकर भूपृष्ठ को उद्भिन्न करके अंकुर-रूप में ऊपर निकल आता है, वैसे ही हमें विभिन्न स्रोतों से शक्ति पाकर रुकावटों को दूर कर उत्कर्ष प्राप्त करना है, ऊर्ध्वारोहण करना है। हमें 'ऋत' प्राप्त हो, सत्य ज्ञान और सत्य आचरण के हम धनी हों। असत्य मार्ग पर चलकर विनाश के भागी न हों। हमें तेज प्राप्त हो, हमारा आत्मा तेजस्वी हो, हमारा मन तेजस्वी हो, हमारा शरीर तेजस्वी हो। हम सूर्य के समान तेजस्वी बनकर धरा पर चमकें। हमें 'ब्रह्म' प्राप्त हो। परब्रह्म परमात्मा और अवर ब्रह्म जीवात्मा दोनों के हम दर्शन कर उनसे प्रेरणा प्राप्त करते रहें। हमारे मनों में ईश्वर पर अटल विश्वास हो और आत्मा की अमरता का नाद हमारे हृदय में गूँजता हो। हमें 'स्वः' प्राप्त हो। 'स्वः' शान्तिमय सुख, दिव्य आनन्द और मोक्ष-लोक का नाम है। संसार में हम सुखी रहें, जीवन्मुक्त की स्थिति को भी प्राप्त कर सकें और परलोक-प्रयाण के पश्चात् मोक्ष-लोक को प्राप्त कर प्रभु के अङ्क में रहने का आनन्द-लाभ कर सकें। हमें 'यज्ञ' प्राप्त हो। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि पञ्चयज्ञों के प्रति हमारी रुचि हो। 'यज्ञ' शब्द से सूचित होनेवाले लोकोपकार के सन्देश की भी प्रेरणा हम प्राप्त करते रहें। हमें गाय, बैल आदि पशुओं के पालन का भी सौभाग्य प्राप्त हो और उनसे स्वास्थ्यप्रद प्रचुर दूध, घी, अन्न आदि की सम्पत्ति का लाभ हमें प्राप्त होता रहे। हमारे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूपी पशु भी परिपुष्ट रहें। हमें 'प्रजा' प्राप्त हों, हम राजा बनकर राष्ट्र की प्रजाओं के अधिपति बनें। हमें 'वीर' प्राप्त हों, हम वीर पुत्र-पुत्रियों के जनक, वीर भावों के जन्मदाता तथा वीर योद्धाओं के स्वामी बनें।

उक्त समस्त सम्पदाओं को प्राप्त करने का पुरुषार्थ हम सदा करते रहें और इन्हें उपलब्ध कर अपने जीवन को गरिमामय, श्लाघ्य और यशस्वी बनायें।

३५२. ब्रह्म-कवच से रक्षित

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं११, कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च११।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या१०, मा मानुषीरवसृष्टा वधाय११॥

—अथर्व० १७.१.२८

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **आदित्यः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(अहं) मैं **(ब्रह्मणा)** ब्रह्म-रूप **(वर्मणा)** कवच से [तथा] **(कश्यपस्य)** द्रष्टा आत्मा की **(ज्योतिषा)** ज्योति से **(वर्चसा च)** और वर्चस्विता से **(परीवृतः)** आच्छादित [होऊँ]। **(यः)** जो **(दैव्याः)** दैवी **(इषवः)** बाण [हैं, वे] **(मा)** मुझे **(मा)** मत **(प्रापन्)** प्राप्त हों, **(मा)** न ही **(वधाय)** वध के लिए **(अवसृष्टाः)** छोड़े हुए **(मानुषीः इषवः)** मानुषी बाण [प्राप्त हों]।

संसार में रहते हुए मुझे अनेक दैवी और मानुषी विपत्तियों से संघर्ष करना है। देखो, कैसे-कैसे दैवी बाणों का मुझपर प्रहार हो रहा है। कभी भूकम्प आ रहे हैं, कभी सर्वनाशिनी आँधियाँ चल रही हैं, कभी असमय ओले बरस रहे हैं, कभी ज्वलामुखी फूट रहे हैं, कभी अतिवृष्टियाँ और अनावृष्टियाँ हो रही हैं, कभी दुर्भिक्ष पड़ रहे हैं, कभी नदियों में विनाशलीला मचा देनेवाली बाढ़ें आ रही हैं, कभी उल्कापातों की झड़ी लग रही है, कभी भूमि फट रही है, कभी ऋतुओं में अव्यवस्था हो रही है, कभी महामारियाँ फैल रही हैं। इन सब दैवी बाणों के प्रहार मुझ मानव को क्षणभर में नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं। दूसरी ओर मानुषी बाणों पर, मनुष्य द्वारा उत्पन्न की गई विपत्तियों पर भी दृष्टिपात करो। तलवारें खनखना रही हैं, तोपें गोले बरसा रही हैं, बन्दूकों की गोलियाँ सिर पर से निकल रही हैं, संघातक विस्फोट किये जा रहे हैं, ऐटम-बम छोड़े जा रहे हैं, विषैली गैसें फैलाई जा रही हैं, नये-से-नये संहारक आविष्कार किये जा रहे हैं। इन सब मानुषी बाणों से भी मैं विपद्ग्रस्त तथा जर्जर हो गया हूँ और मानव-जाति संहार के कगार पर खड़ी प्रतीत हो रही है।

इस प्रकार के दैवी और मानवी बाणों के प्रहार से बचने का एक उपाय यह है कि मैं ब्रह्म का कवच धारण कर लूँ। ब्रह्म का कवच पहनते ही हृदय में धैर्य, आश्वासन और बड़े का सहारा प्राप्त कर लेने का सन्तोष जागृत होगा और जैसे सेनापति के साथ होने पर सैनिकों में उत्साह हिलोरें मारता रहता है, वैसे ही मेरे अन्दर सङ्कटों से जूझने का उत्साह बना रहेगा। इन बाणों से आत्मरक्षा का दूसरा उपाय यह है कि मैं द्रष्टा आत्मा (कश्यप) की ज्योति और वर्चस्विता से अनुप्राणित हो जाऊँ। मेरे आत्मा में जो शक्ति निहित है, उसे पहचानूँ। आत्मा में जो अमरता की ज्योति जग रही है, उसके दर्शन करूँ तथा इस भावना को अपने अन्दर जगाऊँ कि आत्मा अमर है, अतः संघर्षों से घबराना क्या! इस प्रकार ब्रह्म-कवच और कश्यप आत्मा की ज्योति से आच्छादित होकर मैं समस्त दैवी और मानुषी बाणों से आत्मरक्षा में समर्थ हो सकता हूँ।

३५३. वाणी के सलिल में स्नान

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्[११], भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्[१०]।
मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युर्[१०], अन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः[११] ॥

—अथर्व० १७.१.२९

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **आदित्यः**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(अहं) मैं **(ऋतेन)** सत्य से **(च)** और **(सर्वैः)** सब **(ऋतुभिः)** ऋतुओं से **(गुप्तः)** रक्षित [होऊँ], **(भूतेन)** अतीत से **(भव्येन च)** और भविष्यत् से **(गुप्तः)** रक्षित [होऊँ]। **(पाप्मा)** पाप **(मा)** मुझे **(मा)** मत **(प्रापत्)** प्राप्त हो, **(मा उत)** न ही **(मृत्युः)** मृत्यु [प्राप्त हो]। **(अहं)** मैं **(वाचः)** वेदवाणी के **(सलिलेन)** सलिल से, ज्ञानामृत से **(अन्तः दधे)** [स्वयं को] आच्छादित कर लेता हूँ।

मैं असुरक्षा के सन्त्रास से व्याप्त इस जगत् में सर्वात्मना रक्षित रहना चाहता हूँ। पर रक्षा का उपाय क्या है ? सहस्रों सैनिकों को अपने चारों ओर सन्नद्ध करके भी मैं वैसी रक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, जैसी स्वयं नैतिक नियमों में बँधकर तथा आत्म-बल को जगाकर पा सकता हूँ। सर्वप्रथम मैं 'सत्य' से रक्षित होऊँ। मनुष्य बहुधा अपनी रक्षा के लिए 'असत्य' का अवलम्बन करता है। वह सोचता है कि असत्य कहकर मैं अपराध के दण्ड से बच जाऊँगा। पर असत्य छिपता नहीं। अपराधी को अपराध का दण्ड तो मिलता ही है, असत्य-भाषण का अतिरिक्त दण्ड भोगना पड़ता है। इसके विपरीत सत्य बोलकर अपना अपराध स्वीकार कर लेने पर वह क्षमा का पात्र हो जाता है। मैं ऋतुओं से भी रक्षित होऊँ। ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, मेहन्त, शिशिर, वसन्त, छहों ऋतुएँ व्यवस्थितरूप से आकर प्रकृति के कार्यकलाप का चारुता के साथ निर्वाह करती हैं। इन ऋतुओं से शिक्षा लेकर मैं भी अपने कार्य को यथासमय करने की आदत डालूँ, तो मैं भी रक्षित रह सकता हूँ। यदि मैं अपने राष्ट्र के उज्ज्वल अतीत से शिक्षा लेकर वर्तमान को उज्ज्वल करने का व्रत लूँ, तो अतीत भी मेरा रक्षक बन सकता है। उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करके उसे मूर्तरूप देने के प्रयास द्वारा 'भव्य' को भी मैं अपना रक्षक बना सकता हूँ।

पाप मुझे न प्राप्त हों। यदि मैं दृढ़ता धारण कर लूँ कि किसी भी अवस्था में पाप के वशीभूत नहीं होऊँगा, तो पाप सदा मुझसे दूर रहेगा। परिणामतः नैतिक दृष्टि से मैं सुरक्षित रहूँगा। मृत्यु भी मुझे न प्राप्त हो। यों तो जिसने जन्म लिया है वह मृत्यु से ग्रस्त होता ही है, किन्तु जब भी चाहे अकाल मृत्यु आकर हमें ग्रस ले तो हम सर्वथा असुरक्षित रहते हैं, अतः सुरक्षा के लिए अकाल मृत्यु से बचना आवश्यक है। अन्त में आत्मरक्षार्थ मैं वाणी के सलिल से, वेदवाणी के ज्ञानामृत से, स्वयं को आच्छादित करता हूँ। जैसे शीतल-पवित्र जल का पान और उसमें स्नान श्रम और सन्ताप को मिटाकर हमारी रक्षा करता है, वैसे ही वेदवाणी के पवित्र ज्ञान-सलिल में स्नान भी हमारे अज्ञान-मूलक दुःख-द्वन्द्व को हरकर हमारा रक्षक बनता है। अतः मैं वेदवाणी के निर्मल ज्ञान-सरोवर में डुबकी लगाता हूँ और सब भीतियों से रहित, सब अविद्याओं से मुक्त तथा सब कर्तव्य-बोधो से स्फूर्ति पाकर पूर्ण सुरक्षित हो जाता हूँ।

३५४. सरस्वती का आह्वान

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते[११], सरस्वतीमध्वरे तायमाने[११]।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते[१०], सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्[१०]॥

—अथर्व० १८.१.४१

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **सरस्वती**। छन्दः **विराट् त्रिष्टुप्**।

(**देवयन्तः**) देवत्व के इच्छुक लोग (**सरस्वतीं**) सरस्वती को (**हवन्ते**) पुकारते हैं। (**अध्वरे**) यज्ञ के (**तायमाने**) फैलाये जाने पर (**सरस्वतीं**) सरस्वती को [(**हवन्ते**) पुकारते हैं]। (**सुकृतः**) सुकर्म-कर्ता लोग (**सरस्वतीं**) सरस्वती को (**हवन्ते**) पुकारते हैं। (**सरस्वती**) सरस्वती (**दाशुषे**) दाता के लिए (**वार्यं**) वरणीय ऐश्वर्य (**दात्**) देती है।

जिन्हें देवत्व-प्राप्ति की अभीप्सा होती है, वे लोग सरस्वती का आह्वान करते हैं। सरस्वती वह दिव्यता की नदी है, जो परात्-पर परमेश्वर से निकलकर आध्यात्मिकता के उच्च शिखरों पर बहती हुई अपने तरङ्गमय प्रवाहों से आत्मा, बुद्धि, मन आदि को आप्लावित करती है। वह दिव्य सरस धारा मनुष्य को देव बना देती है, दिव्यता का उपासक कर देती है। आध्यात्मिकता की इस रसमयी सरिता की तरङ्गों में स्नान किये बिना मनुष्य का जीवन पूर्णतायुक्त नहीं होता, अदिव्य बना रहता है। याज्ञिकजन भी अध्वर-यज्ञ को फैलाते समय सरस्वती का आह्वान करते हैं। अध्वर-यज्ञ है, शान्ति की आराधना का यज्ञ। दिव्यता की सरस-धार-रूप सरस्वती को मानस में अवतीर्ण किये बिना शान्ति के स्वप्न लेना नासमझी है। चाहे वैयक्तिक शान्ति प्राप्त करनी अभीष्ट हो, चाहे सामूहिक शान्ति, अन्तस्तल में स्निग्ध तरङ्गों से प्रवाहित होती हुई दिव्यता की सरस्वती ही उस शान्ति-यज्ञ को सफल कर सकती है।

सुकर्मकर्ता जन भी सरस्वती को पुकारते हैं। उस आन्तरिक दिव्य नदी से आत्मा, मन, प्राण, वाणी आदि को प्रक्षालित किये बिना जीवन के सुकर्मों का उदय नहीं होता। सुकर्मों में प्रवृत्त होने के लिए दिव्य प्रेरणा की आवश्यकता होती है। जब ईश्वरीय प्रेरणा की सरस्वती झर-झर शब्द करती हुई आत्मा के शैल-शिखरों पर झरती है, तब मनुष्य के समस्त कर्म, जीवन के सब व्यापार स्वतः सत्य, शिव और सुन्दर हो जाते हैं। सरस्वती 'दाश्वान्' को वरणीय ऐश्वर्य प्रदान करती है। 'दाश्वान्' वह है जो अपनी उपलब्धि को अन्य जनों तक पहुँचाना चाहता है। अनेक ऋषि-महर्षिजन अणिमा, लघिमा, महिमा आदि अध्यात्म-सिद्धियों को प्राप्त कर आत्म-तृप्त हो जाते हैं। पर जबतक लोक में हाहाकार मचा हुआ है, तबतक कुछ इने-गिने व्यक्तियों का सिद्धि प्राप्त कर लेना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः जो सफलता प्राप्त हो जाने पर भी आत्मतुष्ट न होकर लोक को उस अपनी उपलब्धि का दान करना चाहता है, उसे उसके अन्दर प्रवाहित होनेवाली दिव्यता की सरस्वती अधिकाधिक वरणीय ऐश्वर्य प्रदान करती चलती है और वह उसे आध्यात्मिक क्षेत्र का धन-कुबेर बना देती है।

हे सरस्वती! हम भी तुम्हारा आह्वान करते हैं। तुम अपनी सरस दिव्य धाराओं के साथ हमारे अन्दर बहो।

३५५. विषम हवाएँ

इमा या ब्रह्मणस्पते॑, विषूचीर्वात ईरते॑।
सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा॑, मह्यं शिवतमास्कृधि॑॥

—अथर्व० १९.८.६

ऋषिः **गार्ग्यः**। देवता **ब्रह्मणस्पतिः इन्द्रः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(**ब्रह्मणस्पते**[१] **इन्द्र**[२]) हे विशाल राष्ट्र के पति, सर्वविघ्न-विदारक परमात्मन् तथा राजन्! (**इमाः**) ये (**याः**) जो (**विषूचीः**[३]) विषम गतिवाली (**वातः**[४]) हवाएँ (**ईरते**[५]) चल रही हैं, (**ताः**) उन्हें (**सध्रीचीः**[६]) अनुकूल गतिवाली (**कृत्वा**) करके (**मह्यं**) मेरे लिए (**शिवतमाः**) अतिशय कल्याणकारी (**कृधि**) कर दीजिए।

हमारे चारों ओर विषम हवाएँ चल रही हैं। कहीं फैशनपरस्ती की हवा चलती है, जो बालक-युवक-युवति सबको अपने साथ बहा ले जाती है। कहीं मदिरा-पान की हवा चलती है, जिससे बड़े-बड़े सयाने लोग भी नशे में धुत दिखाई देते हैं। कहीं अब्रह्मचर्य की हवा चलती है, जिसके वशीभूत हो अच्छे-अच्छे होनेहार युवक अपना स्वास्थ्य-धन नष्ट कर बैठते हैं। कहीं हिंसाओं की हवा चलती है, जिससे भीषण नर-संहार मच जाते हैं। कहीं अधर्म की हवा चलती है, जो शीघ्र मालामाल हो जाने की आशा उत्पन्न कर सज्जनों को भी अपने चक्रवात में फँसा लेती है। कहीं घूसखोरी की हवा चलती है, जिससे बड़े-बड़े सत्यनिष्ठ व्यक्ति भी अछूते नहीं रह पाते। कहीं कन्या-विक्रय की हवा चलती है, जो अनेक भोली-भाली कुमारियों के जीवन को नष्ट कर देती है। कहीं बन्दूक की नोक पर राहगीरों या यान-यात्रियों को लूटने की हवा चलती है, जिससे अनेक व्यक्ति अपनी पसीने की कमाई को गँवा बैठते हैं। कहीं जेब-कतरी की हवा चलती है, जिससे अनजाने में ही अनेक निरीह लोगों का धन हर लिया जाता है। कहीं शुद्ध वस्तुओं में मिलावट की हवा चलती है, जिससे शुद्ध पदार्थ बाजार में दुर्लभ हो जाते हैं। कहीं विक्रय में कम तोलने की हवा चलती है, जिससे भोले लोग ठगे जाते हैं। कहीं नकली वस्तुओं को असली की छाप से बेचने की हवा चलती है, जिससे क्रेताओं को असली-नकली की पहचान कठिन हो जाती है।

हे ब्रह्मणस्पति इन्द्र! हे ब्रह्माण्ड-राष्ट्र के पालक, दुर्गुण-विदारक परमात्मन्! हे मानव-राष्ट्र के अधिपति, दुर्व्यसन-विदारक राजन्! तुम इन तथा इस प्रकार की अन्य समस्त विषम हवाओं को अनुकूल हवाओं में परिणत कर दो। तुम ईश-पूजा की, मानव-प्रेम की, सेवा की, दया की, पारस्परिक सहायता की, सादगी की, आत्म-शुद्धि की, सन्तोष की, तपस्या की, स्वाध्याय की, ध्यान की, अहिंसा की, सचाई की, अस्तेय की, ब्रह्मचर्य की, अपरिग्रह की, धीरता की, क्षमाशीलता की, जितेन्द्रियता की, विद्वत्ता की, कर्मण्यता की हवाएँ चलाओ। विषम झँझावातों के स्थान पर सुखद, शीतल, मन्द, सुगन्ध बयार चलाकर तुम जन-मानस में सात्त्विकता की तरङ्गें उठाओ। इस प्रकार की अनुकूल हवाएँ मेरे लिए और मानव-समाज के लिए शिवतम सिद्ध होंगी, जल-कल्याण का सूत्रपात करेंगी, मङ्गल-वर्षा करेंगी।

३५६. मन-सहित पाँच इन्द्रियाँ

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि[१०], मनःषष्ठानि मे हृदि[८],
ब्रह्मणा संशितानि[७]। यैरेव ससृजे घोरं[८],
तैरेव शान्तिरस्तु नः[८]॥

—अथर्व० १९.९.५

ऋषिः **वसिष्ठः (शन्तातिः)**। देवता लिङ्गोक्ताः **(ब्रह्म, इन्द्रियाणि मनः च)**।
छन्दः **पञ्चपदा भुरिक् पङ्क्तिः**।

(इमानि) ये **(यानि)** जो **(मनः षष्ठानि)** मन से छठी **(पंच)** पाँच **(इन्द्रियाणि)** ज्ञानेन्द्रियाँ **(मे)** मेरे **(हृदि)** हृदय में **(ब्रह्मणा)** जीवात्मा से **(संशितानि[१])** तीक्ष्ण [होती हैं], **(यैः एव)** जिनसे ही [मनुष्य] **(घोरं)** घोर [परिणाम] **(ससृजे)** उत्पन्न करता है, **(तैः एव)** उन्हीं से **(नः)** हमें **(शान्तिः)** शान्ति **(अस्तु)** प्राप्त हो।

मानव-शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन ये अद्भुत वस्तुएँ परमात्मा ने रची हैं, जो उसकी विलक्षण कारीगरी की द्योतक हैं। दर्पण में प्रतिविम्ब के समान आँख की पुतली में कैसे सब दृश्य-पदार्थ प्रतिविम्बित हो जाते हैं, किस प्रकार कर्णपटल पर शब्द प्रतिध्वनित हो जाता है, कैसे रसना रस का स्वाद ले लेती है, कैसे नासिका से गन्ध का पता चल जाता है, कैसे त्वचा कोमल व कठोर आदि स्पर्श की अनुभूति करा देती है, कैसे मन इन सब इन्द्रियों में सामञ्जस्य उत्पन्न करके इनके द्वारा ज्ञान ग्रहण कराता है और सङ्कल्प-विकल्प करता है, यह सब बड़ा ही रहस्यमय प्रतीत होता है। असल में जिन्हें हम आँख, कान आदि कहते हैं, वे इन्द्रियाँ नहीं हैं, वे इन्द्रियों के गोलक-द्वार या कार्य करने के साधन हैं। असली इन्द्रियाँ तो इन्द्रिय-अगोचर हैं, जो शक्ति-रूप हैं। जब देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है, तब बाह्य आँख के विद्यमान होने पर भी मनुष्य देख नहीं पाता। यही कथा अन्य इन्द्रियों की भी है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन अपने-अपने ज्ञान को लेकर हृदय में पहुँचते हैं, जहाँ आत्मा उन्हें तीक्ष्ण, सतेज और परिपक्व करता है। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान तबतक प्रमाणित और फलदायक नहीं होता, जबतक आत्मा की छाप उसपर न लग जाये। आत्मा उस इन्द्रिय-प्राप्त ज्ञान का विश्लेषण कर उसकी सत्यता का निर्णय करता है।

यद्यपि ये इन्द्रियाँ हमारे लिए परमेश्वर का वरदानरूप हैं, तो भी कई बार मनुष्य इनका दुरुपयोग करके इनसे बड़े-बड़े घोर परिणाम उत्पन्न कर लेता है। अदर्शनीय दृश्यों, अश्रवणीय शब्दों, अस्वादनीय रसों, अघ्रातव्य गन्धों एवं अस्पृश्य स्पर्शों को ग्रहण कर तथा असङ्कल्पनीय सङ्कल्पों को सङ्कल्पित कर वह स्वयं को मूर्तिमती अभद्रता की प्रतिकृति बना लेता है। पर हम तो इन इन्द्रियों का सदुपयोग ही करना चाहते हैं। इनका सदुपयोग हमारे लिए सुख-शान्ति का द्वार खोल सकता है। विश्व के सब मानव यदि भद्र दर्शन, भद्र श्रवण आदि में तत्पर हो जायें तो सम्पूर्ण विश्व में भद्रता का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा और शान्ति का स्रोत प्रवाहित होने लगेगा।

अतः आओ, हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों एवं मन को आत्मा द्वारा तीक्ष्ण कराकर उनसे शुभ परिणामों को उत्पन्न करें और जगत् में शान्ति की लहर उठाने में सफल हों।

३५७. तेंतीस वीर्य

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्[११], भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्[१२]।
त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि[१०], तान्यग्निः प्रददातु मे[८]॥

—अथर्व० १९.३७.१

ऋषिः **अथर्वा**। देवता **अग्निः**। छन्दः **भुरिक् त्रिष्टुप्।**

(अग्निना) अग्निस्वरूप परमेश्वर द्वारा **(दत्तं)** दिया हुआ **(इदं)** यह **(वर्चः)** ब्रह्मवर्चस, **(भर्गः[१])** तप **(यशः)** यश, **(सहः)** साहस, **(ओजः)** ओज, **(वयः)** आयुष्य [और] **(बलं)** बल **(आगन्)** [मुझे] प्राप्त हो। **(यानि च)** और जो **(त्रयस्त्रिंशत्)** तेंतीस **(वीर्याणि)** वीर्य [हैं], **(तानि)** उन्हें **(अग्निः)** परमेश्वर **(मे)** मुझे **(प्रददातु)** प्रदान करे।

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, सब गुणों के अगार हैं। इधर मैं अत्यन्त अल्प शक्ति हूँ और अनेक न्यूनताएँ एवं अभाव मेरे अन्दर विद्यमान हैं। पर मैं इससे निराश नहीं हूँ। परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़कर मैं भी शक्तियों और गुणों का पुञ्ज बन सकता हूँ। मेरी कामना है कि मैं वर्चस्वी प्रभु से ब्रह्मवर्चस प्राप्त करूँ, ब्रह्मतेज से देदीप्यमान बन जाऊँ, जिससे कोई भी ब्रह्म-विरोधी भावनाएँ मुझे पराजित न कर सकें। मैं तपस्वी प्रभु से तपस्या की शिक्षा लूँ, इतना तप करूँ कि मेरे तप से समस्त पाप-वासनाएँ भस्म हो जाएँ। मैं यशस्वी प्रभु को यशः प्राप्ति के लिए अपना आदर्श बनाऊँ। उसके समान मैं भी अनुपम कीर्ति से जगमगाऊँ। मैं साहसी प्रभु से साहस प्राप्त करूँ। साहस ही मनुष्य को जटिल-से-जटिल कठिनाइयों से पार लगाता है। मैं ओजस्वी प्रभु से ओज ग्रहण करूँ, क्योंकि ओज ही शरीर एवं आत्मा का धन है। मैं आयुष्मान् प्रभु से दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूँ, जिससे चिरकाल तक समाज की सेवा कर सकूँ। मैं बलवान् प्रभु से शिक्षा लेकर अपने अन्दर मनोबल और दैहिक बल का सञ्चय करूँ, जिससे मानसिक एवं बाह्य शत्रुओं से लोहा ले सकूँ।

ज्योतिर्मय परमात्मा मुझे वे तेंतीस वीर्य प्रदान करे जो मानव की पूर्णता के लिए आवश्यक हैं। ये तेंतीस वीर्य हैं दस इन्द्रिय-बल, चार अहङ्कार-चतुष्टय के बल, एक आत्मा का बल, पाँच प्राणबल, पाँच अन्नमयादि कोषों के बल, आठ अणिमादि योगसिद्धियों के बल। मानव-शरीर के अन्दर स्थित ये इन्द्रियादि यदि बलवान् नहीं होते, तो ये मनुष्य को पथभ्रष्ट करने में कारण बनते हैं। निर्बल इन्द्रियाँ अन्तर्मुखता को छोड़कर भोग-विषयों की ओर आकृष्ट होने लगती हैं। निर्बल मन, बुद्धि आदि असत्सङ्कल्प, पापात्मक अध्यवसाय आदि में प्रवृत्त होने लगते हैं। निर्बल आत्मा कामादि रिपुओं के वशीभूत हो जाता है। निर्बल प्राणापान आदि अपनी प्राणन आदि क्रियाओं को साधु-प्रकार से न कर सकने के कारण शरीर को रुग्ण एवं क्षीण कर देते हैं। निर्बल अन्नमयादि कोष आत्मोन्नति के सोपान न बनकर आत्मा को गिरानेवाले बन जाते हैं। निर्बल अणिमा-लघिमा आदि योगसिद्धियाँ परमात्म-साक्षात्कार में सहायक न होकर मनुष्य को सांसारिकता में ही फँसाये रखती हैं। अतः तेज और बल के परम स्रोत अग्नि प्रभु से मैं अपनी सम्पूर्ण विनम्रता के साथ याचना करता हूँ कि वे मुझे उक्त तेंतीस प्रकार के बलों से बलवान् बनाकर पूर्णता प्रदान करें।

३५८. छिद्र-पूर्ति

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः[११], सरस्वती मन्युमन्तं जगाम[११]।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः[११], सं दधातु बृहस्पतिः[८]॥

—अथर्व० १९.४०.१

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **बृहस्पतिः विश्वे देवाश्च**। छन्दः **पराऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्**।

(यत्) जो **(मे)** मेरे **(मनसः)** मन का, **(यत् च)** और जो **(वाचः)** वाणी का **(छिद्रं)** छिद्र है, [जिसके कारण] **(सरस्वती)** सरस्वती **(मन्युमन्तं जगाम)** मन्युमान् रूप को प्राप्त हो गई है, क्रुद्ध हो गई है, **(तत्)** उस [छिद्र] को **(विश्वैः देवैः)** सब गुरुओं एवं शरीरस्थ आत्मा के दिव्यगुणों के साथ **(संविदानः)** ऐकमत्य रखता हुआ **(बृहस्पतिः)** आचार्य एवं परमात्मा **(सं दधातु)** संधान कर दे, भर दे।

मैं सरस्वती का उपासक हूँ, विद्या देवी का आराधक हूँ। मुझे नवीन-नवीन ज्ञान-विज्ञान के उपार्जन करते रहने में विशेष रुचि है। विद्या के जिस स्तर पर मैं आज हूँ, कल उससे उच्च स्तर पर होना चाहता हूँ। साथ ही अर्जित विद्या की सहायता से काव्य-ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थ लिखना भी मेरी सरस्वती की उपासना में सम्मिलित है। इसमें मनसहित ज्ञानेन्द्रियाँ और वाणी प्रमुख साधन हैं। पर उनमें ही यदि छिद्र हो जाये, त्रुटि आ जाये, तो सरस्वती की उपासना नहीं हो सकती। तब सरस्वती क्रुद्ध हो जाती है। पहले छिद्र को भरना होगा, दोष को दूर करना होगा। मन्त्र में यद्यपि मन और वाणी के छिद्र का ही उल्लेख है, तो भी मन चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का भी उपलक्षक है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों में दोष आ जाने से सरस्वती गृहीत नहीं होती और वाणी सदोष हो जाने से सरस्वती का प्रसार नहीं होता। मन ग्रहण और प्रसार दोनों में कार्यरत रहता है। मन में त्रुटि आ जाने से न सरस्वती का ग्रहण होता है, न उसका प्रसार होता है। मन-सहित ज्ञानेन्द्रियों एवं वाणी के छिद्र को सब देवों के साथ सामञ्जस्य रखता हुआ बृहस्पति भर सकता है। बृहस्पति ज्ञान का अधिपति आचार्य है और देव अन्य गुरुजन हैं। ये सब मिलकर गुरुकुलवास करनेवाले शिष्य के मन आदि के उन दोषों को दूर करते हैं, जो दोष ज्ञानार्जन एवं ज्ञान के प्रसार में बाधक हैं। बृहस्पति परमात्मा का भी नाम है, क्योंकि समस्त ज्ञान-विज्ञान का अन्तिम स्रोत वही है। वह शरीरस्थ आत्मा के दिव्यगुणों के साथ सामञ्जस्य रखता हुआ मनुष्य में मन, वाणी आदि के छिद्रों को भरता है। वह ऐसा कुशल चिकित्सक है कि एक बार उसके पुरे हुए छिद्र फिर कभी नहीं खुलते। मनुष्य के आत्मा के अन्दर स्वभावतः सत्य, प्रेम, मैत्री आदि गुण रहते हैं, परन्तु मन आदि के सदोष होने से वे प्रभावी नहीं हो पाते। प्रभु आत्मा के उन गुणों को उभारकर मन, वाणी आदि के दोषों को दूर कर देता है।

हे बृहस्पति! हे आचार्य! हे परमात्मन्! मेरे मन, वाक् आदि के छिद्रों को भरो, जिससे सरस्वती उन छिद्रों में से चू न जाए, प्रत्युत सदा मैं उससे भरपूर रहूँ।

३५९. ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति[८], दीक्षया तपसा सह[८]।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु[८], ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे[८]।
ब्रह्मणे स्वाहा[५]॥ —अथर्व० १९.४३.८

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **ब्रह्म**। छन्दः **शङ्कुमती भुरिक् बृहती**।

(ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग **(दीक्षया)** दीक्षा [और] **(तपसा)** तप के **(सह)** साथ **(यत्र)** जहाँ **(यान्ति)** पहुँचते हैं, **(ब्रह्मा[१])** चतुर्वेदवित् विद्वान् **(मा)** मुझे **(तत्र)** वहाँ **(नयतु)** ले जाए। **(ब्रह्मा)** चतुर्वेदवित् विद्वान् **(मे)** मुझमें **(ब्रह्म)** ब्रह्म को **(दधातु)** स्थित करे। **(ब्रह्मणे)** ब्रह्म-प्राप्ति के लिए **(स्वाहा)** मेरा समर्पण है।

क्या तुम जानते हो कि ब्रह्मवित् लोग ब्रह्म को कैसे जान पाते हैं, कैसे उसका दर्शन कर पाते हैं, कैसे उस तक पहुँच पाते हैं? जब ब्रह्म इन्द्रियातीत है तो कैसे कोई उसकी अनुभूति करने में समर्थ होता है? देखो, सुनो और समझो; वेद उसकी प्राप्ति का उपाय बता रहा है। ब्रह्मवित् लोग उसकी प्राप्ति 'दीक्षा' और 'तप' से करते हैं। दीक्षा का अर्थ है व्रत-ग्रहण, अर्थात् जिस वस्तु को पाने की आकांक्षा हो उसे प्राप्त करने का व्रत ले लेना, उसे पाने का दृढ़ सङ्कल्प कर लेना, जो उसकी प्राप्ति में बाधक हों उनसे अपने मन को उपरत कर लेना और एकमात्र उसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में सतत-रूप से मन को लगाये रखना। अतः यदि हम ब्रह्म को पाना चाहते हैं तो ब्रह्म-प्राप्ति के लिए दीक्षित होना होगा, व्रती बनना होगा, एकमात्र उसी में लौ लगानी होगी। ब्रह्म-प्राप्ति का दूसरा साधन 'तप' है। तप का अर्थ है शीतातप, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों को तथा मार्ग में आनेवाले कष्टों को सहन करते हुए और सादा जीवन एवं उच्च विचार का आदर्श अपने सम्मुख रखते हुए तीव्रता के साथ लक्ष्य-प्राप्ति की ओर बढ़ते जाना। ब्रह्म-प्राप्ति के लिए हमें यह तप भी करना होगा।

ब्रह्म को पाने के लिए किसी पथ-प्रदर्शक और शिक्षक की भी आवश्यकता होती है। जो ब्रह्म है, चतुर्वेदवित् है, योगी है, जो स्वयं ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका है, वही इस मार्ग में नेतृत्व कर सकता है, वही साधक के हृदय-कुण्ड में ब्रह्माग्नि का आधान कर सकता है। अतः ऐसे उच्चकोटि के गुरु के मार्गदर्शन में दीक्षा और तप के साथ हमें गम्भीर साधना करनी होगी, तभी ब्रह्म के दर्शन हो सकेंगे। यह लो, हम ब्रह्म-प्राप्ति के लिए अपने को समर्पित करते हैं और सर्वात्मना इस कार्य में तन्मय होकर ब्रह्म-दर्शन के लिए अपनी मनोभूमि को प्रसाधित करते हैं। हे परब्रह्म! आओ, तुम्हारे स्वागत और अभिनन्दन के लिए हम तैयार खड़े हैं।

३६०. जीवन-यज्ञ अविच्छिन्न रहे

घृतस्य जूतिः समना सदेवा[११], संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती[११]।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्तु[११], अच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः[११] ॥

—अथर्व० १९.५८.१

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **यज्ञः**। छन्दः **त्रिष्टुप्**।

(**घृतस्य**[१]) आत्मतेज-रूप घृत की (**जूतिः**[२]) वेगवती धारा (**समना**) मनसहित [और] (**सदेवा**[३]) इन्द्रियों-सहित (**संवत्सरं**) शत-संवत्सर जीवन-यज्ञ को (**हविषा**) हवि से (**वर्धयन्ती**) बढ़ाती [रहे]। (**नः**) हमारा (**श्रोत्रं**) श्रोत्र, (**चक्षुः**) नेत्र [और] (**प्राणः**) प्राण (**अच्छिन्नः अस्तु**) अच्छिन्न रहे। (**वयं**) हम (**आयुषः**) आयु से [तथा] (**वर्चसः**) वर्चस्विता से (**अच्छिन्नाः**) अच्छिन्न [रहें]।

मनुष्य का जीवन सौ या सौ से भी अधिक वर्ष तक चलनेवाला एक यज्ञ[४] है, जिसे 'शत-संवत्सर यज्ञ' भी कहा जाता है। हम चाहते हैं कि हमारा यह यज्ञ निर्विघ्न चलता रहे। जैसे बाह्य यज्ञ तभी प्रवृत्त रह सकता है, जब उसमें यजमान और ऋत्विजों द्वारा निरन्तर हवि की आहुति पड़ती रहे, वैसे ही हमारे इस शारीरिक यज्ञ के निर्बाध चलते रहने के लिए भी यह आवश्यक है कि इसका यजमान और इसके ऋत्विज् इसे हवि द्वारा बढ़ाते रहें। आत्मा ही इस यज्ञ का 'यजमान' है, मन 'ब्रह्मा' है, प्राण 'उद्गाता' है, वाणी 'होता' है, चक्षु 'अध्वर्यु' है[५]। अतः आत्मा की आत्म-तेज-रूप घृत की आहुति, मन की प्रबल सङ्कल्प की आहुति और सब ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की अपनी-अपनी ज्ञान-कर्म-रूप हवियों की आहुति हमारे इस 'शत-संवत्सर' जीवन-यज्ञ में पड़ती रहनी चाहिए। यदि आत्मा, मन और इन्द्रिय-देव इस यज्ञ में सहायक नहीं होंगे, तो हमारा यह जीवन-यज्ञ समय से पूर्व ही विच्छिन्न हो जाएगा। अतः हमारे श्रोत्र, नेत्र, प्राण आदि की शक्तियाँ अक्षुण्ण रहनी चाहिएँ, जिससे हम चिर-काल तक कानों से शब्द, नेत्रों से रूप, नासिका से गन्ध, रसना से रस, त्वचा से स्पर्श का ग्रहण कर सकें और प्राण-अपान आदि की क्रियाओं को सम्यक् प्रकार से करते रहें। यदि हमारी ये इन्द्रियाँ दुर्बल या अशक्त हो जाती हैं तो हमारे जीवन की वही अवस्था होगी, जो ऋत्विजों के दुर्बल, अशक्त या उदासीन हो जाने पर यज्ञ की होती है। यदि हम आयु से तथा वर्चस्विता से अच्छिन्न रहना चाहते हैं, तो हमें अपने जीवन-यज्ञ के यजमान और ऋत्विजों को सबल, सशक्त और निरन्तर जागरूक रखना होगा।

हे मेरे आत्मन्! हे मन! हे प्राण! हे इन्द्रिय-देवो! तुम जागते रहो, जीवन-यज्ञ में हवि डालते रहो, यज्ञ को प्रज्वलित, प्रवृद्ध, अच्छिन्न तथा वर्चस्वी बनाये रहो।

३६१. हम वर्चस्वी और यशस्वी हों

वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्[१६] वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु संचरेम[१४]।
यशसं गावो गोपतिमुपतिष्ठन्त्यायतीर्[१५] यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु संचरेम[१४]॥

—अथर्व० १९.५८.३

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **यज्ञः, द्यावापृथिवी, गोपतिः**। छन्दः **चतुष्पदा निचृद् अतिशक्वरी**।

(**द्यावापृथिवी**) हे द्यावापृथिवी! [तुम] (**वर्चसः**) प्रताप के (**संग्रहणी**) संग्रह करनेवाले (**बभूवथुः**) हो। [हम भी] (**वर्चः**) प्रताप को (**गृहीत्वा**) ग्रहण करके (**पृथिवीम् अनु**) पृथिवी पर (**संचरेम**) संचार करें। (**आयतीः**) आती हुई (**गावः**) गौएँ (**यशसं**) यशस्वी (**गोपतिम् उप**) गोपति के पास (**तिष्ठन्ति**) खड़ी हो जाती हैं। [हम भी] (**यशः**) यश को (**गृहीत्वा**) ग्रहण कर (**पृथिवीम् अनु**) पृथिवी पर (**संचरेम**) संचार करें।

द्युलोक और पृथिवीलोक को देखो। इन्होंने वर्चस् का संग्रह किया हुआ है, ये अपने प्रताप से प्रतापवान् बने हुए हैं। द्युलोक का राजा सूर्य कैसा प्रतापी है! सब ग्रहोपग्रहों का चक्रवर्ती साम्राज्य उसके पास है। जब वह अपनी रक्तिम प्रभा के साथ पूर्वाकाश में उदित होता है, तब ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई सम्राट् रथारूढ़ होकर यात्रा पर निकला है, जिसके स्वागत में समस्त पृथिवी-वासी उठ खड़े हुए हैं। कौन उसके प्रताप को चुनौती दे सकता है? कौन उसके वर्चस्व को नकार सकता है? आओ, हम भी सूर्य के समान वर्चस्वी और प्रतापी होकर पृथिवी पर विचरें। जैसे सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार को चीरकर प्रकाश फैला देता है, वैसे ही हम भी अपने प्रताप से अन्याय, अत्याचार, अज्ञान आदि के तिमिर को ध्वंस कर न्याय और सत्य का प्रकाश फैलाएँ। हम भी सभाओं के सभापति बनें, हम भी विश्व को अपनी ओर आकृष्ट करें, हम भी विश्वसुरक्षा परिषद् में अपना प्रभाव स्थापित करें, हम भी वर्चस्वी चक्रवर्ती सम्राट् बनें।

गौएँ जब जङ्गल से चरकर लौट रही होती हैं, तब वे सीधी अपने गोपति के पास पहुँचती हैं, जो अनेक गौओं के गोपति होने की कीर्ति से कीर्तिमान् बना है। हम भी कीर्ति को ग्रहण कर पृथिवी पर विचरें। हम यह गर्व कर सकें कि ज्ञातव्य ज्ञान का सञ्चय करने के लिए चरागाहों से निकली हमारी इन्द्रियरूप गौएँ ज्ञान के दूध से अपने पयोधरों को भरे हुए लौटकर हमारे ही पास दौड़ी चली आती हैं। अपनी वाणीरूप गौओं से भी हम यशस्वी बनें। हमारी वाणियाँ गौओं के पयोधरों के समान मधुर दूध से भरी हों, गौओं के सींगों के समान नास्तिकों के कुतर्क काटनेवाली हों। हमारी वाग्-रूप गौएँ अज्ञानियों को ज्ञान-दान, पीड़ितों को आश्वासन-दान और असत्-पक्ष पर आग्रहशील विद्वन्मन्यों को शास्त्रार्थ में पराजय-दान देकर कीर्तिमती होकर हम यशस्वियों के पास लौटें, जिससे हमें सच्चा गोपति होने का यश मिले। इस प्रकार हम वर्चस्वी और यशस्वी होकर भूमि पर विचरण करें और हमारा सर्वत्र स्वागत एवं अभिनन्दन हो।

३६२. आओ, देवों के मार्ग पर चलें

आ देवानामपि पन्थामगन्म[११], यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम्[११] ।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात् स इद्धोता[११], सोऽध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति[१०] ॥

—अथर्व० १९.५९.३

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **अग्निः**। छन्दः **निचृत् त्रिष्टुप्**।

(**अपि**) क्या (**देवानां**) देवों के (**पन्थां**) मार्ग पर (**आ-अगन्म**) [हम] चलें ? [हाँ], (**यत्**) यदि (**तत् अनुप्रवोढुम्**) उसपर स्वयं को चलाने में (**शक्नवाम**) समर्थ हों। (**अग्निः**) आत्मा (**विद्वान्**) विद्वान् है, (**सः**) वह (**यजात्**) यज्ञ करे, (**सः**) वह (**इत्**) सचमुच (**होता**) होम-निष्पादक है। (**सः**) वही (**अध्वरान्**) यज्ञों को और (**सः**) वही (**ऋतून्**) ऋतुओं को (**कल्पयाति**) रचाये।

आओ, हम देवों के मार्ग पर चलें। यज्ञ के तन्तु से बँधे रहना ही देवों का मार्ग है[१]। देखो, ये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पृथिवी, ऋतु, संवत्सर आदि देव कैसे 'यज्ञ' के मार्ग पर चल रहे हैं। कभी उनके यज्ञ-पालन में व्यतिक्रम नहीं होता। शरीर में भी मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ आदि देव कैसे संगठित हो देवयान का अवलम्बन कर शरीर-यज्ञ को चला रहे हैं। समाज में भी 'देव' पदवी को पाये हुए महापुरुष 'यज्ञ' के ही पथ पर चल रहे हैं। और सबसे बड़ा देवों का देव परमात्मा भी निरन्तर देव-मार्ग पर चलता हुआ इस ब्रह्माण्ड-यज्ञ का सम्पादन कर रहा है। हम चाहते हैं कि हम भी इस देव-मार्ग के पथिक बनें।

क्या तुम कहते हो कि इस मार्ग पर चलना अति कठिन है, तलवार की धार पर चलने के समान है, अतः पहले अपनी शक्ति को तो तोल लो कि तुम इस पर स्थिर रह भी सकोगे या नहीं, उसके पश्चात् इस मार्ग पर पग बढ़ाना। सुनो, हमने अपने सामर्थ्य को भलीभाँति परख लिया है। हमारा आत्मा 'अग्नि' है, अग्रणी है, तेज का पुञ्ज है, ज्योतियों की ज्योति है। वह 'विद्वान्' है, देवों की राह पर चलना और चलाना जानता है। अतः हमें देव-प्रदर्शित यज्ञ-मार्ग से भटक जाने का कोई भय नहीं है। हम निश्चिन्त होकर उसके हाथों में अपनी 'यज्ञ' की पतवार सौंप रहे हैं। वह 'होता' है, यज्ञ-निष्पादन में कुशल है, संस्कृत हवि का होम करने में निष्णात है। वह जानता है कि यज्ञ को 'अध्वर' अर्थात् हिंसारहित ही होना चाहिए। भद्रजनों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से किया गया यज्ञ यज्ञ नहीं है। हमारा आत्मा 'अध्वर' यज्ञों को रचाये और वही यह भी देखे कि किस यज्ञ के लिए कौन-सी ऋतु, कौन-सा समय उपयुक्त है, क्योंकि काल-अकाल का विचार किये बिना प्रारम्भ किया गया यज्ञ सफल नहीं होता। आओ, हम देव-पथ के पथिक बनें।

३६३. समित्पाणि शिष्य के उद्‌गार

एतास्ते अग्ने समिधस्[८], त्वमिद्धः समिद् भव[७]।
आयुरस्मासु धेहि[७], अमृतत्वमाचार्याय[८] ॥

—अथर्व० १९.६४.४

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **अग्निः**। छन्दः **अनुष्टुप्**।

(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! **(एताः)** ये **(ते)** तेरे लिए **(समिधः)** समिधाएँ [हैं], [इनसे] **(त्वं)** तू **(इत्)** निश्चय ही **(सम् इद्धः)** संदीप्त **(भव)** हो। **(अस्मासु)** हम [ब्रह्मचारियों] में **(आयुः)** जीवन, [और] **(आचार्याय)** आचार्य के लिए **(अमृतत्वम्)** अमरत्व **(धेहि)** प्रदान कर।

मैं समित्पाणि होकर आचार्य के समीप उपनीत होने तथा विद्याध्ययन करने आया हूँ। अपने हाथ में मैं समिधाएँ इस निमित्त लाया हूँ कि इनसे मैं अग्निहोत्र करूँगा, समिधाओं की एक-एक कर अग्नि में आहुति दूँगा।

हे यज्ञाग्नि! ये तेरे लिए समिधाएँ हैं, इनसे तू समिद्ध हो, सम्यक् प्रकार से प्रदीप्त हो। देखो, ये शुष्क समिधाएँ, जो सर्वथा निस्तेज थीं, अग्नि में पड़कर प्रज्वलित हो उठी हैं। ऐसे ही मुझे भी आचार्यरूप अग्नि का ईंधन बनकर ज्ञान एवं सत्कर्मों से प्रज्वलित होना है। मैं निपट अबोध-अज्ञानी बालक अप्रज्वलित समिधाओं के समान ही निस्तेज हूँ, आचार्याधीन गुरुकुल-वास करके मुझे ज्ञान की ज्वालाओं से प्रदीप्त होना है।

आचार्य और ब्रह्मचारियों के मध्य में जलनेवाली हे यज्ञाग्नि! तू हम ब्रह्मचारियों को आयु प्रदान कर, हमारे अन्दर जीवन निहित कर। हम यही नहीं जानते कि इस संसार में किसलिए आये हैं और हमें कहाँ जाना है तथा जीवन किस प्रकार व्यतीत करना है। जीवन जीने की कला का बोध तू हमें करा। हे अग्नि! तू गुरुकुल की गुरु-शिष्य-परम्परा का उज्ज्वल प्रतीक है। जो समिधाओं का और तेरा सम्बन्ध है, वही घनिष्ठ सम्बन्ध गुरुकुल में गुरु और शिष्यों का है। गुरुकुल के व्रतपालन, गुरुकुल की दिनचर्या, गुरुकुल के ज्ञानाग्नि-समिन्धन, गुरुकुल की कर्मपरायणता, गुरुकुल की तपस्या, गुरुकुल के संयम, गुरुकुल के योगानुष्ठान आदि सबका तू प्रतीक है। हे व्रतपति अग्नि! तुझमें समिधाएँ डालते हुए हम इन समस्त भावनाओं को अपने हृदय में धारण करते हैं।

हे गुरुकुलीय अग्निहोत्र की अग्नि! जहाँ तू हमें जीवन प्रदान करेगी, वहां हमारे आचार्य को अमृतत्व प्रदान कर। हम ही अपने आचार्य को मार सकते या अमर कर सकते हैं। हम तुझ अग्नि में तपकर ऐसे जीवन के धनी बनें कि हमसे आचार्य की कीर्ति चारों ओर फैले। जब कोई हमें गुणी और सत्कर्मनिष्ठ देखकर पूछेगा कि ये किस आचार्य के शिष्य हैं, तब हमारे आचार्य का नाम अमर होगा। हम यदि आचार्य के नाम को अमर करने में किंचिन्मात्र भी कारण बन सकेंगे, तो हम अपने को धन्य समझेंगे। हे गुरुकुल के अग्नि! तुम्हारी जय हो; हे गुरुकुल के पुण्यश्लोक आचार्य! तुम्हारी जय हो।

३६४. तू सूर्य है

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा[१२] ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्[११]।
अव तां जहि हरसा जातवेदो[१२], ऽबिभ्युदुग्रो ऽर्चिषा दिवमारोह सूर्य[१३]॥

—अथर्व० १९.६५.१

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **जातवेदाः सूर्यश्च**। छन्दः **जगती**।

(सूर्य) हे सूर्य! **(हरिः[१])** तमोहर्ता **(सुपर्णः)** रश्मि-रूप सुन्दर पँखोंवाला [तू] **(अर्चिषा)** ज्योति के साथ **(दिवं)** आकाश में **(आरुहः)** उदित हुआ है। **(उत्पतन्तं)** ऊपर आरोहण करते हुए **(त्वा)** तुझे **(ये)** जो **(दिप्सन्ति)** हिंसित करना चाहते हैं **(तान्)** उन्हें **(जातवेदः)** हे प्रकाशक सूर्य! **(हरसा[२])** ज्योति से **(अव जहि)** मार गिरा। **(अबिभ्यत्)** भयभीत न होता हुआ **(अर्चिषा)** ज्योतिसहित **(दिवं)** आकाश में **(आरोह)** चढ़ जा।

हे पूर्व क्षितिज में उदित तेजोमय सूर्य! तू हरि है, भूतल की समस्त मलिनताओं को हरण कर सकनेवाला है। 'सुपर्ण' है, सुन्दर पंखोंवाला है। तू मध्य आकाश की ओर आरोहण प्रारम्भ कर दे। उस आरोहण में विघ्न बनकर यदि कोई तुझे हिंसित करना चाहें, तो उन्हें अपने तेज से नष्ट कर दे। हे जातवेदः! हे सर्वप्रकाशक! भयभीत न होता हुआ तू अपनी अनुपम ज्योति के साथ ऊर्ध्वाकाश में पहुँच जा।

हे मनुष्य! सूर्य की अन्योक्ति से वेद तुझे ही उद्‌बोधन दे रहा है। तू साक्षात् सूर्य है, ग्रहोपग्रहों के बीच में सूर्य के समान तू प्राणियों में श्रेष्ठ है। तू 'हरि' है, सूर्य के समान जगत् के मालिन्य को हरकर उसे शुद्ध-पवित्र बनाने की क्षमता तुझमें है। जगत् में जो छल-छिद्र, हिंसा-उपद्रव, चोरी-जारी, असत्य-अन्याय आदि कालुष्य हैं, उन सबको तू हर। तू 'सुपर्ण' है, उन्नति के गगन में उड़ने के लिए मन, बुद्धि आदि सुन्दर पंख तेरे पास विद्यमान हैं। तू ऊँची उड़ान भर और क्षणभर में लक्ष्य को प्राप्त कर ले। पर यह उड़ने का मार्ग बहुत आसान नहीं है। राग, द्वेष, निन्दा, उपहास आदि अनेक विघ्न तेरी उड़ान में बाधा डालना चाहेंगे। किन्तु यदि तुझे यह स्मरण रहेगा ति तू सूर्य है और तुझे उत्कर्ष के ऊर्ध्वा काश में पहुँचकर ही विश्राम लेना है, तो तू कभी इन शत्रुओं, संकटों और विपदाओं से परास्त नहीं होगा। सब मानवीय और दैवी विपत्तियों को तू अपने तेज से झुलसाता चल। तू 'जातवेदाः' है, प्रकाशक है, प्रकाशवान् है, ज्ञानवान् है। भयभीत मत हो, उत्साह धारण कर, आरोहण करता हुआ अपनी प्रखर ज्योति-सहित उन्नति के सर्वोच्च गगन में पहुँच जा।

३६५. मैंने वेदमाता की स्तुति की है

स्तुता मया वरदा वेदमाता[११], प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्[१२]।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं[१०], द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्[८] ॥
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्[११] ॥ —अथर्व० १९.७१.१

ऋषिः **ब्रह्मा**। देवता **गायत्री**। छन्दः **पञ्चपदा अतिजगती**।

(मया) मैंने **(वरदा)** वरदात्री **(वेदमाता)** गायत्र्यादि-छन्दोमयी वेदमाता की **(स्तुता)** स्तुति की है। आप लोग भी उसकी **(प्रचोदयन्तां)** स्तुति को प्रेरित करो। [वह] **(द्विजानां)** द्विजों की **(पावमानी)** पवित्र करनेवाली [है]। [वह] **(मह्यं)** मुझे **(आयुः)** आयु, **(प्राणं)** प्राण, **(प्रजां)** प्रजा, **(पशुं)** पशु, **(कीर्तिं)** कीर्ति, **(द्रविणं)** धन, **(ब्रह्मवर्चसं)** ब्रह्मतेज **(दत्त्वा)** देकर **(ब्रह्मलोकं)** आत्म-लोक में **(अव्रजत[१])** जाकर स्थित हो गई है।

मैंने गायत्र्यादि-छन्दोमयी वेदमाता का स्तवन किया है। वेदों से मन्त्रों को चुन-चुनकर उनका पाठ किया है, गान किया है, अर्थ-चिन्तन किया है, उसे लेखनी से लेखबद्ध किया है और उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। आप लोग भी वेदमाता का अध्ययन, स्तवन, कीर्तन, अर्चन, गान और अर्थचिन्तन करो तथा उसे अपने जीवन का अंग बनाने का प्रयास करो। वह वेदमाता गायत्री कहलाती है, क्योंकि उसका गान किया जाता है अथवा वह वेद के गायक परमेश्वर-रूप कवि के हृदय से निकली है[२]। वह द्विजों को पवित्र करनेवाली है। जो आचार्याधीन गुरुकुल-वास कर वेदाध्ययन करने के पश्चात् आचार्य-गर्भ से निकलकर स्नातक बनते हैं, वे द्विज कहलाते हैं, क्योंकि उनका दो बार जन्म होता है, एक बार माता के गर्भ से, दूसरी बार आचार्य के गर्भ से। उन वेदपाठी द्विजों का जीवन वेदमाता के अध्ययन, मनन, तदनुकूल आचरण आदि से पवित्र हो जाता है।

यदि तुम मेरा अनुभव सुनना चाहते हो, तो सुनो। स्तवन-कीर्तन की हुई वेदमाता ने मुझे आयु दी है, स्वस्थ दीर्घजीवन प्रदान किया है। दीर्घायुष्य के वेदमन्त्रों से प्रेरणा लेकर सचमुच मैंने दीर्घजीवन पा लिया है। वेदमाता की प्राणविषयक सूक्तियों ने मुझे प्राणवान् बनाया है। प्रजनन-सम्बन्धी मन्त्रों ने मुझे उत्कृष्ट प्रजा प्रदान की है। पशुपालन-सम्बन्धी मन्त्रों ने पशु-पालन-विद्या की शिक्षा दी है। यशस्विता के प्रेरक मन्त्रों ने मुझे कीर्ति प्रदान की है। धन-प्राप्ति के लिए उत्साहित करनेवाले मन्त्रों ने मुझे धन प्रदान किया है। ब्रह्मवर्चस के मन्त्रों ने मेरे आत्मा में ब्रह्मवर्चस भरा है। कहाँ तक गिनाऊँ! विविध विद्याओं का वर्णन करनेवाली वेदमाता ने मुझे अपनी सब विद्याएँ हृदयङ्गम करा दी हैं। इन समस्त ऐश्वर्यों की निधि मुझे देकर वह अहर्निश पुनः-पुनः अधीत, स्तुत एवं अभिपूजित वेदमाता मेरे आत्मलोक में प्रतिष्ठित हो गई है, मेरी आत्मा का अंग बन गई है।

मित्रो! आप भी उस वेदमाता का स्तवन-कीर्तन करो। आपको भी ये समस्त फल प्राप्त होंगे। यह वेद की वाणी है, यह वेद की प्रेरणा है, यह वेदोपनिषद् है।

सूक्तियाँ

- **चित्तिम् अचित्तिं चिनवद् वि विद्वान्,** ऋग् ४.२.११
  विद्वान् मनुष्य ज्ञान और अज्ञान की बात में विवेक करता है।

- **मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः,** ऋग् ८.४८.१४
  निद्रा और वाचालता हमें वश में न करे।

- **धीरा इच्छेकुर् धरुणेष्वारभम्,** ऋग् ९.७३.३
  धीर लोग ही दृढ़ता के कार्यों को कर सकते हैं।

- **नमो मात्रे पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै,** यजु० ९.२२
  माता पृथिवी को नमस्कार, माता पृथिवी को नमस्कार।

- **सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः,** यजु० १२.४४
  यजमान के मनोरथ सत्य सिद्ध हों।

- **सर्वमिज्जगद् अयक्ष्मं सुमना असत्,** यजु० १६.४
  सारा ही जगत् नीरोग और सुमनस्क रहे।

- **वि स्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद् यन्तु रातयः,** साम ४५३
  हे प्रभो! नदियों के समान तेरी देनें हमारी ओर बहें।

- **इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम्,** साम ५९१
  मुझे एकमात्र वर्षक बना दो।

- **सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा संसृजामसि,** साम ६२४
  सत्य-स्वरूप ब्रह्म के तेज से हम स्वयं को संसृष्ट करें।

- **रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः,** अथर्व० १०.८.४४
  प्रभु रस से तृप्त है, कहीं से न्यून नहीं है।

- **त्वम् ओदनं प्राशीः ३ त्वाम् ओदना ३ इति,** अथर्व० ११.३.२७
  विचार कर देख—तू भोगों को भोग रहा है या भोग तुझे भोग रहे हैं?

- **लोककृतः पथिकृतो यजामहे,** अथर्व० १८.३.२५-३५
  लोक-निर्माता और पथ-निर्माताओं की हम पूजा करते हैं।

ओ३म्

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं
तदशकं तन्मे ऽराधि
इदमहं य एवास्मि सो ऽस्मि ॥

(यजु० २.२८)

हे व्रतपति परमात्मन्! मैंने वेद-व्याख्या का
व्रत ग्रहण किया था। तुम्हारी कृपा से उसे
पूर्ण कर सका हूँ। 'वह सफल हुआ है'
यह मैं कैसे कहूँ। अपूर्ण मैं
जो कुछ हूँ, सो तुम्हारे
सामने हूँ।

परिशिष्ट [१]

मन्त्रानुक्रमणिका

परिशिष्ट [२]

देवता-सूची

देवता	मन्त्र संख्या
अङ्गिरसः	२६३
अग्निः	८, ९, ११-१३, १८-२०, २३, २४, ३१-३३, ४०-४२, ४८-५२, ६४-६६, ७५-७९, ८६-८८, ९०-९७, १०४-११०, ११९, १२६, १२७, १४७, १५०, १५८, १६८, १६९, १८३, १८४, १९४, १९७, २००, २०३, २०६, २०७, २१५, २१८, २२२, २२४, २३१-२३७, २३९, २४४, २५९, २७५, २८३, २८४, २९१, ३०८-३१०, ३१४, ३१९-३२१, ३२४, ३४६, ३४७, ३५७, ३६२, ३६३
अदिति	२४८
अध्यात्मम्	३४२-३४४, ३४८, ३४९
अनड्वान् इन्द्रः	३९०
अन्नम्	२७२
अरातिः	२९९
अश्विनौ	३८, ४३, ३२८
आत्मा	२६१, ३१५, ३२३, ३३४-३३६
आदित्यः	२५२, ३५२, ३५३
आदित्याः	६०, १४६
आदित्याः उषाश्च	१५२
आपः गावो वा	१८५
आयुः	३०२, ३२५, ३२६
आशापालः वास्तोष्पतिश्च	२८३
इन्द्रः	२, ३, ५, १०, २२, २५-२७, ३४, ४५, ४६, ५३, ६२, ६७-७३, ८०-८३, ९८, ९९, १११, ११२, ११५-११७, १२८-१३१, १४०-१४५, १४८-१४९, १५१, १५५-१५७, १५९-१६६, १८७, १९०-१९३, २०१, २०२, २०५, २१०, २४६, २५५, २६४-२६९
इन्द्रावरुणौ	४, १३७, १३८
ईर्ष्याविनाशनम्	३०३
ईश्वरः	२२१
उच्छिष्टः	३४१
उषाः	३६, ३७, १३६
ओदनः	३३७
ओषधयः- (भिषग्)	२०४
कर्माणि	२९६
कामः (आत्मा)	२२८
कृत्यादूषणम्	३३०, ३३१
केशी (वातः)	२१२
क्षत्रपतिः	२२९
गायत्री	३६५
गावः	२७७

परिशिष्ट [३]

पाद-टिप्पणियाँ

मन्त्र संख्या-१

१. पावका=पाविका।
२. वाजिनी इति गमनार्था प्राप्त्यर्था च क्रिया गृह्यते (द० भा०)।
३. धीः=कर्म, प्रज्ञा (निघं० २.१,३.९)
४. वाज=अन्न, बल (निघं० २.७,२.९), धन (द० भा०, ऋग् ६.५४.५), वेग (द० भा०, यजु० ४.३१), विज्ञान (द० भा०, ऋग् १.११७.१०)।
५. वष्टु वश कान्तौ, कान्तिः अभिलाषः। यज्ञं वष्टु इति यदाह यज्ञं वहतु इत्येव तदाह ॥ (ऐ आ १.१.४)

२.

१. ऋ गतौ, लोट् अर्थ में लुङ्।
२. यः इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः (स प्र १)। इदि परमैश्वर्ये।
३. दुवस् पूजा (निघं० ३.५)।

३.

१. महान् इन्द्रः=महाँ इन्द्रः। वैदिक सन्धि।
२. शवः बल (निघं० २.९)।
३. प्रथिना प्रथिम्ना। प्रथ प्रख्याने।
४. न उपमार्थक (निरु० १.४)।

४.

१. अवस् रक्षा। अव रक्षणादिषु, असुन् प्रत्यय।
२. षण सम्भक्तौ।
३. रिचिर् विरेचने।
४. इदि परमैश्वर्ये।
५. वृञ् वरणे।

५.

१. घा घ। छान्दस दीर्घ।
२. रिष हिंसायाम्।
३. हि गतौ वृद्धौ च।

६.

१. अदाभ्यः अविनाशित्वान्नैव केनापि हिंसितुं शक्यः (द० भा०)। दभु दम्भे, ण्यत्।
२. गुपू रक्षणे।
३. त्रीणि पदा त्रीणि पदानि।
४. क्रमु पादविक्षेपे।
५. विष्णु यज्ञ (निघं० ३.१७)। यज्ञो वै विष्णुः (श० ब्रा० १.१.२.१३)।
६. वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः (द० भा०, ऋग् १.२२.१६)।

७.

१. महान्तः गुणैरधिकाः (सायण)।
२. आशिनाः वयसा व्याप्ताः वृद्धाः (सायण)। अशू व्याप्तौ, इनच् प्रत्ययः।
३. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।
४. विद्वांसो हि देवाः (श० ब्रा० ३.७.३.१०)
५. वृजी वर्जने, लुङ्।
६. णम प्रह्वीभावे।

८.

१. प्रयत पवित्र (पवित्रः प्रयतः पूतः, (अमर २.७.४५)।
२. षिवु तन्तुसन्ताने, क्त प्रत्यय।
३. क्षद्म=जल, अन्न (निघं० १.१२,२.७)

४. स्योनकृत् अतिथीनां सुखकारी (सायण)। स्योन सुख (निघं० ३.६)।
५. जीवा अतिथयः इज्यन्ते सत्क्रियन्ते अत्र स जीवयाजः अतिथियज्ञः।
६. द्रष्टव्य-अथर्व० काण्ड १५, सूक्त ११, १२

९.

१. शरणिं हिंसां ब्रतलोपरूपाम् (सायण)। श्रृ हिंसायाम्।
२. मृष तितिक्षायाम्। लोडर्थे लुङ्।

१०.

१. अव षिञ् बन्धने।
२. चर्षणि मनुष्य (निघं० २.३)।
३. क्षयति क्षियति, क्षि निवासगत्योः।
४. ता तानि।

११.

१. देव (दिव्य गुण), वाी गत्यादौ, तमप्।
२. शुच दीप्तौ।
३. मियेध्य=मेध्य=मेधार्ह या पवित्र।
४. रुष हिंसायाम्, रुच दीप्तौ।
५. मेधृ हिंसायां संगमे च।
६. अर्थात् हमने भोगों को नहीं भोगा, उल्टे हमें ही भोगों ने भोग लिया।

१२.

१. अतिशयेन युवा यविष्ठः, स एव यविष्ठ्यः।
२. रक्षसः महादुष्टात् मनुष्यात् (द० भा०)।
३. धुर्वी हिंसायाम्, कर्तरि क्विच्।
४. राति ददाति स रावा, न रावा अरावा तस्मात् कृपणात् अदानशीलात् (द० भा०)।
५. रिष हिंसायाम्।
६. हन्तुमिच्छतः, हन् हिंसागत्योः, सन्।
७. रक्षः रक्षितव्यम् अस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा (निरु० ४.१८)।

१३.

१. उक्ष सेचने।
२. कण्व मेधावी (निं ३.१५)। कण शब्दे
३. दीदेतिः दीप्तिकर्मा छान्दसः (सायण)। दीदयति ज्वलति (निघं० १.१६)।
४. कृष्टयः मनुष्याः (निघं० २.३)। कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा वा (निरु० १०.२२)।

१४.

१. ब्रह्मणः वेदस्य पतिः ब्रह्मणस्पतिः।
२. उक्थ्य प्रशस्य (निघं० ३.८)।
३. रसानुप्रदानं वृत्रवधः या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्मैव तत् (निरु० ७.१०)
४. वारयति पापानि यः।
५. मेद्यति स्निह्यति यः सः, ञिमिदा स्नेहने।
६. अर्यान् श्रेष्ठान् मानयति यः।

१५.

१. ददमानात् धारयतः (निरु० ३.१६)।
२. निधातोः निधा तुन् प्रत्यय।

१६.

१. परिवृणोति प्रतिबध्नाति पन्थानमिति परिपन्थी शत्रुः।
२. मुषीवा चोर (निघं० ३.२४)। मुष स्तेये।
३. हुरः कौटिल्यं चिनोति इति हुरश्चित्। हुर्च्छा कौटिल्ये, चिञ् चयने।
४. स्रुति मार्ग। स्रु गतौ, क्विच्।
५. अज गतिक्षेपणयोः।

१७.

१. शग्धि शक्नुहि। शक्लृ शक्तौ।

२. पूर्धि पूरय। पृ पालनपूरणयोः।

३. प्र यम उपरमे।

४. शो तनूकरणे।

५. प्रा पूरणे, लेट्।

६. क्रतु कर्म (निघं० २.१)।

७. विद ज्ञाने, लेट्।

१८.

१. विवासयति अपगमयति तमांसि यत् तत्।

२. राधः धनः (निघं० २.१०)।

३. वह प्रापणे।

४. राध संसिद्धौ।

१९.

१. या प्रापणे, तुमुन् अर्थ में तवेन् प्रत्यय।

२. अतिशयेन यविष्ठः।

३. दाशृ दाने, क्वसु प्रत्यय।

४. जुषी प्रीतिसेवनयोः।

५. ईड स्तुतौ।

२०.

१. भुज पालनाभ्यवहारयोः।

२. मियेध्य दुःखानां प्रक्षेप्तः (द० भा०)।

३. डुमिञ् प्रक्षेपणे।

४. यो हव्यानि होतुं दातुम् अर्हाणि द्रव्यानि सुखसाधकानि वहति प्रापयति (द० भा०)।

५. यजिष्ठम् अतिशयेन यष्टारम्।

२१.

१. तृ प्लवनसंतरणयोः, अनि प्रत्यय। तारक, नौका।

२. रुच दीप्तौ।

३. भा दीप्तौ, णिच् लुप्त।

४. सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा (निरु० ११.१५)।

५. बृ उप २.४.५।

६. मु उप २.१०।

२२.

१. रध हिंसासंराद्धयोः।

२. शक्लृ शक्तौ।

३. चुद प्रेरणे।

४. ता विश्वा=तानि विश्वानि।

५. सह माद्यन्ति जनाः अत्र ते सधमादाः तेषु।

६. कन दीप्तिकान्तिमतिषु।

२३.

१. वेत्ति इति विदुः। विद ज्ञाने, उसि प्रत्यय।

२. कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु० १२.१३)।

३. सख्या सख्यानि।

४. मृष तितिक्षायाम्, लुङ्।

५. मीञ् हिंसायाम्।

६. अभि शसु हिंसायाम्।

७. अधीहि अधिगच्छ। अधि इण् गतौ।

२४.

१. दाशृ दाने।

२. देव, जुषी प्रीतिसेवनयोः।

३. ऋतावा सत्यगुणकर्मस्वभाववान् (द० भा०, ऋग् १.७७.२)।

४. हु दानादनयोः आदाने च इत्येके।

५. अतिशयेन यष्टा सङ्गमयिता (द० भा०)। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।

६. कृवि हिंसाकरणयोः।

२५.
१. यात् यायात्। या प्रापणे, लेट्।
२. अधि इण् गतौ। अधीमः अधिगच्छामः। अधीमसि, मस् इदन्त।
३. वीर्या वीर्येण। तृतीया को आ।
४. नृम्णं बलं नृन नतम् (निरु० ११.७)।
५. क्रतु=कर्म, प्रज्ञा, (निघं० २.१,३.९)।

२६.
१. लोका रजांसि उच्यन्ते (निरु० ४.१९)।
२. प्रा पूरणे, लिट्।
३. रुच दीप्तौ।
४. बध बन्धने।
५. युष्मत् को त्व आदेश, सादृश्य अर्थ में मतुप्।
६. ववक्षिथ महान् (निघं० ३.३)।

२७.
१. शवः बल (निघं० २.९)। अतिशयेन शवस्वी शविष्ठः।
२. देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा (निरु० ७.१५)।
३. प्र शंसु स्तुती, लेट्।
४. मृड सुखने।

२८.
१. विश्वस्मिन् विद्यते (विद सत्तायाम्) विश्वं वेत्ति (विद ज्ञाने)।
२. दक्ष बल (निघं० २.९)। दक्ष वृद्धौ।
३. वृषु सेचने। वृषा कामनां वर्षिता महांश्च (सायण)।
४. चष्टे पश्यति (निघं० ३.११)। नृन् चष्टे इति नृचक्षाः।
५. द्युम्न धन (निघं० २.१०), यश, अन्न (निरु० ५.५), तेज (द्युत दीप्तौ)।

२९.
१. गय=अपत्य, धन, गृह (निघं० २.२,२.१०,३.४)। प्राणा वै गयाः, (श० ब्रा० १४.८.१५.७)। स्फानः, ओस्फायी वृद्धौ।
२. अमीवानाम् अविद्यादीनां ज्वरादीनां वा हन्ता (द० भा०)। अम रोगे, ईव प्रत्यय।
३. वसु, विद्लृ लाभे।
४. शरीरात्मपुष्टेः वर्धयिता (द० भा०)।

३०.
१. दाशृ दाने।
२. सुवति ऐश्वर्यवान् भवतीति सोमः षु प्रसवैश्वर्ययोः।
३. सदन आश्रम। सदनानि अर्हतीति सादन्यः।
४. विदथेषु यज्ञेषु युद्धेषु वा साधुम् (द० भा०)।
५. पिता श्रूयते प्रख्याप्यते येन तम्।
६. छा उप ७.२।

३१.
१. यज देवपूजा-संगतिकरणदानेषु।
२. साधति सिध्यति, साध संसिद्धौ।
३. अर्वा-अर्व हिंसायाम्, अथवा ऋ गतौ, वन् प्रत्यय। न अर्वा अनर्वा। "अनर्वा अप्रत्यृतः (अनाश्रितः) अन्यस्मिन्" (निरु० ६.२३)।
४. क्षेति क्षियति, क्षि निवासगत्योः।
५. दध धारणे।
६. तु सौत्र धातु वृद्ध्यर्थक, लिट्।
७. अंहतिः आर्तिः दारिद्र्यम् (सायण)।
८. रिष हिंसायाम्, लेट्।

३२.

१. रायः विद्याचक्रवर्तिराज्यधनस्य (द० भा०)।

२. वी गत्यादिषु, इ प्रत्यय।

३. देवाः विद्वांसः (द० भा०)।

४. धनं द्रविणमुच्यते बलं वा द्रविणम्, तस्य दाता द्रविणोदाः (निरु० ८.१)।

५. धारयन् धारयन्ति (द० भा०) घृ लेट्।

६. बृ उप ३.९.३।

३३.

१. सुक्षेत्रिया सुक्षेत्रियया। सुक्षेत्रस्य इच्छा सुक्षेत्रिया तया। सुक्षेत्र, क्यच्, तृतीया का लुक्।

२. सुगातुया सुगातुयया। सुगातुः सन्मार्गः तस्य इच्छा सुगातुया तया।

३. वसूया वसूयया। वसूनाम् इच्छा वसूया तया।

४. शुच् शोके, यङ्लुगन्त, लेट्।

५. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। (गीता १३.१)।

३४.

१. प्सा गत्यर्थक (निघं० २.१४)।

२. विदलृ लाभे, लुङ्, णिच् लुप्त।

३. ऊती ऊत्यै।

३५.

१. काट कूप (निघं० ३.२३)।

२. नि बाहृ प्रयत्ने, क्त प्रत्ययः।

३. ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, लुङ्।

४. निस् पृ पालनपूरणयोः लोट्।

५. कुत्सः विद्यावज्रयुक्तः छेत्ता (द० भा०)। कुत्स वज्र (निघं० २.२०)। कृती छेदने

६. ऋषिः दर्शनात् (निरु० २.११)।

७. शची=वाक्, कर्म, प्रज्ञा (निघं० १.११,२.१,३.९)।

३६.

१. त्व=एक, कुछ। त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम्। (निरु० १.७)।

२. श्रवः=अन्न, धन (निघं० २.७, २.१०)। श्रवसे सकलविद्याश्रवणाय अन्नाय वा (द० भा०)।

३. महीयै=महीयायै=महत्यै।

४. इतिः, इण् गौत, क्तिन्।

५. अभि प्र चक्ष्, तुमर्थ में सेन् प्रत्यय।

६. गृ निगरणे लङ्, तिप् (छान्दस रूप)। अजीगः अगिरत्।

३७.

१. सुम्न सुख (निघं० ३.६)।

२. ईर गतौ कम्पने च।

३. देवैः वीयते काम्यते इति देववीतिः यज्ञः। वी गति-व्याप्ति-प्रजन-कान्ति-असन-खादनेषु।

४. वि उछी विवासे।

३८.

१. विद्वांसौ पूर्णविद्यायुक्तौ आप्तौ अध्यापकोपदेशकौ (द० भा०, ऋग् १.१२०.३)

२. अक्रौ शत्रुभिः अनाक्रान्तौ (सायण)। न क्रमु पादविक्षेपे।

३. नूचित् क्षिप्रमेव (सायण)।

३९.

१. अस भुवि, लेट्।

२. प्रातरित्वः प्रातरागामिन् अतिथे (निरु०

५.१९)।
३. उत् षिञ् बन्धने।
४. मुक्षीजा मृगपक्ष्यादिबन्धनी रज्जुः (सायण)। मुक्ष्या मुञ्जाया जायते सा मुक्षीजा (द० भा०)।
५. पदिं गन्तारं मृगपक्ष्यादिकम् (सायण)। पद गतौ।

४०.
१. रा दाने, लेट्।
२. पृ पूरणे, चुरादि, लेट्।

४१.
१. धी, मतुबर्थ में र प्रत्यय। जस् को असुक् का आगम।
२. सनितुं संभक्तुम् इच्छन्तः। षण संभक्तौ।

४२.
१. स्व-धा स्वात्मनिर्भरता, तद्वान् स्वधावान्।
२. महि वृद्धौ। अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः
३. प्रकर्षेण हृतस्य, हृञ् हरणे। हृ को भृ।
४. पीयति हिंसार्थक (निरु० ४.२५)।
५. गृणाति अर्चति (निघं० ३.१४)।

४३.
१. ज्मा पृथिवी (निघं० १.१)
२. चदि आह्लादे।
३. विं आ वृञ् वरणे, लुङ्।
४. आ युजिर योगे।
५. साहित्य-संगीतकलाविहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।

४४.
१. इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम् (न्याय० १.१.२०)।
२. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (कठ उप २.१८)।

४५.
१. सम् ऋ गतौ, शानच्।
२. हरिवः प्रशस्ता हरणगुणा विद्यन्ते यस्मिन् (द० भा०)।

४६.
१. हन्तुमिच्छसि। हन् हिंसागत्योः, सन्।
२. तेभिः तैः। छान्दस रूप।
३. साधुया साधु। सु को या आदेश।
४. कृपु सामर्थ्ये।
५. समरण संग्राम (निघं० २.१७)।

४७.
१. चकृमा चकृम। छान्दस दीर्घ।
२. भूयाः भूयात्, पुरुष-व्यत्यय।
३. अभ्वः महान् (निघं० ३.३)।

४८.
१. शमी कर्म (निघं० २.१)
२. विध परिचर्यार्थक (निघं० ३.५)।
३. शेव सुख (निघं० ३.६)।
४. आधृषः आधर्षकात् शत्रोः।

४९.
१. डधाञ् धारणपोषणयोः, लिट्, छान्दस रूप।
२. वी गत्यादौ, लङ्, अडागम का अभाव।
३. काव्या काव्यानि।
४. ऋग् १.१६४.३९।

५०.
१. ध्रुवा व्रता ध्रुवाणि व्रतानि। व्रत कर्म (निघं० २.१)

२. वयाः शाखाः (निरु० १.४)।

५१.

१. मिह सेचने, क्वसु।

२. युजिर् योगे।

३. वाजं वेगम् आत्मनः इच्छन्। वाज, क्यच् प्रत्यय।

४. नु क्षिप्र (निघं० २.१५)।

५२.

१. अत्रिः–अविद्यामानानि त्रीणि आध्यात्मिक–आधिभौतिक–आधिदैविकानि दुःखानि यस्मिन् (द० भा०, ऋग् १.११२.७), अविद्यमाना आत्मिकवाचिक–शारीरिक–दोषा यस्मिन् (द० भा०, ऋग् १.११२.१६), अविद्यमानानि आत्म–मनः–शरीरदुः–खानि यत्र (द० भा०, ऋग् १.११७.३)।

५३.

१. दक्ष=बल (निघं० २.९)। दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च।

२. चिती संज्ञाने।

३. न, रिष् हिंसायाम् क्तिन्।

५४.

१. दाशृ दाने, लेट्।

२. अशु व्याप्तौ संघाते च, लेट्।

३. वेदेश्वरविरोधिनः (द० भा०)।

४. मन्युं क्रोधं मीनाति हिनस्ति इति मन्युमीः, मीञ् हिंसायाम्।

५. बृहत्या वाचो बृहतामाकाशादीनां च पतिः (द० भा०, यजु० ४.७)। वाग् वै बृहती, तस्या एष पतिः (श० ब्रा० १४.४.१.२२)।

५५.

१. दूर् इतं गतं प्राप्तं दुष्फलम्। इण् गतौ

२. न–राति, रा दाने, कर्ता या भाव अर्थ में क्तिन्।

३. तॄ प्लवनसंतरणयोः, लिट्।

४. मनसि अन्यत् क्रियायां चान्यद् इत्येतद् द्वयं येषामस्ति ते द्वयाविनो वञ्चकाः (सायण)।

५. बृहस्पतिः ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य सकलैश्वर्यस्य वा स्वामी जगदीश्वरः (द० भा०, ऋग् ७.४१.१)।

५६.

१. अवस्पृणोति विपद्भ्यः पारयति इति। अव स्पृ प्रीतिपालनयोः, तृच्।

२. अस्मान् कामयते इति अस्मयुः। अस्मद्, क्यच्, उ प्रत्यय।

३. नि बर्ह हिंसायाम्।

४. नश व्याप्त्यर्थक (निघं० २.१८)। उत् नश्, लेट्।

५. बृहस्पतिः बृहतः पाता वा पालयिता वा (निरु० १०.१२)।

५७.

१. सश्च गत्यर्थक (निघं० २.१४)।

२. ऋ गतिप्रापणयोः, लेट्।

३. अ नि भ्रस्ज पाके, क्त प्रत्यय। तविषी बलम् (निघं० ३.३)।

५८.

१. मन इव शीघ्रं प्रवर्तमानान् हिंसकान्, यद्वा अभिमन्यमानान् शत्रून् (सायण)

२. प्र वी गत्यादिषु।

३. वृत्रतूर्य संग्राम (निघं० २.१७)।

४. अस भुवि, लेट्।

५. यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु।

५९.

१. स (आचार्यः) हि विद्यातः तं जनयति। तत् श्रेष्ठं जन्म (आप ध सू १.१.१६, १७)।

२. विवासति परिचरति (निघं० ३.५)।

६०.

१. मृड सुखने।

२. अशू व्याप्तौ।

३. नशति व्याप्नोति (निघं० २.१८)।

६१.

१. श्रथाय श्रथय। श्रथ दौर्बल्ये, चुरादि, छान्दस दीर्घ। अथवा, श्रथाय श्रथान, शायच् प्रत्यय। श्रथ विमोचनप्रतिहर्षयोः, क्र्यादि।

२. खा नदी (निघं० १.१३)। खनु अवदारणे।

३. ऋधु वृद्धौ। ऋध्याम लभेमहि (सायण)।

४. अपस् कर्म (निघं० २.१)।

५. शृ हिंसायाम्।

६२.

१. पृ पालनपूरणयोः, लेट्।

२. तमु ग्लानौ।

३. श्रमु तपसि खेदे च।

४. सुनोत सुनुत। षुञ् अभिषवे।

६३.

१. त्वक्ष तनूकरणे।

२. नाधृ याञ्चादिषु।

३. मदि स्तुतिमोदादिषु।

४. विवासति परिचरति (निघं० ३.५)।

६४.

१. उप क्षि निवासगत्योः।

२. धन्या धन्यानि।

३. तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु।

४. पृतनां कामयन्ते इति पृतनायवः तान्। पृतना, क्यच् उ प्रत्ययः।

६५.

१. दम गृह (निघं० ३.४)। दमाय हितं दम्यम् यद्वा दमः इन्द्रियनिग्रहः तस्मै हितम्।

२. दुवस्यति परिचरति (निघं० ३.५)।

३. विचर्षणिः द्रष्टा (निघं० ३.११)।

४. द्रष्टव्य-निरु० ७.१९।

५. विश्वान् नरान् नयति, विश्वेभ्यो नृभ्यो हितः।

६६.

१. रा दाने, क्वसु प्रत्यय।

२. कित ज्ञाने, कानच्।

३. अयासः अयाः। अय गतौ, जस् को असुक् का आगम।

६७.

१. सौम्यगुणसम्पन्नाः (द० भा० ऋग् ६.७५.१०।

२. प्रयः प्रीतिकारकं वचः (द० भा०, ऋग् १.१३२.३)। अन्न (निघं० २.७)।

३. शसु हिंसायाम्, अभि पूर्वक निन्दार्थ में

४. तिज निशाने, क्षमा अर्थ में सन् प्रत्यय

५. प्र कित ज्ञाने।

६८.

१. पृ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादि।

२. प्रशस्तः रथः अस्य अस्ति इति रथिरः। रथ, मतुवर्थ में इरच् प्रत्यय।

३. रिष हिंसायाम्।

४. मक्षु शीघ्र (निघं० २.१५), छान्दस दीर्घ

६९.

१. षणु दाने, लिट्।

२. हत्वी हत्वा।

३. प्र अव रक्षणादिषु, लङ्।

४. दसु उपक्षये।

५. ऋ गति प्रापणयोः, भ्वादि। ऋ गतौ, जुहोत्यादि।

७०.

१. त्वां कामयते इति त्वायुः। युष्मद्, क्यच्, उ।

२. प्रशस्तहविर्युक्ताः। प्रशंसार्थ में मतुप्।

३. जरते अर्चति (निघं० ३.१४)

४. अस्मान् कामयते इति अस्मयुः। अस्मद्, क्यच्, उ।

७१.

१. ऋजुभावमिच्छन् (द० भा०)।

२. कृवित् बहु (निघं० ३.१)।

३. पा पाने, क्वसु प्रत्यय।

४. शिक्षति ददाति (निघं० ३.२०)।

७२.

१. तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु।

२. अव धूञ् कम्पने।

७३.

१. महषः महान् (निघं० ३.३)। मह पूजायाम्, टिषच् प्रत्यय।

२. धनं स्पृणोति इति। स्पृ प्रीतिपालनयोः, अत्र दानार्थः।

३. क्षयय क्षायय निवासय। क्षि निवासगत्योः, णिच्, लोट्। क्षयया, दीर्घ छान्दस।

७४.

१. शेव सुख (निघं० ३.६)।

२. क्षतात् त्रायते इति क्षत्रम्। शोभनं क्षत्रं यस्य स सुक्षत्रः।

३. वेधा मेधावी (निघं० ३.१५), यद्वा विदधाति इति वेधाः स्रष्टा।

७५.

१. अ स्वप्, नजिङ् प्रत्यय।

२. पान्ति इति पायवः। पा रक्षणे, उण् प्रत्यय।

३. सह अञ्चन्ति इति सध्र्यञ्चः। सह अञ्चू गतौ, सह को सध्रि आदेश।

७६.

१. द्वाभ्यां विद्याविनयाभ्यां वृद्धः (द० भा०)। द्वयोः व्यवहारपरमार्थयोः वर्द्धकः (द० भा०, ऋग् १.११४.१०)। द्वाभ्यां विद्यापुरुषार्थाभ्यां यो वर्हते सः (द० भा०, ऋग् ७.२४.२)।

२. तिग्मा तीव्रा भृष्टिः परिपाको यस्य (द० भा०)।

३. बहुबलः (द० भा०)। तुवि बहु (निघं० ३.१)

४. गौ सूर्य (निरु० २.१४)।

७७.

१. चिती संज्ञाने।

२. आनुषग् अनुषक्तम् (निरु० ६.१४)।

३. भू सत्तायाम्, लेट्।

४. जगृभिरे जगृहिरे। ग्रह उपादाने, लिट्, ह् को भ्।

७८.

१. क्रतु कर्म (निघं० २.१)।
२. दक्ष बल (निघं० २.९)।
३. रथ, मतुबर्थ में ई प्रत्यय।
४. बभूथ बभूविथ।

७९.

१. दोषा रात्रि (निघं० १.७)।
२. षच सेवने।
३. स्वस्ति इति अविनाशिनाम। अस्तिः अभिपूजितः स्वस्ति इति (निरु० ३.२२)

८०.

१. रयि मतुप्, रयि को रे आदेश।
२. सं गृ शब्दे।
३. वेदः धन (निघं० २.१०)।
४. सुष्वि। षुञ् अभिषवे, कि प्रत्यय, धातु को द्वित्व।
५. पचतीति पक्तिः। पच् क्तिन्।
६. गीता ३.१३।

८१.

१. अवसितासः अवसानं प्राप्ताः। अव षो अन्तकर्मणि।
२. क्षि निवासगत्योः।
३. वाजम् आत्मनः कामयमानाः। वाज, क्यच्, शतृ।

८२.

१. जवस् जु गतौ, असुन्।
२. निर् दीयति गत्यर्थक (निघं० २.१४)।
३. श्येनः शंसनीयं गच्छति (निरु० ४.२३) श्यैङ् गतौ।

८३.

१. गुणैः उत्कृष्टतरः।
२. अतिशयेन वृद्धः, वृद्ध को ज्य आदेश।
३. एव एवम् (निरु० २.१९)। एवा–छान्दस दीर्घ।

८४.

१. सुधितः सुहितः। सु धा क्त।
२. क्षेति क्षियति। क्षि निवासगत्योः।
३. इडा=भूमि, वाणी (निघं० १.१,१.११)
४. पिवि सेचने।
५. एवा एव, छान्दस दीर्घ।

८५.

१. शुन सुख (निघं० ३.६)
२. कीनाशाः ये श्रमेण क्लिश्यन्ति ते कृषीवलाः (द० भा०, यजु० १२.६९)।
३. शुनो वायुः शु एति अन्तरिक्षे, सीरः आदित्यः सरणात् (निरु० ९.४०)। शुनासीरा शुनासीरौ।

८६.

१. वि नि क्षणु हिंसायाम्, तुमुन् अर्थ में के प्रत्यय।
२. शिशीते निश्यति (निरु० ४.१८) शो तनूकरणे, छान्दस रूप।

८७.

१. णम प्रह्वीभावे।
२. जुषी प्रीतिसेवनयोः, लेट्।
३. चकानः=चकमानः=कामयमानः। कमु कान्तौ।
४. वन सम्भक्तौ।

८८.

१. कीरिः स्तोता (निघं० ३.१६)।

२. अतिशयेन पुनः पुनः ह्वयामि। हेञ् स्पर्धायां शब्दे च। यङ्लुगन्त रूप।

३. जातं वेदः धनं यस्मात्। वेदस् धन (निघं० २.१०)।

८९.

१. त्वष्टः सर्वदुःखछेत्तः (द० भा०)। त्वक्ष तनूकरणे।

२. आ गहि आगच्छ, आ गम्लृ गतौ, लोट्, छान्दस रूप।

३. त्मना आत्मना, आ का लोप।

९०.

१. तुभ्य तुभ्यम्, म् का लोप।

२. पृण प्रीणने।

३. अवनयः नद्यः (निघं० १.१३)।

९१.

१. चिकित्वः चिकित्वन्। कित ज्ञाने, क्वसु

२. अनु तृदिर् हिंसानादरयोः, लोट्।

३. यातु=असत्याचरण, जिसके कारण राक्षस को यातुधान कहते हैं।

४. सप सेवनार्थक (निघं० ३.५)।

५. अरुष रूप (निघं० ३.७)।

९२.

१. विषुणाः विषमाः (निरु० ४.३)।

२. ऋजुत्वम् आत्मनः इच्छते। ऋजु, क्यच्, शतृ।

३. वृजिनानि वर्जनीयानि (निरु० १०.४)। कुटिलानि (सायण)।

४. अधूर्षत अधूरिषत। धूरी हिंसायाम्, लुङ्।

९३.

१. ऋञ्जति प्रसाधनार्थक (निरु० ६.२१)।

९४.

१. हन् हिंसागत्योः, शतृ।

२. सर्वेऽपि रश्मयः गावः उच्यते (निरु० २.७)।

३. स्वः मोक्षसुखम् (द० भा०, यजु० १८.२९)

३. ऋतस्य धारा अनुतृन्धिः पूर्वीः (ऋग् ५.१२.२)।

९५.

१. प्रथ प्रख्याने।

२. धेट् पाने, तुमर्थ में असेन्।

३. चक्ष दर्शनार्थक (निघं० ३.११) असेन्।

४. जरसे जरयसि, जरां दीर्घजीवनं प्रापयसि (जृष् वयोहानौ)।

५. जिगाति गच्छति (निघं० २.१४)।

९६.

१. शर्ध उत्सहस्व। शृधु प्रसहने।

२. जास्पत्यं जायापत्यम्।

३. ये शत्रवः इव आचरन्ति तेषाम्।

९७.

१. वर्षणाद् वृषभः (निरु० ९.२१)। वृषु सेचने।

२. द्युम्नं द्योततेः यशो वा अन्नं वा (निरु० ५.५)।

३. अध्वर यज्ञ (निघं० ३.१७)। अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरु० १.७)।

४. सम् इन्धी दीप्तौ।

९८.

१. सस्वः अन्तर्हित (निघं० ३.२५)।

२. चक्ष दर्शनार्थक (निघं० ३.११)।

३. अय गतौ, लङ्।

४. बुबुधानाः बुभुत्समानाः (सायण)। बुधिर बोधने।

५. अशूङ् व्याप्तौ, व्यत्यय से शप्।

९९.

१. पुरुभिः बहुभि– यद्वा पुरु बहु हूतः आहूतः स्तुतः। पुरु बहु (निघं० ३.१)। हूतः, ह्वेञ्–क्त।

२. अद्रि वज्र (निरु० ४.४), मतुप्।

३. जरिता स्तोता (निघं० ३.१६)।

४. नु क्षिप्र (निघं० २.१५)।

५. कुवित् बहु (निघं० ३.१)।

६. ष्टुञ् स्तुतौ, लेट्।

१००.

१. क्षयति ईश्वरो भवति (सायण)। क्षि निवासगत्योः। क्षयति क्षियति।

२. असून् राति इति असुरः। असु रा दाने, क प्रत्यय।

३. दष्टव्य—द० भा०–रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति स रुद्रः (ऋग् १.११४.३) यः रुद् रोगं द्रावयति (ऋग् ६.४९.१०)। रोदयति अन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः (यजु० ३.१६)।

१०१.

१. सुध्यः शोभनधियः। धी=कर्म, प्रज्ञा (निघं० २.१,३.९)।

२. दुर् शुन। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः।

३. वरीयः उरुतरम् (निरु० ८.९)।

४. मिनोति वधार्थक (निघं० २.१९)।

५. सनुतः-निर्णीत, अन्तर्हित (निघं० ३.२५)।

६. प्रकर्षेण अञ्चन्तीति प्राञ्चः (प्र अञ्चु गतौ)।

७. अय गतौ, लोट्।

१०२.

१. सुषूदथ क्षारयथ प्रेरयथ सत्कर्मसु [षूद क्षरणे] (सायण)। रक्षथ (द० भा०)।

२. स्रिध हिंसार्थः।

३. रिष हिंसायाम्।

४. उप दसु उपक्षये।

१०३.

१. सश्चति गच्छति (निघं० २.१४)

१०४.

१. वाजी विज्ञानवान् (द० भा०, ऋग् ७.४.८)।

२. ये ऽभिमानयुक्तान् शत्रून् सौढुं शक्नुवन्ति (द० भा०, ऋग् ६.६९.४)।

३. स्पृह ईप्सायाम् चुरादि, आय्य प्रत्ययः।

१०५.

१. अनमनीयम् (सायण)।

२. अव रक्षणादिषु, क्तिन्

३. वाज—अन्न, बल, युद्ध (निघं० २.७, २.९, २.१७)।

१०६.

१. रजसी द्यावापृथिवी (निघं० ३.३०)।

२. अवतिरति वधार्थक (निघं० २.१९)। अवातिरत् अवाहन् (निरु० २.२१)।

१०७.
१. विद्वांसो हि देवाः (श० ब्रा० ३.७.३.१०)।
२. देवाः सर्वाणि इन्द्रियाणि चक्षुराद्याः (सायण)। स्वस्वविषयप्रकाशकानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि (द० भा०)।
३. केत प्रज्ञा (निघं० ३.९)।

१०८.
१. देवेषु दिव्येषु कर्मसु साधुः दैव्यः तम् (देव, यञ् प्रत्यय)। अथवा देवेषु विद्वत्सु कुशलं दैव्यम्।

१०९.
१. विचर्षणिः द्रष्टा (निघं० ३.११)।
२. आभर आहर। हृञ् हरणे, हृ को भृ।
३. दीदयति ज्वलति (निघं० १.१६)।
४. ब्रह्म परिवृढं सर्वतः (निरु० १.७)। बृहि वृद्धौ, मनिन्।

११०.
१. घृणिः प्रज्वलित (निघं० १.१७)।
२. शर्म शरणम् (निरु० ९.१९)।

१११.
१. हरयः किरणाः (निरु० ७.२४)। ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (षड् ब्रा १.१.)
२. वेन कामनार्थक (निघं० २.६)।
३. मर्त्यात्र मर्त्येषु। सप्तमी अर्थ में त्रा प्रत्यय।
४. रध हिंसासंराद्ध्योः। चुद प्रेरणे।

११२.
१. ऋग्मियम् ऋग्मन्तमिति वा, अर्चनीयमिति वा, पूजनीयमिति वा (निरु० ७.२६)
२. दोहसे दोग्धुम्। दुह प्रपूरणे, तुमुन् अर्थ में असे प्रत्यय।

११३.
१. आहव संग्राम (निघं० २.१७)।
२. सुश्रुत, चिकित्सित स्थान, अध्याय २९

११४.
१. उत् ऋ गतौ, जुहोत्यादि।
२. वश कान्तौ।
३. अजीगः जागरयति (द० भा०, ऋग् ६.६५.१)।
४. धियं राति ददाति इति धीरः। धी रा दाने, कः प्रत्ययः।

११५.
१. त्वां कामयते इति त्वायुः। युष्मद् क्यच् उ।
२. प्रशंसार्थ में मतुप् प्रत्यय।

११६.
१. स्ववान् स्वकीयसामर्थ्ययुक्तः (द० भा०, ऋग् ६.४७.१८)।
२. अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु।
३. सु मृड सुखने, कीकच् (ईक) प्रत्यय।

११७.
१. ईम् एनम् (निरु० १०.४५)।
२. स्तवत्, ष्टुञ् स्तुतौ, लेट्।
३. पृणात् प्रीणयेत् (सायण)। पृण प्रीणने, लेट्।
४. यजाते, यज, लेट्।
५. शची कर्म (निघं० २.१)।

११८.
१. ष्टन शब्दे।
२. अस्मद्दुःखहेतुभूतं शुनं सुखं यासां

तादृशी: शत्रुसेना: (सायण)।

३. प्रोथ पर्याप्तौ।

४. वीडयति संस्तम्भनार्थक (निघं० ५.१६) वीडयस्व दृढीभव (निरु० ८.३)। अथवा वीर विक्रान्तौ, र को ड।

११९.

१. राधस् धन (निघं० २.१०)।

२. तुच् सन्तान (निघं० २.२)।

३. गाधं प्रतिष्ठां तु क्षिप्रं विदा: लम्भय (सायण)।

१२०.

१. विवासति सेवनार्थक (निघं० ३.५)।

२. वि वस स्नेहहमोहच्छेदापहरणेषु। विवासे विवासये।

१२१.

१. णिदि कुत्सायाम्।

२. असु क्षेपणे, लोट्।

१२२.

१. घृणि: ज्योति: (निघं० १.१७)। आघृणि: आगतघृणि: आगतदीप्ति:। घृ क्षरणदीप्त्यो:।

२. लिख अक्षरविन्यासे, रलयो: अभेद:। अथवा रिख गतौ।

३. किकिरा किकिरम्। विभक्ति को आ।

१२३.

१. अञ्जसा ऋजुमार्गेण (सायण)। शीघ्र (अमर ३.४.२)।

२. अनुशासति अनुशास्ति। शासु अनुशिष्टौ।

३. एव एवम् (निरु० २.१९)।

४. ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, लेट्।

५. कठ उप, बल्ली ४—६।

१२४.

१. य: सूते उत्पादयति, सुवति प्रेरयति वा स सविता (षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, षू प्रेरणे)।

२. क्षि निवासगत्यो:।

३. अया अनया (निरु० ३.२१)।

४. वाम=प्रशस्य (निघं० ३.८), संभजनीय (निरु० ६.२२), सुन्दर (अमर ३.३.१४५)।

५. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् (योग २.३३)।

१२५.

१. अरण: अपार्ण: अपगत: (निरु० ३.२)। ऋ गतौ।

२. निष्ट्य: निर्गत:। निस्, गतार्थ में त्यप् प्रत्यय।

३. धुर्वी हिंसायाम्।

१२६.

१. अवीरते अवीरतायै।

२. ऋतावन्। ऋत वनिप्, छान्दस दीर्घ। संबोधन में 'ऋताव:'।

३. दम गृह (निघं० ३.४)।

४. ह्वृ कौटिल्ये, अथवा हुर्च्छा कौटिल्ये। छान्दस रूप।

१२७.

१. ग्रन्थ सन्दर्भे बन्धने च।

२. हिंसितवचस्कान् (सायण) मृध्रा हिंस्रा अनृता वाग् येषां ते (द० भा०)।

३. दुष्टान् साहसिकान् चौरान् (द० भा०)। दसु उपक्षये।

४. दूरे गमयति (द० भा०)। वी गत्यादिषु,

लिट्।

१२८.

१. नु इति प्रतिषेधे वर्तते, चित् इति एवकारार्थे, नू चित् नैव (सायण)।

२. भ्रेषृ भये गतौ च।

३. रिष हिंसायाम्, लेट्।

४. दुवस् पूजार्थकः (निघं० ३.५)।

५. क्षि निवासगत्योः, लेट्।

१२९.

१. स्रेधत हिंसिष्ट (सायण)।

२. दक्षत उत्सहध्वम् (सायण)।

३. तुजि दानार्थक (निघं० ३.२०)।

४. तरणिः पुरुषार्थी (द० भा०), कर्मसु त्वरितः (सायण)।

५. कव, अत सातत्यगमने, नु प्रत्यय।

६. रेतः सोमः (कौ ब्रा १३.७)।

७. ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा, अन्य मन्यमुपतिष्ठन्त रायः (ऋग् १०.११७.५)।

१३०.

१. नोनुमः भृशं नताः स्मः (द० भा०, ऋग् ४.३२.४)। अतिशयेन पुनः पुनः नुमः, णु स्तुतौ।

१३१.

१. यान्ति यस्मिन् तस्मिन् मार्गे। या प्रापणे, मनिन्।

१३२.

१. अतिशयेन विद्यावासाः (द० भा०)। अतिशयेन सद्गुणकर्मसु निवासिनः (द० भा०, ऋग् ७.३७.४)।

२. अनु इण् गतौ, तुमर्थ में तवेन्।

१३३.

१. ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, लेट्। छान्दस सम्प्रसारण।

२. हुवेम ह्वयेम (निरु० १०.२८)।

१३४.

१. मरुतः मरणधर्माणो मनुष्याः (द० भा०)।

२. हव्या हव्यानि। शि का लोप।

३. शुची शुचीनि।

४. हि गतौ वृद्धौ च।

५. ये ऋतेन सपन्ति प्रतिज्ञां कुर्वन्ति ते (द० भा०)।

६. अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरतिः हिंसा-कर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरु० १.७)।

७. आयन् इण् गतौ, लङ्।

१३५.

१. रुक्म हिरण्य (निघं० १.२)।

२. उरु चक्ष दर्शनार्थक निघं० ३.११)।

३. अर्थः—ऋ गतौ थन् प्रत्यय।

४. प्र षू प्रेरणे।

५. अय गतौ, लेट्।

६. अपस् कर्म (निघं० २.१)।

७. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (अथर्व० ७.५०.८)।

१३६.

१. प्रत्यदृश्रन् प्रत्यदृश्यन्त। प्रति दृशिर् प्रेक्षणे। छान्दस रूप।

२. जुषी प्रीतिसेवनयोः। न जुष्टम् अजुष्टम्।

३. अप अञ्चति इति अपाचीनम्। अप अञ्चु गतिपूजनयोः।

१३७.

१. देवा देवौ।

२. इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ।

३. वी गति-व्याप्ति-प्रजन-कान्ति-असन-खादनेषु। कान्तिः प्रीतिः।

४. परि ह्वृ कौटिल्ये।

५. नश व्याप्ति अर्थ में (निघं० २.१८)।

१३८.

१. आजि युद्ध (निघं० २.१७)। आजा आजौ।

२. वृत्राण्यन्य समिथेषु जिघ्नते, व्रतान्यन्यो अभिरक्षते सदा ऋग् ७.८३.९

१३९.

१. शशयानाः शिश्यानाः। (निरु० ९.४)। शो तनूकरणे, कानच्।

२. ब्रह्म वेदम् अधीयते विदुर्वा इति ब्राह्मणः। 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में ब्रह्मन् से अण् प्रत्यय।

३. जिन्वति गत्यर्थक (निघं० २.१४)।

४. मण्डूका मज्जूकाः, मज्जनात्, मदतेर्वा मोदतिकर्मणः, मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः। मण्डयतेरिति वैयाकरणाः, मण्ड एषामोक इति वा (निरु० ९.४)।

१४०.

१. गल्दया गालनेन (निरु० ६.२४) गल स्रवणे।

२. डुभृञ् धारणपोषणयोः)।

३. मृग सिंह। यथा, 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (ऋग् १.१५४.२)।

१४१.

१. वृतु वर्तने, णिच्, लुङ्, छान्दस रूप।

१४२.

१. अपा अद्भिः। व्यत्यय से एकवचन।

२. इरिणं मरुस्थल। 'अपरता अस्मादोषधयः' (निरु० ९.७)।

३. प्रपित्वे प्राप्ते (निरु० ३.२०)।

४. कण्व मेधावी।

१४३.

१. १,२. प्रशंसा में मतुबर्थक इन् प्रत्यय।

२. श्वात्र=धन, शीघ्र (निघं० २.१०,४.२)।

३. वयस्=अन्न (निरु० ६.४), लोक में आयु अर्थ प्रसिद्ध।

४. चन्दति आह्लादयति इति चन्द्रः (चदि आह्लादे)।

१४४.

१. षुञ् अभिषवे, शतृ।

२. ईमहे याचामहे (निघं० ३.१९)।

३. आभर आहर। ह् को भ्।

१४५.

१. राधस् धन (निघं० २.१०), सफलता (राध संसिद्धौ)।

१४६.

१. वासयन्ति इति वसवः (वस निवासे)।

२. प्रत्यक्षकृतो हितं वदति परोक्षकृतस्तु अहितं, तादृशः कपटो द्वयुः इत्युच्यते (सायणभाष्य, ऋग् ८.१८.१४)।

३. पाक प्रशस्य (निघं० ३.४)। पाकः परिपक्वः। सप्तम्यर्थ में त्रा प्रत्यय। पाकत्रा पाकेषु।

१४८.

१. ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (षड् ब्रा १.१)। हरि मतुप्, म को व।

२. वदामसि वदामः।

३. विपूर्वो दीधितिः चिन्तने (सायण)।

१४९.

१. कुर्वन्ति कर्माणि इति ते।

२. दूढ्यं दुर्धियं पापधियम् (निरु० ५.२)।

३. (टुओ) श्वि गतिवृद्ध्योः।

१५२.

१. षण संभक्तौ।

२. दुष्वप्नाद् जातं दुष्वप्न्यम्।

१५३.

१. उनत्ति इति इन्दुः, उन्दी क्लेदने।

२. शेव=सुख (निघं० ३.६)।

३. धियं प्रज्ञां कर्म वा राति ददाति इति धीरः।

४. जीवितुम्। तुमर्थ में असे प्रत्यय।

५. प्र तॄ वृद्ध्यर्थक।

१५५.

१. जरिता स्तोता (निघं० ३.१६)।

२. विश्वा अहा=विश्वानि अहानि।

३. इन्द्रः इन्दन् शत्रूणां दारयिता द्रावयिता वा (निरु० १०.९)।

१५६.

१. दाशृ दाने, क्वसु।

२. शिप्रे हनू नासिके वा (निरु० ६.१७)। शोभने शिप्रे यस्य स सुशिप्रः सुमुखः।

३. वश कान्तौ, लेट्।

४. कृ लेट्।

१५७.

१. प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा (निरु० ३.१७)।

१५८.

१. दूढ्यः दुर्धियः (निरु० ५.२३)।

२. अंहतिश्च अंहश्च अंहुश्च हन्तेः निरूढोपधाद् विपरीतात्। हन्, अति प्रत्ययः (निरु० ४.२४)।

१५९.

१. नि कृ, तुमुन् अर्थ में तवेन्।

२. शक्नोतीति शक्रः। शक्लृ शक्तौ, रक् प्रत्ययः।

३. परि शक्लृ शक्तौ, तवेन्।

१६०.

१. दाप् लवने। दिनस्य छिन्नस्य।

२. काशिः मुष्टिः प्रकाशनात् (निरु० ६.१)

३. पूर्धि पिपूर्हि। पॄ पालनपूरणयोः।

१६१.

१. बहुकर्माणम्। तुवि बहु (निघं० ३.१), कूर्मि (कृ–मि)।

१६२.

१. मरै म्रिये। मृङ् प्राणत्यागे, लेट्, मरै इति=मरा इति।

१६३.

१. रुशद् इति वर्णनाम रोचतेः ज्वलितकर्मणः (निरु० ६.१३)।

२. परुष्णी पर्ववती...कुटिलगामिनी (निरु० ९.२४)।

३. कृष विलेखने।

४. रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च।

५. पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा (निरु० १.२०)।

१६४.

१. वावृध्वस्। वृध् लिट् (क्वसु)।

२. ममत्तु मादयतु, मदी हर्षे। छान्दस रूप।

१६५.

१. देवान् कामयते इति देवयुः (देव क्यच् उ)। न देवयुः अदेवयुः।

२. अनुवृत्तस्वापम्।

३. सस्ति स्वपिति (निघं० ३.२२)।

४. इण् गतौ, वन्।

५. मृङ् प्राणत्यागे, लेट्।

६. सनुतः निर्णीतः, अन्तर्हितः (निघं० ३.२५)

१६६.

१. इष्कर्तारं निष्कर्तारम्। छान्दस वर्णलोप।

२. वसु जु गतौ।

३. अव रक्षणादिषु, तुमर्थ में असेन्।

१६७.

१. गौ वाक् (निघं० १.११)।

२. वृज (वृणक्ति) हिंसार्थक (निघं० २.१९)

३. छा उप ७.२।

१६८.

१. अतिशयेन गातुं मार्गं वेत्ति वेदयति वा यः सः (विद् ज्ञाने)।

२. व्रत कर्म (निघं० २.१)। व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः (निरु० २.१३)।

३. नक्ष गत्यर्थक (निघं० २.१४)।

१६९.

१. मंहते ददाति (निघं० ३.२०)। अतिशयेन मंहिता मंहिष्ठः।

२. ऋतावा। ऋत् वनिप् प्रत्ययः।

३. शुक्रं पवित्रं शोचिः ज्योतिः यस्य स शुक्रशोचिः। शुचिर् पूतीभावे, शुच दीप्तौ।

१७०.

१. षणु दाने।

२. श्रवः विद्याश्रवणम्। (द० भा०, ऋग् १.४३.७)।

१७३.

१. शुष्म बल (निघं० २.९)। शुष्मम् इति बलनाम, शोषयतीति सतः (निरु० २.२३)।

१७४.

१. ह्व कौटिल्ये, ह्व को ह्वु आदेश।

२. आ मीञ् हिंसायाम्।

३. मखं यज्ञम् आत्मनः इच्छसि। मख, क्यच्, मध्य में सुक् का आगम।

४. केवलाघो भवति केवलादी (ऋग् १०.११७.६)।

१७५.

१. वेनः मेधावी (निघं० ३.१५)। वेन धातु कामनार्थक (निघं० २.६)।

२. णु स्तुतौ, लुङ्।

३. यष्टुमिच्छन्ति। यज, सन्।

१७६.

१. हन् हिंसागत्योः यङ्लगन्त, शतृ।

२. शुचिर् पूतीभावे।

३. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या (योग २.५)।

१७८.

१. देवानां दिव्यगुणानां वीतिः प्राप्तिः देववीतिः। देव, वी गत्यादौ।

१७९.

१. दभ वधार्थक (निघं० २.१९)।

दभ=वध=उपेक्षा।

२. त्री पवित्रा त्रीणि पवित्राणि।

३. विश्वा भुवना विश्वानि भुवानि।

४. कर्त कूप (निघं० २.२३)

५. व्यध ताडने।

१८०.

१. गोनां गवाम्। छान्दस रूप।

२. श्रीञ् पाके, शतृ। भाष्यकारों ने यह धातु मिश्रणार्थक या आश्रयणार्थक भी मानी है। अभिश्रीणन् अभिसंयोजयन् (सायण)।

१८१.

१. पुष्लृ पुष्टौ, लेट्।

२. यः सूते चराचरं जगत् स सोमः। षूङ् प्राणिगर्भविमोचने।

३. सुवति ऐश्वर्यवान् भवतीति सोमः। षु प्रसवैश्वर्ययोः।

४. अथर्व० ३.१२.२-६।

५. गीता १६.१-३।

१८२.

१. उपलप्रक्षिणी उपलेषु प्रक्षिणाति, उपल-प्रक्षेपिणी वा, कारुः कर्ता स्तोमानाम्, तत इति संताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा। उपलप्रिक्षिणी सक्तुकारिका। नना नमतेः माता वा दुहिता वा। नानाधियः नानाकर्माणः। (निरु० ६.५)।

१८३.

१. यक्षि यजामि (निरु० ६.१३)।

२. ऋ गतौ, जुहोत्यादि।

३. भुवः अभूः। भू, लेट्, सिप्।

४. यष्टुमिच्छुः इति यक्षुः।

५. पूरु मनुष्य (निघं० २.३)।

६. धन्वन् धन्वनि। सप्तमी का लुक्।

१८४.

१. कित ज्ञाने मतुप्। चिकित्वान्। संबोधन में 'चिकित्वः'।

२. विद ज्ञाने। आत्मनेपद छान्दस।

३. वव्रि रूप (निघं० ३.७)।

४. शीङ् स्वप्ने। शये शेते।

५. अतिशयेन पुनः पुनः लेढि। लिह आस्वादने, यङ्।

१८५.

१. इंद्रियं वै वीयं गावः (श० ब्रा० ४.५.३.१०)। गावः इन्द्रियाणि (द० भा०, ऋग् १.४८.१२)।

२. गोपतिः गवां स्वेषामिन्द्रियाणां स्वामी (द० भा०, ऋग् १.१०१.४), गोपाम् इन्द्रियपश्वादीनां रक्षकम् (द० भा०, यजु० ३.२३)।

१८६.

१. ऋ गतौ, जुहोत्यादि।

२. प्र तृ प्लवनतरणयोः, लेट्।

३. विवक्षसे महान् (निघं० ३.३)।

४. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे (यजु० ३४.५५)।

१८७.

१. मुच्लृ मोचने, लेट्।

२. वह प्रापणे, लेट्।

३. वरेयात् वृणुयात्, वृञ् वरणे।

१८८.

१. ममन्यतिः कान्तिकर्मा। कामयेत लब्धुमिच्छेत् (सायण)।

२. दक्ष बल (निघं० २.९)।
३. जगृभ्यात् गृह्णीयात्। ग्रह उपादाने।
४. द्रु गतौ। धनं द्रविणमुच्यते यत् एनत् अभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यत् एतेन अभिद्रवन्ति (निरु० ८.१)।

१८९.
१. प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्। अप्राट् अप्राक्षीत्।
२. अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। अञ्जन्ति व्यक्तीकुर्वन्ति अर्थम् इति अञ्जस्यः वेदवाण्यः तासाम्।
३. स्रु गतौ।

१९०.
१. जसु हिंसायां ताडने च।
२. अतिशयेन पुनः पुनः वेति कम्पते। वी गत्यादिषु, यङ्।

१९१.
१. कित ज्ञानार्थक, छान्दस रूप।
२. संगम संग्राम (निघं० २.१७)।
३. वनुयाम हन्याम (सायण)।

१९२.
१. भोजयति इति भोजः।
२. शिशीते निश्यति (निरु० ४.३४)। शो तनूकरणे।
३. शिशीते तीक्ष्णीकरोति इति शिशयः।
४. अप्नः कर्म (निघं० २.१), तद्वती अप्नस्वती।

१९३.
१. गौः वाणी (निघं० ३.१६), गोदुग्ध, गोघृत (निरु० २.५)।
२. वृजन बल (निघं० २.९)। दीर्घ छान्दस।
३. अथर्व० ११.६.१५।
४. यजु० १८.११।

१९४.
१. उत् आरः (ऋ गतौ)।
२. इन्धी दीप्तौ, शानच्।
३. कठ उप ५.१५।

१९५.
१. नाभिः संनहनात्, नाभ्या संनद्धा गर्भा जायन्ते (निरु० ४.२१)। नह बन्धने।
२. सह तिष्ठन्ति अत्र इति सधस्थम्।
३. प्रथमाः जनयितारः।
४. ऐ उप २.४।

१९६.
१. पिता पाता वा पालयिता वा (निरु० ४.२१)।
२. उत् अज गतिक्षेपणयोः, लङ्।
३. प्रतिगृभ्णीत प्रतिगृह्णीत।
४. अङ्गारेषु अङ्गिराः (निरु० ३.१७)। ये अङ्गाराः आसन् ते अङ्गिरसोऽभवन्। (ऐ ब्रा ३.३४)। अङ्ग-रस=अङ्गिरस (गो ब्रा, पू० १.७)।

१९७.
१. पेशस् रूप (निघं० ३.७)।
२. सहस्रा सहस्राणि।
३. षणु दाने।
४. हव्य=हवि=जल (निघं० १.१२)।
५. विभृता वि-भृतानि।
६. विशेषेण ईरयति कम्पयति शत्रून् इति वीरः, वि ईर गतौ कम्पने च। वीर विक्रान्तौ।

१९८.

१. तविषः महान् (निघं० ३.३)

२. हेडते क्रुध्यति (निघं० २.१२)।

१९९.

१. सं शो तनूकरणे।

२. अकृत्त-रुक्। अ, कृती छेदने, रुच दीप्तौ।

२००.

१. सहसे हितः सहस्यः।

२. पृ पालनपूरणयोः।

३. परि डुधाञ् धारणपोषणयोः। छान्दस रूप।

२०१.

१. मेधा, मतुबर्थ में इरन् प्रत्यय।

२. प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः।

३. अप्राप्तस्य प्राप्तिः योगः।

४. आह्वातुं योग्यः। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च।

२०२.

१. अक्तुः रात्रिः (निघं० १.७)।

२. धासि=धारक उदर, कुक्षि।

३. प्रथ प्रख्याने।

४. ज्मा पृथिवी (निघं० १.१)।

५. क्षिति मनुष्य (निघं० २.३)।

६. प्ररिचिर विरेचने, लिट्।

७. क्षयसि क्षियसि निवससि। सा०

२०४.

१. चातयतिः नाशने (निरु० ६.३०)। अमीवान् रोगान् चातयति नाशयति यः सः (अम रोगे)।

२०५.

१. दूरे समीपे वा (सायण)।

२. अर्को मन्त्रो भवति, यदनेन अर्चन्ति (निरु० ५.५)।

२०६.

१. असः भव। अस् भुवि, लेट्।

२. आ शीङ् स्वप्ने, लुङ्।

३. छा उप ३.१६।

४. यजु० ३६.२४

२०७.

१. वया शाखा (निरु० १.४)।

२. वि माङ् माने शब्दे च।

३. असून् प्राणान् राति ददाति यः सः असुरः (असु, रा दाने, क प्रत्यय)। यद्वा अस्यति क्षिपति पापं यः सः (असु क्षेपणे, उरन् प्रत्यय)।

४. शेव सुख (निघं० ३.६)।

५. ऋग् १.१६४.२०।

२०८.

१. कामयासे कामयस्व। कमु कान्तौ, लेट्

२. वि विचिर पृथग्भावे, शतृ।

२०९.

१. कित ज्ञाने, लिट्, क्वसुः ङीप्।

२. भूरि भूरीणि।

३. पुरुषु बहुषु रूपेषु। सप्तम्यर्थ में त्रा।

२१०.

१. शिक्ष दानार्थक (निघं० ३.२०)।

२. जरिता स्तोता (निघं० ३.१६)।

३. प्यायी वृद्धौ, णिजन्त। धातु को पी आदेश।

२११.

१. द्रष्टव्य—कठ उप ३.३,४।

२१२.

१. वस आच्छादने।

२. ध्राज गतौ।

३. विश प्रवेशने, लुङ्।

४. बृ उप ३.७।

२१३.

१. पत् धातु से पक्षी अर्थ में अङ्गच् प्रत्यय। पक्षी-वाचो शब्द आत्मा अर्थ में भी आते हैं।

२. गां वाणीं धरतीति गन्धर्वः मनः। 'मनो गन्धर्वः' (यजु० १८.४३)।

३. मनसा ईषिता प्रेरिता (मनस् ईष गतिहिंसा दर्शनेषु)।

४. कवि मेधावी (निघं० ३.१५)।

२१४.

१. दुर्गाणि हन्ति इति दुर्गहा।

२. मन्म मनः (निरु० ६.२२), मन्म मननानि (निरु० १०.४२)। मन्म मन्तुं योग्यं ज्ञानम् (द० भा०, ऋग् १.१२९.६)

३. नेषत् नयतु। णीञ् प्रापणे, लेट्।

४. क्षिपत् प्रक्षिपतु। क्षिप, लेट्।

५. शं योः शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् (निरु० ४.४८)।

६. करत् करोतु। कृ, लेट्।

२१५.

१. अति पृ पालनपूरणयोः, लेट्।

२१६.

१. वेषाय सर्वशुभगुणविद्याव्याप्तये (द० भा०)। विष्लृ व्याप्तौ।

२१७.

१. प्रति उष दाहे।

२. रातयः दानभावाः (रा दाने), तद्विपरीताः अरातयः कार्पण्यभावाः।

२१८.

१. भेः भैषीः। भी भये, छान्दस रूप।

२. संविक्थाः संविजिष्ठाः। सम् ओविजी भयचलनयोः, लुङ्।

३. न, तमु ग्लानौ, एरु प्रत्यय।

२२०.

१. सु दा, अत्रन् प्रत्यय।

२. त्वष्टा...त्वक्षतेः वा स्यात् करोतिकर्मणः (निरु० ८.१४)। त्वक्ष तनूकरणे

३. विद्याचक्रवर्तिराज्यश्रियादीनि धनानि (द० भा०)।

४. वि रिष हिंसायाम्।

५. मृजू शुद्धौ।

६. ब्रह्मतेजो बलं बलम्। (वा रा, बालकाण्ड ५६.२३)।

२२२.

१. अह्णुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वा विद्या ये ते विद्वांसः (द० भा०)। अह व्याप्तौ, स्वादि क्रि प्रत्यय।

२. शुचिर पूतीभावे, शुच दीप्तौ।

३. यः सहस्राणि असंख्यातानि बलानि सनोति ददाति सः। सहस्र, षणु दाने।

४. ऋषिः दर्शनात् (निरु० २.११)। ऋषी गतौ, दर्शनार्थक भी है।

५. दुदुह्रे दुदुहिरे। इरयो रे पा० ६.४.७६ से इरे के स्थान पर रे आदेश।

२२३.

१. जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा (निरु० ७.२४)।

चक्षुर्वै जमदग्निः ऋषिः (श० ब्रा० ८.१.२.३)।

२. त्रीणि आयूंषि समाहृतानि त्र्यायुषम् (पा ५.४.७७ से निपातित)। त्रिगुणम् अर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत् तावद् आयुरस्तु (ऋ भा भू, वेदसंज्ञाविचार)।

३. पश्यति इति पश्यकः, पश्यकः एव आद्यन्तविपर्ययेण कश्यपः द्रष्टा विद्वान्। ''कश्यपो वै कूर्मः। प्राणो वै कूर्मः'' (श० ब्रा० ७.५.१.५,७)।

४. त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्त्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्यायुः। त्रिशतवर्षं चतुःशतवर्षं वायुः सुखेन भुञ्जीमहि। द०भा० यजु० ३.६२

२२४.

१. अमृतान् प्राप्तमोक्षान् सदेहान् विगतदेहान् वा विदुषः, मुक्त्यानन्दान् उत्तमान् भोगान् वा (द० भा०)।

२२५.

१. कृपु सामर्थ्ये।

२. शुन्ध शौचकर्मणि।

३. शुम्भ भासने।

२२६.

१. यः आतनोति विस्तारयति यशः सद्गुणादीन् वा स आतानः। तनु विस्तारे

२. अर्वा। अर्व हिंसायाम, ऋ गतिप्रापणयोः। न अर्वा अनर्वा।

३. घृत=घी, तेज। घृ क्षरणदीप्त्योः।

४. पथ्याः पथोऽनपेताः नीतीः। पथिन्, यत्।

२२८.

१. अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् (मनु २.४)।

२. कामस्तदग्रे समवर्तताधि (ऋग् १०.१२९.४)।

२२९.

१. इषवो वै दिद्यवः (श० ब्रा० ५.४.२.२)। द्यन्ति खण्डयन्ति इति दिद्यवः इषवः शस्त्रास्त्राणि।

२३०.

१. वुरीत वृणीयात्। वृञ् वरणे।

२. इषुध्यति याचते (निघं० ३.१९)। यद्वा इषून् धारयति, इषुध शरधारणे, कण्ड्वादिः।

३. पुष पुष्टौ, दिवादि। तुमर्थ में असे प्रत्यय।

४. सु आ, ओहाङ् गतौ। अथवा, सु-आ-ओहाक् त्यागे।

२३१.

१. संवत् संग्राम (निघं० २.१७), संग्राम-भूमि।

२३२.

१. भानुभिः विद्याप्रकाशकैः गुणैः (द० भा०)

२३३.

१. प्रसद्य प्राप्य, षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु।

२३४.

१. परस्परं सम्यक् प्रीतियुक्तौ (द० भा०)।

२. विषयासक्तिरहितत्वेन देदीप्यमानौ (द० भा०)।

३. अन्न (निघं० २.७)। धन, विज्ञान (द० भा०, ऋग् ७.८.७)। इच्छासिद्धि (द० भा०, ऋग् ७.२१.१), इषु इच्छायाम्।

४. ऊर्ज बलप्राणनयोः। ऊर्ग् वा आपो रसः (कौ ब्रा १२.१)।
५. सुमनसः पुष्पाणि इव आचरतः तौ सुमनस्यमानौ।

२३६.
१. इषे विज्ञानाय (द० भा०)
२. ऊर्ज बलप्रानणयोः।
३. रमु क्रीडायाम्।
४. सम्यक् राजते इति सम्राट्।
५. स्वयं राजते इति स्वराट्।
६. मनो वै सरस्वान्, वाक् सरस्वती, एतौ सारस्वतौ उत्सौ (श० ब्रा० ७.५.१.३१), ऋकसामे वै सारस्वतौ उत्सौ (तै ब्रा १.४.४.९)।

२३७.
१. धेना वाक् (निघं० १.११)।
२. चाकशीति पश्यति (निघं० ३.११) कश गतिशासनयोः, यङ्लुगन्त।
३. कठ उप० ५.१५

२३८.
१. प्रकर्षेण मन्यते जानाति इति प्रमा प्रमन्ता (मनु अवबोधने)।
२. उन्मा उन्मानं तुला (मही०), उन्मा ऊर्ध्वं मिनोति यया तुलया तद्वत् (द० भा०)।
३. साहस्रः सहस्रार्हः (मही०)।
४. सहस्राय अनन्तफलाप्त्यै (मही०) असंख्यप्रयोजनाय (द० भा०)।

२३९.
१. परिव्ययामः। परि व्येञ् संवरणे। मस् इदन्त।

२४०.
१. अम बल (निरु० १०.२१)।
२. जेमा जेतुः भावः।
३. वरिमा उरोः भावः।
४. प्रथिमा पृथोः भावः।
५. वर्षिमा वृद्धस्य भावः।
६. द्राघिमा दीर्घस्य भावः।

२४१.
१. भुनक्ति पालयति भूतानि इति भुज्युः (भुज पालनाभ्यवहारयोः)।
२. स्तूयन्ते इति स्तावाः।
३. वह प्रापणे।
४. यजु० १८.३८–४३।
५. यो गां भूमिं धरति सः।
६. अपस्सु कर्मसु सरन्तीति अप्सरसः। अपस् कर्म (निघं० २.१)।
७. अप्स इति रूपनाम....तद्रा भवति रूपवती (निरु० ५.१३)।

२४२.
१. षुञ् अभिषवे।
२. पिपृग्धि पृङ्धि (पृची सम्पर्के)।
३. अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत् सुरा (श० ब्रा० १२.८.१.४)। सुरा जल (निघं० १.१२)।
४. सुष्ठु राति ददाति रसशान्त्यादिकम् इति सुरा।

२४५.
१. सत्कर्मसु प्रेरक ईश्वर (द० भा०)। षू प्रेरणे।
२. रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते (निरु० ५.६)।
३. सूयते इति सवः रसः (षुञ् अभिषवे)।

सवनं सवः (षू प्रेरणे)।

२४७.

१. विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्य आत्मनि स्थापयतीति विलायकः आत्मज्ञानप्रदः। यद्वा विलाययति चक्षुरादिभिः श्लेषयतीति विलायकः (मही०)। लीङ् श्लेषणे।

२४८.

१. महि वृद्धौ, मह पूजायाम्।
२. उरु बहु अञ्चति गच्छति इति ताम्।
३. अदितिः अदीना देवमाता (निरु० ४.२२)

२४९.

१. यज, लेट्।
२. वेतु भक्षयतु, वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु।
३. द्रष्टव्य--निरु० ८.२१, आग्नेया इति तु स्थितिः।
४. त्वक्ष तनूकरणे। त्वक्षति विच्छिनत्ति इति त्वष्टा।
५. देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा (निरु० ७.१५)।
६. मु उप २.४।

२५०.

१. इयर्ति इति अर्वा (ऋ गतौ)।
२. आह्वयति इति होता स्तोता।
३. यक्षि यज (यज देवपूजादिषु)।

२५१.

१. सहस्राणि असंख्यानि शिरांसि यस्मिन् सः (द० भा०)।
२. स्पृत्वा व्याप्य। स्पृणोतिः व्याप्तिकर्मा (मही०)।
३. दशाङ्गुलानि इन्द्रियाणि (उवट)।
४. पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् (निरु० २.३)।
५. केन उप १.३।

२५२.

१. पृथिव्यै पृथिव्याः (षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वक्तव्यम्)।

२५३.

१. वेनः मेधावी (निघं० ३.१५)। वेनति= इच्छति, गच्छति, अर्चति (निघं० २.६,२.१४,३.१४)। वेणृ गति-ज्ञान-चिन्ता-निशामन-वादित्रग्रहणेषु।
२. पश्यत् अपश्यत्।
३. गुहा गुहायाम्। सप्तमी का लुक्।

२५४.

१. स्वाहा सु आह इति (निरु० ८.२०)। स्वाहा वाक् (निघं० १.११)।

२५५.

१. सहस्कृतः बलं कृत्वा स्तुतः (उवट)।
२. शवस् वल (निघं० २.९)।
३. गृ शब्दे, आत्मनेपद छान्दस।

२५६.

१. द्रष्टव्य—इस मन्त्र का दयानन्द-भाष्य, ''(पञ्च) पञ्च ज्ञानेन्द्रियवृत्तयः (नद्यः) नदीवत् प्रवाहरूपाः। (सरस्वतीम्) प्रशस्तविज्ञानवतीं वाचम् (सुस्रोतसः) समानं मनोरूपं स्रोतः प्रवाहो यासां ताः। (पञ्चधा) पञ्चज्ञानेन्द्रियशब्दादिविषय-प्रतिपादनेन पञ्चप्रकाराः।''

२५७.

१. आयुषे हितम्। आयुष्, यत् प्रत्यय।

२. वर्चसे हितम्। वर्चस्, यत्, प्रत्यय।
३. उद्भिनत्ति दुःखानि येन तत् (द० भा०)।
४. ज्योतिर्हि हिरण्यम् (श० ब्रा० ४.३.१.२१)। तेजो वै हिरण्यम् (तै० ब्रा० १.८.९.१)।
५. रेतो हिरण्यम् (तै० ब्रा० ३.८.२.४)।

२५८.
१. ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य सकलैश्वर्यस्य वा स्वामिन् (द० भा०, ऋग् ७.४१.१)।
२. देवान् दिव्यगुणान् आत्मनः कामयमानाः। देव, क्यच्, शतृ।
३. ईमहे याचामहे (निघं० ३.१९)।

२५९.
१. स्वर्गाय विशेषसुखभोगाय, मुक्तिसुखाय (द० भा०)।

२६०.
१. स्वाहा सत्क्रिया (द० भा०)।
२. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (योग २.३६)।

२६१.
१-३. अवति इति ओम्। आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो वृहत्वाद् ब्रह्म (स० प्र० समु० १)

२६२.
१. सह वर्तन्ते इति सवृतः, तैः सवृद्भिः।
२. कश्यपः पश्यको भवति, यत् पश्यतीति (तै० आ० १.८.८)।
३. कविः क्रान्तदर्शनो भवति (निरु० १२.१३)

२६३.
१. अङ्गारेषु अङ्गिराः (निरु० ३.१७)। प्राणो वै अङ्गिराः (श० ब्रा० ६.५.२.३)

२६४.
१. दोषा रात्रि (निघं० १.७)।
२. गै शब्दे। गायति इति गामा।
३. (अथर्वा) थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरु० ११.१७)। अथर्वणः अपत्यम् आथर्वणः।

२६५.
१. त्वावतः त्वत्सदृशस्य। 'युष्मदस्मदोः सादृश्ये वतुब् वाच्यः।'
२. अरम् अलम्। 'अलं भूषण-पर्याप्ति-शक्ति-वारण-वाचकम्'।
३. गमेम गच्छेम।
४. परेमन्। पर इण् गतौ, मनिन्। परेमणि सप्तमी, एकवचन।

२६६.
१. मदी हर्षे, लोट्, छान्दस रूप।

२६७.
१. मिह सेचने, क्वसु प्रत्यय।
२. जरते अर्चति (निघं० ३.१४)।
३. विव्रतानां विगत-व्रतानाम् (व्रत कर्म निघं० २.१)।
४. विप मेधावी (निघं० ३.१५)। विपा विपया।
५. गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

२६८.
१. अंशु=सोम=यज्ञिय भाग।
२. वसूनि अर्हति इति वसव्यः। वसु, यत्
३. बृह वृद्धौ णिच्।

२६९.
१. वृषा हि मनः (श० ब्रा० १.४.४.३)।

२. अदिति वाणी (निघं० १.११)।
३. त्रैङ् पालने, मनिन्।

२७०.
१. विश्वं धापयन्ति पाययन्ति इति विश्वधायसः (विश्व, धेट् पाने), यद्वा विस्वं दधति धारयन्ति पोषयन्ति च (विश्व, डुधाञ् धारणपोषणयोः)।

२७१.
१. कारुः स्तोता (निघं० ३.१६)। कारुः कर्ता स्तोमानाम् (निरु० ६.५)।
२. स्यन्दू प्रस्रवणे।

२७२.
१. प्रथमजाः प्रथमः जनयिता।
२. अमृतस्य नाभिः (तै उप भृगुवल्ली १०.७)।
३. अव रक्षणादिषु लङ्।
४. ब्रह्मसूत्र १.२.९।
५. तै० उ० ३.१०.६।

२७३.
१. सम् ऋधु वृद्धौ, सन् प्रत्यय।

२७४.
१. विद्लृ लाभे।
२. मन एव इन्द्रः (श० ब्रा० १२.९.१३)।
३. यच्चक्षुः स बृहस्पतिः (गो० ब्रा० उ० ४.११)।
४. स्तनयित्नुः एव इन्द्रः (श० ब्रा० ११.६.३.९)।
५. अयं वै बृहस्पतिः योऽयं (वायुः) पवते (श० ब्रा० १४.२.२.१०)।

२७५.
१. विपः मेधावी (निघं० ३.१५)।
२. पदं गमनम्, पद गतौ।
३. यह्वः महान् (निघं० ३.३)।
४. नाभा नाभौ।
५. ऋष्वः महान् (निघं० ३.३)। ऋषी गतौ (दर्शने वा), वन् प्रत्यय।

२७६.
१. दध धारणे, भ्वादि, लोट्, व्यत्यय से शप् का लुक्।
२. विरप्शिन् महागुणविशिष्ट ईश्वर (द० भा० यजु० १.२८)। विरप्शी महान् (निघं० ३.३)
३. नृम्ण धन (निघं० २.१०)।
४. षह अभिभवे। सहना सहनान्।
५. आर्याभिविनय २.३१ में यजु० ३८.१४ की व्याख्या।

२७८.
१. शक्लृ शक्तौ रक्। शक्नोति समर्थो भवतीति शक्रः।
२. ऋ गतौ, लेट।
३. छन्दः, चदि आह्लादे। च को छ तथा असुन् प्रत्यय। 'छन्दांसि छादनात्' (निरु० ७.१२)। छन्दति अर्चति (निघं० ३.१४)।

२७९.
१. समर्य संग्राम (निघं० २.१७)।
२. शेव सुख (निघं० ३.६)।
३. योग १.३०।
४. नाद्य शत्रुं न पुरा विवित्से (ऋग् १०.५४.२)।

२८०.
१. तुरं त्वरायुक्तं कर्मण्यं सहते इति तुराषाट्। तुर त्वरणे, षह मर्षणे।

२. पाप्मा वै वृत्रः (श० ब्रा० ११.१.५.७)।
३. भृगुः विद्यया अविद्याया भर्जकः निवारकः विद्वान् (द० भा०, ऋग् १.१४३.४) भ्रस्ज पाके कु प्रत्यय।
४. ससाहे सेहे। षह मर्षणे लिट्, छान्दस रूप।

२८१.
१. पृची संपर्के।
२. मन्द्र-अजनी। मदि स्तुतिमोदस्वप्न-कान्तिगतिषु, अज गतिक्षेपणयोः। मन्द्राणाम् आनन्दजनकशब्दानाम् अजनी प्रेरयित्री।
३. षुञ् अभिषवे, शतृ।
४. सम् तनु विस्तारे।
५. ऋषी गतौ, तुदादि, विकरण-व्यत्यय से शप्। अर्षति ऋषति।

२८२.
१. अस्तिरभिपूजितः स्वस्ति (निरु० ३.२२)
२. सु विद ज्ञाने, अत्रन् प्रत्यय।

२८३.
१. गय=सन्तान, धन, गृह (निघं० ३.२, २.१०,३.४)।
२. युछी प्रमादे।

२८४.
१. निहः निहन्तॄन विषयजान् दोषान्, हन्तेः क्विपि टिलोपश्छान्दसः। यद्वा निकृष्टा गतीः श्वशूकरादियोनिप्राप्तिरूपाः, ओहाङ् गतौ (सायण)।
२. स्रेधतिः शोषणकर्मा छान्दसः। देहशोषकान् रोगान् (सायण)।
३. अ चिती संज्ञाने।

२८५.
१. जोहवीमि अतिशयेनः पुनः पुनः ह्वयामि। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, यङ्लुगन्त।
२. हिसि हिंसायाम्, रुधादि।
३. अथर्व० २.११।
४. वही २.१२.३

२८७.
१. निःसालयति निर्गमयतीति निःसाला षल गतौ।
२. धर्षयति तिरस्करोतीति धृष्णुः। धृष प्रसहने।
३. धिषणा धिषेः दधात्यर्थे (निरु० ८.३)।
४. एकम् एकप्रकारकं वाद्यं वचनं यस्याः सा एकवाद्या।
५. अत्तुमिच्छति इति जिघत्सुः।
६. सदान्वाः सदानोनुवाः शब्दकारिकाः (निरु० ६.३०)।
७. नप्त्यः नप्त्रीः अपत्यभूताः (सायण)।

२९०.
१. दाधार दधार। धा धातु, लिट्, छान्दस दीर्घ।
२. अनः शकटं वहति इति अनड्वान् (अनस्, वह प्रापणे)।
३. अनड्वान् इन्द्रः (अथर्व० ४.११.२)।
४. छा उप ५—८।

२९१.
१. यु मिश्रणामिश्रणयोः। अमिश्रणं पृथक्करणम्।
२. मुञ्चतु मोचयतु। णि-लोप।
३. अस्यन्ति प्रक्षिपन्ति सद्विचारान् इति असुराः। असु क्षेपणे।

४. न सुराः असुराः।

२९२.

१. चर्षणि मनुष्य (निघं० २.३), प्रा पूरणे

२. विद्वांसो हि ग्रावाणः श० ब्रा० ३.९.३.१४, (गृ शब्दे)। गिरन्तीति ग्रावाणः स्तोतारो विद्वांसः।

३. नृम्णं बलं नृन् नतम् (निरु० ११.७)।

४. मादयितृतमः, (मदी हर्षे, मद तृप्तियोगे, इष्ठन्)।

२९३.

१. अभि आङ्, यम उपरमे, लुङ्।

२. देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः (अथर्व० ६.२३.३)।

२९४.

१. उनत्ति आर्द्रीकरोति इति ओदनः।

२. गायत्री छन्दसां (मुखम्) (तां० ६.१.६)

३. गायतो मुखादुदपतदिति ब्राह्मणम् (निरु० ७.१२)।

४. गायत्री या गायन्तं त्रायते सा (द० भा०, यजु० १४.१८)।

२९५.

१. इष्टा इष्टानि।

२. यज संगतिकरणार्थक। संगत हों, प्राप्त हों।

२९६.

१. दभ हिंसार्थक (निघं० २.१९)।

२. 'एतत्' से ब्रह्म अर्थात् वेद अभिप्रेत है। द्रष्टव्य—इसी सूक्त का प्रथम मन्त्र।

२९७.

१. हेति वज्र, शस्त्र (निघं० २.२०)। हेतिः हन्तेः (निरु० ६.३)। हन् हिंसागत्योः।

२. मेनि वज्र शस्त्र (निघं० २.२०)। मन् वधार्थक (निरु० १०.२९)।

२९८.

१. बिभर्ति सद्गुणैः इति बभ्रुः। डुभृञ् धारणपोषणयोः, कु प्रत्यय, द्वित्व।

२९९.

१. अशू व्याप्तौ संघाते च, लिट्।

२. न विद्यते रातिः दानं यस्याः सा अरातिः। रा दाने।

३०२.

१. आ क्रमु पादविक्षेपे।

२. अय गतौ।

३०५.

१. इन्द्रेण जूतं प्रेरितं प्रदत्तम् (जु गतौ)।

२. चक्ष दर्शनार्थक (निघं० ३.११), औणादिक असुन्। चक्षस्, चतुर्थी एकवचन, चक्षसे।

३. भूयो भूयः प्रसरणशीलम्। प्र सृ गतौ, यङ्लुगन्त, शानच्।

४. ज्येष्ठ, भाव अर्थ में तातिल् प्रत्यय।

३०६.

१. यत्संबन्धात् पुरुषः चेतनः उच्यते सा चित्तिः, अतीतादिविषयस्मृतिहेतुः (सायण)।

२. विध गत्यर्थक (निघं० २.१४)।

३. ऐ उप १.२.४।

४. यजु० ३२.१।

३०८.

१. विश्वानरः विश्वेषां नराणां हितः परमेश्वरः तस्येयं वैश्वानरी वेदवाक्। 'वैश्वानरीं

सूनृतामारभध्वम्' (अथर्व० ६.६२.२)।
२. इडा वाक् (निघं० १.११)।

३११.
१. विश्ववेदसः सकलविद्यावेत्तारः मरुतः विद्वांसो मनुष्याः (द० भा० यजु० ९.८)।

३१२.
१. पिंगल (३.१७) के अनुसार यह त्रिपाद् गायत्री है, किन्तु शौनक के अनुसार विराड् अनुष्टुप्।
२. उप ऋ गतौ, लिट्।

३१३.
१. अग्नौ होत्रं येषां ते।
२. विध विधाने।

३१४.
१. गार्हपत्यः गृहपतिना संयुक्तः। गृहपति, ञ्य प्रत्यय।
२. णीञ् प्रापणे, लेट्।

३१५.
१. देवाः यजमानाः (सायण)।
२. किती संज्ञाने, लिट्।
३. ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, लेट्।

३१६.
१. णीञ् प्रापणे, लेट्।
२. आघृणिः समन्ताद् घृणयो दीप्तयो यस्य सः (द० भा०, ऋग् १.२३.१४)। आ घृ क्षरणदीप्त्योः।

३१७.
१. अभ्व महान् (निघं० ३.३)।
२. न, रा दाने।

३१८.
१. वसूनां समूहैः। वसु, समूह अर्थ में यत्।
२. पृ पालनपूरणयोः, क्र्यादिः।

३१९.
१. सह पतन्ति आक्रामन्ति इति सपत्नाः।
२. गीता १६.४।
३. गीता १६.२१।
४. गीता ३.३९,४०।
५. गीता ३.३८।

३२२.
१. जि जये, लिट्।
२. इषा। इष्यते ज्ञायते येन तत् इट् तेन। इष गतौ इत्यस्य क्विवन्तस्य रूपम्। (द० भा०)।
३. नाकः अविद्यमानदुःखो मोक्षः (द० भा०, यजु० ३२.६)।

३२३.
१. वनोति इच्छति (निघं० २.६)।
२. वस्यः वसीयः, अतिशयेन वासयितृ।

३२४.
१. नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु।
२. हुवे आह्वये (निरु० ११.३१)। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, छान्दस संप्रसारण।
३. वस निवासे, लिट्।
४. हरन्ति विषयान् प्रति इति बभ्रवः। हृञ् हरणे, ह् को भ्।
५. आलभ हिंसार्थक।

३२६.
१. अव, द्रा कुत्सायां गतौ। न अवद्राणः अनवद्राणः।

३२७.

१. वनु याचने।

३२९.

१. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः (कठ उप २.१८, गीता २.२०)।

२. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि (अथर्व० २.११.५)।

३३०.

१. नुत्तम् नुद प्रेरणे।

२. अप अय गतौ, लेट्।

३३३.

१. पूङ् पवने।

२. थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरु० ११.१८)।

३. सं, षिवु तन्तुसन्ताने।

३३५.

१. ब्रह्मणा प्रोक्तं वेदज्ञानं ब्राह्मणम्।

२. श्वेता उप १.१४,१५।

३. अथर्व० १०.८.१।

४. यस्तन्न वेद कृमृचा करिष्यति (ऋग् १.१६४.३९)।

३३६.

१. विद ज्ञाने, विधिलिङ्।

२. ब्रह्म वै ब्राह्मणः (श० ब्रा० १३.१.५.३)। ब्रह्मभिः वेदैः वर्णितं ब्राह्मणम्।

३३७.

१. ज्योतिर्वै हिरण्यम् (तै ब्रा ५.५.३.४)

२. अमृतं वै हिरण्यम् (श० ब्रा० ९.४.४.५)

३. स्वगाध्य सुखाय हितः।

३३८.

१. भवति अस्मात् जगत्, यद्वा यः सर्वत्र भवति व्याप्नोति। भू सत्तायाम् अच्।

२. पशवः प्राणिनः। दृष्टव्य—ऋग् ८.१००.११ की नैरुक्त व्याख्या—'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्च अव्यक्तवाचश्च (निरु० ११.२६)।

३४०.

१. वि राजृ दीप्तौ।

२. विशेषेण राजते इति विराट्।

३४१.

१. उत् जगतः प्रलयात् ऊर्ध्वमपि शिष्यते इति उच्छिष्टः परमात्मा।

२. ऋत (ऋ गतौ)।

३. सत्य (अस भुवि)।

४. धर्मणा धृताम् (अथर्व० १२.१.१७)।

३४२.

१. गो ब्रा, पू १.२।

२. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः (मु उप १.९)।

३४३.

१. विषु विविधम् अञ्चति गच्छति इति विष्वङ्।

२. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् (प्रश्न उप ३.७)।

३४४.

१. ष्टीम आर्द्रीभावे।

२. छा० उप० ८.७.१।

३४६.

१. वनु याचने, तनादि।

२. विद्लृ लाभे।

३. क्रव्यम् मांसम् अत्तीति क्रव्यात् चिताग्निः।

४. न—निर्—आ—धा—क्त। धा को हि।

३४९.

१. अर्यमा आदित्यः, अरीन् नियच्छति (निरु० ११.२३)। अरि-यम।
२. वृञ् वरणे।
३. रोदयति रोगादीन् इति रुद्रः (रुद्—र)।
४. अर्य-मन्।
५. यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति अथवा यः शिष्टैः मुमुक्षुभिः धर्मात्मभिः व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः (स० प्र० १)।
६. रुत् (रोग)-द्रु गतौ। रुत् (उपदेश)—रा दाने। रुद् (रुलाना)—र प्रत्यय।

३५०.

१. चक्ष धातु दर्शनार्थक भी है और प्रकाशनार्थक भी।
२. सूर्यः आत्मा (यजु० १३.४६)।
३. चन्द्रमा मनः (ऐ आ २.१.५)। चन्द्रमा मनसो जातः (ऋग् १०.९०.१३)।
४. सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् (अथर्व० १४.२.७१)।

३५५.

१. ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः ब्रह्माण्डराष्ट्रस्य पतिः परमात्मा, मानवराष्ट्रस्य पतिः राजा वा।
२. इन्द्रः सर्वदुर्व्यसनविदारकः परमात्मा राजा वा।
३. विषु विषम (निरु० ११.२०)। अञ्चू गतौ।
४. वाति इति वात्, ताः वातः।
५. ईर गतौ कम्पने च।
६. सह अनुकूलतया अञ्चन्ति इति सध्रीच्यः सह को सध्रि आदेश, अञ्चू गतौ।

३५६.

१. सं, शो तनूकरणे।

३५७.

१. भृजी भर्जने।

३५९.

१. ब्रह्मा चतुर्वेदविद् विद्वान् (द० भा०, यजु० १८.२९)।

३६०.

१. घृतस्य तेजसः, घृ क्षरणदीप्त्योः।
२. जु गतौ, क्तिन्।
३. दीव्यन्ति क्रीडन्ति विषयेषु इति देवाः इन्द्रियाणि, तैः सहिता सदेवा। दिवु क्रीडादिषु।
४. द्रष्टव्य—छा उप ३.१६।
५. द्रष्टव्य—गो ब्रा उ० ५.४।

३६२.

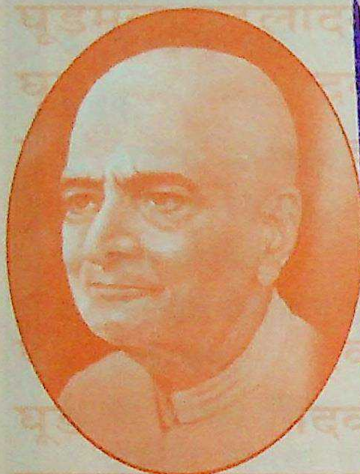
१. यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः (ऋग् १०.५७.२)।

३६४.

१. हरति तमांसि इति हरिः। हृञ् हरणे।
२. ज्योतिः हरः उच्यते (निरु० ४.१९)।

३६५.

१. व्रजत अव्रजत। अडागम का अभाव, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा ६.४.७५)। आत्मनेपद छान्दस। अथवा 'दत्त्वा अव्रजत' सन्धिच्छेद करना चाहिए, यद्यपि पदपाठ में ऐसा नहीं है।
२. गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मण...गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम् (निरु० ७.१२)।

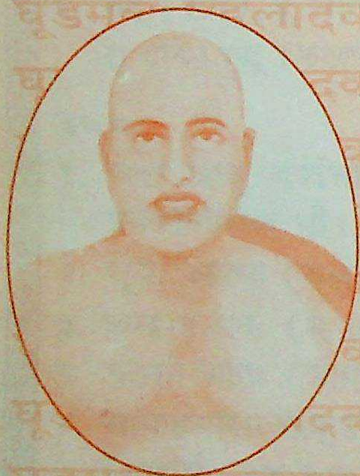


स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

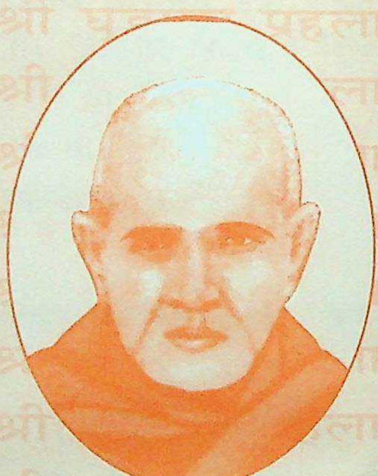
पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार



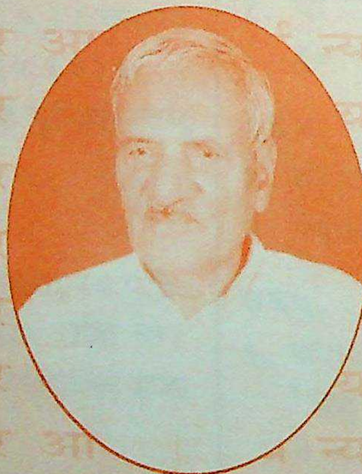
श्री विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड



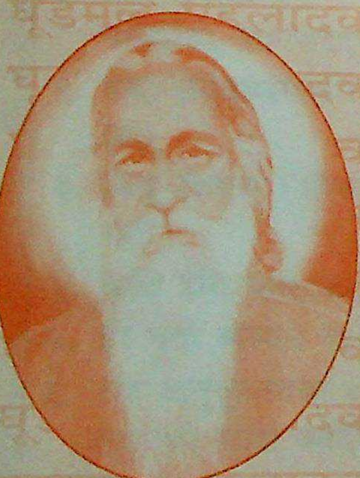
स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती



पं० शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ'



श्री रामनाथ वेदालंकार

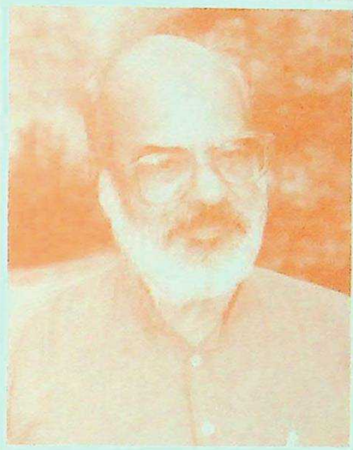


पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

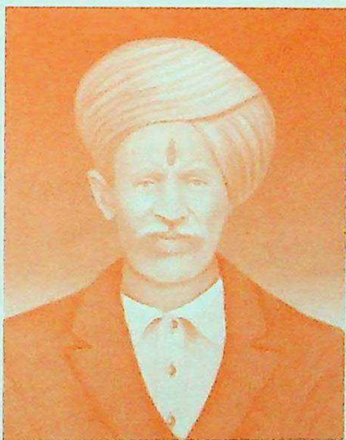


आचार्य विद्यानिधि शास्त्री

हमारे प्रेरक एवं सहयोगी



स्वामी जगदीशवरानन्द सरस्वती



स्मृ० श्री घूडमल आर्य



स्मृ० श्री प्रहलाद आर्य

प्रकाशित है। १९७६ में आप गुरुकुल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर तीन वर्ष के लिए पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में **'महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ'** के **प्रथम आचार्य एवं अध्यक्ष नियुक्त हुए** । वहाँ से आपके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए–वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार, वैदिक शब्दार्थ विचारः। आप द्वारा लिखित अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं–**वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, वैदिक मधुवृष्टि, आर्ष ज्योति, ऋग्वेद-ज्योति तथा सामवेद का संस्कृत एवं हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य** । वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की सेवा के उपलक्ष्य में आप कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से सम्मानित हो चुके हैं, जिनमें आर्यसमाज सान्ताक्रूज मुम्बई का वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थान का विशिष्ट संस्कृत पुरस्कार, महामहिम राष्ट्पति द्वारा सम्मान तथा भारतीय विद्याभवन बैंगलूर का गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुस्कार प्रमुख हैं।

हरिश्चन्द साहित्यानी सस्ता वेद साहित्य योजना के अन्तर्गत

स्मृति में

स्मृतिशेष-श्रीमती कमलाबेन हरिश्चन्द्र साहित्यानी





स्मृतिशेष-श्रीमती सीताबेन वी० साहित्यानी



स्मृतिशेष-श्री विजयकुमार साहित्यानी

सौजन्य से-

हरिश्चन्द्र साहित्यानी दाहोद वेद स्थिर निधि, रतलाम